ब्रह्मसूत्र

सरल सुबोध भाषा भाष्य

ब्रह्मसूत्र
खंड एक

ब्रह्मसूत्र

सरल सुबोध-भाषा भाष्य

खंड एक
(प्रथम तथा द्वितीय अध्याय)

गुरुदत्त

शाश्वत संस्कृति परिषद्
३०/९० कनाट सरकस (मद्रास होटल के नीचे), नई दिल्ली-१

प्रकाशकीय

राष्ट्रीय जीवन में विशुद्ध भारतीय तत्त्वदर्शन का प्रचार करते हुए राष्ट्र के सम्मुख सभी समस्याओं को उसी दृष्टिकोण से सुलझाना परिषद् का उद्देश्य है। एतदर्थ भारतीय तत्त्वदर्शन से सम्बन्धित साहित्य का संग्रह एवं प्रकाशन तथा नवीन ग्रन्थों का प्रणयन करना नितान्त आवश्यक मानकर परिषद् ने प्रकाशन-कार्य भी प्रारम्भ किया है। अपनी सीमित सामर्थ्य और पाठकों के प्रोत्साहन से परिषद् ने अब तक (प्रस्तुत ग्रंथ सहित) १४ ग्रन्थों का प्रकाशन एवं वितरण किया है।

परिषद् के उद्देश्यों का प्रचार तथा प्रसार करने के लिए विगत ११ वर्षों से 'शाश्वत वाणी' नामक मासिक पत्रिका भी प्रकाशित की जा रही है, जो अपने विषय की अनूठी पत्रिका है।

कार्य जितना महत्त्वपूर्ण है उतना ही दुस्साध्य भी। तदपि पाठकों के प्रोत्साहन से पत्रिका एवं प्रकाशन, दोनों ही कार्य अपनी गति से प्रगति कर रहे हैं।

परिषद् श्रद्धेय गुरुदत्तजी की अत्यन्त आभारी है, जिन्होंने ब्रह्मसूत्र पर किये गए अपने भाष्य को प्रकाशित करने की स्वीकृति प्रदान की है।

—अशोक कौशिक
मंत्री, शाश्वत संस्कृति परिषद्

लेखक का विशेष निवेदन

इस भाष्य में कुछ एक भाष्यकारों का ही उल्लेख किया गया है। इसका अर्थ यह नहीं कि हम अन्य भाष्यकारों को आदरणीय नहीं समझते। वास्तविक बात यह है कि हमने अपने भाष्य में अन्य किसी भाष्यकार के भाष्य को पथ-प्रदर्शक नहीं माना। इस भाष्य में हमने अपने दृष्टिकोण से ही सब कुछ लिखा है। जिन भाष्यों का उल्लेख किया है वह केवल अपने पक्ष को सिद्ध करने की दृष्टि से ही है। जहाँ उनसे सहमति है अथवा जहाँ सहमति नहीं है उसका उल्लेख इसी प्रयोजन से है जिससे अपने भाष्य के युक्तियुक्त होने को सिद्ध किया जा सके।

प्रायः सब वैदिक दर्शन शास्त्र मीमांसा (logic) के ग्रंथ हैं, ऐसा मेरा मत है। दर्शन शास्त्र और उपनिषदादि ग्रंथों में अन्तर यह है कि जहाँ दर्शन शास्त्र वेदों को प्रमाण न मानने वालों के लिए कहे गये हैं, वहाँ उपनिषदादि ग्रंथ वेदों पर श्रद्धा रखने वालों के लिए लिखे गये हैं।

अतः दर्शन शास्त्रों पर भाष्य केवल युक्ति के आधार पर ही होना चाहिए। वेद शास्त्रादि का प्रमाण उस युक्ति को सिद्ध अथवा स्पष्ट करने के लिए नहीं, प्रत्युत युक्ति से सिद्ध बात को वेदादि शास्त्रों में दिखाकर, उनकी महिमा को बढ़ाने के लिये है।

हमने यत्न किया है कि सूत्रों पर भाष्य युक्ति के आधार पर ही लिखा जाये।

स्वामी शंकराचार्य के शारीरक भाष्य को बहुत स्थलों पर त्रुटिपूर्ण पाने के कारण हमने उनपर विशेष टिप्पणियाँ लिखी हैं। यह उनके प्रति किसी प्रकार के अनादर के भाव से नहीं है प्रत्युत सत्य को प्रकट करने के लिए है। हम मानते हैं कि स्वामी शंकराचार्य ने अपने काल में हिन्दू समाज की भारी सेवा की थी, परन्तु वह सेवा अद्वैत सिद्धान्त के प्रतिपादन द्वारा नहीं हुई थी। वह उनकी 'पंचायत पद्धति' थी, जिसने उस समय अमरनाथ की गुफ़ा से लेकर कन्या-

कुमारी तक फैली हुई हिन्दू समाज को एक सूत्र में पिरो दिया था। उनके इस कार्य के लिए हिन्दू (वैदिक) समाज उनका सदा आभारी रहेगी।

उनके अद्वैतवाद से हमारा मतभेद है और हमारा मत है कि व्यास कृत ब्रह्मसूत्र भी त्रैतवाद का मण्डन करते हैं।

अद्वैतवाद और इसके साथ प्रचार किये जाने वाले अन्य उपसिद्धान्तों से हिन्दू समाज का अकल्याण ही हुआ है। इस विषय में हम अपना मत ग्रंथ के उपसंहार में देंगे। यहाँ तो स्वामीजी के अन्य कार्यों की प्रशंसा में उनके प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पित करना ही लक्ष्य है।

—गुरुदत्त

ग्रन्थ संकेत

नाम ग्रन्थ	संकेत
अथर्व वेद	अथर्व०
ईशावास्योपनिषद्	ईशा०
ऐतरेय उपनिषद्	ऐतरे०
ऋग्वेद	ऋक्०
कठोपनिषद्	कठो०
छान्दोग्योपनिषद्	छा०
तैतिरीय उपनिषद्	तैति०
न्याय दर्शन	न्याय०
पूर्व मीमांसा	पू० मी०
प्रश्नोपनिषद्	प्रश्न०
बृहदारण्यक उपनिषद्	बृहदा०
ब्रह्मसूत्र	ब्र० सू०
भगवद्गीता	भ० गी०
माण्डूक्योपनिषद्	माण्डू०
मुण्डकोपनिषद्	मुण्डक०
यजुर्वेद	यजु०
योग दर्शन	यो० द०
वैशेषिक दर्शन	वै० द०
श्वेताश्वतर उपनिषद्	श्वेता०
सांख्य दर्शन	सा०
साम वेद	साम०

विषय-सूची

प्रस्तावना

कुछ एक आचार्यों का मत है कि भारतीय दर्शन-शास्त्रों में परस्पर विरोधाभास है। वे यह मानते हैं कि-वेदान्त दर्शन जिन्हें ब्रह्म-सूत्रों के नाम से स्मरण किया जाता है, केवल परमात्मा को ही स्वीकार करता है। इसी प्रकार की एक किंवदन्ति यह है कि सांख्य-दर्शन परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता तथा मीमांसा दर्शन को कर्म-काण्ड का दर्शन कहते हैं।

कुछ एक आचार्य वेदान्त-दर्शन की उत्पत्ति उपनिषदों से मानते हैं। ये लोग समझते हैं कि उपनिषदों में वैदिक विचारधारा विकास के शिखर पर पहुँच गयी है और वेदान्त सूत्र उस विचारधारा को सूत्रवत् कहने के लिये लिखे गये हैं।

इस प्रकार के अनेक भ्रमोत्पादक विचार भारतीय दर्शन-शास्त्रों के विषय में बन गये हैं। इन भ्रमोत्पादक विचारों की विवेचना करना ही हमारा उद्देश्य है। सभी भ्रमोत्पादक बातों का निराकरण तो इस स्थान पर किया नहीं जा सकता। यहाँ मुख्यतः वेदान्त-दर्शन के विषय में ही लिखा जा रहा है। हाँ, जहाँ कहीं प्रसंगवशात् अन्य दर्शनों का उल्लेख आया है वहाँ उनके विषय में भी लिख दिया गया है।

हम मानते हैं कि दर्शन-शास्त्र सत्य का दर्शन कराने वाले शास्त्र हैं। भारतीय दर्शन-शास्त्रों की मुख्य रूप में दो शाखायें हैं—वैदिक और अवैदिक।

वैदिक दर्शन-शास्त्रों की गणना में सांख्य, वैशेषिक, पूर्व मीमांसा, उत्तर मीमांसा (वेदान्त), योग-दर्शन और न्याय-दर्शन आते हैं और अवैदिक दर्शन-शास्त्रों में चारवाक्, जैन, बौद्धदर्शन हैं।

वैदिक-अवैदिक दर्शन-शास्त्रों में भेद यह है कि वैदिक दर्शन-शास्त्र उन सत्य सिद्धान्तों का दर्शन कराते हैं, जो वेदानुकूल हैं और अवैदिक दर्शन-शास्त्र उन मुख्य सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का दर्शन कराने के लिए हैं जिनका मूल वेद नहीं है और जो महात्मा बुद्ध तथा महात्मा महावीर के नाम से चले सम्प्रदायों में वर्णित हैं।

यहाँ दो शब्द चारवाक् के विषय में भी लिख देना उपयुक्त है। चारवाक् जड़वाद का दूसरा नाम है। यह भी एक सिद्धान्त है कि जड़ प्रकृति ही चराचर

जगत् का मूल कारण है और इस कारण के अतिरिक्त जगत् का कोई अन्य कारण नहीं है।

चारवाकीय जिस वस्तु को जैसा देखते हैं, उसे वैसा ही मान लेते हैं। यदि यह कहा जाये कि ये उस बालक की भाँति हैं, जिसकी विचारशक्ति अभी अपरिपक्व है, तो अधिक ठीक होगा।

इनका कोई शास्त्र नहीं। कम-से-कम भारतवर्ष में ऐसा कोई ग्रन्थ नहीं मिलता जिसमें इनके विचारों की मीमांसा प्राप्त हो।

इस पर भी इनकी विचार-मीमांसा इस प्रकार कही जा सकती है। प्रत्येक मनुष्य का बाल्यकाल होता है, जिसमें बुद्धि का विकास नहीं होता। इसी प्रकार कुछ लोग बड़े तथा प्रसिद्ध हो जाने पर भी बाल-बुद्धि वाले देखे जाते हैं। वे जगत् को जैसा इन्द्रियों से अनुभव करते हैं, उसको वैसा ही मान लेते हैं। वे उस अनुभव की गहराई में जाने की सामर्थ्य नहीं रखते; इस कारण गहराई में जाना वे मूर्खता मानने लगते हैं।

अन्य देशों की भाँति भारत में भी जड़वादी उत्पन्न होते रहे हैं। और अपने विचार से संसार के संचालन का वर्णन करने का यत्न करते रहे हैं। तदपि ये लोग भारत में न तो ख्याति प्राप्त कर सके हैं और न ही इनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को विद्वानों ने मान्यता दी है।

हमारा यह सुविचारित मत है कि चारवाक् दर्शन-शास्त्र मात्र बालकों का ही शास्त्र है। जैसे किसी बच्चे को उसके छोटे भाई के जन्म के अवसर पर उसकी दादी बता देती है कि उसका भाई दाई दे गयी है और वह मान जाता है; वह यह विचार नहीं कर सकता कि दाई उसे कहाँ से लायी थी; वैसी ही बात चारवाकीय मत वालों की है।

जहाँ तक वैदिक दर्शन-शास्त्रों का सम्बन्ध है, हमारा मत है कि वे वेद में वर्णित जगत्-सम्बन्धी जटिल समस्याओं के निरूपण के लिये लिखे गये हैं। उदाहरण के रूप में सांख्य-दर्शन में मूल-प्रकृति और उससे जगत् के बनने के विषय में लिखा है।

मीमांसा का अर्थ है विवेचना। अर्थात् जगत् के दृश्य स्वरूप में मनुष्य के व्यवहार का वृत्तान्त। पूर्व मीमांसा को कोई आचार्य कर्म-काण्ड का शास्त्र भी मानते हैं। वैसे पूर्व मीमांसा को कर्म-काण्ड का शास्त्र कहना उचित नहीं। हम इसे इस प्रकार मानते हैं कि मनुष्य जो कुछ अपने आस-पास देखता है, उसमें अपने व्यवहार के विषय में विचार करता है। मनुष्य का ज्ञान-प्राप्ति की खोज में यह प्रथम पग है। इसी कारण इसे पूर्व मीमांसा कहते हैं।

वेदान्त-दर्शन अर्थात् ब्रह्मसूत्र इस जगत् के मूल कारण की विवेचना है। वेदान्त-दर्शन जगत् के तीन मूल कारण मानता है।

वैशेषिक-दर्शन इन मूल पदार्थों से आरम्भ होकर कार्य जगत् के भिन्न-भिन्न पदार्थों के निर्माण की प्रक्रिया का वर्णन करता है।

योग-दर्शन मुख्यतः मोक्ष प्राप्त करने की अथवा जगत् का तात्त्विक ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता प्राप्त करने का ढंग बताता है।

न्याय-दर्शन मुख्य रूप में युक्ति करने के आधारों का वर्णन करता है।

प्रस्तुत विवेचना में हम केवल वेदान्त-दर्शन के विषय में ही लिख रहे हैं। वेदान्त-दर्शन के मूल लेखक हैं व्यास मुनि। व्यास मुनि का दूसरा नाम बादरायण भी है। यह नाम इस कारण है कि व्यास मुनि बादरी ऋषि के पुत्र थे।

ये क्या वही व्यास थे जो महाभारत ग्रन्थ के रचयिता थे अथवा कोई अन्य? यह निश्चय से नहीं कहा जा सकता। महाभारत में एक संकेत है जिससे इस समस्या पर प्रकाश पड़ता है।

महाभारत का प्रवचन सुनते समय महाराज जनमेजय ने पूछा—पुरुष बहुत हैं अथवा एक? इस जगत् में कौन पुरुष श्रेष्ठ है? कौन सबका उत्पत्ति स्थान है?

महर्षि व्यास वैशम्पायन के शिष्य थे। उक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए वे कहते हैं:

> बहवः पुरुषा लोके सांख्ययोगविचारणे।
> नैतदिच्छन्ति पुरुषमेकं कुरुकुलोद्वह॥
> बहूनां पुरुषाणां च यथैका योनिरुच्यते।
> तथा तं पुरुषं विश्वंव्याख्यास्यामि गुणाधिकम्॥
> नमस्कृत्वा च गुरवे व्यासाय विदितात्मने।
> तपोयुक्ताय दान्ताय वन्द्याय परमर्षये॥
>
> (महाभा० शा० ३५०–२, ३, ४)

इसका अभिप्राय है—

हे कुरुकुलोद्वह! सांख्य और योग की विचारधारा के अनुसार इस जगत् में पुरुष अनेक हैं। ये एक पुरुष को स्वीकार नहीं करते।

बहुत से पुरुषों की एक ही से उत्पत्ति के विषय में वैशम्पायनजी ने क्या कहा है? उन्होंने यह समझाने के लिए अपने गुरु व्यास, जो तपस्वी हैं, आत्मज्ञानी हैं, जितेन्द्रिय एवं वन्दनीय हैं को नमस्कार कर इस विश्व में विख्यात् गुणों में सर्वश्रेष्ठ पुरुष की व्याख्या की है।

इससे एक बात तो स्पष्ट ही है कि वैशम्पायन के गुरु पराशर-नन्दन व्यास बादरायण व्यास नहीं थे। अन्यथा शिष्य उनको नमस्कार करते समय जहाँ उनके अन्य गुणों का बखान करते वहाँ वे उन्हें वेदान्त-सूत्रों के प्रणेता के रूप में स्मरण करते। किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया।

वेदान्त-दर्शन के विषय में हमारा निष्कर्ष

वेदान्त का अर्थ वेद (ज्ञान) के विकास की पराकाष्ठा है। अर्थात् 'वेदस्य (ज्ञानस्य) अन्तः इति वेदान्तः'।

परन्तु हम यह नहीं मानते कि उपनिषद् ग्रन्थ वेद (ज्ञान) की पराकाष्ठा में विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इसके विपरीत हमारा यह मत है कि उपनिषद् ग्रन्थ मनुष्य-कृत होने के कारण उतने स्पष्ट नहीं जितने कि वेद स्वयं हैं। अतः वेदान्त का अर्थ है कि ज्ञान की पराकाष्ठा। और यह मूल रूप में वेदों में ही है।

दर्शन के अर्थ हैं सत्य का दर्शन कराने वाले ग्रन्थ। अतः वैदिक-दर्शन जिनमें व्यास कृत वेदान्त-दर्शन एक प्रमुख ग्रन्थ है, वेदों के कुछएक सिद्धान्तों का दर्शन कराता है।

छहों दर्शन-शास्त्र सूत्रवत् लिखे गये हैं। सूत्र का अर्थ है कि बहुत कम शब्दों में विस्तृत अर्थ वाला वाक्य। जैसे एक छोटे से सूत्र गुच्छ में भी परिमाण में बहुत लम्बा सूत्र लिपटा होता है, उसी प्रकार एक सूत्र में लम्बा-चौड़ा भाव समाहित होता है।

अतः सूत्र के अर्थों का विस्तार करने वाला विद्वान् यदि उस विषय का भली प्रकार से ज्ञाता हो तो सूत्रार्थ भली-भाँति समझे और समझाये जा सकते हैं। विषय का ज्ञाता होने के साथ-साथ सूत्रार्थ करने में युक्ति बहुत सहायक होती है।

युक्ति बुद्धि का विषय है। अतः निर्मल एवं तीक्ष्ण बुद्धि द्वारा ही सूत्रार्थ समझे जा सकते हैं। ज्ञान और युक्ति दोनों साथ-साथ चलते हैं। तभी सूत्रों के अर्थ स्पष्ट होते हैं।

कुछ आचार्यों का मत है कि ब्रह्मसूत्र उपनिषद् वाक्यों के भाव को संक्षेप में वर्णन करने के लिए लिखे गये हैं। संक्षेप में वर्णन करने का प्रयोजन यह है कि उपनिषद्-ज्ञान को स्मरण किया जा सके।

हमारा मत इससे भिन्न है। हम समझते हैं कि उपनिषद् के भाव को नहीं वरंच वैदिक-सिद्धान्तों को संक्षेप में वर्णन करने तथा उनको युक्ति से सिद्ध करने के लिए ब्रह्मसूत्रों की रचना हुई और ये संक्षेप में इस कारण हैं जिससे कि भिन्न-भिन्न आचार्य इनकी व्याख्या करते समय, जिज्ञासु की योग्यता अनुसार, अपनी-अपनी भाषा में व्याख्या कर सकें।

इसका अभिप्राय यह कदापि नहीं कि सूत्र के भाव में भी हेर-फेर किया जाये अथवा किया जा सकता है। सूत्रवत् बात कहने का अभिप्राय यह है कि उस संक्षेप में कही बात को भाष्यकार जिज्ञासु की योग्यता को देखकर, सूत्र का न्यूनाधिक विस्तार से वर्णन कर सकें।

जिन आचार्यों ने यह समझा है कि ब्रह्मसूत्र उपनिषद् वाक्यों के भावों को प्रकट करने के लिए लिखे गये हैं, वे प्रत्येक सूत्र की व्याख्या में उपनिषदों के उद्धरण प्रस्तुत करते हैं। इन भाष्यकारों के लिए प्रत्येक सूत्र से सम्बन्धित कोई-न-कोई उपनिषद् वाक्य ढूँढना आवश्यक हो जाता है। भाष्यकार जब देखते हैं कि सूत्रार्थ की उपनिषद् से चयन किये गए वाक्य से संगति नहीं बैठती, तब वे सूत्रार्थ को तोड़-मरोड़ कर उपनिषद् के वाक्य के अनुकूल करने का यत्न करते हैं। इससे अनेक सूत्रों के अर्थ विकृत हो गये हैं।

उपनिषद् वाक्यों और सूत्रार्थों में समानता ढूँढने वालों में स्वामी शंकराचार्य जी प्रमुख हैं। शंकराचार्य के परवर्ती प्रायः सब भाष्यकार स्वामी शंकराचार्य जी की परिपाटी का ही अनुकरण करते हैं। स्वामीजी से पहले के किसी भाष्यकार का भाष्य उपलब्ध नहीं है, इस कारण यह नहीं कहा जा सकता कि पूर्व काल में सूत्रार्थ स्वतन्त्रता से करने की परिपाटी थी अथवा नहीं, परन्तु शंकराचार्य जी के उपरान्त तो सब भाष्यकारों ने लगभग यही प्रथा निभायी है कि प्रत्येक सूत्र का किसी उपनिषद् वाक्य से समन्वय करने का यत्न किया जाय।

हम समझते हैं कि सूत्रार्थ करने की यह प्रथा ठीक नहीं। ब्रह्मसूत्रों को दर्शन-शास्त्र कहा गया है। दर्शन-शास्त्र का प्रयोजन किसी एक अथवा कई एक ग्रन्थों का दर्शन कराना नहीं, वरंच कुछ-एक सत्य सिद्धान्तों का युक्ति से प्रतिपादन करना है।

जो लोग किसी ग्रन्थ को स्वतः प्रमाण नहीं मानते उनके लिए भी कुछ साधन होने चाहिएँ, जिनसे उनको सत्य का दर्शन कराया जा सके। उनको इतना कह देने से कि अमुक सिद्धान्त का वेदों में अथवा उपनिषदों में वर्णन किया गया है, कुछ भी अर्थ नहीं रखता। दर्शन-शास्त्र ऐसे नास्तिकों को सत्य का दर्शन करने के लिए लिखे जाते हैं, जो न तो परमात्मा को स्वीकार करते हैं और न ही परमात्मा द्वारा प्रतिपादित ज्ञान (वेद) को। उन्हें यदि यह कहा जाय कि वेद में लिखा है कि 'ईश्वर सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, सर्वस्रष्टा, भर्त्ता और प्रलय-कर्त्ता है, तो वे हँस देंगे। ऐसे लोगों को यह समझाने के लिए कि 'सत्य ही कोई जगत-कर्त्ता है,' युक्ति के अतिरिक्त अन्य कोई साधन सार्थक नहीं हो सकता।

यदि वैदिक साहित्य में दर्शन-शास्त्रों को केवलमात्र उपनिषदों का संक्षेप मान लिया जाए तो फिर उसमें कोई ऐसा ग्रन्थ रह ही नहीं जाता जिससे कि वेदादि शास्त्रों पर विश्वास न रखने वाले लोगों को सत्य का साक्षात्कार कराया जा सके।

वेदान्त-सूत्रों के अध्ययन से पता चलता है कि उन सूत्रों में किसी भी उपनिषद् वाक्य का उल्लेख नहीं। उपनिषद् वाक्य तो भाष्यकारों ने अपनी सुविधा

के लिए ढूंढ निकाले हैं। उपनिषदों के उद्धरण सूत्रार्थ के साथ संगति रखते हैं अथवा नहीं यह उपनिषद् वाक्य के चयन करने वाले भाष्यकार के ज्ञान और उसकी योग्यता का परिचायक है। इस पर भी अनेक स्थानों पर ऐसे उपनिषद् वाक्य उद्धृत किये गए हैं, जिनकी संगति सूत्रार्थ के साथ बैठती ही नहीं।

हमारा मत यह है कि सूत्र स्वतन्त्र रूप से युक्ति द्वारा सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं और यह संकेत भी कर देते हैं कि यही सिद्धान्त वेद-शास्त्रों में भी प्रतिपादित हैं। कहीं-कहीं अन्य ऋषियों का नाम लेकर उनके विषय में लिखा है कि वे भी वैसा ही कहते हैं, जैसा कि सूत्रकार ने लिखा है।

वेदान्त-दर्शन का यह भाष्य हमने अपने मत से लिखा है। इसे लिखने में कुछ एक विशेष आधारों को स्वीकार कर यह भाष्य किया गया है। वे आधार हैं—

१. दर्शन-शास्त्र सिद्धान्तों को युक्ति द्वारा सिद्ध करने के लिए लिखे गए हैं।

२. ब्रह्म शब्द प्रकृति, आत्मा, परमात्मा तीनों के लिए प्रयुक्त हुआ है। जब सम्पूर्ण जगत् जिसमें प्रकृति (कारण तथा कार्य-जगत्) जीवात्मा-समूह और परमात्मा सबका उल्लेख आता है, तो उसे परब्रह्म के शब्द से सम्बोधित किया जाता है।

३. सत् के अर्थ उस तत्त्व से हैं जो अनादि और अक्षर है।

४. वेदान्त-दर्शन में परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति तीनों का वर्णन है। तीनों को अनादि, अक्षर और अव्यक्त माना है।

५. कार्य जगत् नाम तथा रूप से क्षर माना है। मूल (प्रकृति) अक्षर है।

६. सत् तथा असत् का साथ-साथ उल्लेख आने पर उसका अभिप्राय मूल प्रकृति और कार्य-जगत् माना जाता है। (वैसे सत् तो परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति तीनों का गुण है।)

७. चित् अर्थात् चैतन्य तत्त्व दो हैं। परमात्मा और जीवात्मा।

८. आनन्द तो केवल परमात्मा ही है। जब आत्मा परमात्मा से जुष्ट हो जाता है तब वह भी उस आनन्द का अनुभव करता है, जो परमात्मा का गुण है।

यदि इस अध्याय में प्रतिपादित विषय को हम सरल भाषा के एक वाक्य में कहें तो वह होगा—

'वेदान्त-दर्शन' ब्रह्म का ज्ञान कराने वाला ग्रन्थ है।

यह जगत् बनता, चलता और विनष्ट होता है। संसार में किसी भी वस्तु के बनने, चलने अथवा टूटने में तीन कारण होते हैं। वे यह कि उस वस्तु का बनाने वाला, पालन करने वाला और संहार करने वाला कोई सामर्थ्यवान्, ज्ञानवान् और महान् होना चाहिए। इसे 'निमित्त कारण' कहते हैं। बनाने वाले के साथ वह पदार्थ भी होना चाहिए जिससे कि यह जगत् बना है। अभाव से भाव नहीं होता। कुछ होना चाहिए, जिससे जगत् बना है। वह 'उपादान कारण'

कहलाता है। इसी प्रकार प्रत्येक बनने वाली वस्तु के बनने का कुछ उद्देश्य होना चाहिये।

जगत् का रचयिता परमात्मा है। जिस पदार्थ से जगत् बना है, उसे प्रकृति अथवा प्रधान कहते हैं और यह जगत् जीवात्मा-समूह के लाभ के लिए बना है।

जगत् में मनुष्य प्राणी ही मन और बुद्धि वाला है, जो ज्ञान प्राप्त कर सकता है। किन्तु मन और बुद्धि प्रकृति का अंग होने से जड़ हैं, अतः ये स्वतः ज्ञानयुक्त नहीं हो सकते। ज्ञान प्राप्त करने वाला कोई अन्य है। ज्ञान देने वाला कोई अन्य स्वयं ज्ञानवान् होना चाहिए, तभी वह ज्ञान दे सकता है। अतः सृष्टि के आरम्भ में मनुष्य को ज्ञान देने वाला परमात्मा ही हो सकता है।

जब सृष्टि बन गयी तो इसको स्थिर रखने वाला भी कोई अति महान् सामर्थ्यवान होना चाहिए। अन्यथा पृथ्वी, सूर्य, नक्षत्र और ग्रह जो निरन्तर जगत् में घूमते हैं, जड़ होने के कारण चल नहीं सकते। इससे स्पष्ट हुआ कि संसार का समन्वय करने वाला भी परमात्मा है।

परब्रह्म में प्रकृति, आत्मा और परमात्मा तीनों की गणना होती है। तीनों तत्त्व अनादि हैं, अक्षर हैं। इन तीनों तत्त्वों में दो चेतन हैं। एक सामर्थ्यवान् चेतन है। वह परमात्मा कहलाता है। दोनों का गुण ईक्षण करना है।

ईक्षण के अर्थ हैं कर्म के आरम्भ और अन्त करने का काल, कर्म की दिशा, कर्म के काल और स्थान का निश्चय करना। ब्रह्माण्ड तो अनन्त है। इसे आकाश की संज्ञा दी गयी है। इस ब्रह्माण्ड में जगत्-रचना का स्थान, काल और दिशा निश्चय करने वाला चेतन ज्ञानवान् कहलाता है, जो कि परमात्मा है।

जगत् में परमात्मा के अतिरिक्त दो गौण तत्त्व हैं। जीवात्मा और प्रकृति। परमात्मा गौण तत्त्व नहीं हो सकता। अभिप्राय यह की जगत् का बनाने वाला गौण तत्त्व नहीं अपितु मुख्य ही होगा।

जीवात्मा का सामर्थ्य सीमित है और प्रकृति तो जड़ होने से किसी भी निर्मित वस्तु का निमित्त कारण नहीं हो सकती।

ऊपर यह उल्लेख किया गया है कि जीवात्मा परमात्मा से जुष्ट होकर मोक्ष पाता है।

परमात्मा तत्त्वहीन नहीं है। यह महान् है और हीन तत्त्वों (जीवात्मा और प्रकृति) पर शासन करता है।

यह परमात्मा अपने-आप गमन करता है। अर्थात् यह अपने कर्म अपने आप ही करता है। किसी दूसरे का आश्रय नहीं लेता।

जगत् के सब पदार्थों के व्यवहार में समानता है। नक्षत्र और ग्रहों की गति में और पृथ्वी पर पदार्थों के समन्वय तथा प्राणियों के जीवन में एक-समान व्यवहार देखा जाता है। इस कारण इन सबका रचयिता एक ही है। यदि एक

से अधिक होते तो पदार्थों के व्यवहार में भी भिन्नता होती।

इस प्रकार परब्रह्म में चेतन-तत्त्व परमात्मा के कुछ गुणों का वर्णन किया गया है। यह जगत् का रचने वाला, पालन करने वाला और प्रलय करने वाला है। यह मनुष्यों के ज्ञान का स्रोत है। यह संसार में संयोग-वियोग करने की सामर्थ्य वाला है। यह ईक्षण करने वाला है।

ब्रह्म में अन्य दो तत्त्व हीन गुण वाले हैं। परमात्मा वैसा नहीं। यह किसी के आश्रय नहीं। स्वयं कार्य करता है और यह आनन्दमय है।

परमात्मा की उपासना अर्थात् उसके समीप बैठने से जीवात्मा भी आनन्द-मय हो जाता है।

इसका शास्त्रों (वैदिक) में भी वर्णन है। ब्रह्म में वर्णित दूसरे तत्त्व अर्थात् जीवात्मा और प्रकृति आनन्दमय नहीं। प्रकृति तो जड़ है। उसके आनन्दमय होने की कोई सम्भावना नहीं। साथ ही जीवात्मा भी स्वयं आनन्दमय नहीं, वैदिक शास्त्रों में लिखा है और अनुमान से भी यही सिद्ध होता है कि जीवात्मा स्वयं आनन्दमय नहीं। वह जब परमात्मा से जुष्ट होता है तब ही आनन्दमय होता है।

आगे परमात्मा के भीतरी गुणों का वर्णन किया गया है। ये गुण जीवात्मा में नहीं हैं। इस कारण परमात्मा और जीवात्मा में भेद है।

परमात्मा का एक लक्षण आकाश है और उसका गुण है, सर्वव्यापक होना। अर्थात् जितना भी स्थान ब्रह्माण्ड में है, उस सबमें परमात्मा व्यापक है। ब्रह्माण्ड के स्थान को अवकाश (space) अर्थात् आकाश कहा है।

परमात्मा का दूसरा लक्षण है गति। इसे प्राण कहते हैं। परमात्मा का गुण है सामर्थ्य। इसी गुण के कारण इसे सर्व-शक्तिमान् कहा है। उस शक्ति का प्रदर्शन होता है गति में।

प्रकाश परमात्मा का तीसरा लक्षण है। ज्योति के अर्थ में प्रकाश और अग्नि दोनों लिए जाते हैं। परमात्मा ने सृष्टि की रचना खण्डशः की है। सर्व-प्रथम देवता और पृथिवी बनी। देवताओं में से नक्षत्र बने और पृथिवी में से ग्रह बने।

इसका अभिप्राय यह है कि प्रकृति से यह जगत् एक क्षण में नहीं बना। मूल प्रकृति से वर्तमान कार्य-जगत् पग-पग कर बनता चला जाता है। इस प्रक्रिया को इस प्रकार वर्णित किया गया है—
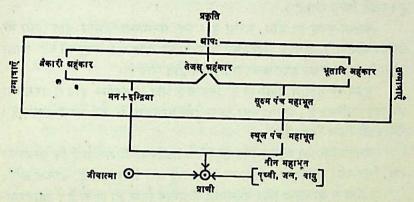
यह है प्रक्रिया मूल प्रकृति से पग-पग कर प्राणी वनने की।

यह जो कुछ ऊपर वर्णन किया गया है, वह वेदादि शास्त्रों में भी लिखा है। कहने के ढंग में अन्तर हो सकता है, भाव में अन्तर नहीं।

चर और अचर जगत् में अन्तर यह है कि ईश्वर का लक्षण प्राण एक में तो विद्यमान है किन्तु दूसरे में नहीं। प्राणवान् को प्राणी कहते हैं।

प्राण अर्थात् गति ईश्वर की है। यह कहने का प्रयोजन किसी प्रकार की आत्मश्लाघा नहीं, वरंच यह वस्तुस्थिति है। अध्यात्म-शास्त्रों में इस बात का उल्लेख भी है। वाम देवादि ऋषियों ने भी ऐसा ही कहा है।

प्राणी में भी ईश्वर के ही कारण गतिमत्ता है, जीवात्मा के कारण नहीं। इसके विषय में व्याख्या से आगे चलकर वर्णन किया जाएगा।

: २ :

उक्त विषय प्रथम अध्याय के प्रथम पाद में वर्णित है। अब द्वितीय पाद का विषय लिखते हैं।

सर्वत्र प्रसिद्ध का वर्णन किया है अथवा सर्वत्र प्रसिद्ध उपदेश है जिस का, उसके विषय में लिखा है। प्रसिद्ध वस्तु का (अथवा किसी वस्तु का प्रसिद्ध) उपदेश है कि यह जगत् है, यह वना है।

जगत् में गुणों के होने से इसका विश्लेषण किया जा सकता है। इसमें परमात्मा है, जीवात्मा हैं और कार्य-जगत् है।

शरीर और शरीरी में कुछ-एक गुण नहीं होते। अत: जगत् में एक श्रेष्ठ गुणों वाले परमात्मा की सिद्धि होती है।

शब्द प्रमाण (वेदादि शास्त्र) से भी परमात्मा और शरीरी तथा शरीर का ज्ञान होता है। स्मृतियों में भी यही बात लिखी मिलती है।

यद्यपि परमात्मा आत्मा के साथ हृदय की गुहा में रहता है, तदपि दोनों के गुणों में भेद है। उस छोटे से स्थान पर रहते हुए भी परमात्मा आत्मा से भिन्न

है। इसके भिन्न गुण हैं।

आत्मा जगत् का भोग करता है, परन्तु परमात्मा समीप होता हुआ भी उसका भोग नहीं करता। तदपि चर और अचर जगत् की आयु को वह खाता जाता है। अर्थात् चर और अचर जगत् क्षय होते जाते हैं।

हृदय की गुहा में जीवात्मा का निवास है और सर्वव्यापक होने से परमात्मा भी वहाँ उपस्थित है। आत्मा वहाँ ठहरा हुआ परमात्मा के दर्शन कर सकता है। वैसे दोनों भिन्न-भिन्न हैं।

इनकी भिन्नता को इन विशेषणों से प्रकट किया जा सकता है कि परमात्मा सत्, चित् और आनन्द है। जीवात्मा केवल सत् और चित् गुण है, आनन्द नहीं।

युक्ति से जीवात्मा और परमात्मा में अन्तर स्पष्ट हो जाता है। उदाहरण-तया जीवात्मा भविष्य के विषय में नहीं जानता। परमात्मा परम आनन्दमय है और जीवात्मा आनन्दमय नहीं। दोनों का व्यवहार देखकर परमात्मा और आत्मा में भेद किया जाता है।

जीवात्मा शरीर के सब अंगों में विद्यमान नहीं और परमात्मा न केवल प्राणी के सब अंगों में विद्यमान है, वरंच यह पूर्ण ब्रह्माण्ड में भी विद्यमान है और पूर्ण ब्रह्माण्ड का नियन्त्रण करता है।

परमात्मा प्राणी के शरीर का भीतर से नियन्त्रण करता है, इस कारण इसे अन्तर्यामी कहा है।

प्राणी के शरीर को नियन्त्रण करने वाला न तो मस्तिष्क (स्मृति यंत्र) है और न आत्मा ही। वह शक्ति परमात्मा की है।

इस पर भी जीवात्मा और परमात्मा में समानता भी है। दोनों अदृश्य (अव्यक्त) अर्थात् इन्द्रियों से न जाने जा सकने वाले हैं। ये अवयव भी हैं।

यह समानता होने पर भी परमात्मा अन्य विशेषणों से जीवात्मा और प्रकृति से भिन्न है।

परमात्मा रूप से भी जीवात्मा और प्रकृति से भिन्न है। रूप का अर्थ विशेषणों से ही पता चलता है।

परमात्मा का एक स्वरूप है वैश्वानर-अग्नि। वैश्वानर अग्नि उस शक्ति को कहते हैं जससे कि हिरण्यगर्भ से जगत् बनता है।

वैश्वानर जो परमात्मा का स्वरूप है, वह देवता अग्नि नहीं। न ही वह भूताग्नि है। वैश्वानराग्नि हिरण्यगर्भ में सृष्टि को निर्माण करने वाली अग्नि है। दिव्य अग्नि वह है जो सूर्यादि नक्षत्रों में होती है और भूताग्नि वह है जो पृथिवी में हम नित्य प्रयोग में लाते हैं।

जैमिनी मुनि भूताग्नि और दिव्याग्नि को भी परमात्मा की अग्नि ही मानते हैं। उनके विचार से वैश्वानर ही सब अग्नियाँ हैं। बादरि ऋषि भी

यही मानते हैं । योगी लोग भी समाधि अवस्था में ऐसा ही देखते हैं कि पूर्ण जगत् में व्याप्त अग्नि परमात्मा की ही है ।

परमात्मा ही सब जगत् को अपनी शक्ति से चलाता है । जीवात्मा ऐसा नहीं कर सकता । वह तो अपने शरीर का भी संचालन नहीं कर सकता ।

: ३ :

तीसरे पाद में इस प्रकार कहा है :

द्युलोक और भूलोक का आश्रय स्थान परमात्मा है । अभिप्राय यह कि पृथिवी और अन्तरिक्ष परमात्मा में स्थित हैं । मुक्त जीव भी उसी परमात्मा में स्थित होते हैं ।

सब कुछ परमात्मा में ही स्थित है, यह केवल अनुमान का विषय ही नहीं, वरंच प्रत्यक्ष प्रमाण से भी सिद्ध होता है ।

जहाँ पृथिवी, द्युलोक और मुक्त जीव परमात्मा में स्थित हैं, वहाँ प्राणी भी उसी के आश्रय हैं ।

भू, द्यु और प्राणी परमात्मा के आश्रय हैं । परमात्मा इनके आश्रय नहीं । इनका वर्णन आगे आएगा । प्रकरण से देख लेना चाहिए कि कहाँ किससे अभिप्राय है । कौन किसमें स्थित है और कौन किसकी भोग-सामग्री है । कार्य-जगत् भोग-सामग्री है । जीवात्मा भोक्ता है, परमात्मा साक्षी है, भोग नहीं करता । परमात्मा में अन्य सब कुछ स्थित है ।

परमात्मा को सबका आश्रय स्थान होने से, भूमा कहा है । भूमि की भाँति यह सबका आश्रय स्थान है ।

परमात्मा अक्षर है और वह आकाश के अन्त तक सबको धारण करने वाला है । वह सब पर शासन भी करता है । यदि शासन न करता होता तो सब-कुछ एक-दूसरे के साथ टकरा कर टूट-फूट जाता ।

अन्य अक्षर तत्त्वों का व्यवहार पृथक् है । अभिप्राय यह कि ब्रह्म में तीन अक्षर पदार्थ हैं । किन्तु परमात्मा में ही उक्त गुण रहते हैं । एक तो वह आकाश के अन्त तक सबको धारण करता है, दूसरे वह सब पर शासन करता है । अन्य दो में ये गुण नहीं रहते ।

इस अम्बरान्त अक्षर का एक गुण ईक्षण करना भी है । ईक्षण के अर्थ हम बता चुके हैं कि जगत् में होने वाले कार्यों का काल, स्थान और दिशा नियत करना ईक्षण करना कहलाता है । परमात्मा ईक्षण करने वाला है ।

यही अक्षर जो अम्बरान्त सब-कुछ धारण करने वाला है और शासन करने वाला है तथा जो ईक्षण करने की सामर्थ्य रखता है, वह ही 'दहर' कहलाता है । अर्थात् प्राणी के हृदय की गुहा में रहता है । दहर का अर्थ है सूक्ष्म । हृदय की गुहा एक सूक्ष्म स्थान है । यहाँ पर भी विद्यमान होने से परमात्मा दहर कहलाता है ।

दहर की शक्ति से ही प्राणी के शरीर के अंग-प्रत्यंग हिलते-डोलते हैं। इसी दहर का प्राणी के शरीर में महान् कार्य है शरीर को जन्म देना, पालन करना और फिर इसका विनाश करना। यह प्रसिद्ध भी है। अर्थात् देखने से सिद्ध होता है।

दहर (परमात्मा) शरीर का धारण, पालन-पोषण करता है। इस पर भी यह निश्चय है कि यह जीवात्मा के परामर्श से कार्य करता है। शक्ति परमात्मा की है, परन्तु शरीर में वह शक्ति जीवात्मा के परामर्श से कार्य करती है। जीवात्मा का परामर्श भी ईश्वर की शक्ति को सिद्ध करता है।

परमात्मा दहर स्थान में बैठा शरीर को शक्ति प्रदान करता है, परन्तु छोटे स्थान में होने से यह स्वयं छोटा नहीं। यह वही है जो अम्बरान्त धारण करने की शक्ति रखता है। यहाँ उसका केवल प्राणी के शरीर के साथ सम्बन्ध रहता है।

जीवात्मा भी 'दहर' में रहता है। जीवात्मा परमात्मा का अनुकरण करता हुआ मोक्ष प्राप्त करता है। परमात्मा का स्मरण करने से भी मोक्ष प्राप्त होता है। स्मरण करने से अभिप्राय है कि परमात्मा के गुणों का स्मरण किया जाए। ऐसा स्मरण करने से उन गुणों के संस्कार मन पर पड़ते हैं और वे मोक्ष दिलाने में सक्षम हैं।

परमात्मा दहर स्थान (हृदय की गुहा) में बैठा हुआ शरीर पर अपेक्षा (देख-रेख) रखता है और इससे शरीर कार्य करता है। परमात्मा के विषय में महर्षि वादरायण भी वही कहते हैं जो कुछ ऊपर लिखा गया है।

शरीर में शक्ति तो परमात्मा की है, परन्तु शरीर के कर्मों में विरोध होता है। इसमें कारण यह है कि परमात्मा की शक्ति के कार्य में कई प्रतिपत्तियाँ दिखायी देती हैं। प्रतिपत्तियों का अर्थ है प्रभाव डालने वाली शक्तियाँ। प्राणी के शरीर में मुख्य रूप से तीन प्रतिपत्तियाँ हैं—जीवात्मा, मन और बुद्धि।

शरीर में परमात्मा की शक्ति पर तो प्रतिपत्तियाँ कर्म में विरोध प्रकट करती हैं, परन्तु परमात्मा के अपने कार्यों में नित्यता है, अनादित्व है कोई विरोध नहीं।

परमात्मा के कर्म एक-रस हैं। इससे प्रत्येक सर्ग में समान रूप और नाम वाले कार्य बनते हैं। सृष्टि के आदि में ज्ञान (वेद) भी बार-बार वैसा ही मिलता है। मध्वादि ऋषि जो उस ज्ञान के अधिकारी हैं, वे भी बार-बार पैदा होते हैं। ऐसा जैमिनी ऋषि का मत है।

परमात्मा ने वेद दिए हैं, क्योंकि वह ज्योतिस्वरूप है। अर्थात् वह ज्ञान-स्वरूप है। मध्वादि ऋषि होने से वेद जानने के अधिकारी थे। किन्तु जो अज्ञानी हैं, वे अधिकारी नहीं हैं। अनधिकारियों से परमात्मा का ज्ञान भाग जाता है। अर्थात् वे इसे समझ नहीं सकते।

जैसे सुन्दर रथ में बैठने से कोई क्षत्रिय नहीं होता, वरंच क्षत्रियत्व रखने से क्षत्रिय होता है, वैसे ही कोई ज्ञानी होने से ही वेद को समझ सकता है, वेद-पाठ करने से नहीं।

अज्ञान संस्कारों के अभाव से होता है। ज्ञान भी संस्कार का एक रूप ही है।

अच्छे संस्कारों का अभाव अथवा भाव मनुष्य की प्रकृति (स्वभाव) से पता चलता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि संस्कारों से स्वभाव बनता है।

अच्छे संस्कार शास्त्र श्रवण, स्वाध्याय, स्मृति शास्त्र को स्वीकार करने से बनते हैं। जो व्यक्ति किसी बात को सुनता नहीं, शास्त्राध्ययन नहीं करता, शास्त्र के यथार्थ अर्थों का विरोध करता है, वह अज्ञानी ही रहता है। उसके संस्कार श्रेष्ठ नहीं हो सकते और उसका स्वभाव बिगड़ जाता है। तब वह परमात्मा का विरोध करने लगता है और ज्ञान उसको छोड़ जाता है।

परमात्मा को प्राण कह आये हैं और प्राण का लक्षण कम्पन (vibration) है।

परमात्मा ज्योतिमय अर्थात् ज्ञानमय है।

परमात्मा का लिंग आकाश माना है, परन्तु यह वह आकाश नहीं जो पंच-भूतों में एक है। ब्रह्म-रात्रि के समय जीवात्मा सुषुप्ति अवस्था में होता है। परमात्मा उस समय भी जागृत अवस्था में रहता है। इसमें ये एक-दूसरे से भिन्न हैं। परमात्मा को पति कहा है।

: ४ :

चौथे पाद में इस प्रकार लिखा है—

कुछ नास्तिक युक्ति से यह कहते हैं कि यह कार्य-जगत् स्वयम्भू है। अर्थात् इसके बनाने वाला कोई नहीं। सूत्रकार कहता है कि यह ठीक नहीं। जैसे प्राणी का शरीर मृत्यु के उपरान्त आत्मा-विहीन होने पर कुछ नहीं कर सकता, इसी प्रकार जगत् बिना परमात्मा के निष्क्रिय हो जाता है।

जगत् एक सूक्ष्म कारण से बना है। वह कारण 'उपादान कारण' है। इस सूक्ष्म के अधीन ही यह कार्य-जगत् बनता है। जगत् का मूल प्रकृति है। प्रकृति यद्यपि अज्ञेय कही जाती है, इस पर भी यह जानने योग्य है। प्रकृति को जो न जानने योग्य कहा जाता है, वह इसका प्रकरण के अनुसार कथन होता है। अर्थात् परमात्मा और जीवात्मा के साथ जब इसकी तुलना की जाती है तो यह अज्ञेय है, परन्तु यह है और जहाँ इसका अपना प्रकरण है, वहाँ इसे भी जानना चाहिये।

परमात्मा, आत्मा और प्रकृति तीनों का ही वर्णन है। जहाँ जिसका प्रसंग

हो, वहाँ उसको समझना चाहिए।

प्रकृति महत् की भाँति सूक्ष्म है। प्रकृति से महत् बनता है और यह चमस-वत् हो जाता है। अर्थात् ऐसे हो जाता है कि जैसे कलछी अथवा मनुष्य की खोपड़ी होती है।

महत् जब चमसवत् हो जाता है तो यह कहा जाता है कि ईश्वर अपनी ज्योति से (ज्ञान से) इसमें प्रवेश करता है। वह ज्ञान ही अग्नि रूप हो जाता है। तब वह हिरण्यगर्भ बन जाता है।

हिरण्यगर्भ से कार्य-जगत् की अनेकानेक वस्तुएँ बनीं। प्रकृति एक है और कार्य-जगत् में अनेकों वस्तुएँ इससे बनी हैं। इन नाना प्रकार की वस्तुओं में प्राण भी एक है।

प्राण परमात्मा की शक्ति है। इसका संयोग जब जगत् की नाना वस्तुओं से होता है तब प्रथम अन्न बनता है। अन्न से ही प्राणी में शक्ति आती है।

प्रकृति आकाशादि भूतों का कारण है और उन भूतों से सब जगत् के पदार्थ बने हैं। अतः सबका कारण प्रकृति है।

गुणों में साम्यावस्था का नाम प्रकृति है। समाकर्षण बिगड़ता है तो जगत् बनता है। यद्यपि जीवात्मा का लक्षण भी प्राण है, परन्तु जीवात्मा समाकर्षण को भंग नहीं कर सकता। यह भंग करने वाला परमात्मा ही है। वेदों के अनु-शीलन से यही पता चलता है।

यह निश्चय है कि प्रकृति से जगत् बना है और इसको बनाने वाला पर-मात्मा है। यह कहा गया है कि प्रकृति में समाकर्षण को जीवात्मा भंग नहीं कर सका। यह परमात्मा ही कर पाता है।

जगत् की रचना जीवात्माओं के लाभ के लिए होती है। इस जगत् में आकर ही वे उत्क्रमण कर सकते हैं। अर्थात् निम्न योनियों से ऊँची योनि में जा सकते हैं। यह उत्क्रमण तब तक चलता है जब तक कि आत्मा ब्रह्मवित नहीं हो जाता।

परमात्मा का प्राण, जो जगत् में और प्राणी के शरीर में रहता है, वह प्राणी को उत्क्रमण करने में सहायता देता है।

जीवात्मा प्रकृति में बँधा होता है, परन्तु प्रतिज्ञा, जिज्ञासा से और शास्त्र-ज्ञान से मनुष्य इस बंधन से छूटता है। जिज्ञासा और संकल्प से मनुष्य निकृष्ट से उच्च योनियों में जाता है। परमात्मा के साक्षात्कार से भी इसमें सहायता मिलती है।

हृदय की गुहा में परमात्मा का साक्षात् होता है। इसके यह भी अर्थ हो सकते हैं कि जगत् में सुख एवं दुःख के साक्षात् से भी उत्क्रमण में सहायता मिलती है।

वह भी साक्षात् होता है कि परमात्मा से जगत् बना है और वह जगत् का निजी स्थान है।

सूत्रों में जो कुछ कहा गया है, इसको व्याख्या से जानने पर पूर्ण रहस्य का पता चल जाता है।

: ५ :

हमने प्रथम अध्याय के चारों पादों का क्रम वार यह वृत्तान्त दे दिया है, जिससे सामान्य रूप में विदित हो जाए कि वेदान्त-सूत्रों का विषय क्या है।

इस भाष्य के लिखने में हमारा एक उद्देश्य यह भी है कि श्री स्वामी शंकराचार्य जी के भाष्य से जो भ्रम फैले हैं, उनका निवारण कर दिया जाये।

स्वामी शंकराचार्य जी ने वेदान्त-दर्शन के भाष्य की एक प्रस्तावना लिखी है। उसमें उन्होंने उस पूर्ण निष्कर्ष को लिखा है जो वे इस ग्रन्थ में लिखा हुआ मानते हैं।

अतः स्वामी जी के भाष्य पर कुछ लिखने से पूर्व हम उनकी इस भाष्य की प्रस्तावना को भी देखना चाहते हैं कि उन्होंने इसमें क्या लिखा है?

स्वामी जी कुछ मूल विचारों को लेकर भाष्य करने बैठे हैं। वे उन मूल बातों का उल्लेख अपने भाष्य के उपोद्घात् में करते हैं।

सबसे पहले उन्होंने जगत् को मिथ्या माना है। इसे ब्रह्म का अध्यास मात्र समझा है। वे अध्यास की परिभाषा इस प्रकार करते हैं—

स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः।

अर्थात्—स्मृति रूप में पूर्वदृष्टा का अन्य में अवभास अध्यास कहलाता है।

पहले देखी वस्तु की स्मृति से किसी दूसरी वस्तु में पहली समझ लेनी अध्यास है।

सरल भाषा में इसे भ्रम कह सकते हैं। स्वामी जी इसका उदाहरण देते हैं।

तथा च लोकेऽनुभवः—शुक्तिका हि रजतवदवभासते, एकश्चन्द्रः सद्वितीयवदिति।

और यह कि लोक-व्यवहार में भी अनुभव होता है। शुक्ति (सीपी) चाँदी की भाँति अवभासित (दिखायी) देती है। एक ही चन्द्रमा दो चन्द्रों के समान दिखायी देता है।

इन उदाहरणों से स्वामी जी का कहना है कि मिथ्या वस्तु का अवभास होता है। सीपी में चाँदी का अथवा जल में चन्द्र का। आप एक अन्य उदाहरण भी देते हैं। आप कहते हैं कि ऊपर एक वस्तु में किसी दूसरी वस्तु का आभास हुआ दिखाया है। जैसे सीपी में चाँदी का अथवा जल में चन्द्र का। किसी अवस्तु में भी वस्तु का आभास होता है। जैसे—

न चायमस्ति नियमः—पुरोऽवस्थित एव विषये विषयान्तरमध्यसितव्य-

मिति; अप्रत्यक्षेऽपि ह्याकाशे बालास्तलमलिनताद्यध्यस्यन्ति।
यह नियम नहीं कि पुरोवर्ती विषय में ही दूसरे विषय का अध्यास हो। जैसे कि अप्रत्यक्ष आकाश में भी अविवेकी लोग तल मलिनता आदि का अध्यास करते हैं।

अर्थात् स्वामी जी यह कहना चाहते हैं कि एक के गुणों में दूसरे के गुणों का अध्यास(भ्रम) हो जाता है और जहाँ कुछ भी प्रत्यक्ष न हो वहाँ पर भी किसी के गुणों का अध्यास (भ्रम) हो जाता है। जैसे आकाश कुछ भी वस्तु नहीं और देखने पर वह नील वर्ण दिखायी देता है अथवा उलटाई हुई कड़ाही की भाँति दिखायी देता है।

इन उदाहरणों से स्वामी जी यह प्रकट करना चाहते हैं कि जगत् तो कुछ है नहीं। इसमें भिन्न-भिन्न पदार्थों के गुण दिखायी देने लगते हैं।

अत: वे कहते हैं कि जगत् मिथ्या है और सत्य केवल ब्रह्म ही है।

यह पक्ष स्वामी जी ने अपनी प्रस्तावना में रखा है और इसी पक्ष के आधार पर पूर्ण वेदान्त-दर्शन का भाष्य उन्होंने किया है।

हमारा यह कहना है कि प्रमाण और युक्ति स्वामी जी का पक्ष सिद्ध नहीं करते।

यह हम मानते हैं कि किसी वस्तु में, भ्रम से कुछ उन गुणों की प्रतीती होने लगती है, जो उसमें नहीं होते।

उदाहरण के रूप में वर्तमान विज्ञान यह मानता है कि एक लोहे के टुकड़े में ठोसपन की प्रतीती होती है। लोहे के टुकड़े पर उँगली रखने से उँगली उसको दबा नहीं सकती। वास्तव में लोहे के टुकड़े में ठोसपन है नहीं। लोहे के प्रत्येक अणु में जो इलैक्ट्रोन इत्यादि हैं, वे वेग से कम्पित हो रहे हैं, वही उसमें ठोसत्व प्रकट करता है। वास्तव में तो इलैक्ट्रोन की गति ही है। यदि गति न हो तो जैसे रेत के लड्डू खण्डित हो जाते हैं, वैसे ही सब ठोस पदार्थ रेत के पिण्ड समान ही खण्डित हो जाएँ।

यही बात स्वामी जी कह रहे हैं।

इसमें भ्रम यह है कि प्रतीत वही होता है, जिसका अनुभव पहले हो।

प्रथम उदाहरण में चाँदी का अनुभव पूर्व में रहता है, तब ही सीपी में चाँदी का भास होता है। यदि चाँदी का ज्ञान न रहता तो सीपी में इसका भास होता ही नहीं।

इसी प्रकार दो जल-पात्रों में चन्द्रमा दिखायी देता है। यह तब ही सम्भव हो सकता है जब चन्द्र का अनुभव पहले हो।

सीपी और जल-पात्र हो अथवा न हो, परन्तु चाँदी और सीप तो होते हैं। तभी उनकी उपस्थिति का भास होता है।

इसी प्रकार कड़ाही के भीतर के गुम्वद की भाँति के आकार का अर्थात् कड़ाही का जब ज्ञान होता है, तब ही आकाश वैसे दिखायी देने लगता है।

अभिप्राय यह कि चांदी, चाँद और कड़ाही का अनुभव पहले रहता है और वह अनुभव स्मरण होता है; तभी उसका भास किसी दूसरी वस्तु में होता है। वह दूसरी, जिसमें भ्रम होता है, वस्तु हो अथवा अवस्तु हो, यह विचारणीय नहीं। विचारणीय यह है कि चाँदी, चाँद और कड़ाही का ज्ञान पहले हो, तभी इसका आभास किसी वस्तु में अथवा अवस्तु में होता है।

अतः जगत् का ज्ञान पहले होना चाहिए, तभी इसका आभास ब्रह्म में दिखायी देगा। अभिप्राय यह कि चांदी, चांद और कड़ाही की भाँति जगत् सत्य है। देखने वाले को इसका ज्ञान हो, तभी वह ब्रह्म को जगत् समझने लगता है।

ब्रह्म हो अथवा न हो, यह विचारणीय नहीं। परन्तु जगत् के लक्षणों का अनुभव होगा। यह तभी हो सकता है जब कि ब्रह्म में जगत् के लक्षण दिखायी देने लगते हैं।

अतः जगत् तो सत्य है। ब्रह्म के विषय में पृथक् बात है।

स्वामीजी जगत् को मिथ्या सिद्ध करने चले थे और सिद्ध कर बैठे हैं परमात्मा को मिथ्या।

स्वामीजी ने एक दूसरी बात भी लिखी है। आप लिखते हैं—

तमेतमविद्याख्यमात्मानात्मनोरितरेतराध्यासं पुरस्कृत्य सर्वे प्रमाणप्रमेयव्यवहारा लौकिका वैदिकाश्च प्रवृत्ताः, सर्वाणि च शास्त्राणि विधिप्रतिषेधमोक्षपराणि।

पूर्वोक्त इस अविद्या कही जाने वाली आत्मा और अनात्मा के परस्पर अध्यास को आगे रख कर सब लौकिक और वैदिक शास्त्र, प्रमाण, प्रमेय व्यवहार में लगे हुए हैं। सब शास्त्र विधि-निषेध बताने वाले मोक्ष कैसे दिला सकते हैं?

स्वामीजी ने लौकिक और वैदिक शास्त्रों की निन्दा की है। यह कहा है कि क्योंकि उनमें प्रमाण और प्रमेय व्यवहार अपनाकर और यह करो, वह न करो की बात कही है, अतः वे मोक्षपरक नहीं हो सकते।

आगे चल कर भाष्य में देखेंगे कि स्वामीजी भी कई शास्त्रों के प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। स्वामीजी प्रमाण देते समय स्वयं को तो ठीक कहने वाला मानते हैं, परन्तु दूसरे पक्ष वाले जब शास्त्र का प्रमाण देते हैं तो कहते हैं कि शास्त्र अविद्यामूलक हैं।

इसी सम्बन्ध में आप आगे कहते हैं—

अतः समानः पश्वादिभिः पुरुषाणां प्रमाणप्रमेयव्यवहारः। पश्वादीनां च प्रसिद्धोऽविवेकपुरःसरः प्रत्यक्षादिव्यवहारः।

—३

अर्थात्—अतः पुरुषों का प्रमाण-प्रमेय व्यवहार पशुओं के समान है और यह प्रसिद्ध है कि पशु आदि का प्रत्यक्षादि व्यवहार अविवेकपूर्वक होता है।

तत्सामान्यदर्शनाद्व्युत्पत्तिमतामपि पुरुषाणां प्रत्यक्षादिव्यवहारस्तत्कालः समान इति निश्चीयते।

इस पद का अर्थ है—सामान्य रूप में उनकी भाँति प्रत्यक्षादि देखने से मनुष्य का व्यवहार पशुओं के समान होता है। यह निश्चय ही है।

हमारा यहाँ यह कहना है कि शास्त्र में प्रमाण देखना तो प्रत्यक्ष देखने से अतिरिक्त भी हो सकता है। अतः शास्त्र चाहे लौकिक हो और चाहे वैदिक, वहाँ के प्रमाण देखना पशुओं के व्यवहार समान नहीं हो सकता।

स्वामीजी ने अपने भाष्य के उपोद्घात में दो बातें ही कही हैं। एक तो यह कि जगत् अध्यास मात्र है, यह वास्तविक नहीं। दूसरी बात यह कि शास्त्र में जो प्रमाण प्रमेयादि बातें हैं वह अविद्या है और उनको देख व्यवहार का निश्चय करने वाले पशुवत् अविद्वान् हैं।

ये दोनों बातें मिथ्या दृष्टि की सूचक हैं। जो उदाहरण श्री स्वामीजी ने दिया है, उसके विषय में हम ऊपर बता चुके हैं कि वह स्वामीजी की बात को सिद्ध नहीं करता।

यह सब-कुछ ब्रह्म (परमात्मा) है और जो कुछ दिखायी देता है, वह अध्यास है, अर्थात् किसी पूर्व में देखी वस्तु के गुणों का ब्रह्म में भ्रम हो रहा है; परन्तु हमारा कहना यह है कि कार्य-जगत् का ब्रह्म में अध्यास तब ही हो सकता है जब कि इसको पूर्व में कभी देख उसके गुणों को स्मरण कर ब्रह्म में आरोपित करें। देखने वाले को जगत् के गुणों का ज्ञान हो। अर्थात् पहले जगत् विद्यमान हो। अन्यथा ब्रह्म में अध्यास कैसे होगा ?

साथ ही विशेष बात यह है कि कार्य-जगत् और ब्रह्म के अतिरिक्त तीसरा कोई होना चाहिए, जिसको अध्यास (भ्रम) हो। ब्रह्म को ही ब्रह्म में किसी अनुपस्थित अनजानी वस्तु का अध्यास तो स्वामीजी के अपने कथनानुसार नहीं हो सकता।

दूसरी बात जो स्वामीजी कहते हैं कि शास्त्र, विशेष रूप में वैदिक-शास्त्र, प्रमाण नहीं हैं वह सर्वथा अयुक्त है। उनके प्रमाण को अमान्य करने के लिए दी गयी युक्ति ठीक नहीं बनी।

स्वामी शंकराचार्य ने अविद्वान् और पशु की तुलना करते-करते वैदिक शास्त्रों को ही अमान्य कर दिया है। यह नास्तिक्य है। आर्य परम्परा यह है कि वेद अपौरुषेय होने से स्वतः प्रमाण हैं और मनुष्य के पूर्ण व्यवहार में वेद प्रमाण कसौटी का काम करते हैं।

वेदान्त-दर्शन का भाष्य करते हुए हमारी जो मान्यतायें हैं, वे इस प्रकार हैं—

(१) जगत् मिथ्या नहीं, सत्य है। यह ठीक है कि इसको सामान्य रूप में देखने वाला इसका सत्य स्वरूप नहीं देख सकता। जो कुछ दिखायी देता है, यह उससे भिन्न है। हम एक लोहे के टुकड़े के ठोस प्रतीत होने का प्रमाण दे चुके हैं। यह जानकर भी कि ठोसत्व मिथ्या है, इससे यह सिद्ध नहीं होता कि कुछ है ही नहीं। पदार्थ तो है। उसके गुणों में भ्रम हुआ है। यह नहीं कि वस्तु का अस्तित्व ही भ्रममूलक हो।

(२) जगत् तीन अक्षर पदार्थों से बना है। परमात्मा इन सबका बनाने वाला है। प्रकृति, कार्य-जगत् का उपादान कारण है। आत्माओं के भोग के लिए प्रकृति से कार्य-जगत् का निर्माण किया जाता है।

(३) अक्षर पदार्थ सत् कहलाते हैं। यह इस कारण कि अक्षर के अर्थ ही सत् हैं। जो सदा रहे, वही सत् है और वही अक्षर है।

(४) चेतन पदार्थ दो हैं। परमात्मा और जीवात्मा।

(५) परमात्मा सर्वशक्तिमान्, दयालु, अजन्मा, सर्वव्यापक, कर्त्ता, भर्त्ता और भोक्ता अर्थात् प्रलयकर्त्ता है।

ये आधार हैं वर्तमान भाष्य के। हमने विना किसी प्रकार की खींचातानी किये अपने विचारों को वेदान्त-दर्शन-शास्त्र से सिद्ध किया है।

दर्शन-जैसे गहन विषय में भूल हो सकती है, परन्तु विवेक बुद्धि से हमारी भूल दर्शाने वाले का हम स्वागत करेंगे और यदि युक्ति तथा प्रमाण से भूल सिद्ध हो गई तो उसे स्वीकार करने में हमें तनिक संकोच नहीं होगा। इसके लिए हम कृतज्ञता का अनुभव करेंगे।

—गुरुदत्त

प्रथम अध्याय

प्रथम पाद

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ।।१।।

अथ+अतः+ब्रह्मजिज्ञासा।

अतः=इस कारण; अथ=अब; ब्रह्म=ब्रह्म की जिज्ञासा जानने की इच्छा (की पूर्त्ति करते हैं)।

इस सूत्र में 'अथ' शब्द पर ही विशेष विचार प्रकट किया गया है। अथ शब्द मंगल सूचक, आनन्तर्य अर्थ वाला, आरम्भ करने का तथा पूर्णता का सूचक है।

मोनियर विलियम अपने संस्कृत शब्द कोश में 'अथ' के अर्थ इस प्रकार करते हैं—

अथ—An auspicious and inceptive particle (not easily expressed in English) now, then, more over, rather, certainly, but, else, what ? how ? Etc.

अभिप्राय यह है कि यह शब्द बहु-अर्थवाचक है। इसका अर्थ लगाने में पूर्वापर विषय का विचार कर ही अर्थ लगाया जा सकता है।

यहाँ यह शब्द ग्रन्थ के आरम्भ में आया है; इस कारण पूर्ण ग्रन्थ के प्रयोजन को जानने से ही अथ शब्द के अर्थ लगने चाहिए।

पुस्तक का प्रयोजन ब्रह्म-जिज्ञासा शब्द से प्रकट होता है। जिज्ञासा का अर्थ है जानने की इच्छा। अतएव ब्रह्म को जानने की इच्छा की पूर्त्ति इस ग्रन्थ में की गयी है।

स्वामी ब्रह्ममुनिजी भी ब्रह्म-जिज्ञासा के यही अर्थ करते हुए लिखते हैं—

(ब्रह्म-जिज्ञासा) ब्रह्म की जिज्ञासा—महान्, अनन्त, अखण्ड ब्रह्म नामक वस्तु की जिज्ञासा—जानने की इच्छा होती है।

यहीं स्वामी शंकराचार्यजी से मतभेद आरम्भ हो जाता है। स्वामीजी ब्रह्म को जानने की इच्छा को ब्रह्म-प्राप्ति की इच्छा मानते हैं।

सामान्य भाषा में जानना और प्राप्त करना दो भिन्न-भिन्न बातें हैं। परन्तु स्वामीजी ब्रह्म विषय में जानना और प्राप्त करना पर्यायवाचक मानते हैं।

आप ब्रह्म-जिज्ञासा और धर्म-जिज्ञासा में अन्तर बताते हैं। आप धर्म-जिज्ञासा में क्रम का संकेत करते हैं। अभिप्राय यह कि धर्म कर्म है और कर्म करने में काल लगता है और इसमें पहले और पीछे की बात है। परन्तु ब्रह्म-जिज्ञासा काल के अधीन नहीं है।

आप लिखते हैं—

भव्यश्च धर्मो जिज्ञास्यो न ज्ञानकालेऽस्ति, पुरुषव्यापारतन्त्रत्वात्। इह तु भूतं ब्रह्म जिज्ञास्यं नित्यत्वान्न पुरुषव्यापारतन्त्रम्। चोदनाप्रवृत्तिभेदाच्च। या हि चोदना धर्मस्य लक्षणं सा स्वविषये नियुञ्जानैव पुरुषमवबोधयति। ब्रह्म-चोदना तु पुरुषमवबोधयत्येव केवलम्, अवबोधस्य चोदनाजन्यत्वान्न पुरुषोऽवबोधे नियुज्यते। यथाऽक्षार्थसंनिकर्षेणार्थावबोधे, तद्वत्।

अर्थात्—धर्म-जिज्ञासा का विषय भव्य (साध्य—सिद्धि योग्य) है। ज्ञान काल में नहीं (अभिप्राय यह कि ज्ञान होने में काल नहीं लगता)। धर्म-जिज्ञासा पुरुष व्यवहार के अधीन है। ब्रह्म-जिज्ञासा नित्य होने से पुरुष व्यापार के अधीन नहीं। दोनों में करने की प्रवृत्ति का भेद है। धर्म के जानने में और ब्रह्म के जानने के क्रम में भी भेद है। धर्म का लक्षण है कि वह मनुष्य को अपने ही विषय का बोध कराता है। ब्रह्म तो विषय नहीं। यह केवल बोध ही कराता है। ब्रह्म का ज्ञान ब्रह्म प्रमाणजन्य ही है। इसमें प्रमाण से प्रवृत्ति नहीं होती। यह ऐसे ही है जैसे कि इन्द्रिय उस ज्ञान में विभक्त नहीं होती जिसको यह प्राप्त करती है।

इस वक्तव्य से दो बातें स्पष्ट होती हैं। एक यह कि धर्म करने का विषय है। इसके करने में क्रम है और समय लगता है। ब्रह्म-ज्ञान में काल नहीं लगता। दूसरी बात यह कि ब्रह्म नित्य है। इसका ज्ञान होना ही इसको प्राप्त करना है। स्वामीजी ब्रह्म के अवबोध को ज्ञान नहीं मानते। ज्ञान को ब्रह्मत्व के समान मानते हैं।

इस प्रकार स्वामीजी समझते हैं कि ब्रह्म-ज्ञान और ब्रह्म की प्राप्ति पर्यायवाचक शब्द हैं। धर्म का ज्ञान और धर्म का करना पर्यायवाचक नहीं।

हमारे मत में यह ऐसा नहीं है। ब्रह्म-ज्ञान और ब्रह्म का अवबोध एक ही बात है और ब्रह्म-प्राप्ति में अन्तर है। ब्रह्ममुनिजी ने लिखा है कि 'महान्, अनन्त, अखण्ड, ब्रह्म नाम वस्तु की जिज्ञासा।' अर्थात् ब्रह्म भी कोई वस्तु अर्थात् पदार्थ है। पदार्थ उसको कहते हैं कि जिसका नाम और गुण हो। इसके दृश्य अथवा अदृश्य होने की बात नहीं। वेद में ईश्वर का वर्णन इस प्रकार है—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥

(यजु० ४०-८)

इस मन्त्र में परमात्मा के स्वरूप का वर्णन है। अभिप्राय यह कि परमात्मा

अर्थयुक्त पदों से इंगित किया जाता है। इस कारण यह पदार्थ है।

किसी भी पदार्थ का जब ज्ञान कराया जाता है, जैसे कि उक्त वेदमन्त्र में परमात्मा का कराया गया है, उसका ज्ञान और उसकी प्राप्ति दो भिन्न-भिन्न पदार्थ हो जाते हैं।

स्वामी शंकराचार्य उक्त वेदमन्त्र की व्याख्या ईशावास्योपनिषद् पर भाष्य करते हुए लिखते हैं—

स नित्यमुक्त ईश्वरो याथातथ्यतः सर्वज्ञत्वाद्यथातथाभावो याथातथ्यं तस्माद्यथाभूतकर्मफलसाधनतोऽर्थान् कर्त्तव्यपदार्थान् व्यदधाद्विहितवान् यथानुरूपं व्यभजदित्यर्थः।

वह नित्यमुक्त ईश्वर सर्वज्ञ होने से जो जैसा था (अर्थात् जैसा जिसका कर्मफल था, वैसा उस कर्त्तव्य पदार्थ का विधान किया) यथायोग्य रीति से उनका विभाजन करता है।

इस सबका अभिप्राय यह है कि परमात्मा को स्वामीजी भी किसी प्रकार का पदार्थ मानते हैं। अतः उसका ज्ञान और उसकी प्राप्ति पृथक्-पृथक् करते हैं। अतः ब्रह्म-जिज्ञासा और ब्रह्म-प्राप्ति पर्यायवाचक नहीं हैं।

स्वामीजी का यह कहना कि **'इह तु भूतं ब्रह्म जिज्ञास्यं नित्यत्वान्न पुरुष-व्यापारतन्त्रम्'** ब्रह्म-जिज्ञासा सिद्ध है। अर्थात् इसमें क्रम नहीं; क्योंकि यह नित्य है।

यह कथन अयुक्त है। इसमें कोई युक्ति नहीं है। कोई पदार्थ नित्य होने से साध्य (सिद्धि योग्य) नहीं रह जाता क्या? सिद्ध करने में नित्य, अनित्य का प्रश्न उठता ही नहीं। कारण यह कि सिद्ध करने वाला साध्य पदार्थ से पृथक् है।

अतः स्वामी शंकराचार्य का कहना कि परमात्मा तो सिद्ध ही है, प्रमाणित नहीं होता। परमात्मा है, परन्तु सिद्ध करने वाले के लिए तो तब ही उपस्थित होगा, जब वह उसको सिद्ध कर लेता है। अतः परमात्मा की प्राप्ति में भी काल लगता है और इसमें भी क्रम है। अभिप्राय यह कि परमात्मा की जिज्ञासा और परमात्मा की प्राप्ति भिन्न-भिन्न अर्थ वाली बातें हैं। यह नहीं कि गुरु ने कान में फूंक मार दी और ब्रह्म के दर्शन हो गए। ऐसा होता नहीं। इसके लिए प्रयत्न करना पड़ता है और प्रयत्न में काल लगता है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या ब्रह्म-सूत्रों का उद्देश्य ब्रह्म की प्राप्ति है। क्या ब्रह्म-सूत्र भी योग-दर्शन की भाँति कैवल्यावस्था-प्राप्ति का उपाय बताते हैं? ऐसा नहीं है। ब्रह्म-सूत्रों में ब्रह्म के अस्तित्व की सिद्धि, इसके स्वरूप का वर्णन और इसके लक्षण और इसको जान लेने पर क्या होता है, का वर्णन ही है। ब्रह्मत्व कैसे प्राप्त होता है, उसका उपाय यहाँ वर्णन नहीं किया गया है।

अतएव ब्रह्म-सूत्रों के प्रथम सूत्र में ब्रह्म-जिज्ञासा का अर्थ ब्रह्म के विषय में

ज्ञान से ही है, ब्रह्म-प्राप्ति से नहीं।

यदि ब्रह्म-जिज्ञासा का अर्थ केवल ब्रह्म के ज्ञान से ही लें तो 'अथ' शब्द, सामान्य रूप में, अधिकारार्थक होगा। ऋषि, ब्रह्म के विषय का ज्ञाता होने से अधिकार से कहता प्रतीत होता है कि 'अब हम ब्रह्म-जिज्ञासा की तृप्ति कराते हैं।'

स्वामी शंकराचार्य ब्रह्म-सूत्रों का प्रयोजन ही बदलकर यह कहते हैं कि अथ शब्द आनन्तर्यार्थक है, अधिकारार्थक नहीं। वह लिखते हैं—

तत्र अथशब्द आनन्तर्यार्थः परिगृह्यते, नाधिकारार्थः ब्रह्मजिज्ञासाया अनधिकार्यत्वात्। मंगलस्य च वाक्यार्थे समन्वयाभावात्।

अर्थात्—वहाँ 'अथ' शब्द आनन्तर्यार्थक लेना चाहिये, अधिकारार्थक नहीं। क्योंकि ब्रह्म-जिज्ञासा के लिये अनधिकारत्व आ जायेगा। यहाँ 'मंगल' अर्थ का समन्वय नहीं होता।

आनन्तर्यार्थक का अभिप्राय यह है कि किसी प्रकार की योग्यता प्राप्त करने के उपरान्त जिज्ञासा करनी चाहिए।

स्वामीजी के कथन का अर्थ यह है कि ब्रह्म-जिज्ञासा करने से पूर्व कुछ योग्यता होनी चाहिए, अन्यथा जिज्ञासा करना अनधिकार-चेष्टा हो जाएगी।

यद्यपि हम यहाँ 'अथ' का अर्थ अधिकारार्थक अधिक उपयुक्त मानते हैं, कारण यह कि ब्रह्म-जैसे गहन विषय पर कहने वाले का विषय पर अधिकार रखना अत्यावश्यक है; तदपि स्वामीजी के इस कथन में भी कुछ तत्त्व है।

ब्रह्म को जानने की इच्छा करने वाले के लिए कुछ तो योग्यता होनी चाहिए, क्योंकि स्वामीजी ब्रह्म जानने की इच्छा और ब्रह्म-प्राप्ति की इच्छा में अन्तर नहीं मानते, इस कारण आनन्तर्य कार्य, जो स्वामीजी बताते हैं, वह भिन्न प्रयोजन वाला है। जिज्ञासा अर्थात् केवल जानने की इच्छा वाले के लिए वह आनन्तर्य आवश्यक नहीं।

वास्तविक बात यह है कि ब्रह्म-सूत्र (दर्शन-शास्त्र) बिना शब्द-प्रमाण का आश्रय लिये, परमात्मा के अस्तित्त्व को सिद्ध करने के लिये लिखे गये हैं। दूसरे शब्दो में वैदिक दर्शन-शास्त्र वैदिक मान्यताओं को वेद के प्रमाणों के बिना सिद्ध करने के लिए लिखे गये हैं।

आदि काल से ही ऐसे लोग संसार में रहे हैं जो परमात्मा के अस्तित्त्व को नहीं मानते। एतदर्थ परमात्मा के ज्ञान, वेद को भी स्वीकार नहीं करते। इन लोगों को यह कहना कि वेद में ब्रह्म का स्वरूप इस प्रकार लिखा गया है, अतः मान लो, हास्यास्पद हो जायेगा।

वैदिक दर्शन-शास्त्र ऐसे ही लोगों के लिये लिखे गये हैं। अतः शब्द-प्रमाण के अतिरिक्त केवल अनुमान प्रमाण (युक्ति) ही रह जाता है, जिससे ब्रह्म और वेद की सत्यता प्रमाणित की जा सकती है।

अतः ब्रह्म-जिज्ञासा से पूर्व यदि कुछ आनन्तर्य कार्य होना चाहिये तो वह ऐसा हो जिससे जिज्ञासु को कही गई बात उसकी समझ में आ सके। इसे बुद्धि का सात्त्विकी होना तथा वैराग्य होना कहते हैं।

परन्तु स्वामीजी आनन्तर्य कार्य की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—

तस्मादथशब्देन यथोक्तसाधनसंपत्त्यानन्तर्यमुपदिश्यते। अतः शब्दो हेत्वर्थः।

अर्थात्—इस कारण अथ शब्द द्वारा उक्त कहे गये साध्य साधन सम्पत्ति के आनन्तर्य का उपदेश किया जाता है। अथ शब्द किसी हेतु अर्थ से है।

उक्त कही गयी साधन सम्पत्ति क्या है? स्वामीजी लिखते हैं—

उच्यते-नित्यानित्यवस्तुविवेकः, इहामुत्रार्थभोगविरागः, शमदमादिसाधन-संपत्, मुमुक्षुत्वं च।

अर्थात्—यह कहा गया है कि नित्य-अनित्य वस्तु का विवेक, इस लोक के भोग से विराग, शम, दम इत्यादि साधन सम्पद् और मुमुक्षुत्व—ये साधन चतुष्टय हैं—

विवेक == सात्त्विकी बुद्धि रखना।

भगवद्गीता में सात्त्विकी बुद्धि के लक्षण इस प्रकार बताये हैं—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥

(१८-३०)

अर्थात्—प्रवृत्ति और निवृत्ति में भेद को जानने वाली। अभिप्राय यह कि सांसारिक कार्यों में लिप्त होना अथवा इनसे अलग होने में भेद का ज्ञान, कार्य और अकार्य में भेद अर्थात् करने योग्य कामों में और न करने योग्य कामों में अन्तर का ज्ञान; कर्म-बन्धन और कर्म-फल से मुक्ति का अर्थ, इसका ज्ञान; जो बुद्धि इन बातों का ज्ञान रखती है, वह सात्त्विकी बुद्धि कहलाती है।

स्वामीजी ने नित्य-अनित्य वस्तु में भेद जानने का नाम विवेक कहा है। यह भी विवेक हो सकता है, परन्तु यह उक्त आनन्तर्य कार्य का अंग नहीं। कारण यह कि नित्य-अनित्य में भेद का ज्ञान तो आत्मा-परमात्मा और मूल प्रकृति के ज्ञान से ही होता है और इनका ज्ञान कराना ही तो ब्रह्म-जिज्ञासा की तृप्ति है। अतः इस विवेक का, ब्रह्म-जिज्ञासा से पूर्व कुछ अर्थ नहीं।

विवेक का अभिप्राय ऐसी बुद्धि से है जो प्रवृत्ति-निवृत्ति, कार्य-अकार्य और बन्धन-मोक्ष में अन्तर जान जाती है। तब वह बुद्धि ब्रह्म के विषय में जानने का अधिकार रखती है।

दूसरी बात जो स्वामीजी ने आनन्तर्य कार्य में बतायी है वह है वैराग्य। वैराग्य का अर्थ संसार के त्याग से नहीं है। सांसारिक अथवा असांसारिक किसी भी वस्तु से मोह-रहित होने को वैराग्य कहते हैं।

ब्रह्म-जिज्ञासु को वस्तुओं, आचरणों एवं विचारों का मोह छोड़ना आवश्यक है। इसको साधारण भाषा में पूर्व-ग्रहों (prejudices) से मुक्त होना कहते हैं। एक व्यक्ति जो पूर्व-ग्रहों से ग्रसित है अर्थात् जो यह समझता है कि जो वह जानता अथवा करता है, गलत नहीं हो सकता, वह ब्रह्म-जैसी वस्तु को जानने के योग्य नहीं है।

वैराग्य जो ब्रह्म-जिज्ञासा का आनन्तर्य कार्य है, उसका अर्थ पूर्व-ग्रहों से मुक्त होना ही है। यह इस कारण कि मनुष्य खुले मस्तिष्क से वेदान्त-दर्शन को पढ़े।

तीसरी बात जिसे स्वामीजी आनन्तर्य कार्य बताते हैं वह है शम-दम इत्यादि साधन। इसे षट् सम्पत्ति भी कहते हैं। ये छः सम्पत्ति हैं—

(१) शम, (२) दम, (३) उपरति, (४) तितिक्षा, (५) समाधान और (६) श्रद्धा।

तनिक विचार किया जाये तो पता चलेगा कि यह षट् सम्पत्ति ब्रह्मत्त्व-प्राप्ति के लिये आवश्यक हो सकती है, परन्तु ब्रह्म-जिज्ञासा के लिये अनावश्यक ही नहीं, वरंच अमान्य भी होगी। वे लोग जो परमात्मा के अस्तित्त्व पर विश्वास नहीं रखते, जो इस जड़ जगत् के संचालन करने वाले किसी आत्मतत्त्व को स्वीकार नहीं करते, उनको कहना कि वे शम-दम, उपरति, तितिक्षा और समाधान तथा श्रद्धा पहले कर लें, तब उस ब्रह्म के अस्तित्त्व के विषय में बताएँगे तो कोई नहीं मानेगा।

एक नास्तिक को तो पहले परमात्मा के अस्तित्व का विषय समझाना होगा, पीछे वह शम, दम इत्यादि परमात्मा की प्राप्ति के साधनों को अपनायेगा। ईश्वर की उपस्थिति का जब तक उसे विश्वास नहीं हो जाता, तब तक वह किसी प्रकार का त्याग तथा तपस्या करने के लिये तत्पर नहीं होगा।

साधन चतुष्टय का चौथा अंग है मुमुक्षुत्व, अर्थात् मोक्ष-प्राप्ति की इच्छा। जो ईश्वर को मानता ही नहीं, उसको कहना कि पहले मोक्ष-प्राप्ति की इच्छा करो, तब ब्रह्म-जिज्ञासा पूर्ण की जायेगी, हास्यास्पद है।

स्वामी शंकराचार्य और उनकी परिपाटी पर ब्रह्म-सूत्रों का भाष्य लिखने वाले वेदान्त-ग्रन्थों और दर्शन-शास्त्र में भेद नहीं कर पाये। अतः वे भाष्य भी अशुद्ध कर रहे हैं।

स्वामीजी यह मानते हैं कि दर्शन-शास्त्र अर्थात् ब्रह्म-सूत्र वेदान्त-वाक्यों के पुष्पों को माला में बाँधने वाले सूत्र की भाँति हैं। अभिप्राय यह कि दर्शन-शास्त्रों का कार्य गौण है। मुख्य तो वेदान्त-सूत्र हैं।

स्वामीजी इस विषय में सूत्र १-१-२ की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

वेदान्तवाक्यकुसुमग्रथनार्थत्वात्सूत्राणाम्।

हमारा मत है कि ब्रह्म-सूत्र, सम्बन्धित वेदान्त-वाक्यों को बाँधने के लिए

नहीं हैं, वरंच वे स्वतन्त्र रूप से वही बात सिद्ध करने के लिये हैं, जो वेदान्त-वाक्यों में कही गई हैं।

सूत्र १-१-१ में 'अथ' शब्द को आनन्तर्यार्थक मानना और फिर आनन्तर्य कार्य साधन-चतुष्टय लिख देना भी उक्त भूल के कारण ही हुआ है। स्वामी शंकराचार्य दर्शन-शास्त्र लिखने के प्रयोजन को ही नहीं समझे।

वेद और उपनिषदों में ब्रह्म के विषय में अनेक ऐसे वाक्य हैं, जिनसे ब्रह्म का स्वरूप स्पष्ट होता है। परन्तु उन वाक्यों में वर्णनात्मक वृत्तान्त ही है। दर्शन-शास्त्र उनको युक्ति (अनुमान प्रमाण) से सिद्ध करने के लिये लिखे गये हैं।

अतः हमारा मत है कि इस सूत्र (१-१-१) में अथ शब्द आनन्तर्यार्थक न होकर अधिकारार्थक है। इस पर भी यह आनन्तर्यार्थक केवल इस सीमा तक हो सकता है कि जिज्ञासु की बुद्धि सात्त्विकी और मन में विवेक हो। अर्थात् वह किसी विचार के लिये हठ न रखता हो। उसका मन पूर्व-ग्रहों से मुक्त हो।

ब्रह्म-जिज्ञासा के अर्थ हमने लिखे हैं। अतः '**अथातो ब्रह्म जिज्ञासा**' के अर्थ हैं कि ब्रह्म के विषय में जानने की इच्छा की पूर्त्ति के लिए यह ग्रन्थ लिखा गया है।

जन्माद्यस्य यतः ॥२॥

जन्मादि + अस्य + यतः।

जन्मादि = जन्म, पालन और प्रलय। अस्य = इस (कार्य-जगत्) का। यतः = जिससे (होता) है, वह ब्रह्म है।

इस सूत्र में ब्रह्म के अस्तित्व का एक अकाट्य प्रमाण प्रस्तुत किया गया है। प्रमाण तीन प्रकार के होते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द (अथवा आप्त)।

प्रत्यक्ष प्रमाण दो प्रकार का होता है। एक जो बाह्य इन्द्रियों से प्रत्यक्ष हो; दूसरा, जो अन्तःकरण से प्रत्यक्ष किया जाये। अन्तःकरण को गूढ़ तत्त्व ब्रह्म के दर्शन के योग्य बनाने के लिए योगाभ्यास बताया गया है।

कपिल मुनि अपने सांख्य-दर्शन में प्रमाणों के विषय में लिखते हैं—

द्वयोरेकतरस्य वाप्यसन्निकृष्टार्थपरिच्छित्तिः प्रमा।
तत्साधकतमं यत्तत् त्रिविधं प्रमाणम्॥ (१-८७)

द्वयो अर्थात् दोनों (बुद्धि एवं आत्मा) अपिवा = अथवा; एकतरस्य = दोनों में एक (आत्मा) को; असन्निकृष्टार्थ परिच्छित्तिः = पूर्व अज्ञात अर्थ का प्रकट होना; प्रमा = प्रमा कहलाता है। तत्साधकतमं यत् = जिससे वह सिद्ध हो; तत् त्रिविधं प्रमाणं = वह प्रमाण तीन प्रकार का है।

इस सांख्य सूत्र का भावार्थ यह है कि आत्मा को अथवा दोनों (आत्मा और बुद्धि) को किसी अज्ञात बात के प्रकट होने को प्रमा कहते हैं और प्रमा को सिद्ध करने वाले को प्रमाण कहते हैं।

नैयायिक प्रमा को इस प्रकार प्रकट करते हैं **'यथार्थानुमतः प्रमा'** । यथार्थ अर्थ के अनुभव को प्रमा कहते हैं।

न्याय-दर्शन में महर्षि गौतम ने प्रमाण के विषय में यह लिखा है—

प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि ॥

(१-१-३)

प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द, ये चार प्रकार के प्रमाण हैं।

सांख्य तीन प्रमाण ही मानता है। सांख्य में प्रमाण हैं, प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। न्याय दर्शनाचार्य ने एक चौथा प्रमाण उपमान लिखा है। न्याय-दर्शन के अनुसार अनुमान और उपमान के लक्षण इस प्रकार हैं—

"अनुमीयते येनेति अनुमानम्"—जिससे अनुमान हो, उसको अनुमान कहते हैं।

सांख्य इसे अधिक स्पष्ट रूप में वर्णन करता है। सांख्य कहता है—

प्रतिबन्धदृशः प्रतिबद्धज्ञानमनुमानम् ॥

(१-१००)

अर्थात्—व्याप्ति के ज्ञाता को व्याप्य से व्यापक का ज्ञान अनुमान है। प्रतिबन्ध और व्याप्ति पर्यायवाचक शब्द हैं। दो वस्तुओं के सम्बन्ध को प्रतिबन्ध अथवा व्याप्ति कहते हैं। इस सम्बन्ध को देखने वाले को जब एक वस्तु देखकर सम्बन्धित वस्तु (व्याप्य) का ज्ञान हो, तब अनुमान प्रमाण कहलाता है।

दूसरे शब्दों में जब दो बातों अथवा वस्तुओं का सम्बन्ध ज्ञात हो जाये तब एक की विद्यमानता से दूसरे का ज्ञान अनुमान प्रमाण कहलाता है।

उदाहरणार्थ—हम देखते हैं कि जो वस्तु उत्पन्न होती है, वह नित्य नहीं रहती। अर्थात् उत्पत्ति धर्मकत्व और अनित्यत्व सदा सम्बन्धित हैं। अतः जब हम किसी का बनना देखते हैं तो उसका टूटना अवश्यम्भावी है। यदि कोई वस्तु टूटती हुई देखी जाती है तो वह बनी भी थी, यह विश्वास से कहा जा सकता है। इस प्रकार के परस्पर सम्बन्ध से ज्ञान प्राप्त करने को अनुमान प्रमाण कहते हैं।

उपमान के विषय में न्याय-दर्शन इस प्रकार लिखता है—

प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम् ।

(१-१-७)

जहाँ कहीं दो वस्तुओं में प्रसिद्ध समान धर्म हो। इस समान धर्म के ज्ञान से किसी एक वस्तु के गुणों के अनुमान को उपमान कहते हैं।

उदाहरण के रूप में आत्मा में चेतनता है। परमात्मा में भी यह गुण हैं।

अतः जहाँ चेतनता है वहाँ आत्मा तथा परमात्मा की उपस्थिति सिद्ध होती है। इस प्रकार सिद्ध करने को उपमान प्रमाण कहते हैं।

अतः सांख्य के 'अनुमान' के ही अन्तर्गत 'उपमान' आ जाता है। मुख्य प्रमाण तीन प्रकार के ही हैं। अनुमान तथा उपमान में थोड़ा अन्तर है, परन्तु एक के ज्ञान से दूसरे की सिद्धि दोनों में समान रूप में है।

ब्रह्म की सिद्धि में प्रत्यक्ष प्रमाण कार्य नहीं करता। प्रत्यक्ष प्रमाण इस प्रकार से है—

इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ॥

(न्याय-दर्शन १-१-४)

अर्थात्—इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्नं—इन्द्रिय और अर्थ (इन्द्रिय के विषय) के सन्निकर्ष (सम्बन्ध) से उत्पन्न होने वाले; अव्यपदेश्य=अशाब्द=कहने में आये अथवा न आये; अव्यभिचारी=भ्रम-रहित; व्यवसायात्मकं=निश्चय से ज्ञात; ज्ञानं=ज्ञान को; प्रत्यक्षम्=प्रत्यक्ष कहते हैं।

इसका अभिप्राय यह है कि इन्द्रियों से जो वस्तु जानी जाती है, उस जानने में निश्चयात्मक एवं भ्रमरहित ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं और ऐसा जानने के प्रयास को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं।

सांख्य-दर्शन में प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण इस प्रकार हैं—

यत्संबद्धं सत् तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत् प्रत्यक्षम् ॥

(१-८९)

यत्संबद्धं सत्=जिसके साथ सम्बन्ध (इन्द्रयों द्वारा) होता है; तदाकारोल्लेखि=उसी आकार को धारण करने वाला अथवा; उल्लेखन=निर्देशन करने वाला; विज्ञानं=विशेष ज्ञान है; तत्=वह; प्रत्यक्षं=प्रत्यक्ष प्रमाण है।

संक्षेप में इन्द्रियों द्वारा किसी वस्तु के ज्ञान को प्राप्त कराने वाला प्रमाण प्रत्यक्ष प्रमाण है।

इससे परमात्मा अथवा किसी भी अव्यक्त (इन्द्रिय-अगोचर) पदार्थ की सिद्धि नहीं होती। जो इन्द्रियों से जाना ही नहीं जाता, वह प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं हो सकता।

तीसरा प्रमाण है शब्द प्रमाण। इसका अभिप्राय है वेद-शास्त्र इत्यादि का प्रमाण। यह प्रमाण उनके लिए ही है जो वेदों को अपौरुषेय मानते हैं और उनके अनुकूल शास्त्र को सत्य शास्त्र मानते हैं।

जो लोग वेद को सत्य विद्याओं का ग्रन्थ नहीं मानते, उनके लिए शब्द प्रमाण का महत्व नहीं। अतः ऐसे लोगों के लिए तीसरा प्रमाण अनुमान प्रमाण ही रह जाता है। दर्शन-शास्त्र ऐसे प्रमाणों से ही वैदिक मान्यताओं को सत्य सिद्ध करते हैं।

अनुमान प्रमाण, जैसा कि सांख्य में लिखा है, दो वस्तुओं का सम्बन्ध जानकर, उनमें से एक को देखकर दूसरी सम्बन्धित वस्तुओं के होने का ज्ञान कराता है।

एक उदाहरण हम ऊपर दे चुके हैं। जो वस्तु बनी है, वह टूटेगी भी। अतः किसी वस्तु को टूटता देख यह अनुमान लगाना कि वह बनी भी थी, एक सिद्ध प्रमाण है। इस प्रकार के प्रमाण को अनुमान कहते हैं।

एक अन्य उदाहरण दिया जा सकता है। अग्नि से धुआँ होता है। अतः धुआँ देखकर अग्नि का होना सिद्ध है। यह अनुमान प्रमाण है।

उपरिलिखित सूत्र 'जन्माद्यस्य यतः' ब्रह्म के अस्तित्व को सिद्ध करने की एक प्रबल युक्ति है।

वह युक्ति यह है कि (अस्य) इस कार्य (दिखायी देने वाले) जगत् में प्रत्येक वस्तु के बनाने वाला कोई होना चाहिए। बनने वाले (कार्य) का कारण होना चाहिए। बिना बनाने वाले (कारण) के हम कुछ नहीं देखते। अतः इस कार्य-जगत् का कारण भी कोई होना चाहिए और वह कारण है ब्रह्म।

उसका नाम ब्रह्म है अथवा God है अथवा Nature (प्रकृति) है, यह तो आगे चलकर विचार करेंगे। यह बात इस सूत्र में बहुत ही स्पष्ट शब्दों में कही है कि इस कार्य-जगत् के (जन्मादि) जन्म, पालन और प्रलय का कारण कोई है। वह ब्रह्म कहलाता है।

यह युक्ति है। इसमें किसी वेद-शास्त्र का उल्लेख नहीं। एक दर्शनाचार्य को यह शोभा भी नहीं देता कि वह अपनी बात को सिद्ध करने के लिए किसी अन्य के वाक्यों की साक्षी दे। हाँ, यह तो किया जा सकता है कि जब एक दार्शनिक अनुमान प्रमाण से अपनी बात को सिद्ध कर दे तो फिर वह कह दे कि अमुक-अमुक शास्त्र, वेद एवं आप्त पुरुष ने भी ऐसा कहा है; परन्तु वह अपनी बात को सिद्ध तो अनुमान प्रमाण से ही करता है।

परन्तु स्वामी शंकराचार्यजी अपने 'शारीरक भाष्य' में ऐसा नहीं मानते। वे लिखते हैं—

जन्मनश्चादित्वं श्रुतिनिर्देशापेक्षं वस्तुवृत्तापेक्षं च। श्रुतिनिर्देशस्तावत्— 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'।

(तैत्ति० ३-१)

अर्थात्—जन्मादि की बात श्रुति में दिखा दी गयी है और यह वस्तु स्थिति की अपेक्षा से भी है। श्रुति का निर्देश है—यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते।

अभिप्राय यह कि जन्मादि से ब्रह्म की सिद्धि इस कारण है कि ऐसा श्रुति में लिखा है। स्वामीजी श्रुति का प्रमाण भी देते हैं। इस प्रमाण के विषय में हम आगे चलकर लिखेंगे। हाँ, हमारा यह कहना है कि श्री स्वामी शंकराचार्य

दर्शन-शास्त्र के इस वाक्य (जन्माद्यस्य यतः) को श्रुति के निर्देश से लिखते हैं। वे मन्द स्वर से यह भी कहते हैं कि (वस्तुवृत्तापेक्षं च) वस्तु स्थिति की अपेक्षा भी है। अभिप्राय यह कि जगत् में हम ऐसा देखते भी हैं।

परन्तु इस मन्द स्वर से स्वीकारोक्ति का खण्डन भी तुरन्त ही कर देते हैं। वे कुछ ही पंक्तियाँ आगे चलकर लिखते हैं—

एतदेवानुमानं संसारिव्यतिरिक्तेश्वरास्तित्वादिसाधनं मन्यन्त ईश्वर-कारणिनः। नन्विहापि तदेवोपन्यस्तं जन्मादिसूत्रे। न;।

अर्थात्—ईश्वर को कारण मानने वाले इसी अनुमान प्रमाण को सांसारिक पदार्थों से उत्पन्न पदार्थों की भाँति ईश्वर के अस्तित्व आदि में साधन (प्रमाण) मानते हैं। क्या इस 'जन्मादि' सूत्र में भी उसी अनुमान का उपन्यास किया गया है ? नहीं, ऐसा नहीं किया गया है।

अभिप्राय यह कि जैसे संसार में बिना किसी जीव के बनाये कुछ बनता नहीं देखा जाता, क्या इस अनुमान को ही हम 'जन्माद्यास्य यतः' में लिखा गया मानें ? स्वामीजी कहते हैं, नहीं।

इसका कारण स्वामीजी यह बताते हैं—

वेदान्तवाक्यकुसुमग्रथनार्थत्वात्सूत्राणाम्। वेदान्तवाक्यानि हि सूत्रैरुदाहृत्य विचार्यन्ते। वाक्यार्थविचारणाध्यवसाननिर्वृत्ता हि ब्रह्मावगतिः, नानुमानादि-प्रमाणान्तरनिर्वृत्ता।

अर्थात्—वेदान्त वाक्य-रूपी कुसुमों को गूंथने के लिए ये (ब्रह्म) सूत्र हैं। सूत्रों के वेदान्त-वाक्यों का उदाहरण देकर ही विचार किया जाता है। वेदान्त-वाक्यों के अर्थ विचार कर ही ब्रह्म की प्राप्ति होती है। अनुमान आदि प्रमाणों से यह प्राप्ति नहीं होती।

स्वामीजी पुनः लिखते हैं—

सत्सु तु वेदान्तवाक्येषु जगतो जन्मादिकारणवादिषु तदर्थग्रहणदार्ढ्यायानु-मानमपि वेदान्तवाक्याविरोधिप्रमाणं भवन्न निवार्यते, श्रुत्येव च सहायत्वेन तर्कस्याभ्युपेतत्वात्।

अर्थात्—ऐसे जन्मादि का कारण बताने वाले (यतो वा जायन्ते इमानि भूतानि जायन्ते) वेदान्त वाक्यों के विद्यमान होने पर उनके अर्थ ग्रहण की दृढ़ता के लिये वेदान्त वाक्यों के अनुकूल अनुमान को भी प्रमाण बनने से निवा-रण नहीं किया जाता। श्रुति में ही तर्क अनुमान को सहायक रूप में माना है।

परन्तु यह प्रमाण नहीं हो सकता। यह केवल सहायक है। इसमें स्वामीजी प्रमाण देते हैं बृहदारण्यक उपनिषद् (२-४-५) का। परन्तु यह है उन लोगों के लिये जो उपनिषदों को प्रमाण मानते हैं। हमारा तो मत है कि दर्शन-शास्त्र वेदान्त-वाक्यों को प्रमाण न मानने वालों के लिए लिखे गये हैं।

स्वामीजी बुद्धि और युक्ति का प्रयोग करने में संकोच करते हैं। आप इसी सूत्र के भाष्य में लिखते हैं—

न तु वस्त्वेवं नैवमस्ति नास्तीति वा विकल्प्यते। विकल्पनास्तु पुरुषबुद्ध्यपेक्षाः। न वस्तुयाथात्म्यज्ञानं पुरुषबुद्ध्यपेक्षम्।

अर्थात्—सिद्ध वस्तु इस प्रकार है अथवा नहीं है ? वैसा विकल्प नहीं किया जा सकता। विकल्प तो पुरुष-बुद्धि की अपेक्षा से होता है। सिद्ध वस्तु का यथार्थ ज्ञान पुरुष-बुद्धि की अपेक्षा नहीं करता।

और भी—

तत्रैवं सति ब्रह्मज्ञानमपि वस्तुतन्त्रमेव, भूतवस्तुविषयत्वात्। ननु भूतवस्तुत्वे ब्रह्मणः प्रमाणान्तरविषयत्वमेवेति वेदान्तवाक्यविचारणानर्थिकैव प्राप्ता।

अर्थात्—इसलिए यदि ब्रह्म-ज्ञान में भी वस्तु-विज्ञान की भाँति ब्रह्म को सिद्ध करने में भी अन्य प्रमाणों को लेंगे तो वेदान्त-वाक्य अविचारणीय (व्यर्थ) सिद्ध हो जायेंगे।

आप आगे लिखते हैं—

तस्माज्जन्मादिसूत्रं नानुमानोपन्यासार्थम्।

इस कारण 'जन्मादि सूत्र' अनुमान प्रमाण का प्रदर्शन नहीं करते।

वास्तव में ब्रह्म-सूत्रों में अन्य भी कई सूत्र हैं जो युक्ति से ब्रह्म की सिद्धि करते हैं। स्वामीजी को भय लग गया कि यदि युक्ति (बुद्धिः) का प्रयोग किया गया तो वेदान्त-वाक्य व्यर्थ सिद्ध हो जायेंगे।

प्रश्न यह है कि यह सूत्र (जन्माद्यस्य यतः) युक्ति-युक्त है अथवा नहीं ? यह सूत्र कहता है कि वस्तुओं का बनना, स्थिर रहना और प्रलय हो जाना विना किसी के किये नहीं हो सकता। इस कारण इस (कार्य-जगत्) का बनाने वाला, पालन करने वाला और प्रलय करने वाला जो कोई भी है, हम उसे ब्रह्म कहते हैं। यह शुद्ध, सरल और अकाट्य युक्ति है। यह विना किसी वेदान्त-वाक्य के आश्रय के स्वयं सिद्ध है। साथ ही इस युक्ति से वेदान्त-वाक्य अविचारणीय नहीं हो जाते, वरंच वे सिद्ध होते हैं।

हमने ऊपर लिखा है कि प्रत्यक्ष प्रमाण अव्यक्त पदार्थों को सिद्ध नहीं कर सकते। कारण यह कि अव्यक्त इन्द्रियगोचर नहीं और इन्द्रियगोचर ही प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय है।

शब्द-प्रमाण की सत्यता योग से सिद्ध हो सकती है, परन्तु योग आरम्भ करने के लिए मन में जिज्ञासा और योग पर श्रद्धा होनी चाहिए। अनुमान प्रमाण ये दोनों बातें उत्पन्न करता है।

'ब्रह्म है' यह तो सिद्ध हुआ, परन्तु ब्रह्म एक है अथवा एक से अधिक ? यदि एक से अधिक ब्रह्म हैं तो उनकी जगत् के जन्म, मरण और प्रलय में

क्या-क्या भूमिकाएँ हैं ?

जहाँ तक ब्रह्म-सूत्रों का सम्बन्ध है, उनमें तीन प्रकार के ब्रह्म माने गए हैं। यद्यपि तीन के होने पर युक्ति दूसरे पाद में की गयी है। वहाँ इन तीनों की उपस्थिति और इनमें भेद का उल्लेख है।

जब यह सिद्ध हो गया कि बिना कारण के कार्य नहीं होता और जगत् का कारण ब्रह्म है तो शेष बात (कि ब्रह्म तीन प्रकार के हैं) स्वतः सिद्ध हो जाती है। इस युक्ति का, कि 'जन्मादि जिससे होता है वह ब्रह्म है' उप-सिद्धान्त ही है कि किसी वस्तु के बनने में कितने कारण हो सकते हैं और जब कार्य कारण में विलीन होता है तो कितने कारणों में विलीन होता है ? इससे यह भी सिद्ध होता है कि एक कारण भोक्ता भी है।

कार्य-जगत् में हम देखते हैं कि प्रत्येक वस्तु के कारण रहते हैं। उपादान कारण और निमित्त कारण। अतः दोनों कारण ब्रह्म ही हैं। जगत् का उपादान कारण भी ब्रह्म कहलाता है और निमित्त कारण भी ब्रह्म ही कहलाता है।

पहला प्रश्न उपस्थित होता है कि वेदान्त-सूत्रों में कहीं ऐसा माना गया है क्या ? हमारा कहना है कि हाँ, माना गया है।

वेदान्त-सूत्र द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद में इस बात का वर्णन है कि परमात्मा के अतिरिक्त एक जड़ (प्रकृति) पदार्थ भी जगत् का कारण है।

इस अध्याय के प्रथम पाद में ही यह प्रसंग उठता है कि जब ब्रह्म, जगत् के जन्मादि का कारण है तो अन्य स्मृतियाँ (शास्त्र) इसका समर्थन क्यों नहीं करतीं ? दर्शनाचार्य इस पूर्व पक्ष को उठाकर तुरन्त ही इसका उत्तर देते हुए उसके समर्थन में निम्न सूत्र प्रस्तुत करते हैं—

स्मृत्यनवकाशदोषप्रसंग चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसंगात् ।।

(२-१-१)

स्मृतियों में अनवकाश दोष का प्रसंग है क्या ? यदि कहें है तो नहीं। अन्य स्मृतियों में अनवकाश दोष प्रसंग से।

इस सूत्र का अभिप्राय है कि कुछ स्मृतियों में प्रकृति को जगत् का कारण माना है, कुछ में परमात्मा को। वे एक-दूसरे का समर्थन नहीं करतीं। ब्रह्म-सूत्रों का प्रणेता कहता है कि नहीं, अन्य स्मृतियों में अनवकाश दोष होने से अर्थात् खण्डन न होने से ऐसी बात नहीं।

उदाहरण के रूप में सांख्य में प्रकृति से जगत् की उत्पत्ति लिखी है, परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि प्रकृति से जगत् की उत्पत्ति में ब्रह्म सहायक नहीं था।

इस प्रकार ब्रह्म-सूत्रों में प्रकृति का वर्णन किया है और फिर दूसरे अध्याय

के दूसरे पाद के सूत्र ४ तथा ५ में इस प्रकार लिख दिया है—

न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात् ॥

(२-१-४)

न विलक्षणत्वात्—(जगत् से) विलक्षणता न होने के कारण (प्रकृति-कारण है) तथात्वं—(कारण-कार्य में) समानता होने से शब्दात् ऐसा दूसरे (वे० द० ४-१-१) स्थान में भी कहा है। जगत् जड़ है तो इसका मूल कारण प्रकृति भी जड़ है।

आगे लिखा है—

अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ॥

(२-१-५)

अर्थात्—अभिमानि—अलंकार रूप में। उपदेश वर्णन किया है। विशेषानुगतिभ्याम्—यह विशेष शैली (लिखने की विधि) के कारण है।

कई शास्त्रों में लिखा है कि मिट्टी बोली (शत० ब्रा० ६-१-३,४), मिट्टी बोली (श० ब्रा० ६-१-३,८), जल बोले (छा० उ० ६-२, ३-४), उस तेज ने ईक्षण किया (बृ० उ० १-३-२), देवों ने वाक् को कहा। यहाँ प्राकृतिक वस्तुओं का चेतन के रूप में वर्णन अलंकार के रूप में है।

इन सूत्रों पर स्वामी शंकराचार्य जी क्या कहते हैं और क्यों वह अमान्य है, इन्हीं सूत्रों के भाष्य में अन्यत्र देखिये। यहाँ तो इतना ही कहने से प्रयोजन है कि ब्रह्म-सूत्रों में प्रकृति के उपादान कारण होने का उल्लेख है।

जगत् में एक तीसरा कारण भी विद्यमान है। वह जीवात्मा है। प्राणियों में परमात्मा एवं प्रकृति के अतिरिक्त जीवात्मा भी है और प्राणी भी है और वह भी जगत् का भाग है। अतः जीवात्मायें भी जगत् बनने में कारण हैं।

यदि ये तीन ब्रह्म नहीं मानते तो जगत् की विभिन्न गतिविधियों का वर्णन नहीं हो सकता।

जीवात्मा का भी ब्रह्म-सूत्र में वर्णन है। लिखा है—

गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ॥

(१-२-११)

गुहां—(मस्तिष्कगत हृदय देश रूप गुहा) में; प्रविष्टौ—प्रविष्ट किए हुए हैं। आत्मानौ—दो आत्मा हैं। तद् दर्शनात्—यह बात उनके दर्शन करने से पता चलती है।

इससे अगला सूत्र है—

'विशेषणाच्च'

(१-२-१२)

यहाँ 'दर्शनात्' की व्याख्या की गयी है। दर्शन कैसे होता है ? लिखा है

(विशेषणात् + च) लक्षण-भेद जानने से।

अर्थात्—दो प्रकार के आत्म-तत्त्वों के लक्षणों में अन्तर है। उस अन्तर को जानने से आत्म-तत्त्व एक के स्थान पर दो दिखायी देने लगते हैं।

अन्य भी कई स्थानों पर ब्रह्म-सूत्रों के प्रणेता ने जीवात्मा को परमात्मा से भिन्न प्रकट किया है। उदाहरण के रूप में—

अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः ॥

(१-२-१७)

अनवस्थितेः—भिन्न-भिन्न स्थानों पर स्थित। असम्भवात्—असम्भव अर्थात् न हो सकने के कारण। च न इतर—और नहीं दूसरा है।

इसका अभिप्राय है कि जीवात्मा गुहा में रहता है। वह भिन्न-भिन्न अंगों में नहीं रहता। प्राणी का एक अंग कट जाने से आत्मा मरता नहीं। वह समूचा का समूचा विद्यमान रहता है। अतः सब अंगों में समान रूप से विद्यमान कोई दूसरा (परमात्मा) है।

इस कथन से यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्म-सूत्रों में परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति का उल्लेख है और तीनों का भिन्न-भिन्न होना माना है। इसके साथ ही यह भी समझ लेना चाहिए कि ब्रह्म-सूत्रों ने यहाँ पर युक्ति से इसका वर्णन किया है, परन्तु यही बात वेद में भी वर्णन की गयी है।

ऋग्वेद (१-१६४-२०) में लिखा है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ॥

एक वृक्ष पर दो सुपर्ण सह-योनि सखा बैठे हैं। एक सखा तो वृक्ष के फलों को खाता है और दूसरा केवल साक्षी के रूप में देखता है।

यहाँ 'द्वा सुपर्णा' से अभिप्राय दो आत्म-तत्त्वों से है। ये दोनों चेतन स्वरूप बताये गए हैं। एक फलों को खाता है और दूसरा केवल देखता है। ये चेतनता के लक्षण हैं।

और भी प्रमाण हैं—

पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्।
तस्मिन् यद्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥

(अथर्व० १०-८-४३)

इसका अभिप्राय है —नौ द्वार वाले त्रिगुणात्मक प्रकृति से बने इस कमल समान शरीर में यक्ष (जीवात्मा) आत्मन् वत् (परमात्मा की भाँति) रहता है। ब्रह्मवादी उसे जानकर परमात्मा का साक्षात्कार करते हैं।

और भी है—

वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।

तस्मिन्निदꣳ सञ्च वि चैति सर्वꣳ स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु ॥

(यजु० ३२-८)

(वेन:) ज्ञानवान् पुरुष (तत्) उस परमात्मा को (गुहा निहितम्) गुहा में विद्यमान (सत् पश्यत्) सत् रूप में देखते हैं। जिसमें (विश्वम् भवति एक नीडम्) विश्व एक ही आश्रय पर स्थित है। (तस्मिन्) उसमें (इदम्) यह कार्य जगत् (सम एति) लीन हो जाता है प्रलय काल में। (च) और (वि एति) विविध प्रकार से प्रकट होता है, रचना-काल में। (स:) वह परमेश्वर (प्रजासु विभु:) सब प्राणियों में व्यापक है (ओत: प्रोत: च) ओत-प्रोत है।

यहाँ प्राणी के मस्तिष्क-स्थित गुहा में परमात्मा की विद्यमानता का भी आभास व्यक्त किया है।

कठोपनिषद् में भी इसी प्रकार वर्णन मिलता है—

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे ।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥

(कठो० ३-१)

(सुकृतस्य लोके) भले कर्म करने के लोक में अर्थात् मनुष्य शरीर में (ऋतं पिबन्तौ) सत्य ज्ञान प्राप्त कर (गुहां प्रविष्टौ) गुहा में उपस्थित (परमे परार्धे) शरीर के उच्च स्थान में रहते हुए (छायातपौ) धूप और छांह के समान हैं। (ब्रह्मविदो) ब्रह्म-ज्ञानी (पञ्चाग्नयो) गृहस्थी (त्रिणाचिकेता:) उपासक (वदन्ति) ऐसा कहते हैं।

इस प्रकार अनेक प्रमाण दिये जा सकते हैं कि वेदादि शास्त्रों में जीवात्मा, परमात्मा और प्रकृति का पृथक्-पृथक् वर्णन है।

परन्तु ये तीनों ब्रह्म हैं क्या ? यह निम्न प्रमाण से स्पष्ट हो जाता है—

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता ।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत् ॥

(श्वे० १-९)

ज्ञानवान और अज्ञानी, ईश और अनीश्वर दोनों अजन्मा हैं। एक अन्य अजन्मा है जो भोग करने वाले के लिए भोगार्थ है। अनन्त स्वरूप आत्मा विश्व-रूप और अकर्ता (भोग नहीं करने वाला) है। इन तीनों को जब कोई जानता है कि ये ब्रह्म हैं।

और भी लिखा है—

एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित् ।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा, सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् ॥

(श्वे० १-१२)

(एतत्) यह (ज्ञेयं) जाना हुआ (नित्यम्) अनादि (इव आत्म-संस्थं) इस

प्रकार आत्मा में स्थित है। (नातः परं) बहुत दूर नहीं (वेदितव्यं) जाना जा सकता है (किंचित्) कुछ ही (भोक्ता भोग्ये प्रेरितारं च मत्वा) भोक्ता (जीवात्मा) भोग्य (प्रकृति) और प्रेरित करने वाला अर्थात् मार्ग-दर्शक वह परमात्मा है। (सर्वं) ये तीनों (प्रोक्तं) कहे जाते हैं (त्रिविधं) तीन प्रकार के ब्रह्म।

तीनों को ब्रह्म कहा जाता है, यह एक अन्य स्थान पर भी लिखा है—

सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते, अस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा, जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति॥
उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म, तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरं च।
अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा, लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः॥

(श्वे० १-६, ७)

(सर्वाजीवे) सब प्राणियों में (सर्व संस्थे) सबका आश्रय, (अस्मिन्) इस (बृहन्ते) महान् (ब्रह्मचक्रे) ब्रह्मचक्र में, (हंसो) जीवात्मा (भ्राम्यते) भ्रमण करता है। और इसे (पृथगात्मानं) पृथक् आत्मा (परमात्मा) को (प्रेरितारं) प्रेरणा देने वाले (मत्वा) मानकर, (जुष्टः ततः तेन) और उसमें लीन हुआ (अमृतत्वम्) अमृत अर्थात् मोक्ष को (एति) प्राप्त होता है।

(उद्गीतं) ऊपर वर्णित (एतत् परमं तु ब्रह्म) वे परम ब्रह्म हैं। (तस्मिन् त्रयं) उसमें तीनों—ब्रह्म चक्र, जीव समूह और प्रकृति (सुप्रतिष्ठाक्षरं च) अच्छी तरह प्रतिष्ठित अक्षर हैं, (अत्रान्तरं) इनमें भेद को (ब्रह्मविदो विदित्वा) जानकर ब्रह्मज्ञानी (लीना ब्रह्मणि) परमात्मा में लीन (तत्परा) उसी में तत्पर हैं और (योनिमुक्ताः) जन्ममरण से मुक्त हैं।

यहाँ भी तीनों को ब्रह्म माना है। यहाँ एक बात और मानी है कि ब्रह्मज्ञानी परमात्मा में लीन चौथी वस्तु है।

यह पूछा जा सकता है कि तीनों को ब्रह्म किसलिए कहा है? वह इस कारण कि तीनों में अक्षर, अनादि और अव्यक्त होने की समानता है। इस समानता के लिए ही इनको समान रूप में ब्रह्म कहा है।

भगवद्गीता (८-३) में भी अक्षर को ब्रह्म कहा है। अक्षरं ब्रह्म—अक्षर ब्रह्म है और अक्षर क्या है? भगवद्गीता में ही उसका वर्णन इस प्रकार किया है—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।

(१३-१९)

प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि हैं। कहा है—

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥
(भ० गी० १३-२०, २१)

इसका अर्थ है—(कारण) इन्द्रियाँ और उनके कर्म में कारण प्रकृति है। पुरुष (जीवात्मा) सुख-दुःख भोगने में कारण है।

पुरुष (जीवात्मा) प्रकृति में रहता हुआ प्रकृति से उत्पन्न गुणों का भोग करता है। गुणों के संग से अच्छे और बुरे जन्म पाता है।

इन दोनों से परमात्मा को पृथक् माना है।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥
(भ० गी० १३-२२)

अर्थात्—इस देह में परम पुरुष परमात्मा है। वह साक्षी है, यथार्थ सम्मति देने वाला, सबको धारण करने वाला और प्रलय करने वाला महेश्वर कहलाता है।

और भी स्पष्ट किया है—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥
(भ० गी० १५-१६-१७)

इस लोक में क्षर और अक्षर दो प्रकार की वस्तुएँ हैं। क्षर है कार्य-जगत् और अक्षर है जीवात्मा, जो प्राणी की गुहा में रहता है। एक अन्य उत्तम पदार्थ है जो परमात्मा (ईश्वर) कहा गया है। वह तीनों लोकों में विराजमान है और सबको धारण करता है।

इस प्रमाण से भी यही सिद्ध होता है कि तीन तत्त्व हैं। कार्य-जगत् तो अव्यक्त प्रकृति से उत्पन्न होता है। अव्यक्त प्रकृति भी अक्षर है अर्थात् अनादि है। जीवात्मा जो प्राणी की गुहा में रहता है, वह भी अनादि और अक्षर है। एक अन्य अक्षर है, जिसे परमात्मा तथा ईश्वर कहते हैं। वह सबसे उत्तम है और उसे वेदों में तथा संसार में पुरुषोत्तम कहा है।

वेदान्त-दर्शन (ब्रह्म-सूत्रों) में भी तीन तत्त्व बताये हैं। वे हैं परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति।

हमारा अभिप्राय है कि ये तीनों अक्षर हैं और इन तीनों को ब्रह्म मानकर ही यह सूत्र 'जन्माद्यस्य यतः' कहा गया है। अर्थात् जन्म, पालन और प्रलय में कारण ब्रह्म है। ब्रह्म तीन हैं—प्रकृति, परमात्मा और जीवात्मा-समूह।

प्रकृति उपादान कारण है। परमात्मा निमित्त कारण है और जीवात्मा-समूह साधारण कारण है। यह इसलिए कि जगत् की रचना इसके प्रयोग के लिए ही है।

जैसे मिट्टी घड़े का उपादान कारण होती है, कुम्हार घड़े का निमित्त कारण होता है और घड़े का ग्राहक भी घड़े के बनने में कारण होता है। ग्राहक न हो तो घड़ा बनाया ही नहीं जाता।

यद्यपि ब्रह्म-सूत्रों में तथा अन्य कई उपनिषदों में प्रकृति और जीवात्मा को स्पष्ट रूप में ब्रह्म नहीं कहा गया; इस पर भी हमारा ऐसा मत है कि प्राचीन काल में तीनों को ब्रह्म समझा जाता था और ब्रह्म शब्द का अर्थ करते समय पूर्वापर का सम्बन्ध लगाकर ब्रह्म के अर्थ करने चाहिए। जहाँ जैसा अर्थ उपयुक्त हो, वैसा ही मानना चाहिए।

ब्रह्म शब्द प्राय: परमात्मा के लिए प्रयुक्त हुआ है। अनेक स्थानों पर यह आत्मा और परमात्मा दोनों के लिए आया है और कहीं-कहीं परमात्मा, आत्मा और प्रकृति तीनों के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। आत्मा शब्द परमात्मा और जीवात्मा दोनों के लिए प्रयोग किया गया है।

भगवद्गीता और श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी यह स्पष्ट रूप में कह दिया गया है कि प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा तीनों अजन्मा और अव्यक्त होने के कारण ब्रह्म के नाम से प्रसिद्ध हैं।

इस सूत्र का भाष्य करते समय स्वामी शंकराचार्य ने कुछ उपनिषदों के प्रमाण प्रस्तुत कर अपने कथन का समर्थन किया है। अत: उनके भाष्य पर विवेचना करते समय यह आवश्यक है कि इन प्रमाणों के विषय में भी देखा जाए कि वे स्वामीजी के कथन का समर्थन करते हैं अथवा नहीं; और करते हैं तो कहाँ तक करते हैं? साथ ही हमने भी एक-दो बातों पर विशेष मत प्रकट किया है जो स्वाभाविक है कि स्वामीजी की परिपाटी पर लिखने वालों को स्वीकार्य नहीं होगा। देखना यह है कि स्वामीजी द्वारा दिये गए प्रमाण हमारे मत के विषय में क्या कहते हैं।

(१) इस सूत्र के भाष्य में प्रथम प्रमाण स्वामीजी ने दिया है तैत्तिरीय उपनिषद् का। स्वामीजी लिखते हैं—

श्रुतिनिर्देशस्तावत्—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तैत्ति० ३-१) इत्यस्मिन्वाक्ये जन्मस्थितिप्रलयानां क्रमदर्शनात्।

अर्थात्—श्रुति के निर्देश हैं 'यतो वाइमानि' इस वाक्य में जन्म, स्थिति, प्रलय का क्रम-दर्शन कराने से।

जन्मादि का अर्थ स्वामीजी ने जन्म, पालन और प्रलय किया है। हमने भी यही किया है। सब आचार्यों ने ऐसा ही किया है। यह पूर्ण उद्धरण इस

प्रकार है—

…यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा॥

(तैत्ति० ३-१)

अर्थ है—(यतो वा) जिससे (इमानि) ये (भूतानि जायन्ते) प्राणी उत्पन्न होते हैं, (येन जातानि जीवन्ति) जिसमें उत्पन्न हुए जीते हैं, (यत्प्रयन्त्यभि संविशन्ति) जिससे अगले जन्म में जाते हैं और जहाँ प्रवेश पाते हैं, (तद्विजिज्ञासस्व) उसके जानने की जिज्ञासा, (तद्ब्रह्मेति) वह ब्रह्म है, (स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा) उसने तप किया और तप से यह जाना।

स्वामीजी का यह कहना है कि जन्मादि से अभिप्राय जन्म, पालन और प्रलय है, इसका समर्थन मिलता है। हमने भी ऐसा ही माना है।

परन्तु स्वामीजी आगे चलकर कहते हैं कि यदि वेदान्त प्रमाण का अविरोधी प्रमाण भी होता तब उसका (युक्ति से) निवारण नहीं किया जा सकता। अनुमान प्रमाण केवल सहायक प्रमाण हैं।

स्वामीजी लिखते हैं—

सत्सु तु वेदान्तवाक्येषु जगतो जन्मादिकारणवादिषु तदर्थग्रहणदार्ढ्यायानुमानमपि वेदान्तवाक्याविरोधि प्रमाणं भवन्न निवार्यते, श्रुत्येव च सहायत्वेन तर्कस्याभ्युपेतत्वात्। तथा हि—

इसका अभिप्राय हम ऊपर लिख चुके हैं। इसमें स्वामीजी उद्धरण यह देते हैं—

(२) **'श्रोतव्यो मन्तव्यः'** (बृह० २-४-५)

यहाँ केवल मात्र प्रभाव उत्पन्न करने के लिए स्वामीजी ने यह उद्धरण दिया प्रतीत होता है। वास्तव में इस उद्धरण का स्वामीजी के कथन से दूर का भी सम्बन्ध नहीं है।

बृहदारण्यक उपनिषद् २-४-५ में पूर्ण वक्तव्य को पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ अनुमान प्रमाण का उल्लेख मात्र भी नहीं है।

इस (२-४-५) का अर्थ इस प्रकार है—

हे मैत्रेयी! निश्चय से पति की कामना के लिए भार्या को पति प्रिय नहीं होता, प्रत्युत् आत्मा के सुख के लिए वह प्यारा होता है। यही बात पत्नी के प्रति पति की है।

पुत्र होने से पुत्र प्रिय नहीं, वरंच पुत्र से आत्मा को पुत्र की ममता के लिए प्रिय होता है। धन, धन के लिए प्रिय नहीं, वरंच यह सुखकर साधन होने से प्रिय होता है। क्षेत्र कर्म, वेद का पढ़ना, संसार, देवता इत्यादि सब इस कारण प्रिय नहीं होते कि वे हैं, वरंच इस कारण कि उससे आत्मा को सुख और कल्याण

की आशा होती है। अतः—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वंविदितम्।

(बृ० २-४-५)

ऐसा प्रिय-स्वरूप आत्मा ही देखने, जानने, श्रवण, मनन और निश्चय से ध्यान करने योग्य है। हे मैत्रेयी! आत्मा के ही दर्शन से, श्रवण से, मनन से और विशेष ज्ञान से यह सारा कुछ जाना जाता है। यहाँ आत्मा से अभिप्राय जीवात्मा है।

यह आगे प्रमाणों से स्पष्ट हो जायेगा कि श्री स्वामी शंकराचार्य असंगत प्रमाण देने के अभ्यस्त हैं। कम पढ़े-लिखे लोगों पर अपनी विद्वत्ता की छाप डालने के लिए उपनिषद्-वाक्य वे कह देते हैं, भले ही उनका प्रसंग के साथ कोई सम्बन्ध न हो।

उक्त (बृ० २-४-५) उद्धरण का अनुमान प्रमाण और वेदान्त-वाक्य में भेदभाव बताने में कुछ भी प्रयोजन नहीं है।

(३) इसी सूत्र के भाष्य में स्वामीजी एक अन्य प्रमाण लिखते हैं। प्रमाण है छान्दोग्य उपनिषद् का।

'पण्डितो मेधावी गन्धारानेवोपसंपद्येतैवमेवेहाचार्यवान्पुरुषो वेद' (छान्दो० ६-१४-२) **इति च पुरुषबुद्धिसाहाय्यमात्मनो दर्शयति।**

जैसे बुद्धिमान् पण्डित गन्धार देश को प्राप्त करता है, वैसे ही पुरुष बुद्धि की सहायता से आत्मा का दर्शन करता है।

आइये, देखें कि इस उद्धरण में क्या लिखा है और वह स्वामीजी के कथन का समर्थन करता है अथवा नहीं?

प्रमाण इस प्रकार है—

यथा सौम्य पुरुषं गन्धारेभ्योऽभिनद्धाक्षमानीय तं ततोऽतिजने विसृजेत्स यथा तत्र प्राङ् वोदङ् वाधराङ् वा प्रत्यङ् वा प्रध्मायीताभिनद्धाक्ष आनीतोऽभिनद्धाक्षो विसृष्टः॥१॥

तस्य यथाभिनहनं प्रमुच्य प्रब्रूयादेतां दिशं गन्धारा एतां दिशं व्रजेति। स ग्रामाद्ग्रामं पृच्छन् पण्डितो मेधावी गन्धारानेवोपसम्पद्येतैवमेवेहाचार्यवान पुरुषो वेद। तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य इति॥

(छान्दो० ६-१४-१,२)

अर्थात्— हे सौम्य! जैसे कोई किसी पुरुष को गन्धार देश से आँखें बाँध कर किसी दूर देश में ले जाकर विजन स्थान में छोड़ दे; वह वहाँ हल्ला करे कि वह वहाँ नेत्र बाँधकर लाया गया और दिशा का ज्ञान नहीं रखता; कोई उसे बताये कि वह घर जाने के लिए कहाँ जाये?

जैसे उसका हल्ला सुनकर उसके नेत्र के बंधन खोलकर कहें कि इस दिशा को गन्धार है। वह ग्राम-ग्राम से पूछता हुआ पण्डित बुद्धिमान् अन्त में गन्धार में ही पहुँच जाये, ऐसे ही आचार्यवान् पुरुष से जान जाता है। उसे उतनी ही देर होती है जब तक कि उसके आँखों के बन्धन नहीं टूटते। अन्त में वह प्राप्त कर लेता है।

इस उद्धरण में भी युक्ति (अनुमान प्रमाण) का सम्बन्ध नहीं है। यह उदाहरण किसी अन्य प्रसंग में आया है। इस का अभिप्राय यह है कि आँखों के बन्धन खोलने से वह ठीक मार्ग पर जाने योग्य हो जाता है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि बन्धन खुलते ही वह गन्धार में पहुँच जायेगा।

बन्धन खोलने का अभिप्राय क्या वेदान्त-वाक्यों के जानने से है? हमारा मत है कि नहीं। बन्धन खोलने से अभिप्राय है कि उसकी बुद्धि को कार्य करने योग्य बना देना।

बन्धन खोलने के उपरान्त वह दयावान् पुरुष उस भटके हुए व्यक्ति को बताता है कि अमुक दिशा में गन्धार है।

यह इस प्रकार है। दर्शन-शास्त्र पढ़ने से पूर्व बुद्धि में विवेक और वैराग्य उत्पन्न होना चाहिए। हमने बताया है कि विवेक का अर्थ निवृत्ति-प्रवृत्ति, कार्य-अकार्य, धर्म-अधर्म इत्यादि में भेद जानने वाली बुद्धि को प्राप्त करना है और वैराग्य का अर्थ है पूर्व ग्रहों से मुक्ति प्राप्त करना। यही बन्धन खोलने का अभिप्राय है। इतना हुए बिना दर्शन-शास्त्र का लाभ नहीं हो सकता।

इस बन्धन खुलने के उपरान्त एक विद्वान् आचार्यवान् बताता है कि 'जन्माद्यस्य यतः'। यह दिशा बताना है। अब मनुष्य इस प्रकार विचार करता-करता गन्धार तक (ब्रह्म तक) पहुँच जाता है।

स्वामीजी द्वारा उद्धृत प्रमाण तो यह बताता है कि सात्त्विकी बुद्धि प्राप्त करो। पूर्व ग्रहों के परित्याग का विचार करो। तब विचार करते-करते अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाओगे।

जब तक बुद्धि में विवेक और वैराग्य उत्पन्न नहीं होता, तब तक लक्ष्य स्थान पर पहुँचा नहीं जा सकता। इसके सम्पन्न होते ही अर्थात् उक्त प्रकार की बुद्धि होते ही दर्शन-शास्त्र का संकेत (जन्माद्यस्य यतः) आपको ब्रह्म के अस्तित्व तक पहुँचा देगा क्या? नहीं। तदनन्तर गाँव-गाँव और पूछते हुए चलने का अर्थ है योगाभ्यास कर पग-पग पर समाधि अवस्था को प्राप्त करना।

यह है स्वामीजी द्वारा दिए प्रमाण की संगति। वह नहीं जो स्वामीजी लगा रहे हैं।

(४) स्वामीजी इसी सूत्र के भाष्य में एक अन्य प्रमाण देते हैं। वह है तैत्तिरीय उपनिषद् का। इससे स्वामीजी यह सिद्ध करने का यत्न करते हैं कि जगत्

का उपादान कारण भी आनन्द (परमात्मा) ही है। यह तैत्तिरीय उपनिषद् का प्रमाण है—

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। सैषा भार्गवी वारुणी विद्या परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता। य एवं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति, प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या॥ (३-६)

भृगु ऋषि ने पिता के कथनानुसार तप किया। तप करने से उसे पता चला कि अन्न ही ब्रह्म है, क्योंकि यह प्राणी का पालन करता है। और अधिक तपस्या करने पर उसे पता चला कि प्राण ब्रह्म है। इससे प्राणी जीवित रहते हैं और कार्य करते हैं। फिर तपस्या की तो उसे पता चला कि मन ही ब्रह्म है। कारण यह कि ज्ञान का संचय मन पर होता है और ज्ञान से ही भरण-पोषण होता है। भृगु ने पिता के कहने पर और अधिक तपस्या की तो उसकी समझ में आया कि बुद्धि ही ब्रह्म है। उसने और अधिक तपस्या की तो उसे पता चला कि आनन्द ही ब्रह्म है।

इस स्थान से उक्त उद्धरण आरम्भ होता है। अर्थ इस प्रकार है—

(आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्) अब आनन्द को ब्रह्म जाना। (आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते) आनन्द से ही सम्पूर्ण प्राणी उत्पन्न होते हैं। (आनन्देन जातानि जीवन्ति) आनन्द से उत्पन्न हो जीवित रहते हैं। (आनन्द प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति) अन्त (मृत्यु) के उपरान्त दूसरे में आनन्द की सहायता से ही जाता है। (सैषा भार्गवी वारुणी विद्या) यह सब भार्गवी और वारुणी की विद्या है। यह (परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता) विद्या परम आकाश में प्रतिष्ठित है। इसका अभिप्राय है कि इसका ज्ञान आकाश-तत्त्व के अध्ययन से पता चलता है। सृष्टि की उत्पत्ति से अभिप्राय है। (य एवं वेद प्रतितिष्ठति) जो इसी प्रकार जानता है वह वेद में प्रतिष्ठित होता है। (अन्नवानन्नादो भवति) वह अन्न से युक्त और अन्न का भोग करने वाला होता है। (महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन महान् कीर्त्या) प्रजया अर्थात् सन्तान से, पशुओं अर्थात् धन-सम्पत्ति से, ब्रह्मवर्चसेन अर्थात् ब्रह्म के तेज से अभिप्राय यह कि शक्ति से मनुष्य महान् होता है और कीर्ति से भी महान् होता है।

स्वामी शंकराचार्य उक्त उद्धरण से अपना पक्ष सिद्ध करना चाहते हैं। स्वामीजी का पक्ष है—

अन्यान्यप्येवंजातीयकानि वाक्यानि नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावसर्वज्ञस्वरूपकारणविषयाण्युदाहर्तव्यानि॥

अर्थात्—इसी प्रकार के अन्य-अन्य वाक्यों से सिद्ध होता है कि नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, स्वभाव, सर्वज्ञ स्वरूप कारण हैं और इसी प्रकार के उपनिषद्

वाक्य का उदाहरण देना चाहिए। (अनुमान प्रमाण का नहीं)।

ये और अन्य उपनिषद् वाक्य प्रमाण हैं उनके लिए जो पूर्व संस्कारों के कारण उपनिषदादि ग्रन्थों को स्वतःप्रमाण मानते हैं, परन्तु दर्शन-शास्त्र तो परमात्मा का दर्शन नास्तिकों को, जो वेदादि शास्त्रों को नहीं मानते, कराने के लिए लिखे गए हैं। अतः उक्त सब वाक्य व्यर्थ हैं।

यहाँ यह भी समझ लेना चाहिए कि उक्त (तैत्ति० ३-६) उदाहरण से यह सिद्ध नहीं होता कि सम्पूर्ण जगत् का केवल मात्र परमात्मा ही कारण है।

तैत्तिरीय उपनिषद् की भृगु वल्ली के सम्पूर्ण पाठ से यही समझ में आयेगा कि अन्न, प्राण, मन, बुद्धि से प्राणियों का जीवन और पालन होता है, परन्तु अधिक और अधिक गहराई में जाने से इनके अतिरिक्त 'आनन्द' भी प्राणियों के जीवन में कारण है। इस पर भी यह नहीं लिखा कि अन्न, प्राण, मन, बुद्धि नहीं हैं अथवा वे ही आनन्द हैं।

अन्त में यह लिखकर तो बात स्पष्ट कर दी है कि सन्तान, धन-सम्पदा और कीर्ति भी मनुष्य को महान् बनाते हैं। इनके साथ ब्रह्म-शक्ति भी बनाती है। यह प्रकट नहीं होता कि सन्तान, धन, सम्पदा और कीर्ति मनुष्य के कर्म ब्रह्म-शक्ति ही हैं। ब्रह्म-शक्ति को सन्तानादि के समकक्ष रखा गया है।

एक बात और बतायी है कि आनन्द भी उतना ही ब्रह्म है जितना कि अन्न, प्राण, मन और बुद्धि इत्यादि हैं। यही नहीं लिखा कि जब आनन्द का पता चला कि वह ब्रह्म है तो पूर्व का ज्ञान मिथ्या सिद्ध हो गया।

हमारा तो यह कहना है कि किसकी सन्तान, किसका धन, किसकी सम्पदा किसमें ब्रह्म-शक्ति तथा किसकी कीर्ति किसको महान् बनाते हैं? निस्सन्देह यह जीवात्मा है।

अर्थात् परमात्मा की शक्ति जिसे ब्रह्मवर्चस् कहा है, वह जीवात्मा को महान् बनाती है।

इस सूत्र के भाष्य में स्वामी शंकराचार्य जी ने जो भूलें की हैं, वे इस प्रकार हैं—

(१) ब्रह्म केवल परमात्मा को नहीं माना। ब्रह्म तीन हैं। मूल-प्रकृति, जीवात्मा-समूह और परमात्मा।

(२) 'जन्माद्यस्य यतः' सूत्र युक्ति-युक्त है और यह युक्ति किसी वेदादि प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखती। यह युक्ति उस सत्य को सिद्ध करती है जिसे वेद-वाक्यों में प्रकट किया गया है।

(३) जितने भी उपनिषद् वाक्यों के प्रमाण श्री स्वामीजी ने इस सूत्र के भाष्य में दिये हैं, वे असंगत हैं। वे उस बात को सिद्ध नहीं करते, जिसको स्वामी जी सिद्ध करना चाहते हैं।

शास्त्रयोनित्वात् ॥३॥

(शास्त्रस्य) शास्त्र का (योनित्वात्) उद्गम स्थान ब्रह्म होने से।

यहाँ पुनः युक्ति की गयी है कि वेद ज्ञान को देने वाला ब्रह्म है। मनुष्य को ज्ञान किसी से मिलता है। आरम्भ में ज्ञान देने वाला परमात्मा ही है।

मनुष्य विना किसी के वताये ज्ञानवान् नहीं वन सकता, यह सर्व प्रसिद्ध है।

इस विषय में एक अमेरिकन समाजशास्त्री का कथन हम यहाँ उद्धृत कर दें तो बात स्पष्ट हो जायेगी। आर० एम० मैकिवर ने अपने एक सहयोगी चार्ल्स एच० पेज के साथ मिलकर एक पुस्तक सोसायटी (Society) लिखी है। वे इस पुस्तक के पृष्ठ ४२ पर लिखते हैं—

There is good reason why we should reject this theory. For the theory rests upon the false assumption that human beings are, or could become, human beings outside of or apart from society.

पर्याप्त कारण है कि हम इस वाद को अस्वीकार कर दें; क्योंकि यह एक मिथ्या आधार पर टिका है कि मानव समाज में रहे विना अर्थात् समाज के वाहर अथवा समाज के विना एक मानव मानव वन सकता है। (अर्थात् ज्ञान प्राप्त कर सकता है)।

इन समाज-शास्त्रियों का मत है कि विना समाज के मनुष्य, मनुष्य नहीं वन सकता। ये मानते हैं कि समाज में रहता हुआ ही मनुष्य उन्नति कर सका है।

इन समाजशास्त्रियों का विचार है कि जान स्टुअर्ट मिल्ल इत्यादि का यह कहना गलत है कि—Society has no common sensorium, no central organ of perception or of thought. For it is only individuals who think and feel.

ये समाजशास्त्री इस विचार की पुष्टि में, कुछ निर्दयतापूर्ण परीक्षण, जो ज्ञाने अथवा अनजाने में किए गए हैं, अपनी पुस्तक के पृष्ठ ४४-४५ पर इस प्रकार उद्धृत करते हैं—

The famous case of Kaspar Hauser is peculiarly significant because this ill-starred youth was in all probability bereft of human contacts through political machinations and therefore his condition when found could not be attributed to a defect of innate mentality. When Hauser at the age of seventeen wandered into the city of Nuremberg in 1828 he could hardly walk, had the mind of an infant, and could mutter only a meaningless

phrase or two. Sociologically it is noteworthy that Kaspar mistook inanimate objects for living beings. And when he was killed five years later a post-mortem revealed the brain development to be subnormal. The denial of society to Kaspar Hauser was a denial to him also of human nature itself.

One of the most interesting of the feral cases involves two Hindu children who at the ages respectively of about eight and under two, in 1920, were discovered in a wolf den. The younger child died within a few months of discovery, but the elder, Kamala, as she became named, survived until 1929, and her history in human society has been carefully recorded. Kamala brought with her almost none of the traits that we associate with human behavior. She could walk only on all fours, possessed no language save wolf like growls, and was as shy of humans as was any other undomestic animal. Only as the result of the most careful and apparently sympathetic training was she taught rudimentary social-habits—before her death she had slowly learned some simple speech, human eating and dressing habits, and the like.

More recently sociologists and psychologists have studied the case of Anna, an illegitimate American child who had been placed in a room at the age of six months and isolated there until her discovery five years later in 1938. During her confinement Anna was fed little else than milk, received no ordinary training, and had almost no contacts with other beings. This extreme and cruel social isolation, which provides the scientists one more 'laboratory' case, left the child with few of the attributes of the normal five-year-old. When Anna was discovered she could not walk or speak, she was completely apathetic, and indifferent to people around her.

इन उद्धरणों का भावार्थ इस प्रकार है—

(१) कैस्पर हाउज़र का उद्धरण स्पष्ट है। कदाचित् यह लड़का किसी राजनीतिक षड्यन्त्र के कारण समाज से पृथक् किया गया था। इससे यह नहीं कहा जा सकता कि यह जन्म से ही हीन मन और बुद्धि वाला था। सन् १८२८ में

यह लड़का १७ वर्ष की आयु में न्यूरम्बर्ग की सड़कों पर घूमता हुआ देखा गया। उस समय यह कठिनाई से चल सकता था। इसकी मानसिक अवस्था एक शिशु की-सी थी और केवल एक-दो अर्थहीन वाक्य ही बोल सकता था। यह निर्जीव वस्तुओं को जानदार समझता था। पाँच वर्ष उपरान्त जब वह मरा तो इसके मस्तिष्क की निधनोत्तर परीक्षा की गयी और पता चला कि इसका मस्तिष्क अविकसित था।

(२) आठ और उससे नीचे की वयस् के दो बच्चे भेड़िये की गार में पाये गए। छोटा तो मिलने के कुछ ही दिन उपरान्त मर गया था। बड़ा जिसका नाम कमला रखा गया था, ९ वर्ष तक जीवित रहा। मानव समाज में उसके इतिहास को लिखा गया है। कमला में, जब वह मिली थी, ऐसे लक्षणों का सर्वथा अभाव था, जो मनुष्य में होते हैं। वह टाँगों और बाँहों के बल पशुओं की भाँति चलती थी। भेड़िये की भाँति गुर्राने के अतिरिक्त अन्य भाषा नहीं जानती थी। वह वन्य-पशुओं की भाँति मानवों से दूर रहती थी। बहुत कठिनाई से उसमें बहुत ही प्रारम्भिक मानव-लक्षण उत्पन्न किए जा सके थे और मरने के समय तक उसे साधारण बोलने का ढंग तथा वस्त्र पहनना सिखाये जा सके थे।

(३) अभी-अभी एक अमरीकी अवैध लड़की पर परीक्षण किया गया है। यह छः मास की आयु में एक कमरे में बन्द कर दी गयी थी और पाँच वर्ष के उपरान्त सन् १९३८ में वह मिली। कमरे में बन्द रखने की अवधि में वह केवल दूध पर पलती रही थी। उसका सम्पर्क बाहर के किसी व्यक्ति से नहीं रहा और उसे किसी प्रकार की शिक्षा नहीं मिल सकी थी। वह न तो चल सकती थी और न ही बोल सकती थी। इसका देहान्त सन् १९४२ में हुआ। इसमें इस आयु के गुण बहुत ही कम मात्रा में और अति कठिनाई से लाए जा सके थे।

इन उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि मनुष्य बिना किसी से ज्ञान और शिक्षा प्राप्त किए मनुष्य नहीं बन सकता। यूरोपीय समाजशास्त्री तो इस बात पर विचार नहीं करते कि मनुष्य समाज में मानवोचित ज्ञान कैसे आया, कहाँ से आया? इनका केवल इतना कहना है कि व्यक्ति के विकास के लिए समाज की स्थिति आवश्यक है। ये परमात्मा के अस्तित्व को मानते नहीं। इस कारण ये विकासवाद का आश्रय लेते हैं।

उक्त उदाहरणों से, जिसमें समाज से पृथक् हो गए, बालक अविकसित मन के रहे हैं, यही सिद्ध होता है कि यह विकास जैसे एक ही जन्म में छूट गया है, वैसे एक ही जन्म में हो भी सकता है। ये बालक जैसे कुछ ही वर्षों की शिक्षा से वंचित रहने पर पशु ही बने रहे, वैसे मनुष्य कुछ ही वर्षों की शिक्षा से पशुपन मन वाले से मनुष्य जैसे विकसित मन वाला बनाया जा सकता है।

भारतीय-शास्त्र यह कहते हैं कि सृष्टि के आदि में मानव-समाज को ईश्वर

ने ज्ञान दिया। युरोपीय विकासवादी मानते हैं कि समाज ने धीरे-धीरे उन्नति की, कुछ उत्तराधिकार में पाकर और कुछ स्वतः आविष्कार करके। भारतीय समाजशास्त्री ऐसा नहीं मानते। यदि ऐसा होता तो नवीन प्राचीन से उन्नत होता। मानव पहले से आज अधिक सामर्थ्यवान् होता। इसकी वाणी में उन्नति होती। प्राचीन से आज तक चली आने वाली भाषा में उन्नति होती। ऐसा नहीं है। मानव-मन, बुद्धि और इन्द्रियों की सामर्थ्य में ह्रास हो रहा दिखाई देता है। इसी प्रकार भाषा-विज्ञान भी यही प्रकट करता है। प्राचीन भाषायें वर्तमान काल की भाषाओं से अधिक कलात्मक, अधिक भावपूर्ण और अधिक विकसित थीं।

विकास के सिद्धान्त के उस रूप को जो डारविन के अनुयायी घोषित करते हैं, न तो सिद्ध किया जा सकता है और न ही ऐसा देखने में आता है। इस सिद्धान्त से विकास की श्रृंखला तीन भागों में बाँटी जा सकती है।

(१) जड़ से चेतन का बनना अर्थात् प्रथम जीव-कोषाणु कैसे निर्माण हुआ ?

(२) जीव-कोषाणुओं से उत्तरोत्तर उन्नत प्राणियों का उत्पन्न होना। इस प्रकार अमीवा एक-कोषाणु प्राणी से चलकर एक उन्नत मानव कैसे बना ?

(३) मानवों में उन्नति हुई है अथवा नहीं ?

श्रृंखला के प्रथम दो भागों के प्रमाण तो प्रकृति में ढूँढने होंगे। आज तक किए गए खोज के प्रयत्नों से कोई निर्णयात्मक प्रमाण नहीं मिला। न तो अभी तक कहीं जड़-पदार्थ जीवित प्राणी में परिवर्तित होता देखा गया है और न ही कहीं ऐसा दिखाया जा सका है। न ही एक योनि के प्राणी किसी दूसरी योनि में बदलते देखे जाते हैं अथवा बदले जा सके हैं।

कुछ स्थानों पर समानता में समीप-समीप की योनियों में समागम से जीव उत्पन्न होते तो देखे जाते हैं। जैसे घोड़े और गधे के समागम से खच्चर का जन्म। इसी प्रकार भेड़िये और कुत्ते के समागम से मिली-जुली सन्तति का बनना; परन्तु इनसे कोई नवीन योनि निर्माण नहीं होती। यहाँ तक कि वृक्षों में भी कलम लगाने की कला से नवीन प्रकार का बीज नहीं बनाया जा सका।

इसी प्रकार अविकसित मनुष्य विकसित हो जाता है; परन्तु यह योनि-परिवर्तन का लक्षण नहीं है। सब मानव एक ही योनि में हैं और मानव की सदा उन्नति ही नहीं होती रहती, कभी ह्रास भी होता है। अर्थात् एक ही योनि में उन्नति अथवा ह्रास के लक्षण मिलते हैं। इसे विकास नहीं, वरंच परिवर्तन की संज्ञा दी जा सकती है। ये परिवर्तन बीजगत नहीं होते। ये वातावरण, भोजन और शिक्षा के परिणामस्वरूप होते हैं। इनका प्रभाव शरीर पर तो होता है, परन्तु ये परिवर्तन विकास की श्रेणी में इस कारण नहीं आते, क्योंकि ये स्थायी नहीं होते और साथ ही इनमें गति दोनों ओर चलती है, उन्नति की ओर भी

और अवनति की ओर भी।

अतः विकास-शृंखला का प्रमाण न तो युक्ति में है और न ही प्रत्यक्ष अनुभव में।

भाषा में ह्रास तो इस बात का लक्षण है कि मानव शक्तितों में विकास नहीं, वरंच ह्रास हो रहा है। मनुष्य की उच्चारण सामर्थ्य में कमी होने से भाषा के अक्षरों में कमी हो रही है। एतदर्थ उच्चारण विकृत हो रहा है। उच्चारण में कठिन अक्षर और कठिन शब्द भाषा में से निकलते जा रहे हैं।

इसका निष्कर्ष यह है कि सृष्टि के आरम्भ में मनुष्य एवं सब प्रकार के प्राणी पूर्ण बने। पहले वनस्पतियाँ बनीं, तदनन्तर पशु, पक्षी इत्यादि बने और सबके अन्त में मनुष्य बने। प्रत्येक प्राणी में विकास एवं ह्रास हो रहा है। मनुष्य का मन और उसकी बुद्धि विकास में असमर्थ होने से इसमें ज्ञान ग्रहण करने की सामर्थ्य है, परन्तु ज्ञान प्रस्फुटित करने की सामर्थ्य नहीं है। यही ऊपर वर्णित कैस्पर हाउज़र, कमला और एन्ना के परीक्षणों का अभिप्राय निकलता है।

यदि मैकिवर की इस युक्ति को मान लें कि समाज में रहता हुआ मनुष्य उन्नति कर सकता है तो अफ्रीका के हब्शी अथवा अमरीका के मूल निवासी भी तो समाज में रहते रहे थे। वे भारत, चीन अथवा यूरोप के रहने वालों की भाँति विकसित मन वाले क्यों नहीं हो सके? उनमें अब उन्नति होने लगी है। क्योंकि यातायात के साधनों में विकास होने से उनका सम्पर्क ज्ञान-प्राप्त जातियों से हुआ है। इससे यही सिद्ध होता है कि ईश्वरीय ज्ञान ही ज्ञान का मूल स्रोत रहा है। जो जातियाँ उस ज्ञान से जितनी दूर गयीं, उतनी ही पिछड़ी रहीं। समाज में उनका मानसिक विकास नहीं हो सका।

अतः दर्शन-शास्त्र की यह युक्ति है कि मानव-समाज को ज्ञान देने वाला कोई होना चाहिए और वह ज्ञान देने वाला ब्रह्म है।

ज्ञान देने में भी तीन हेतु होने चाहिएँ। ज्ञान देने वाला, किसी वस्तु अथवा घटना का ज्ञान और ज्ञान प्राप्त करने वाला। तीनों ब्रह्म हैं। ज्ञान देने वाला परमात्मा है। ज्ञान प्राप्त करना है जगत् का और जगत् के मूल स्वरूप का; तथा ज्ञान प्राप्त करने वाला जीवात्मा है।

यदि मूल पदार्थ एक ही (परमात्मा) होता तो ज्ञान देने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। किसका ज्ञान और किसको? ये प्रश्न उत्तर रहित हो जाते।

अतः सूत्र 'शास्त्रयोनित्वात्' का अभिप्राय है कि जो ज्ञान की योनि अर्थात् उद्गम स्थान है, वह ब्रह्म है। अभिप्राय यह कि ज्ञान देने वाला ब्रह्म है। कई भाष्यकार इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार कहते हैं—शास्त्र=वेद; योनि=कारण =प्रमाण; अर्थात् ब्रह्म का प्रमाण शास्त्र (वेद) से पता चलता है।

हमारा मत है कि यह अर्थ खींचातानी से किया गया है। इसका ठीक अर्थ यह है कि शास्त्र का उद्गम स्थान होने से ब्रह्म की सिद्धि होती है।

स्वामी शंकराचार्यजी 'शारीरिक' भाष्य में इसके विषय में यह लिखते हैं—

महत ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत्सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म। न हीदृशस्य शास्त्रस्यर्ग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः संभवोऽस्ति।

अनेक विद्याओं को रखने वाले दीपक के समान सब अर्थों का प्रकाशन करने वाले सर्वज्ञ के तुल्य शास्त्र (वेद आदि) की योनि ब्रह्म है। ऐसे शास्त्र (ऋग्वेदादि) सर्वज्ञ, सर्वगुण, सम्पन्न शास्त्र की उत्पत्ति सर्वज्ञ ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी से नहीं हो सकी।

यह स्पष्ट है कि स्वामी शंकराचार्यजी ने वही अर्थ किए हैं, जो हम ऊपर लिख आए हैं। परन्तु अनावश्यक रूप में स्वामीजी पुनः उसी विवाद में पड़ गए हैं, जिसका हम पूर्व में खण्डन कर चुके हैं।

स्वामीजी ने लिखा है—

शास्त्रादेव प्रमाणाज्जगतो जन्मादिकारणं ब्रह्माधिगम्यत इत्यभिप्रायः।

शास्त्र (वेद) प्रमाण से ही यह सिद्ध होता है कि जगत् के जन्मादि का कारण ब्रह्म ।

यह हम लिख आए हैं कि वेदादि शास्त्रों में कहा गया है कि यह सब-कुछ ब्रह्म से ही बना है, परन्तु दर्शन-शास्त्र में ब्रह्म की सिद्धि एवं प्रसिद्धि शास्त्र की सहायता के बिना की गयी है। इसकी आवश्यकता भी है। नास्तिकों अर्थात् वेद पर श्रद्धा न रखने वालों को यह समझाने के लिये दर्शन-शास्त्र का निर्माण किया गया है कि जगत् की उत्पत्ति, पालन और प्रलय करने वाला ही ब्रह्म है।

इस सूत्र के भाष्य को समाप्त करने से पूर्व स्वामीजी ने एक प्रश्न उठाया है कि जब वेद क्रिया-परक हैं, तो जो अक्रिया-परक हैं, उसका वेद में प्रमाण ढूंढना निरर्थक है। इस प्रश्न को तनिक अधिक सरल भाषा में लिख दें तो यह इस प्रकार होगा—वेदों में कर्म-काण्ड की चर्चा है। इस कारण ब्रह्म जो अकर्त्ता है, उसका उल्लेख वहाँ नहीं हो सकता। अतः सूत्र 'शास्त्रयोनित्वात्' के अर्थ यह नहीं हो सकते कि शास्त्र ब्रह्म का प्रमाण है। स्वामीजी का विचार है कि इस शंका का समाधान अगले सूत्र में है।

पूर्व पक्ष का वास्तविक उत्तर तो यह होना चाहिये कि वेद में ब्रह्म प्रमाणित है; क्योंकि वेद केवल क्रिया-परक ही नहीं हैं, वरंच वेदान्त (अध्यात्म ज्ञान) का मूल भी वेद में है। परन्तु स्वामीजी पूर्वग्रहों से ग्रसित पूर्व-पक्ष का ठीक उत्तर नहीं दे सके। वेद अध्यात्म-ज्ञान के देने वाले भी हैं। इसका प्रमाण इस प्रकार है।

पहले यह जानना चाहिये कि अध्यात्म किसको कहते हैं ? भगवद्गीता में लिखा है—

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते। (८-३)

अक्षर ब्रह्म है और उसके परम स्वभाव को अध्यात्म कहते हैं। स्वामी शंकराचार्य जी तो इस ब्रह्माण्ड में केवल परमात्मा को ही एक अक्षर-पदार्थ मानते हैं और उसके स्वरूप और स्वभाव के ज्ञान को ही अध्यात्म-ज्ञान मानते हैं। हम अक्षर पदार्थ तीन मानते हैं। मूल प्रकृति, जीवात्मा-समूह और परमात्मा। अपने इस मत का शास्त्रीय प्रमाण हम ऊपर दे चुके हैं।

एक, दो अथवा तीन पदार्थों को अक्षर मानें, यह एक पृथक् प्रश्न है। यहाँ हम यह बताना चाहते हैं कि अक्षर का रूप और इसका स्वभाव ऋग्वेदादि ग्रन्थों में दिया है। अतः यह पूर्व-पक्ष वाले का कहना सत्य नहीं। यह पूर्व पक्ष तो स्वामी जी ने खड़ा किया प्रतीत होता है। वह लिखते हैं—

कथं पुनर्ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वमुच्यते, यावता 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' (जै० सू० १-२-१) इति क्रियापरत्वं शास्त्रस्य प्रदर्शितम्। ......तस्मान्न ब्रह्मणः शास्त्रयोनित्वमिति प्राप्ते उच्यते......

इसका अर्थ है—अतः यह कैसे कहते हो कि ब्रह्म को सिद्ध करने में शास्त्र प्रमाण है ? जैसे (जैमिनी सूत्र—१-२-१ में) यह लिखा है कि वेद क्रियार्थक है। (क्रिया से भिन्न सिद्ध वस्तु प्रतिपादन करने वाले) वेद-वाक्य अनर्थक हैं; अर्थात् प्रयोजन रहित हैं......इस प्रकार शास्त्र का क्रियापरत्व दिखाया गया है। इस कारण ब्रह्म में शास्त्र प्रमाण नहीं है।

जैसा कि हमने ऊपर बताया है, इस पूर्व-पक्ष का उत्तर तो यह होना चाहिये कि वेद केवल क्रियार्थक नहीं, उसमें ब्रह्म के स्वरूप और स्वभाव का वर्णन भी है; परन्तु स्वामीजी ने यह पूर्व-पक्ष, अपनी वेदों की अनभिज्ञता के कारण उठाया प्रतीत होता है। कारण यह कि वे जैमिनी सूत्र को प्रमाण मान बैठे हैं और वे स्वयं भी यही मानते प्रतीत होते हैं।

वास्तव में वेद में अध्यात्म का स्वरूप भली-भाँति वर्णन किया है। ऋग्वेद दशम् मण्डल का ७२वां सूक्त तथा १२९वां सूक्त इस सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त ऋ० १-१६४-३८, ऋ० १-१५४-४, ऋ० ३-२६-७, ऋ० ४-४२-४, ऋ० ६-४४-२३, ऋ० ८-४०-१२, यजु० १८-६६, यजुर्वेद का सम्पूर्ण ४०वां अध्याय, अथर्व० १०-८-४३, अथर्व० २०-८३-१ कुछ उदाहरण हैं। प्रकृति का भी जगत्-रचना में उल्लेख आया है। उदाहरण के रूप में ऋ० १-१६४-३८, ऋ० १०-१२९-२, ऋ० १०-६४-५, ऋ० १-८९-२०, ऋ० १०-७२-८, ऋ० ३-२६-७, ऋ० ४-४२-४, ऋ० ६-४४-२२, ऋ० १-१६४-२०, ऋ० १०-८१-४।

अनेक अन्य स्थानों पर भी अध्यात्म-ज्ञान का उल्लेख है। वेदों को जब स्वामीजी कर्मकाण्ड मात्र का ग्रन्थ मानते हैं तो इससे उनकी वेदों से अनभिज्ञता ही प्रकट होती है।

कर्म की जैसी व्याख्या गीता में लिखी है, उसका वैसा ही वेदों में होना किसी प्रकार से निन्दनीय नहीं है। वास्तविकता यह है कि बौद्धों द्वारा यह भ्रम फैलाया गया था कि वेदों में यज्ञादि कर्म का उल्लेख है, अतः वे कर्मकाण्ड मात्र के ग्रन्थ हैं। स्वामीजी उसका समर्थन करते हैं। यदि स्वामीजी को वेदार्थ का वास्तविक ज्ञान होता तो वह वेदों के प्रति बौद्ध मत स्वीकार न करते।

ईश्वर के स्वरूप के विषय में यजुर्वेद में एक बहुत ही सुन्दर मन्त्र है—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरँ शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥(यजु० ४०-८)

वह सर्वव्यापक परमात्मा शुद्ध, शरीर रहित, विकारों से रहित, बन्धनों से रहित, पापों से मुक्त विद्वान् मनीषी, सबसे ऊपर, स्वयं प्रकट होने वाला, न्यायोचित व्यवहार रखने वाला, सबको रचता है और धारण करता है।

ऐसे अगणित उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिनसे वेद (संहिताओं) में वेदान्त के दर्शन होते हैं। अतः जो पूर्व-पक्ष स्वामीजी ने इस सूत्र को कहने के लिए उठाया है, वह एक भिन्न अर्थ विकल्प में देने के कारण है। वह विकल्प के अर्थ गलत थे। वे स्वामीजी ने इस प्रकार लिखे हैं—

शास्त्रमुदाहृतं पूर्वसूत्रे—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि। किमर्थं तर्हीदं सूत्रम्? यावता पूर्वसूत्र एवैवंजातीयकं शास्त्रमुदाहरता शास्त्रयोनित्वं ब्रह्मणो दर्शितम्। उच्यते—तत्र पूर्वसूत्राक्षरेण स्पष्टं शास्त्रस्यानुपादानाज्जन्मादि केवलमनुमानमुपन्यस्तमित्याशंक्येत, तामाशङ्कांनिवर्तयितुमिदं सूत्रं प्रववृते शास्त्रयोनित्वादिति॥

[पूर्व के सूत्र में जन्मादि को शास्त्र से स्पष्ट न कहकर केवल अनुमान प्रमाण से उपन्यास (प्रकट) किया है। इससे शंका उत्पन्न होती है। उस शंका के निवारण के लिए यह (१-१-४) कहा गया है।]

यह हम बता आये हैं कि दर्शन-शास्त्र में युक्ति (अनुमान) प्रमाण ही मुख्य है। शास्त्र का उल्लेख सूत्रों में बहुत कम हुआ है। जहाँ हुआ है, वह इस निमित्त है कि युक्ति वेद-शास्त्र निहित सिद्धान्त का प्रतिपादन करती है। स्वामीजी यह भूल कर रहे हैं कि वे दर्शन-शास्त्र में भी अनुमान प्रमाण को गौण प्रमाण मान शास्त्र को टटोलने लगते हैं। अतः प्रश्न निरर्थक था और उसका उत्तर तो उससे भी अधिक भ्रमोत्पादक है।

तत्तु समन्वयात् ॥४॥

तत्+तु+समन्वयात् ।

तत्=वह; तु=इस कारण; समन्वयात्=समन्वय से; (सिद्ध होता है)।

समन्वय=सम्+अन्वय; अन्वय=कार्य कारणानुवृत्ति । कारणस्यानुसरणं कारणरूप कार्यस्थितिः ।

अभिप्राय यह कि समान कार्य-कारण की प्रवृत्ति को समन्वय कहते हैं। कार्य-कारण की प्रवृत्ति से अभिप्राय है कारण का कार्य में अनुसरण होना। कारण से कार्य का उत्पन्न होना।

परमात्मा से जगत् की उत्पत्ति भी कारण से कार्य की उत्पत्ति है। इसका उल्लेख 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र० सू० १-१-२) में कर आये हैं। अतः जन्म के उपरान्त इस जगत् में जो संयोग-वियोग हो रहा है, वह करने वाला भी ब्रह्म है, ऐसा कहा है।

संघटन और विघटन में भी तीन पक्ष स्पष्ट हैं। करने वाला अर्थात् निमित्त कारण, जिसमें संघटन-विघटन हो रहा है अर्थात् उपादान कारण और जिसके लिये यह सब-कुछ हो रहा है अर्थात् जीवात्मा-समूह। तीनों ही ब्रह्म हैं।

संघटन-विघटन का क्रम सांख्य-दर्शन में वर्णन किया है—

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः ।

(सां० १-६१)

इस संघटन-विघटन में भी ब्रह्म कारण है।

प्रकृति से चौबीस गण बनते हैं। पच्चीसवाँ पुरुष (जीवात्मा) है। ये सब संयोग ब्रह्म के कारण हैं, परमात्मा द्वारा प्रकृति में जीवात्मा-समूह के लिये।

यह है अर्थ इस सूत्र (तत्तु समन्वयात्) का। जिससे यह समन्वय होता है, वह ब्रह्म है। भगवद्गीता में लिखा है—

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥
मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥

(७-६, ७)

अर्थात्—ऐसा समझो कि सब इन दो (प्रकृति और जीवात्मा-समूह) से धारण किया हुआ है। परमात्मा सब जगत् को बनाने वाला है।

परमात्मा से ऊपर और कुछ नहीं। यह सम्पूर्ण (जगत्) माला के मनकों की भाँति सूत्र (परमात्मा) से गुँथा हुआ है।

स्वामी शंकराचार्य आधारभूत भूल यह करते रहे हैं कि वे दर्शन-शास्त्र को

उपनिषद् इत्यादि ग्रन्थों का अंग मात्र मानते हैं। वे इन्हें स्वतन्त्र शास्त्र नहीं मानते। इसी कारण प्रत्येक स्थान पर वे दर्शन-शास्त्र की युक्ति को युक्ति न समझ उसके निष्कर्षों को उपनिषद् इत्यादि वाक्यों से सिद्ध करने लगते हैं।

वास्तविकता यह है कि दर्शन-शास्त्र स्वतन्त्र-शास्त्र है। वैदिक दर्शन-शास्त्र वेदों की मान्यताओं को युक्ति से सत्य सिद्ध करने के निमित्त लिखे गये हैं। स्वामी शंकराचार्य इसको समझ नहीं सके और उपनिषद् इत्यादि के जो भी प्रमाण उन्होंने दिये, वे प्रायः अनुपयुक्त हैं। वे किसी भी बात को सिद्ध नहीं कर पाते।

इस सूत्र के भाष्य में भी स्वामीजी अपने मत को प्रकट करने के लिये कुछ उपनिषदों के उद्धरण देते हैं। इस सूत्र के विषय में स्वामीजी का मत यह है—

तुशब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः। तत् ब्रह्म सर्वज्ञं सर्वशक्ति जगदुत्पत्तिस्थितिलय-कारणं वेदान्तशास्त्रादेवावगम्यते। कथम् ? समन्वयात्। सर्वेषु हि वेदान्तेषु वाक्यानि तात्पर्येणैतस्यार्थस्य प्रतिपादकत्वेन समनुगतानि।

अर्थात्—तु शब्द पूर्व-पक्ष के निराकरण के लिये है। सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् तथा जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय का कारणभूत वह ब्रह्म वेदान्त-वाक्यों से ही अवगत् होता है। कैसे ? समन्वय से। सब वेदान्त-वाक्यों में उनके तात्पर्य अर्थों के प्रतिपादक रूप में समनुगत.अर्थात् समन्वित हैं।

आप आगे लिखते हैं :—

न च तद्गतानां पदानां ब्रह्मस्वरूपविषये निश्चिते समन्वयेऽवगम्यमाने-ऽर्थान्तरकल्पना युक्ता; श्रुतहान्यश्रुतकल्पनाप्रसंगात्। न च तेषां कर्तृस्वरूप-प्रतिपादनपरतावसीयते,

ऊपर कहे पदों में ब्रह्मस्वरूप के विषय में निश्चित समन्वय जान लेने पर अन्यार्थ की कल्पना युक्त नहीं। क्योंकि ऐसा करने से श्रुत (शास्त्रवाक्य) की हानि और अश्रुत अर्थ की कल्पना करनी पड़ेगी। इससे इन वाक्यों में कर्त्ता के स्वरूप-प्रतिपादन में निश्चय नहीं होता।

इसका अभिप्राय यह है कि इस सूत्र (तत्तु समन्वयात्) का अर्थ यह होना चाहिये कि श्रुति में ब्रह्म के स्वरूप को सत्य मान लो। यदि यह नहीं मानते तो श्रुति की बात अमान्य हो जायेगी और अश्रुति की बात की कल्पना होने लगेगी। इससे तो परमात्मा का स्वरूप जैसा (उपनिषदादि ग्रन्थों में वर्णन किया गया है) व्यर्थ हो जायेगा।

यह न तो इस सूत्र का अर्थ है, न ही जो अर्थ ऊपर हमने किये हैं, उनसे किसी प्रकार की श्रुति ग्रन्थों पर अश्रद्धा उत्पन्न होती है। परमात्मा का स्वरूप भी नहीं बिगड़ता।

स्वामीजी व्यर्थ में चिन्ता करने लगे हैं कि यदि ब्रह्म के स्वरूप को श्रुतिग्रन्थों के अतिरिक्त जानने का यत्न किया तो कुछ अनर्थ हो जायेगा। सूत्र में समन्वयात्

का अर्थ, शास्त्र से समन्वय का नहीं, वरंच जगत् में चल रहे समन्वय से है।

जगत् में सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादि चल रहे हैं, परन्तु उनमें कभी टक्कर नहीं होती। सम्पूर्ण जगत् का कार्य ऐसे चल रहा है और उसमें ऐसा समन्वय है कि वह किसी ज्ञानवान्, चेतन, शक्तिमान् सत्ता के विना सम्भव नहीं हो सकता और ऐसा करने वाली सत्ता ब्रह्म है।

स्वामीजी ने अपने कथन में कुछ उपनिषद् इत्यादि ग्रन्थों के प्रमाण दिये हैं। उन प्रमाणों के अर्थ भी भ्रामक हैं। क्योंकि जो कुछ वह उन प्रमाणों से सिद्ध करना चाहते हैं, उनसे वह सिद्ध नहीं होता। तनिक उन प्रमाणों पर भी दृष्टि-पात किया जाय।

एक उद्धरण इस प्रकार है—

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेक-मेवाद्वितीयं। तस्मादसतः सज्जायत ॥

(छा० ६-२-१)

हे सोम्य! (अग्र) आरम्भ में (सदैव=सत्+एव) सत् ही+(आसीत्) था। (एकम्+इव+अद्वितीयम्) यह एक अद्वितीय ही था। (तद्धैक) इसके विषय में कुछ लोग (आहुः) कहते हैं (असत्+एवेदम् अग्र) पहले असत् ही अर्थात् पहले कुछ नहीं (आसीत्) था। (एकम्+एव+अद्वितीय) एक अद्वितीय ही था। (तस्मात् असतः संज्जायते।) सो असत् (अभाव) से ही (सब कुछ) उत्पन्न हुआ।

यह तो पूर्व पक्ष है। कुछ लोग कहते हैं कि पहले कुछ नहीं था। वे कुछ नहीं से ही सब-कुछ उत्पन्न हुआ मानते हैं। ऋषि का कहना है कि पहले 'सत्' था। अभाव के विपरीत कुछ था।

स्वामीजी इतना उद्धरण देकर अपनी बात कहने लगते हैं। जो कुछ वह कहते हैं, उसका उल्लेख हम आगे चलकर करेंगे। उससे पूर्व उपनिषद् में दिये पूर्व-पक्ष का ऋषि द्वारा दिया गया उत्तर हम लिख दें तो उपनिषद् का प्रकरण स्पष्ट हो जायेगा। अभाव (शून्य) से ही सब-कुछ हुआ, इसका उत्तर देते हुए ऋषि कहते हैं—

कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यादिति होवाच। कथमसतः सज्जायेतेति। सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ॥

(छा० ६-२-२)

कहते हैं—(सोम्येवं) सोम्य+एवम्—हे सोम्य, ऐसा; (कुतस्तु) कहाँ से (खलु स्यादिति) यह सब उत्पन्न हो गया? (कथम्+असतः) असत् (शून्य) से कैसे (सज्जायेतेति) उत्पन्न हो सकता है? (यह प्रश्न होने पर कहा है) (सत्त्वेव)

सत् ही (सोम्य + इदम् + अग्र) हे सोम्य, यह पहले (आसीद्) था। (एकमेवाद्वितीयम्) एक ही अद्वितीय था।

ऋषि (उपनिषद्कार) अद्वितीय की व्याख्या करते हुए कहता है—

तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत। तत्तेज ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति। तदपोऽसृजत तस्माद्यत्र क्व च शोचति स्वेदते वा पुरुषस्तेजस एवं तदध्यापो जायन्ते॥

(छा० ६-२-३)

(तत् + ऐक्षत्) उस (प्रधान) ने इच्छा की (बहुस्यां)बहुत हो जाऊँ (प्रजायेयेति) प्रजाओं को उत्पन्न करूँ। (तत् + तेजो) उसने तेज का (असृजत्) सृजन किया। उस तेज ने इच्छा की कि बहुत हो जाऊँ, प्रजाओं को उत्पन्न करूँ। (तस्मात् + यत्र + कव + च) इससे जहाँ कहीं भी कोई (शोचति स्वेदते) विचार करता है तो पसीना आने लगता है। इसी प्रकार (पुरुषस्तेजस) (एवं) परमात्मा के तेज से (तदपोऽसृजत्) अपाः उत्पन्न हुआ। अतः (तत् हि आपो जायन्ते) उस (तेज) से ही अप् उत्पन्न होता है।

यह स्पष्ट हो जाता है कि जो एक आरम्भ में होने की बात ऋषि ने कही है, वह परमात्मा नहीं। वह ब्रह्म है। उसमें प्रकृति अर्थात् जगत् के उपादान कारण भी सम्मिलित हैं।

परमात्मा तो अपरिणामी है। उससे भिन्न प्रकार के परिणाम उत्पन्न नहीं होते। उक्त (छा०—६-२-३) श्रुति में 'तत् ऐक्षत्' से भ्रम उत्पन्न होता है, परन्तु ऐसा अलंकार रूप में ही है। इसका अभिप्राय यह है कि प्रकृति में परिवर्तन होने का समय आ जाता है। यही इसका 'ईक्षण' है। वैसे तो परमात्मा भी इच्छा नहीं करता। इच्छा वह करता है जिसको किसी प्रकार का अभाव प्रतीत होता है। जो सर्वज्ञ, सर्वान्तरयामी, सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापक है, उसे किसी प्रकार की कमी होती है, कहना अयुक्तिसंगत है। अतः जहाँ परमात्मा के विषय में (ईक्षण) शब्द आता है, वहाँ यही अभिप्राय होता है कि समय आने पर कार्य होता है साथ ही त्रिविध ब्रह्म में ईक्षण करने वाला तो चेतनस्वरूप परमात्मा ही है।

इसी प्रकार यहाँ भी समझ लेना चाहिये। परन्तु इसी श्रुति में एक बात और लिखी है। वह है—

तस्माद्यत्र क्व च शोचति स्वेदते वा पुरुषस्तेजस एव तदध्यापो जायन्ते॥

अर्थ है—और कहीं जो (व्यक्ति) सोचता है, उसे पसीना आने लगता है। वैसे ही पुरुष (परमात्मा) के तेज से आपः उत्पन्न होता है।

तेज का स्रोत पुरुष बता दिया है। तेज की उत्पत्ति प्रकृति से नहीं बतायी, जो बहुत प्रजाओं में हो जाने का ईक्षण करती है। वहाँ तो तत् शब्द का प्रयोग है, परन्तु तेज के साथ पुरुष शब्द लिखने से स्पष्ट है कि पुरुष से ईश्वर का ही

प्रयोजन है, जिससे सृजन कार्य होता है।

कदाचित् इसी श्रुति का भावार्थ निम्न श्लोक में मनु करते हैं—

सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
अप एव ससर्जाऽऽदौ तासु बीजमवासृजत्॥

(मनु० १-८)

अर्थात्—उस (परमात्मा) ने (अभिध्याय) ध्यान लगाकर (शरीरात्) प्रकृति के आदि स्वरूप से विविध प्रजाओं की सृष्टि करने के लिये अप: की सृष्टि की। उसमें सृजन के लिये बीज (तेज) को डाला।

एक बात यहाँ और समझने की है। 'अप:' शब्द जल (स्थूल जल) का वाचक नहीं। यह प्रकृति में सृजन आरम्भ होने के समय प्रथम परिणाम है जो उत्पन्न होता है। सांख्याचार्य इसे 'महत्' के नाम से स्मरण करते हैं।

प्रसंग यह है कि उक्त (छा० ६-२-१, २,३) तीनों मंत्रों को एक साथ पढ़ने से यही पता चलता है कि यह जो अद्वितीय वर्णन किया है, वह प्रकृति के विषय में है। यहाँ प्रकृति का ही उल्लेख है। आगे (छा० ६-२-४ में) और भी स्पष्ट कर दिया है। अप: से अन्न इत्यादि बनने की बात कही है।

परन्तु स्वामी शंकराचार्य का कहना तो यह है कि क्योंकि उपनिषदों के इन उद्धरणों में ब्रह्म का स्वरूप वर्णित है, अत: इस सूत्र (तत्तु समन्वयात्) का अभिप्राय यह है कि ब्रह्म का स्वरूप जानने के लिये उक्त वेदान्त-वाक्यों से जान लो। समन्वय का अर्थ है परमात्मा का शास्त्र में समन्वय से। ऐसा स्वामीजी का मत है।

हमने इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार किया है कि जगत् में हो रहा समन्वय भी ब्रह्म के कारण ही है। हमारा अर्थ क्यों अधिक युक्ति-संगत है, यह हमने बता दिया है।

दर्शनाचार्य युक्तियों की एक शृंखला प्रस्तुत करता है। पहले बताया है, जिससे जगत् की उत्पत्ति, पालन और प्रलय होती है, वह ब्रह्म है। तदुपरान्त यह बताया कि जगत् में प्राणी के लिये ज्ञान का स्रोत ब्रह्म है। अब यह बताया है कि उत्पत्ति के उपरान्त जिससे सब कार्य समन्वय रूप में चलता है, वह ब्रह्म है।

यही ठीक प्रतीत होता है।

स्वामी शंकराचार्य ने इधर-उधर की बहुत बातें लिखने का यत्न किया है, परन्तु वह विषयान्तर होने से हमने छोड़ दी हैं। उनका सूत्रार्थ के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं।

इस पर भी एक-दो बातें लिख दें तो पाठकों को इस बात का ज्ञान हो जायेगा कि भाष्य ग्रन्थ एवं सूत्र का उसके साथ दूर का भी सम्बन्ध नहीं। एक निरर्थक विवाद खड़ा कर पाठकों के मन को भ्रम में डालने का ही प्रयास प्रतीत होता है।

निम्न उद्धरण स्वामीजी के शारीरक भाष्य (१-१-४) के भाष्यान्तर्गत ही है। आप लिखते हैं—

यत्तु—हेयोपादेयरहितत्वादुपदेशानर्थक्यमिति, नैष दोषः; हेयोपादेयशून्य-ब्रह्मात्मतावगमादेव सर्वक्लेशप्रहाणात्पुरुषार्थसिद्धेः।

क्या हेयोपादेय रहित होने से ब्रह्म का उपदेश निष्फल है? (यहँ प्रश्न है) यह दोष नहीं (स्वामीजी का उत्तर है)। क्योंकि हेयोपादेय रहित ब्रह्म भाव के ज्ञान से सब क्लेशों की निवृत्ति और परम पुरुषार्थ की सिद्धि होती है।

निम्न कोटि के उपयोगों से रहित होने के कारण परमात्मा की उपासना अर्थ-हीन है। ऐसा किसी ने पूछा और स्वामीजी ने कह दिया कि इस पर भी पर-मात्मा की सिद्धि होनी चाहिये। क्योंकि इससे सब क्लेशों की निवृत्ति और परम पुरुषार्थ की सिद्धि अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है।

प्रतीत होता है कि स्वामीजी दो असम्बद्ध बातों को एक साथ कहकर यह समझते हैं कि उन्होंने एक से दूसरे का सम्बन्ध जोड़ दिया है। दोनों बातें अपने-अपने स्थान पर सत्य हो सकती हैं और दोनों सर्वथा असम्बद्ध हो सकती हैं।

वेद-वाक्यों में विधि-विधान के अतिरिक्त प्रमाण दिखायी नहीं देते। अभि-प्राय यह कि वेद में सर्वत्र विधि-विधान ही है। विधि-विधान क्या होते हैं? अर्थात् स्रुवा इस प्रकार पकड़ना चाहिये, हवन, (यज्ञ) कुण्ड इतना लम्बा-चौड़ा और ऊँचा हो, समिधायें इतनी बड़ी हों, छोटी-बड़ी न हों, याजक इस प्रकार बैठे और होता उस प्रकार बैठे, इत्यादि।

स्वामीजी का कहना है कि अन्यत्र अर्थात् वेदान्त-वाक्यों से अन्यत्र, वेद-वाक्यों में विधि-विधान के अतिरिक्त कोई प्रमाण नहीं मिलता।

प्रथमतः बात ऐसी नहीं है। वेदों में विधि-विधान नहीं है। वेदों में कर्म तो है, परन्तु कर्म की विधि नहीं लिखी। कहीं कुछ संकेत मात्र है। तो भी ऐसे अनेक स्थल हैं कि जहाँ न कर्म है और न विधि-विधान है।

एक-आध उदाहरण से बात स्पष्ट हो जायेगी। एक मन्त्र है—

आ जनाय द्रुह्वणे पार्थिवानि दिव्यानि दीपयोऽन्तरिक्षा।
तपा वृषन्विश्वतः शोचिषा तान्ब्रह्मद्विषे शोचय क्षामपश्च॥

(ऋ० ६-२२-८)

इस मन्त्र का देवता इन्द्र है। अर्थात् परमात्मा का वह स्वरूप है जो पूर्ण जगत् कर शासन करता है। मन्त्रार्थ इस प्रकार है—

(वृषन्विश्वतः) विश्व में सबसे अधिक बलवान् प्रभु (शोचिषा) अपने तेज से (तान्ब्रह्मद्विषे शोचय) उन ब्रह्म से द्वेष करने वालों को सन्तप्त करो। (आ जनाय द्रुह्वणे) सब द्रोही मनुष्यों के लिये (पार्थिवानि) सब पृथिवी पर के (दिव्यानि) दिव्य पदार्थ (अन्तरिक्षा) अन्तरिक्ष के पदार्थ (तपा) सन्तप्त करने वाले हों।

परमात्मा से प्रार्थना की जाती है कि भले लोगों से द्वेष करने वालों को पृथिवी तथा अन्तरिक्ष के दिव्य पदार्थ सन्तप्त करें।

इसमें किसी भी प्रकार का विधि-विधान उल्लिखित नहीं है। और देखिये—

सिꣳह्यसि स्वाहा सिꣳह्यस्यादित्यवनिः स्वाहा सिꣳह्यसि ब्रह्मवनिः क्षत्रवनिः स्वाहा सिꣳह्यसि सुप्रजावनी रायस्पोषवनिः स्वाहा सिꣳह्यस्यावह देवान्यजमानाय स्वाहा। भूतेभ्यस्त्वा।।

(यजु० ५-१२)

इस मन्त्र का देवता वाक् अर्थात् वाणी है।

हे वाक् (सिꣳही असि) तू अविद्या को नाश करने वाली है (स्वाहा) हम तुम्हें उत्तम रूप से उच्चारण करें। (सिꣳही असि आदित्यवनिः स्वाहा) सूर्य से उत्पन्न होने वाले बारह प्रकार की उपलब्धियों को भली प्रकार वर्णन करने वाली है। हम उसे उत्तम रूप से उच्चारण करें। (सिꣳही असि ब्रह्मवनिः क्षत्रवनिः स्वाहा) ब्राह्मणों से और क्षत्रियों से प्राप्त होने वाली उपलब्धि की वाणी है। हम उसे उत्तम रूप में उच्चारण करें। (सिꣳही असि सु-प्रजावनी रायस्पोषवनिः स्वाहा) श्रेष्ठ प्रजा को समृद्धि प्राप्त कराने वाली वाणी को हम भली प्रकार उच्चारण करें। (सिꣳही असि ह्यस्यावह देवान्यजमानाय स्वाहा) देवताओं अर्थात् विद्वानों को यजमानों के समीप लाने वाली तू है। हम तुम्हारा भली प्रकार उच्चारण करें। (भूतेभ्यस्त्वा) सब प्राणियों के कल्याण के लिये प्रयोग करें।

इस प्रकार एक नहीं अनेक मन्त्र उद्धृत किए जा सकते हैं, जिनमें किसी प्रकार की उपासना का विधि-विधान नहीं है। कर्मकाण्ड और विधि-विधान गृह्य-सूत्रों का विषय है। वेद चार हैं—ऋक्, यजु, साम, अथर्व। ये अपौरुषेय हैं। इनके प्रवक्ता अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा देवता हैं। देवता से अभिप्राय अन्तरिक्ष के नक्षत्रादि से है। परन्तु गृह्य-सूत्रों के प्रवक्ता पृथिवी पर की मानव-सृष्टि के ऋषि थे। यही उपनिषदों की बात है। अतः जब हम वेद कहते हैं तो केवल ऋक्, यजु, साम और अथर्व से ही अभिप्राय है। अन्य किसी मनुष्य प्रणीत ग्रन्थ से नहीं। यह आर्य परम्परा है। वेद में भी इसका उल्लेख है।

इसी प्रकार की एक नहीं अनेक अप्रासंगिक बातें स्वामीजी ने लिख दी हैं, जिनका सूत्र के भावार्थ से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं।

इस सूत्र (१-१-४) का भाष्य करते हुए स्वामीजी ने एक अति महत्त्व का विषय भी उठाया है। यद्यपि यह हमारे विचार से सूत्रार्थ के साथ सम्बन्धित नहीं, परन्तु इसके दूरगामी प्रभाव का विचार कर हम उसकी विवेचना कर देना ठीक समझते हैं।

ऊपर हमने यह बताया है कि स्वामीजी का कहना कि शास्त्र (वेदों) में

निम्न कोटि की वस्तुओं के लिये प्रार्थना होने से उनमें ब्रह्म का उपदेश नहीं हो सकता, यह बात गलत है। साथ ही स्वामीजी ने सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति की इच्छा को ठीक नहीं बताया। केवल इतना कहकर बात टाल दी है कि इस पर भी ब्रह्म-उपदेश और ब्रह्म-शास्त्र की आवश्यकता है। यह उत्तर ठीक नहीं।

उन्होंने एक अन्य विषय पर बात आरम्भ कर दी है। आपने पूर्व-पक्ष उठाया है। पक्ष यह है कि मान लो वेद क्रियार्थक हैं। अर्थात् क्रिया से भिन्न सिद्ध अर्थ वाले वेद-वाक्य निष्फल हैं। इसलिये पुरुष को ये वेद-वाक्य किसी विषय में प्रवृत्त करते हैं और किसी विषय से निवृत्त। इस कारण वेद-वाक्य भी सार्थक हैं।

यह पूर्व-पक्ष सूत्र के साथ सम्बन्ध नहीं रखता। यह वेद-वाक्यों को सत्य रूप में प्रकट भी नहीं करता। अत: यह पक्ष केवल मात्र इस कारण उठाया गया है, जिससे स्वामी शंकराचार्यजी अपना मत यहाँ पर थोप सकें। स्वामीजी का क्या मत है? यह तो हम नीचे लिखेंगे, परन्तु वेद-वाक्यों का क्या अर्थ है, पहले हम अपने मत से यहाँ प्रकट कर दें तो ठीक रहेगा। अशुद्ध प्रश्न का उत्तर देना और उसके उत्तर में एक अन्य अशुद्ध मत उपस्थित करना उपयुक्त नहीं। इससे स्वामी जी स्वयं भ्रम में फँसे रहे और पाठकों को भी भ्रम में डाल दिया।

वेद अपौरुषेय ग्रन्थ हैं। सृष्टि के आदि में देवताओं द्वारा इस पृथिवी पर मनुष्यों को परमात्मा का ज्ञान मिला था, जिससे कि जीवात्मा इस पृथिवी पर सुखपूर्वक रहता हुआ पुण्य साध्य स्थिति को प्राप्त कर सके।

यह वैदिक परम्परा है; अर्थात् वेद-ज्ञान के ज्ञाता लोग यह मानते हैं कि जीवात्मा, परमात्मा के सजातीय, सखा एवं नित्य के साथी हैं। यह वेद में इस प्रकार लिखा है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

(ऋ० १-१६४-२०)

दो सुन्दर, एक जैसे रहने वाले मित्र, एक ही स्थान पर नित्य रहने वाले हैं। ये हैं आत्मा और परमात्मा।

परन्तु आत्मा अल्पज्ञ है और परमात्मा सर्वज्ञ है। इस कारण एक उस स्थान (वृक्ष अर्थात् प्रकृति) का भोग करने लगता है और इसमें रत हो जाता है, दूसरा उसे उसमें से निकालना चाहता है। वह अपने सयुजा, सखा और नित्य के साथी को संसार के भोगों से निकालने के लिये वेद-ज्ञान देता है।

जीवात्मा जब तक सृष्टि में विचरता हुआ कर्मफल भोगकर उससे निवृत्त नहीं होता, तब तक परमात्मा के समान आनन्द का भोग नहीं कर सकता। अत: वह दया का स्वरूप परमात्मा जीवात्मा को अपने कर्मफल से निवृत्त होने के लिये इस सृष्टि की रचना करता है और इसमें से निवृत्त होने के लिये वेद का ज्ञान देता है।

वेद में ही इस प्रकार वर्णन है—

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन् ।
सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखं स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ।।
(अथर्व० १०-७-२०)

अर्थात्—जिस परमात्मा से ऋग्वेद प्रकट हुआ, यजुर्वेद प्रकट हुआ और साम जिसके लोम हैं, अथर्ववेद जीवनरस के समान है, वह जिसका मुख है, उसको तू स्कम्भ कह। वह अत्यन्त सुखमय है।

इसी प्रकार यजुर्वेद ४०-८ में जहाँ परमात्मा का स्वरूप वर्णन किया है, वहाँ यह भी लिखा है—

स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ।।
(यजु० ४०-८)

वह परमात्मा स्वयम्भू, सर्वव्यापक, अनादि प्रजाओं के लिये ज्ञान प्रदान करता है।

यह है वेद-ज्ञान का प्रयोजन। इसमें जीवात्मा के इस सृष्टि में कल्याण और पारमार्थिक कल्याण दोनों ही लक्ष्य हैं। भगवान् जाने, श्री शंकराचार्यजी को किस प्रकार यह मिथ्या धारणा बन गयी कि वेद केवल क्रियार्थक हैं। अर्थात् क्रिया प्रयोजन नहीं और ज्ञान प्राप्त करना क्रिया नहीं। ये सब भ्रममूलक सिद्धान्त हैं। कुछ अज्ञानी लोगों के कथनों को पढ़ स्वामीजी ने विना जाँच-पड़ताल के मान लिया है।

वेद-वाक्य सम्यक् ज्ञान को देने वाले हैं। इस संसार का ज्ञान भी और ब्रह्म-लोक का भी। इस लोक में यज्ञ रूप जीवन व्यतीत करने के लिये लिखा है और इस प्रकार सुकृत करते हुए ज्ञान से ब्रह्मलोक की प्राप्ति के लिये मार्ग वेद में बताया है।

परन्तु देखना तो यह है कि स्वामी शंकराचार्य किस प्रकार इस पूर्व-पक्ष का उत्तर देते हैं और अपना क्या पक्ष स्थापित करते हैं ?

स्वामीजी लिखते हैं—

अत्राभिधीयते—न; कर्म-ब्रह्मविद्याफलयोर्वैलक्षण्यात्। शारीरं वाचिकं मानसं च कर्म श्रुतिस्मृतिसिद्धं धर्माख्यं, यद्विषया जिज्ञासा 'अथातो धर्मजिज्ञासा' (जै० सू० १-१-१) इति सूत्रिता; अधर्मोऽपि हिंसादिः प्रतिषेधचोदनालक्षणत्वा-ज्जिज्ञास्यः परिहाराय······

मनुष्यत्वादारभ्य ब्रह्मान्तेषु देहवत्सु सुखतारतम्यमनुश्रूयते। ततश्च तद्धेतो-र्धर्मस्य तारतम्यं गम्यते।······

अर्थात्—इसका उत्तर है कि नहीं। (अर्थात् पूर्व-पक्ष कि वेद में उपासना विधि का विषय भी ब्रह्म-प्राप्ति के अन्तर्गत है। स्वामीजी कहते हैं, नहीं) क्योंकि

कर्म और ब्रह्म-विद्या के फल में विलक्षणता है। शरीर, मन एवं वाणी से किये जाने वाले कर्म श्रुति और स्मृति में धर्म के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस विषय की (धर्म करने की) जिज्ञासा अर्थात् धर्म जिज्ञासा (जै० सू० १-१-१) यह सूत्र है। अधर्म (हिंसादि न करने के संकेत से) परिहार से जिज्ञासा का विषय बन जाते हैं......मनुष्य से आरम्भ करके ब्रह्मा पर्यन्त देहधारी होने के कारण सुख का सम्बन्ध श्रुति में वर्णन है। उससे (श्रुति से) धर्म का तारतम्य (करने का ढंग) पता चलता है......

यह है उक्त पूर्व-पक्ष पर स्वामीजी का उत्तर। पूर्व-पक्ष का सार जैसा हमने पहले लिखा है कि यह अशुद्ध है। वेद कर्मकाण्ड के ग्रन्थ नहीं हैं। स्वामीजी ने अपने शारीरक भाष्य में अथवा अपने किसी ग्रन्थ के अन्य भाष्य में भी यह वात वेद प्रमाण से सिद्ध नहीं की। स्वामीजी जैमिनी सूत्रों को वेद समझ रहे हैं। यह असिद्ध है कि वेद कर्मकाण्ड के ग्रन्थ हैं। इस पर भी यह मानना पड़ेगा कि मनुष्य को इस संसार में रहने का ढंग वेद में लिखा है। यह तो स्पष्ट है कि इस संसार को पार कर ही मोक्ष-प्राप्ति होती है। इस कारण मनुष्य को इसमें रहने का ठीक ढंग वताना अत्यावश्यक था। वह वेद में वता दिया गया है, परन्तु यह नहीं कि इसके अतिरिक्त वेद में अन्य कुछ है ही नहीं। वेद मूल ज्ञान के ग्रन्थ भी हैं और इस मूल ज्ञान में ही ब्रह्म का ज्ञान भी सम्मिलित है।

स्वामी शंकराचार्य ने सर्वप्रथम तो यह अनर्थ किया कि वेद को कर्मकाण्ड के ग्रन्थ मान लिया। इस प्रकार वेद की महिमा को कम कर दिया। दूसरे, वेद में जो मूल ज्ञान है, उसकी अवहेलना कर वास्तविक ज्ञान से अपने पाठकों को दूर कर दिया है।

उपनिषदादि ग्रन्थों का अर्थ करते समय जो पथ-प्रदर्शन वैदिक मूल-ज्ञान से प्राप्त होने वाला था, उससे स्वामीजी स्वयं भी वंचित हुए और अपने अनु-याइयों को भी वंचित कर गये।

उपनिषद् मनुष्यकृत ग्रन्थ हैं। वे श्रुति इस कारण कहलाते हैं कि उनमें ऋषियों के मौखिक उपदेश हैं और वे ऋषियों के शिष्यों ने अपने कानों से सुने थे। इस पर भी वे अपौरुषेय नहीं। जिस विचार से वेद-श्रुति माने जाते हैं, उपनिषद् उस विचार से श्रुति नहीं। अतः जव और जहाँ भी उपनिषद् ग्रन्थों का वेद से मतभेद है, वहाँ वेद मान्य हैं। परन्तु जव स्वामीजी ने यह स्वीकार किया कि वेद में धर्म और परिहार स्वरूप अधर्म का ही उल्लेख है, तव उपनिषद् ग्रन्थ वेद से स्वतन्त्र माने जाने लगे और फिर उनके अर्थ भी मनमाने लगाये जाने लगे।

इसके अतिरिक्त स्वामीजी के उक्त पक्ष का एक अन्य अनर्थकारी प्रभाव उत्पन्न हुआ। स्वामीजी ने लिखा है कि कर्म और ब्रह्म-विद्या में फल की विल-क्षणता है। यह अशुद्ध सिद्धान्त है। केवल इसलिये ही नहीं कि यह अयुक्ति-संगत

है, वरंच इस कारण भी कि इसने भारतवर्ष में घोर पतन का मार्ग प्रशस्त किया है।

इस कथन में युक्ति-विपरीत बात यह है कि संसार में स्वामीजी के मतानुयाइयों द्वारा शुभ कार्य ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति में न केवल असहायक माने गये हैं, वरंच विरोधी भी माने गये हैं। स्वामीजी कर्म करने के विपरीत इस कारण लिख रहे हैं कि मन, वचन, कर्म से किये गए कर्म परिहार स्वरूप अधर्मयुक्त कर्म भी जिज्ञासा में आ जायेंगे। वह बात उक्त उद्धरण से प्रकट होती है।

इसका अभिप्राय यह है कि जहाँ अहिंसा धर्म है और अहिंसा धर्म की जिज्ञासा है, वहाँ अहिंसा का विरोध करने वाली हिंसा को भी जानने की इच्छा होगी। इससे अधर्म की जिज्ञासा भी होगी। अतः वे धर्म की जिज्ञासा का भी विरोध करते हैं।

अभिप्राय यह कि ब्रह्म-जिज्ञासा वाला मनुष्य अधर्म को छोड़ने के प्रयोजन से धर्म को भी छोड़ दे। परन्तु कर्म तो छूटता नहीं; अतः स्वामीजी की शिक्षा पर चलने वाले धर्म छोड़ते हुए अधर्म ही करने लगेंगे। अधर्म को जानने की आवश्यकता नहीं। इन्द्रियों के विषय उनको करने की निरन्तर प्रेरणा देते रहते हैं। इसके विपरीत धर्म के कार्य करने में प्रयत्न करना पड़ता है। इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखने की आवश्यकता रहती है। इसी का दूसरा नाम त्याग और तपस्या है। जब धर्म करना ही नहीं तो त्याग और तपस्या की आवश्यकता नहीं। परिणाम यह होता है कि मनुष्य इन्द्रिय-लोलुप हो जाता है। यह स्वयमेव मनुष्य सीख जाता है अथवा इतर जीव-जन्तुओं को इन्द्रियों के विषय में रत देख स्वयं रत हो जाता है।

ऐसे मनुष्य कर्म छोड़ विकर्म में ही लीन हो जाते हैं। यही भारत के पतन का एक महान् कारण बना। उदाहरण के रूप में युद्ध क्षत्रियों का स्वाभाविक कर्म है। धर्म की स्थापना के लिये युद्ध करना उचित है। परन्तु धर्म क्या है? इसकी जिज्ञासा करना भी वर्जित हुआ है। धर्म की स्थापना के स्थान पर अधर्म के लिये अथवा निष्प्रयोजन युद्ध होने लगे। राजपूतों का इतिहास पढ़कर देख लें कि ऐसा हुआ है अथवा नहीं? राजपूतों के अतिरिक्त, भारत में लोग धर्म-अधर्म में भेद करना भूल जाने के कारण, अधर्म करने पर विवश होते रहे। कारण स्पष्ट था। इन्द्रियों के विषयों से अथवा जीव-जन्तुओं के व्यवहार से अधर्म की प्रेरणा मिलती है।

यह हम भली-भाँति जानते हैं कि हिन्दू-समाज का इतना घोर पतन हुआ कि यह सात सौ वर्ष तक मुसलमानों की दासता से नहीं छूट सका। इसके कुछ अन्य कारण भी रहे हैं, परन्तु स्वामी शंकराचार्य द्वारा नैष्कर्म्य का व्यापक प्रचार इसका एक मुख्य कारण सिद्ध होता है।

स्वामीजी का यह वक्तव्य वेद मत के विपरीत भी है। वेद में यह लिखा है—

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूयऽइव ते तमो यऽउ विद्यायाᳬरताः॥
अन्यदेवाहुर्विद्याया अन्यदाहुरविद्यायाः।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे॥
विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयᳬसह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥
(यजु० ४०-१२, १३, १४,)

जो लोग अविद्या में (सांसारिक कार्यों में) विचरते हैं, वे घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं और जो केवल विद्या (अध्यात्म) में ही रत हैं, वे मानो उससे भी अधिक अन्धकार में प्रवेश करते हैं।

विद्या का फल और है और अविद्या का फल दूसरा है। ऐसा हमने विद्वानों से सुना है, जिन्होंने हमारे सामने इनकी व्याख्या की है।

अतः जो विद्या और अविद्या दोनों को एक साथ जानता है, वह अविद्या से मृत्यु को पार करके विद्या से अमरत्व को प्राप्त करता है।

महाभारत में भी यही बात लिखी है। वहाँ लिखा है—

सांख्यदर्शनमेतावदुक्तं ते नृपसत्तम।
विद्याविद्ये त्विदानीं में त्वं निबोधानुपूर्वशः॥
अविद्यामाहुरव्यक्त सर्गप्रलयधर्मि वै।
सर्गप्रलयनिर्मुक्तां विद्यां वै पंचविंशकः॥
(महा भा० शा० ३०७-१,२)

अर्थात्—सांख्य-दर्शन के व्याख्यान के उपरान्त विद्या-अविद्या का वर्णन बताते हैं। जगत्-रचना, चलना और प्रलय का ज्ञान अविद्या है और सर्ग-प्रलय से मुक्त अव्यक्त की विद्या तथा पच्चीसवें गण पुरुष का ज्ञान विद्या है।

अविद्या का अर्थ है कि कार्य-जगत् का ज्ञान और विद्या का अर्थ है अध्यात्म ज्ञान। इनसे इन वेद-मन्त्रों का अर्थ यह बनता है कि मनुष्य को इस संसार का ज्ञान होना चाहिये और अध्यात्म का भी। दोनों का फल भिन्न-भिन्न है और वह यह कि अविद्या (सांसारिक व्यवहार) के ज्ञान से मनुष्य इस मर्त्यलोक को सुगमता से पार करता है और अध्यात्म के ज्ञान से मनुष्य मोक्ष को प्राप्त करता है।

स्वामी शंकराचार्य अविद्या का अर्थ कर्म ज्ञान करते हैं और विद्या का अर्थ देवताओं का ज्ञान बताते हैं। इसमें स्वामीजी बृहदारण्यक उपनिषद् का प्रमाण भी देते हैं।

हमारा यह विचारित मत है कि यहाँ भी स्वामीजी, जाने अथवा अनजाने, मिथ्या बात कह गये हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में तो केवल तीन लोक ही माने हैं। मनुष्य-लोक, पितृ-लोक और देव-लोक। इनके अतिरिक्त अन्य कोई लोक माना ही नहीं। स्वामीजी यह प्रकट कर रहे हैं कि विद्या की जो निन्दा की है (ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाँ रताः) वह इस कारण है कि वे कर्म का-त्याग कर केवल देवता ज्ञान में लीन होना चाहते हैं। इससे स्वामीजी का यह आशय है कि देवलोक के अतिरिक्त कोई ब्रह्मज्ञान और ब्रह्मलोक है। ब्रह्मज्ञान में (स्वामीजी के मतानुसार) कर्म बाधक हैं।

परन्तु बृहदारण्यक (१-५-१६) जिसका प्रमाण स्वामीजी विद्या-अविद्या का अर्थ बताने के लिये देते हैं, (देखो, शंकर भाष्य ईशावास्योपनिषद् १०वें मन्त्र के भाष्य में) उसमें तो केवल तीन लोक माने हैं। वहाँ इस प्रकार लिखा है—

अथ त्रयो वाव लोका मनुष्यलोकः, पितृलोको देवलोक इति सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोको देवलोको वै लोकानाँ श्रेष्ठस्तस्माद्विद्यां प्रशँसन्ति॥

(त्रयो वाव) तीन ही (लोका) लोक हैं। आगे लोकों के नाम (मनुष्य, पितृ और देव लोक) बताकर यह लिखा है (कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोकः) कर्म से पितृलोक और विद्या से देवलोक प्राप्त होता है; परन्तु साथ ही लिख दिया है कि (देवलोको वै लोकानां श्रेष्ठस्तस्माद् विद्यां प्रशंसन्ति) लोकों में देवलोक श्रेष्ठ है। इसी से विद्या प्रशंसित है।

यहाँ, यह स्पष्ट है कि देवलोक से अभिप्राय ब्रह्मलोक है। दोनों में अन्तर नहीं माना। दोनों की प्राप्ति पर मृत्यु से पार होकर अमृत की प्राप्ति होती है।

अतः अविद्या से अभिप्राय है इस जगत् (कार्य-जगत्) का ज्ञान। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादि देवता तो इस कार्य-जगत् का ही अंग हैं। अतः सामान्य भाषा में कहे जाने वाले देवताओं का ज्ञान अविद्या के अन्तर्गत आयेगा। यह अविद्या का ज्ञान मोक्ष दिलाने वाला नहीं है। बृहदारण्यक उपनिषद् में देवलोक का अभिप्राय ब्रह्मलोक से है। वह सबसे श्रेष्ठ है और उसमें जाने से ही अमृत की स्थिति उत्पन्न होती है।

अतः वेदमन्त्र में जब यह लिखा है कि विद्या से अमृत की प्राप्ति होती है तो अभिप्राय मोक्ष-प्राप्ति है। स्वामी शंकराचार्य का मत इस वेदमन्त्र के विपरीत है। वह कर्म को शरीर के सुख-दुःख में कारण मानते हैं। कर्म से शरीर नहीं छूटता और बिना शरीर छूटे मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। अतः वह कर्म को ही छोड़ने का आदेश देते हैं।

ब्र० सू० १-१-४ का भाष्य करते हुए स्वामीजी लिखते हैं—

इति प्रियाप्रियस्पर्शनप्रतिषेधाच्चोदनालक्षणधर्मकार्यत्वं मोक्षाख्यस्याशरीरत्वस्य प्रतिषिध्यत इति गम्यते। धर्मकार्यत्वे हि प्रियाप्रियस्पर्शनप्रतिषेधो नोपपद्यते। अशरीरत्वमेव धर्मकार्यमिति चेन्न; तस्य स्वाभाविकत्वात्।

अर्थात्—इससे प्रिय-अप्रिय सम्बन्ध के निषेध से मोक्ष में अशरीर अवस्था चोदना (करने के) लक्षण वाले धर्म-कार्य का निषेध करती है। यदि मोक्ष को धर्म का कार्य (परिणाम) मानें तो उसमें प्रिय-अप्रिय के सम्बन्ध का निषेध उपस्थित हो जायेगा। यदि यह कहा जाए कि धर्म-कर्म से अशरीरत्व प्राप्त होगा तो यह ठीक नहीं।

इस कथन का अभिप्राय यह है कि मोक्ष में शरीर रहता नहीं। इस कारण धर्म-कार्य जो प्रिय-अप्रिय उत्पन्न करने वाला है, मोक्ष का कारण नहीं हो सकता।

यह युक्ति छिद्रयुक्त है। इसके विषय में आगे चलकर लिखेंगे। पहले उन प्रमाणों को देखें जो स्वामी शंकराचार्य ने अपने उक्त कथन के पक्ष में दिये हैं। आप छान्दोग्य उपनिषद् (८-१२-१) और कठोपनिषद् (१-२-२१) तथा मुण्डकोपनिषद् (२-१-२) का प्रमाण देते हैं।

सर्वप्रथम छान्दोग्य उपनिषद् को ही लें और देखें कि क्या इससे यह सिद्ध होता है कि कर्म से अशरीर अवस्था प्राप्त नहीं हो सकती?

उपनिषद् मन्त्र इस प्रकार है—

मघवन्मर्त्यं वा इदं शरीरमात्तं मृत्युना तदस्यामृतस्याशरीरस्यात्मनोऽधिष्ठानमात्तो वै सशरीरः प्रियाप्रियाभ्यां न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्त्यशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः॥

(छा० ८-१२-१)

(मघवन) हे इन्द्र (वा इदं) निश्चय यह (शरीरं) शरीर (आत्तं) खाया जा रहा है (मृत्युना) मौत से; (मर्त्यं) मरण धर्म होने से। (तदस्य अमृतस्य अशरीरस्य आत्मनो) उस अविनाशी अशरीरी आत्मा का (अधिष्ठानम्) रहने का स्थान है। आत्तो वै सशरीरः) वह शरीर सहित (प्राणी) खाया जा रहा है (प्रियाप्रियाभ्याम्) सुख-दुःख से; (न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति) निश्चय शरीर सहित आत्मा के सुख-दुःखों का नाश नहीं होता। (अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः) आत्मा शरीर रहित होने पर ही सुख-दुःख के स्पर्श से बचा रहता है।

यहाँ यह लिखा है कि जब आत्मा शरीर रहित होता है तब ही वह सुख-दुःख से बच सकता है। जब तक आत्मा सशरीर रहता है, सुख-दुःख के स्पर्श में रहता है।

बताइये, यह कहाँ लिखा है कि किसी प्रकार के कर्म के बिना आत्मा शरीर से रहित हो सकेगा। इस उपनिषद् में तो मोक्ष-अवस्था का वर्णन है जो शरीर

रहित होने पर ही मिलती है, परन्तु वह अवस्था कर्म के बिना प्राप्त हो जाएगी, यह इस उपनिषद् में नहीं लिखा।

यह सिद्ध है कि मोक्ष-प्राप्ति के लिए अष्टांग योग करना पड़ता है। क्या वह कर्म नहीं है? कर्म को छोड़ने के लिए भी पुरुषार्थ करना पड़ता है और पुरुषार्थ ही कर्म है।

इस उपनिषद् मन्त्र में यह बताया है कि मोक्षावस्था में शरीर नहीं रहता। शरीर छूटने से ही वह सुख-दुःख की अवस्था से छूट सकता है। इस विषय में कुछ नहीं लिखा कि शरीर छूटने के लिए अकर्मण्यता की आवश्यकता है।

आइये, अब दूसरे उद्धरण को देखें। यह इस प्रकार है—

> दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
> अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः॥
>
> (मुण्ड० २-१-२)

(स पुरुषः) वह परमात्मा (दिव्यो ह्यमूर्त्तः) दिव्य, शरीर रहित है। (बाह्याभ्यन्तरो) संसार के बाहर और भीतर विद्यमान (ह्यजः) अजन्मा है। (अप्राणो) वह प्राण से रहित (ह्यमनाः) मन के बिना (शुभ्रो) शुद्ध (ह्यक्षरात्परतः परः) अक्षर पर से भी परे अर्थात् जीवात्मा प्रकृति जो अक्षर है, उनसे भी सूक्ष्म है।

यहाँ मुक्त जीव का वर्णन नहीं है। यह श्रुति परमात्मा के विषय में है। मुक्तात्माओं के विषय में नहीं। यह बात द्वितीय मुण्डक के इस खण्ड के प्रथम मन्त्र से प्रकट होती है। वहाँ इसी से सृष्टि उत्पत्ति का उल्लेख है। शब्द है (तदेतत्सत्यं) वह सत्य है और (यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिङ्गाः प्रभवन्ते सरूपाः) जैसे जल रही अग्नि से स्फुलिंग उत्पन्न होते हैं वैसे ही इस परमात्मा के शरीर जगत् से सहस्रों स्वरूप उत्पन्न होते हैं।

अभिप्राय यह कि ये श्रुतियाँ परमात्मा के विषय में हैं।

स्वामीजी ने एक अन्य उद्धरण दिया है (बृ० ४-३-१५)। इसमें मनुष्य की सुषुप्ति अवस्था में आत्मा की स्थिति का वर्णन है। किसी भी प्रमाण का स्वामीजी के कथन से सम्बन्ध नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामीजी एक ऐसी बात कहकर जिसका कहीं प्रमाण नहीं, असम्बन्धित प्रमाण देने लगते हैं।

अब हम दो शब्द स्वामीजी के अपने मत के विषय में लिख देना चाहते हैं। वह कहते हैं कि कर्म से शरीर नहीं छूटता। इस विषय में वेद (ऋक्, यजु, साम और अथर्व) में ऐसा नहीं लिखा। हम यजुर्वेद (४०-१२, १३, १४) का प्रमाण दे चुके हैं कि अविद्या (सांसारिक ज्ञान) द्वारा संसार को पार कर विद्या से अमृतावस्था प्राप्त की जा सकती है। अर्थात् इस संसार का ज्ञान प्राप्त कर इसमें विचरता हुआ मनुष्य इसमें अधर्म-कर्म से बचकर धर्म का पालन करता हुआ

अमृतत्व को प्राप्त कर सकता है।

श्रीमद्‌भगवद् गीता में लिखा है—

> न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
> कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥
> नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
> शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥
> यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
> तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंग समाचर॥

(३-५, ८, ९)

अर्थात्—कोई भी मनुष्य किसी काल में एक क्षणमात्र भी, बिना कर्म किए नहीं रहता। प्रकृति (स्वभाव) से विवश हो वह कर्म करता है।

इस कारण नियत (वर्णाश्रम धर्म) कर्म को करो; क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है। कर्म न करने से तेरा शरीर-निर्वाह भी नहीं होगा।

यज्ञार्थ (सर्वहिताय) कर्मों के अतिरिक्त कर्म मनुष्य को बाँधते हैं। अतः आसक्ति से रहित होकर कर्मों को भली प्रकार कर।

एक अन्य स्थान पर भगवद्‌गीता में लिखा है—

> न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
> न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥

(३-४)

कर्मों के न करने से निष्कर्मता को प्राप्त नहीं हुआ जा सकता। कर्मों के त्यागने से भी सिद्धि प्राप्त नहीं होती।

यहाँ सिद्धि का अर्थ मोक्ष सिद्धि से ही है।

अतः स्वामी शंकराचार्य का मत, कि कर्म करना छोड़ देने से मोक्ष की अशरीरी अवस्था प्राप्त हो सकती है, शुद्ध नहीं है। इसके विपरीत बात ही वेदादि शास्त्र कहते हैं।

परन्तु हमारा पक्ष तो यह है कि जिस सूत्र के भाष्य में यह सब कुछ लिखा है, उस सूत्र के अर्थों से इन सब बातों का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। खेद से कहना पड़ता है कि वेदान्त-सूत्रों को बोझल बनाने के लिए स्वामीजी ने ऐसी असंगत बात यहाँ लिख दी है।

इस सूत्र (तत्तु समन्वयात्) का स्पष्ट अर्थ यह है कि इस जगत् में हो रहा समन्वय भी उस चेतन सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमात्मा से हो रहा है। इस समन्वय में तीनों प्रकार के ब्रह्म सम्मिलित हैं।

ईक्षतेर्नाशब्दम् ।।५।।

ईक्षतेः+न+अशब्दम् ।

ईक्षतेः=ईक्षण करने वाला होने से (परमात्मा जगत् का कारण है)। शब्द प्रमाण से भी यही सिद्ध होता है । यह अशब्द नहीं है ।

हमने (ब्र० सू०—१-१-२ में) बताया है कि ब्रह्म तीन हैं और तीनों ही जगत् की रचना, पालन करने और प्रलय करने में कारण हैं। उपनिषदों में अनेक स्थानों पर परमात्मा, जीवात्मा और मूल-प्रकृति, तीनों को ब्रह्म के नाम से लिखा है। हमने यह भी बताया है कि तीनों को, एक ही नाम, ब्रह्म, से इस कारण स्मरण किया जाता है, क्योंकि ये तीनों अनादि, अजन्मा, नित्य, अव्यक्त, अव्ययी और जगत्-रचना में कारण हैं। इस पर भी तीनों भिन्न-भिन्न हैं; क्योंकि इनके कई एक गुणों में भिन्नता है। यह हम पीछे बता आये हैं।

इस सूत्र में एक अन्य बात लिखी है, जिससे जगत्-रचना में भी, तीनों में भेद कर दिया है। प्रथम भेद यह बताया है कि जगत्-रचना एक विचारित योजना है। 'ईक्षण' विचारित, योजना बद्ध करने को कहते हैं। (ईक्षतेः) विचारित योजना होने के कारण जगत् के रचने का कार्य-भार परमात्मा पर है। प्रकृति और जीवात्मा पर नहीं।

साथ ही लिखा है (न अशब्दम्) शब्द प्रमाण से भी यही बात प्रतीत होती है।

इस सूत्र में दो बातें की गयी हैं। एक तो कारण, शब्द और रचयिता शब्द में अन्तर कर दिया है। घड़े का कारण घड़े की मिट्टी भी हो सकती है, परन्तु घड़े को रचने वाली मिट्टी नहीं। रचने वाला तो कुम्भकार है। यही बात यहाँ पर लिखी है कि जगत्-रचना में कारण मूल प्रकृति अवश्य है, परन्तु वह जगत् की रचना करने वाली नहीं।

प्रायः सभी भाष्यकार इस सूत्र के प्रथम अंश का यही अर्थ करते हैं, परन्तु दूसरे अंश (अशब्दम्) के अर्थ में थोड़ा अन्तर आ गया है। उदाहरण के रूप में—

श्री रामानुजाचार्य के भाष्य में इस प्रकार लिखा है[1]—

The present Sutra declares that the texts treating of creation cannot refer to the Pradhan; the Sutra just mentioned will dispose of objections.

---

१. आपका संस्कृत भाषा में भाष्य प्राप्य नहीं हो सका। G. Thibout द्वारा उनके भाष्य का अंग्रेज़ी में अनुवाद ही यहाँ दिया जा रहा है।

अर्थात्—जगत्-रचना के विषय में शास्त्र में जो लिखा है, प्रधान (प्रकृति) से यह हुआ, ठीक नहीं। कारण यह कि बिना विचार के यह हुआ नहीं। प्रधान जड़ होने से विचार नहीं कर सकता।

श्री उदयवीर शास्त्री इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार करते हैं—

(ईक्षतेः) ईक्षति से (ब्रह्म का विद्रूप होने) (न) नहीं। (अशब्दम्) अशब्द-अशास्त्रीय-अप्रमाण। ईक्षण क्रिया का कर्त्ता होने से जगत् कारण ब्रह्म का विद्रूप होना तथा जगज्जन्मादि के प्रति निमित्त कारण होना अशब्द नहीं। शास्त्र-प्रमाण रहित नहीं।

स्वामी ब्रह्ममुनि जी इस प्रकार लिखते हैं—

(ईक्षतेः) ईक्षण क्रिया का प्रवर्तक—प्रेरक होने से ब्रह्म (परमात्मा) जगत् का निमित्त कारण है। उसके ईक्षण क्रियावान् होने से न कि उपादान कारण।

इन सब भाष्यों में यह बात एक समान लिखी है कि ईक्षण करने वाला परमात्मा है। अतः वह जगत् का रचने वाला है। ईक्षण का अर्थ किया गया है, वह जो देखता है, विचार करता है। कुछ मतभेद 'अशब्दम्' के विषय में है। इसका अर्थ हमारे विचार से केवल इतना है कि यह बात वेदोक्त है। 'न-अशब्दम्' के इतने ही अर्थ करने चाहियें। जहाँ कहीं उपनिषदादि ग्रन्थों में कुछ भिन्न लिखा दिखायी दे, उसमें हमारा मत है कि वे शब्द प्रमाण के ग्रन्थ हैं ही नहीं। वे भिन्न-भिन्न ऋषियों द्वारा लिखे अथवा कहे गये ग्रन्थ हैं। वे गलत भी हो सकते हैं। उनके कहने का ढंग त्रुटिपूर्ण भी हो सकता है। शब्द प्रमाण में केवल चार वेद ही लेने चाहियें। भारतीय मान्यता इनको ही ईश्वरीय ग्रन्थ स्वीकारती हैं।

जहाँ कहीं प्रधान (प्रकृति) को ईक्षण करने वाला बताया है, वह भूल है। अतः वहाँ अर्थ लगाने में पूर्वापर विचार कर लेना चाहिये। पाठकों से की जाने वाली भूल को सुधारने के लिये (न अशब्दम्) की बात लिखी है।

कुछ भी हो, हमारा मत है कि 'न अशब्दम्' का अर्थ इतना मात्र करना ही ठीक है कि (ईक्षणः) ईक्षण करने वाला ही जगत् का रचयिता है। यह वेदोक्त है। शब्द प्रमाण में केवल वेद ही लेने चाहिएँ।

ईक्षण करने वाले के विषय में इतना और बता देना ठीक होगा। इसके अर्थ केवल देखने वाले के नहीं। इसमें देखने से कहीं अधिक अर्थ हैं। देखना, विचार करना, निर्णय करना, योजना करना इत्यादि सब भाव आते हैं जो चेतन स्वरूप तत्त्व में होने चाहियें।

परन्तु स्वामी शंकराचार्य द्वारा किये गए, इस सूत्र के अर्थ अवश्य विचारणीय हैं। स्वामीजी का विचार है कि शब्द (न अशब्दम्) इस कारण लिखा गया है कि कहीं सांख्य में प्रतिपादित प्रकृतिवाद स्वीकार न हो जाये। इस सन्दर्भ में

स्वामीजी लिखते हैं—

न सांख्यपरिकल्पितमचेतनं प्रधानं जगतः कारणं शक्यं वेदान्तेष्वाश्रयितुम्। अशब्दं हि तत्।

सांख्य में कल्पना किया गया अचेतन 'प्रधान' (प्रकृति) जगत् का कारण वेदान्तों में नहीं माना जा सकता। क्योंकि वह 'अशब्द' है। (श्रुति विपरीत है)।

यहाँ श्री स्वामीजी का यह कहना है कि सांख्य में यह कल्पना की गयी है कि प्रधान (प्रकृति) जगत् का रचने वाला है। स्वामीजी का कथन सांख्य के मूल ग्रन्थ कपिल मुनि प्रणीत सांख्य-दर्शन से अनभिज्ञता प्रकट करता है। यह हम जानते हैं कि कुछ लोगों ने अपने मन-घड़न्त ग्रन्थ लिखकर उनको सांख्य-दर्शन का नाम दिया है, परन्तु यह तो ऐसे ही है जैसे विकासवाद (evolution theory) को एक वैज्ञानिक (scientific) बात कही जाये। यह अवैज्ञानिक बात है किन्तु कई लोगों ने इसे वैज्ञानिक कहा है। इससे विज्ञान का यह मत नहीं हो जाता।

इसी प्रकार जब कोई सांख्य-दर्शन विपरीत बात को सांख्य से सिद्ध लिखने लगे तो सांख्य निन्दनीय नहीं हो सकता। सांख्य के आदि प्रवक्ता कपिल मुनि हुए हैं और उन्होंने वैसा कुछ नहीं लिखा जो स्वामी शंकराचार्य सांख्य के नाम से प्रख्यात कर रहे हैं।

कपिल मुनि मानते हैं कि जगत् की रचना में प्रकृति भी कारण है। यह हम बता चुके हैं कि कारण दो प्रकार के होते हैं। निमित्त कारण और उपादान कारण। हम घड़े और मिट्टी का उदाहरण भी दे चुके हैं। मिट्टी भी घड़े का कारण है, परन्तु मिट्टी घड़े की रचने वाली नहीं है। रचने वाला तो कुम्भकार है।

कपिल मुनि ने सांख्य-दर्शन में यह कहीं नहीं लिखा कि प्रकृति जगत् को रचती है, अर्थात् बनाती है। यह अवश्य लिखा है कि प्रकृति से जगत् बना है।

सांख्य का मूल सूत्र इस विषय में इस प्रकार है—

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेर्महान्।

(सांख्य १-६१)

इसके अर्थ हैं कि सत्त्व, रजस् तथा तमस् की साम्यावस्था प्रकृति कहलाती है। प्रकृति से महान् बना।

यह नहीं कि प्रकृति ने महान् का निर्माण किया। यह कहा जाता है कि मिट्टी से घड़ा बनता है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि मिट्टी घड़े को बनाती है।

स्वामीजी उपादान कारण और निमित्त कारण में अन्तर न समझते हुए ही सांख्य-दर्शन में प्रकृति को जगत् की रचना करने वाला कहा मानते हैं। इसके विपरीत सांख्य के यदि निम्न सूत्रों पर एक साथ विचार करें तो पता चलेगा कि

सांख्य-दर्शन न केवल ईश्वर के अस्तित्व को मानता है, वरंच ईश्वर से सृष्टि की रचना असंदिग्ध शब्दों में मानता है।

सूत्र इस प्रकार हैं—

१—न कारणलयात् कृतकृत्यता मग्नवदुत्थानात्।

२—अकार्यत्वेऽपि तद्योगः पारवश्यात्।

३—स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता।

४—ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा।

५—प्रधानसृष्टिः परार्थं स्वतोऽप्यभोक्तृत्वात्, उष्ट्रकुङ्कुमवहनवत्।

६—अचेतनत्वेपि क्षीरवच्चेष्टितं प्रधानस्य।

(सांख्य० ३-५४, ५५, ५६, ५७, ५८, ५९)

इन सूत्रों में ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति का परस्पर सम्बन्ध वर्णन किया है। अर्थ इस प्रकार हैं—

(१) जगत् कारण (मूल प्रकृति) में लय होने पर भी कृत-कृत्यता (कर्म करती हुई) रहती है। जैसे डूबा हुआ मनुष्य तैरने लगता है।

इसका अभिप्राय यह है कि ब्रह्म-रात्रि के समय जब जगत् मूल-प्रकृति में लय हो गया होता है, तब भी कार्य होता रहता है। जैसे डूबा हुआ शव ऊपर उठ आता है और तैरने लगता है। अभिप्राय यह कि प्रकृति के गुण उसके साथ रहते हैं और उन गुणों में कृत-कृत्यता रहती है।

आगे लिखा है—

(२) परवश होने से अकार्यशील (जड़) होने पर भी वह (तत् योगः) सम्बन्धित रहती है।

अर्थात् प्रकृति कार्यशील दिखायी देती है, दूसरे के अधीन होने से।

सांख्य-दर्शनाचार्य कपिल मुनि यह लिखते हैं कि प्रधान (प्रकृति) स्वतः अकार्यशील (जड़) है। अतः कार्य नहीं कर सकती। यह दूसरे के वश में होकर कार्य करती है। जिसके वश कार्य करती है वह—

(३) सब-कुछ जानने वाला और सब-कुछ करने वाला है, अर्थात् सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है।

(४) इस प्रकार ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध होता है।

(५) प्रकृति का सृष्टि रूप किसी दूसरे के लिये है। इसके अपने भोग के लिये नहीं, जैसे ऊँट पर केसर ढोया जाता है।

यहाँ पर जगत् के रचने वाले ईश्वर और सृष्टि के उपादान कारण (प्रधान) के अतिरिक्त एक तीसरे को बताया है, जिसके लिये यह हो रहा है। यह जीवात्मा है।

अन्तिम सूत्र में लिखा है—

(६) प्रधान अचेतन होने पर भी ऐसे कार्य करता है, जैसे कि माँ के स्तन से दूध टपकने लगता है।

दूध अचेतन है, परन्तु माँ के पुत्र के प्रति ममता से विवश हो स्तन से निकलने लगता है।

इन सूत्रों से यह स्पष्ट है कि सांख्यकार न केवल यह मानता है कि ईश्वर सिद्ध है, वरंच वह यह भी स्वीकार करता है कि प्रधान जड़ होने से ईश्वर के वशीभूत कार्य करता है। साथ ही प्रधान और परमात्मा के संयोग से जो सृष्टि-रचना हुई है, वह जीवात्मा के निमित्त है।

इन प्रमाणों की विद्यमानता में स्वामी शंकराचार्य का यह कहना कि सांख्य में यह कल्पना की गयी है कि प्रकृति जगत् का निमित्त कारण है, उनकी सांख्य-दर्शन से अनभिज्ञता प्रकट करता है।

जो लोग जगत् की रचना में निमित्त एवं उपादान कारण दोनों को मानते हैं, वे इसी प्रकार कहते हैं जैसे कि सांख्य में लिखा है।

ब्रह्मसूत्र (१-१-५) का भाष्य लिखने से पूर्व श्री स्वामीजी ने कुछ शब्द 'ईक्षत्यधिकरणम्' के नाम से लिखे हैं। वे भी विचारणीय हैं।

आप लिखते हैं—

सांख्यादयस्तु परिनिष्ठितं वस्तु प्रमाणान्तरगम्यमेवेति मन्यमानाः प्रधानादीनि कारणान्तराण्यनुमिमानास्तत्परतयैव वेदान्तवाक्यानि योजयन्ति। सर्वेष्वेव वेदान्तवाक्येषु सृष्टिविषयेष्वनुमानेनैव कार्येण कारणं लिलक्षयिषितम्। प्रधान-पुरुषसंयोगा नित्यानुमेया इति सांख्या मन्यन्ते।

अर्थात्—सांख्य इत्यादि तो ऐसा मानते हैं कि सिद्ध वस्तु को सिद्ध करने के लिये अन्य प्रकार (वेदान्त वाक्यों के अतिरिक्त) के प्रमाण मानने योग्य हैं। प्रधानादि अन्य कारणों का अनुमान कर तत् (प्रधान) परत्व (मानकर) वेदान्त वाक्यों की योजना करते (अर्थ लगाते) हैं। सृष्टि उत्पत्ति के विषय के सब वेदान्त-वाक्यों में अनुमान से ही कार्य-कारण लक्ष्य बनाते हैं। कार्य-कारण से युक्ति करते हैं। वे सांख्य वाले, यह मानते हैं कि पुरुष और प्रधान का संयोग नित्यानुमेय है।

स्वामीजी आगे लिखते हैं—

काणादास्त्वेतेभ्य एव वाक्येभ्य ईश्वरं निमित्तकारणमनुमिमते, अणूंश्च समवायिकारणम्। एवमन्येपि तार्किका वाक्याभासयुक्त्याभासावष्टम्भाः पूर्वपक्ष-वादिन इहोत्तिष्ठन्ते।

अर्थात्—कणाद के अनुयायी तो उन्हीं वाक्यों से ऐसा अनुमान करते हैं कि ईश्वर सृष्टि का निमित्त कारण है और अणु समवायि कारण हैं। इसी प्रकार अन्य तार्किक भी वाक्याभास और मुक्ताभास का अवलम्वन लेते हुए अद्वैत मत में पूर्व-पक्ष उपस्थित करते हैं।

स्वामीजी ने यहाँ तक तो अपने विचार से पूर्व-पक्ष अर्थात् सांख्य और वैशेषिक मत ठीक बताया है। वे उक्त मत पर किसी प्रकार की आपत्ति नहीं कर सके। जगत् के दो कारण होने का खण्डन वे ब्रह्मसूत्रों अथवा किसी भी उपनिषद्-वाक्य से नहीं कर सके। इस विषय में यह समझ लेना चाहिये कि वेद में जगत् के तीन मूल-तत्त्वों का उल्लेख है ही। कुछ उपनिषद्-वाक्यों में भी इस बात का स्पष्ट समर्थन है। शेष उपनिषदों में ब्रह्म की सर्वव्यापकता प्रकट करने के लिये कुछ वाक्य हैं, जिनके अर्थ स्वामीजी खींचा-तानी से 'एकोब्रह्म द्वितीयोनास्ति' लगाते हैं। परन्तु किसी उपनिषद् में यह नहीं लिखा कि प्रकृति एवं जीवात्मा मूल-तत्त्व नहीं हैं। अतः स्वामीजी जो पग-पग पर, ठीक अथवा गलत, उपनिषद् के उद्धरण देते रहते हैं, परन्तु वे कोई ऐसा उद्धरण नहीं दे सके जिसमें जीवात्मा अथवा प्रधान का होना मिथ्या लिखा हो। कार्य-जगत् को तो मिथ्या अर्थात् अनित्य लिखा है, परन्तु जीवात्मा तथा प्रधान का अस्तित्व नहीं है, ऐसा प्रमाण वे नहीं दे सके। इस कारण स्वामीजी अपनी ओर से कुछ अशुद्ध बात लिखकर उसका खंडन करने लगे हैं। आप सांख्य और कणाद के नाम से कुछ लिख रहे हैं, जो सत्य नहीं, वरंच जिसका उन शास्त्रों में खण्डन है।

देखिये, उक्त उद्धरण के उपरान्त स्वामीजी अपने 'ईक्षत्यधिकरणम्' के शीर्षक के नीचे क्या लिखते हैं—

य तत्र सांख्याः प्रधानं त्रिगुणमचेतनं जगतः कारणमिति मन्यमाना आहुः— यानि वेदान्तवाक्यानि सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेर्ब्रह्मणो जगत्कारणत्वं प्रदर्शयन्तीत्यवोचंस्तानि प्रधानकारणपक्षेऽपि योजयितुं शक्यन्ते। सर्वशक्तित्वं तावत्प्रधानस्यापि स्वविकारविषयमुपपद्यते। एवं सर्वज्ञत्वमप्युपपद्यते। कथम् ? यत्तु ज्ञानं मन्यसे स सत्त्वधर्मः, 'सत्वात्संजायते ज्ञानम्' (गी० १४-१७) इति स्मृतेः। तेन च सत्त्वधर्मेण ज्ञानेन कार्यकरणवन्तः पुरुषाः सर्वज्ञा योगिनः प्रसिद्धाः। सत्त्वस्य हि निरतिशयोत्कर्षे सर्वज्ञत्वं प्रसिद्धम्।……

वहाँ सांख्य में, त्रिगुणात्मक अचेतन प्रधान जगत् का कारण माना है। वे कहते हैं, जो वेदान्त-वाक्य सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ब्रह्म को जैसे जगत् का कारण दिखाते हैं, वही बात प्रधान (प्रकृति) के ऐसा होने में भी लगायी जा सकती है। अर्थात् उसको सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् कहा जा सकता है। कैसे ? जिसे ज्ञान मानते हो, वह सत्त्व गुण का धर्म है। स्मृति में लिखा है (गी० १४-१७) कि 'सत्त्वात्संजायते ज्ञानम्' और इस सत्त्व धर्म से ज्ञान युक्त कार्य-कारण वाले पुरुष योगी सर्वज्ञ प्रसिद्ध हैं। सत्त्व का निरतिशय उत्कर्ष होने पर सर्वज्ञ होना प्रसिद्ध है।

यह पूर्व-पक्ष सांख्य के नाम से स्वामी शंकराचार्य ने प्रस्तुत किया है। हमारा यह कहना है कि यह कपिल के सांख्य का मत नहीं है। कुछ बौद्धों ने

अपने मत को सांख्य के नाम से प्रसिद्ध किया है। यह इसी प्रकार है जैसे कुछ वर्ष पूर्व एक कादियानी मुसलमान लाहौर के बाज़ारों में घूम-घूमकर यह प्रचार किया करता था कि पृथिवी स्लेट की भाँति चपटी है। यूरोप, एशिया तथा अमेरिका स्लेट के एक ही ओर हैं। इस स्लेट के नीचे क्या है, कोई नहीं जानता। यह मुसलमान अपने मत को वैज्ञानिक (scientific) कहता था। यह मत वैज्ञानिक था अथवा नहीं, इस स्थान पर विचारणीय नहीं। हमारा तो यह कहना है कि जैसे यह महानुभाव पृथिवी को स्लेट की भाँति चपटी मानने वाला अपने मत को वैज्ञानिक (scientific) कहता था, वैसे ही बौद्ध मतावलम्बी, प्रकृति की सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमानता प्रकट करने वाले भी अपने को सांख्य मतावलम्बी कहते होंगे। यह निर्विवाद है कि यह कपिल का सांख्य नहीं है। किसी ने सांख्य के नाम पर छलना की है।

ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामीजी ने कपिल के विषय में यह छलनात्मक मत देखा है। इसी का शिकार वे हो रहे हैं। कपिल के सांख्य-दर्शन में तथा कणाद के वैशेषिक दर्शन में ऐसी कोई बात नहीं।

प्रधान को सत् गुण वाला माना है। सत् का अर्थ है नित्य। यह चेतनार्थक नहीं है। साथ ही चेतना, सर्वशक्तिमानता तथा सर्वज्ञता सत् से भिन्न बात है। उदाहरण के रूप में जीवात्मा चेतन माना जाता है, परन्तु यह सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् नहीं माना जाता। इसी प्रकार प्रकृति को अनादि (नित्य) माना है, परन्तु यह जड़ है।

स्वामीजी स्मृति से एक उद्धरण देते हैं 'सत्त्वात्संजायते ज्ञानं'। स्वामीजी के भाष्य के हिन्दी टीकाकार स्वामी सत्यानन्दजी इसे गीता (१४-१७) का उद्धरण बताते हैं। तनिक यह भी देख लिया जाये तो ठीक है।

श्रीमद्भगवद्गीता का श्लोक इस प्रकार है—

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च॥

(१४-१७)

अर्थ है—सत्त्व से ज्ञान उत्पन्न होता है, रजस् से लोभ, तमः से प्रमाद, मोह और अज्ञान उत्पन्न होते हैं।

परन्तु यह कहाँ लिखा है कि सत्त्व ज्ञान है अथवा ज्ञान को उत्पन्न करता है? बात घड़े और मिट्टी की है। मिट्टी से घड़ा बनता है, परन्तु इसका यह अर्थ कैसे हो गया कि मिट्टी घड़े को बनाती है? जगत् प्रकृति से बनता है, परन्तु प्रकृति जगत् को बनाती है, यह अर्थ नहीं बनता।

प्रथम तो हम बता चुके हैं कि सांख्य में प्रकृति को 'अकार्यत्वेऽपि तद्योगः पारवश्यात्' माना है। अर्थात् प्रकृति अकार्य (कर्म विहीन) है। इस पर भी

उसके योग से कार्य-जगत् की रचना होती है दूसरे के अधीन होकर। मिट्टी से घड़ा बनता है, परन्तु किसी दूसरे से वश में होकर। इससे स्वामीजी का यह कथन कैसे सिद्ध होता है कि सत्त्व ज्ञान है ?

भगवद्गीता के उद्धरण से यह बात प्रकट नहीं होती जो स्वामीजी ने पूर्व पक्ष में वर्णन की है। स्वामीजी लिखते हैं कि—

तेन च सत्त्वधर्मेण ज्ञानेन कार्यकरणवन्तः पुरुषाः सर्वज्ञा योगिनः प्रसिद्धाः।

यह स्वामीजी ने सब अपने मन से पूर्व-पक्ष में लिखा है। ऐसा सांख्य अथवा वैशेषिक दर्शन में नहीं लिखा।

स्वामीजी कहते हैं कि इस पूर्व-पक्ष के खण्डन के लिये ब्रह्मसूत्र (१-१-५) लिखा गया है। वह पूर्व-पक्ष कहीं बौद्ध अथवा जैन-ग्रन्थों में हो तो हो, परन्तु कपिल के सांख्य अथवा कणाद के वैशेषिक में नहीं है। सांख्य और कणाद का नाम लेकर इसका खण्डन करना हवा को लाठी से पीटने के सदृश है।

स्वामी शंकराचार्य का मत यह है कि यह सूत्र (ब्र०-सू० १-१-५) उस पूर्व पक्ष के उत्तर में है जो उन्होंने 'ईक्षत्याधिकरण' में स्थापित किया है। अर्थात् उनके मत से सांख्य और कणाद में लिखा है कि 'प्रधान' सृष्टि की रचना करता है और वे इसका खण्डन ब्रह्म-सूत्र से करना चाहते हैं।

पहली बात तो यह कि वे स्वयं कणाद के वैशेषिक-दर्शन में यह लिखा बताते हैं कि 'काणादास्त्वेतेभ्य एव वाक्येभ्य ईश्वरं निमित्तकारणमनुमिमते, अणूंश्च समवायिकारणम्।' अर्थात् कणाद आदि तो सृष्टि-रचना में ईश्वर को निमित्त कारण और अणुओं को समवायिकरण मानते हैं।

स्वामीजी युक्ति से तो यह सिद्ध करना चाहते नहीं कि प्रकृति एवं जीवात्मा नहीं है। हाँ, उपनिषदादि ग्रन्थों के प्रमाणों से सिद्ध करना चाहते हैं। यद्यपि ये ग्रन्थ मनुष्य-कृत हैं, अपौरुषेय नहीं, इस पर भी हमारा कहना है कि ये उद्धरण भी सांख्य और कणाद के मत का खण्डन नहीं करते।

छान्दोग्य उपनिषद् (६-२-१; २, ३) के उद्धरण स्वामीजी ने सांख्य मत के विरोध में प्रस्तुत किये हैं। अतः पहले इन दोनों को ही देखें, मन्त्र इस प्रकार हैं—

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायत ॥१॥

कुतस्तु खलु सोम्यैवँ स्यादिति होवाच। कथमसतः सज्जायेतेति। सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ॥२॥

तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति। तत्तेजोऽसृजत। तत्तेज ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति। तदपोऽसृजत। तस्माद्यत्र क्व च शोचति स्वेदते वा पुरुषस्तेजस एव तदध्यापो जायन्ते ॥३॥

इन मन्त्रों का विस्तृत अर्थ हम (ब्रह्म-सूत्र—४-४) के भाष्य में लिख आये हैं।

स्वामीजी द्वारा कल्पित सांख्य-सिद्धान्त का यहाँ भी खण्डन नहीं हुआ। ऐसा कहीं नहीं लिखा कि 'प्रधान' ने ईक्षण किया है, न ही यह लिखा है कि परमात्मा ने ईक्षण किया है।

ऋषि कहते हैं कि सृष्टि-रचना के पूर्व भाव था अर्थात् कुछ सत्तायुक्त था। वह अद्वितीय था अर्थात् उस जैसा दूसरा नहीं था।

यह सत् (भाव) क्या था, कैसा था, एक रस था इत्यादि व्याख्या यहाँ नहीं की। केवल यह कहा है कि वह अनुपम (जिसके समान दूसरा कोई न हो) था।

हमारा कहना है कि वह त्रिविध ब्रह्म (श्वे० १-९) ही था। इस त्रिविध ब्रह्म में ज्ञ, अज्ञ और (ह्येका भोक्त भोग्यार्थयुक्ता) प्रकृति थे। तीनों अज (अजन्मा) हैं। अतः सृष्टि-रचना से पूर्व के समय तीनों का होना स्वाभाविक ही है। इन तीनों को एक वचन में स्मरण करने का कारण यह है कि तीनों का एक ही नाम है। अभिप्राय यह कि ऋषि कहते हैं कि ब्रह्म सृष्टि-रचना से पूर्व भाव था। वह ब्रह्म था। उसके समान कोई दूसरा नहीं था।

इन तीनों में ईक्षण वह ही कर सकता है जो सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ है। वह श्वेताश्वतर उपनिषद् के अनुसार (ज्ञ) ज्ञानवान् तथा (अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्त्ता) अनन्तरूप विश्वरूप अकर्ता परमात्मा है।

हमारी उक्त धारणा का प्रमाण छान्दोग्य उपनिषद् के तीसरे मन्त्र (६-२-३) में मिलता है। इस मन्त्र में 'तदैक्षत' अर्थात् उससे ईक्षण किये जाने पर (कि बहुत प्रजाओं में हो जाऊँ) तत् का अभिप्राय त्रिविध ब्रह्म से ही है। सृष्टि रचना में तीनों का योगदान होने वाला था। इस पर भी ईक्षण तो परमात्मा ही कर सकता है और उसी ने किया था।

यह इस प्रकार है जैसे कि कोई मनुष्य यह कहे 'मैं विचार करता हूँ कि आज इण्डियागेट की ओर भ्रमण के लिये जाऊँ।' इसका अभिप्राय यह है कि भ्रमण के लिए जाने वाला तो पूर्ण मनुष्य शरीर है, परन्तु विचार तो केवल मस्तिष्क करता है। हाथ-पाँव इत्यादि नहीं करते। इसी प्रकार जगत् की रचना तो त्रिविध ब्रह्म से ही होने वाली है, परन्तु ईक्षण करने वाला केवल वह है जो ईक्षण करने की शक्ति रखता है। वह पुरुष नाम से इसी मन्त्र में बताया गया है। लिखा है (पुरुषस्तेजस एवं तदद्यापो जायन्ते) पुरुष (परमात्मा) के तेज से अपः उत्पन्न हुआ।

इसमें यह स्पष्ट लिखा है कि भाव, अर्थात् सत् में से पुरुष परमात्मा के तेज से (द्वारा) अपः उत्पन्न हुआ।

स्वामी शंकराचार्य द्वारा कल्पित सांख्य-सिद्धान्त का खण्डन तो यहाँ है नहीं। न ही यहाँ प्रधान के ईक्षण करने की बात लिखी है। उपनिषद्कार कहता है कि सृष्टि रचना से पहले जो भाव था, उसने ईक्षण किया। प्रश्न यही है कि

वह भाव अर्थात् सत् क्या था ? यदि उसे ब्रह्म मानें तो प्रश्न होता है कि ब्रह्म एक है अथवा कई प्रकार का है ? दोनों अवस्थाओं में हमने यह सिद्ध किया है कि ईक्षण करने वाला परमात्मा है।

यदि 'त्रिविधं ब्रह्म' की बात मानें तो मनुष्य विचार करता है कि इनमें से कौन ब्रह्म है जो ईक्षण करता है ? विचार करने वाले हाथ-पाँव नहीं, केवल मस्तिष्क ही होता है। इसी प्रकार ईक्षण करने वाला केवल परमात्मा ही है और यदि ब्रह्म में केवल एक ही सत्ता मानें, तब भी ईक्षण करने वाला ब्रह्म अर्थात् परमात्मा ही है।

यह कि ब्रह्म एक पदार्थ है अथवा यह तीन प्रकार का है, जिनमें कुछ गुण परस्पर मिलते हैं और कुछ नहीं मिलते, का निर्णय इस स्थान पर करने की आवश्यकता नहीं। यहाँ अभिप्राय यह है, दोनों अवस्थाओं में ईक्षण करने वाला परमात्मा है।

यहाँ एक बात और विचारणीय है। परमात्मा, जो सब प्रकार से पूर्ण है, वह ईक्षण क्यों करता है कि मैं बहुत हो जाऊँ ? क्या एक ही रहने से उसमें कुछ अभाव था, जिसकी पूर्ति के लिए वह बहुत हो जाने का ईक्षण करता है ?

इसका समाधान दो प्रकार से किया जाता है। एक तो ईक्षण शब्द का अर्थ इच्छा करना नहीं। यह शब्द देखने के अर्थ में आया है। परमात्मा ने देखा कि ब्रह्मरात्रि के समाप्त होने का समय आ गया और जीवात्माएँ जो सुषुप्ति अवस्था में पड़ी हैं, उन्हें परमात्मा (अपने सखा) से मिलने का अवसर मिलना चाहिये। ईश्वर ने देखा और निश्चय किया कि सृष्टि-रचना हो। दूसरा समाधान यह है कि 'मैं बहुत हो जाऊँ।' यह विचार तो ब्रह्म में परमात्म-तत्त्व ने ही किया, परन्तु ब्रह्म में प्रकृति भी तो है; अर्थात् बहुत होना ब्रह्म के 'प्रधान' (प्रकृति) अंश के लिए है। पुनः मनुष्य का उदाहरण लिया जा सकता है। मनुष्य विचार करता है कि मैं अन्न खाऊँ। विचार तो मस्तिष्क करता है, परन्तु खाता मुख है। अतः जब ब्रह्म ने देखा कि मैं बहुत हो जाऊँ तो यह देखने वाला तो ब्रह्म में उप-स्थित परमात्म-तत्त्व ही था, परन्तु बहुत होने वाला ब्रह्म 'प्रधान' अंश था। यह उसी प्रकार है जैसे कि खाने का निश्चय करने वाला मस्तिष्क होता है, परन्तु अन्न खाने वाला मुख और पुष्टि प्राप्त करने वाला पेट होता है।

स्वामीजी अपने कथन को सिद्ध करने के लिए उपनिषद् से दो अन्य प्रमाण देते हैं।

ऐतरेय उपनिषद् में लिखा है—

ओ३म्। आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत् किंचन मिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति ॥ (१-१-१)

(आत्मा वा) आत्मा अर्थात् परमात्मा ही (इदम् एक) यह एक (एवाग्र)

जगत्-रचना से पूर्व (आसीत्) था। (नान्यत् किंचन मिषत्) कुछ अन्य नहीं था जो हिलता था। मिषत् का अर्थ है झपकना। आँखें झपकने के समान। (स ईक्षत्) उस (परमात्मा) ने ईक्षण किया कि लोकों का सृजन करूँ।

यहाँ भी स्वामी शंकराचार्य के कल्पित सांख्य-सिद्धान्त का भास नहीं, अर्थात् प्रधान के ईक्षण का उल्लेख नहीं है।

यहाँ एक बात समझने की है कि (नान्यत् किंचन मिषत्) कुछ भी अन्य नहीं था जो झपकता भी था। इससे मृतप्रायः किसी के होने को अस्वीकार नहीं किया। त्रैतवादी यह मानते हैं कि सृष्टि-रचना से पूर्व प्रकृति सोयी हुई अवस्था में, मृत-सी अन्धकार में, पड़ी थी। उक्त (ऐत० १-१-१ मन्त्र) में आत्मा (परमात्मा) के अतिरिक्त ऐसे मृत, जो झपकता भी नहीं था, के होने को अस्वीकार नहीं किया।

इसी उपनिषद् में एक बात (ऐत० १-१-३ में) और स्वीकार की गयी है। वहाँ लिखा है—

स ईक्षतेमे नु लोका लोकपालान्नु सृजा इति सोऽद्भ्य एव पुरुषं समुद्धृत्यामूर्छयत् ॥

(ऐत० १-१-३)

परमात्मा ने देखा कि ये लोक हैं। अब लोकपालों को बनाऊँ। (सोऽद्भ्य एव पुरुषं) उसने जलों (आपः) में से पुरुष तत्त्व को (समुद्धृत्य अमूर्छयत्) एक तरफ कर मूर्छित कर दिया।

इसका अभिप्राय यह है कि सृष्टि-रचना से पूर्व तीनों ब्रह्म एक-दूसरे में रमे थे। अर्थात् प्रकृति और जीवात्माएँ परमात्मा में ही स्थित थीं। जीवात्मा और प्रकृति तो हिलते-डोलते नहीं थे। मृतप्रायः थे। आपः बनने तक ये इसी प्रकार रहे। आपः बनने पर परमात्मा ने पुरुषतत्त्व अर्थात् आत्मतत्त्व (परमात्मा और जीवात्माओं) को एक ओर कर दिया और शेष को मूर्छित कर दिया। अभिप्राय यह है कि उनका संचालन अपने हाथ में ले लिया।

अगले मन्त्रों में लिखा है कि इस मूर्छित तत्त्व से परमात्मा ने क्या किया। इस उद्धरण में भी यह सिद्ध नहीं होता कि प्रधान ने ईक्षण किया। अथवा प्रधान नहीं था।

अब तीसरा उद्धरण देखिये—

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते ॥

(मुण्डको० १-१-९)

अर्थात्—जो सर्वत्र, सर्वान्तिर्यामी, सर्वज्ञ, तपस्वरूप है, उससे यह ब्रह्म नाम और रूप वाला अन्न उत्पन्न हुआ।

यहाँ अन्न से अभिप्राय है कार्य-जगत्। वही भोग सामग्री है।

जहाँ तक स्वामी शंकराचार्य का कल्पित सांख्य मत है, अर्थात् 'प्रधान' ने ईक्षण किया, इसका न तो खण्डन मिला है और न ही मण्डन। हाँ, यह अवश्य है कि इस कार्य-जगत् का रचयिता ब्रह्म है। यदि ब्रह्म को एक ही सत्ता मानें तब तो विवाद की बात ही नहीं। विवाद की बात तब होती जब यह स्पष्ट होता कि एक प्रधान है और वह ईक्षण करता है अथवा नहीं करता।

यदि ब्रह्म को 'इदं त्रिविधं ब्रह्म' के अनुसार मानें तो भी ब्रह्म ने ईक्षण किया, का अर्थ यह नहीं कि इसके जीवात्मा तथा प्रकृति अंश ने ईक्षण किया। हमने मनुष्य के भ्रमण का उदाहरण दे दिया है।

स्वामी शंकराचार्य ने उपनिषदों में यह तो सिद्ध कर दिया है कि ईक्षण करने की समर्थ सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् चेतन-स्वरूप में ही हो सकती है।

दर्शन-शास्त्र ने इसे युक्ति से सिद्ध किया है। जड़ निश्चय नहीं कर सकता कि कोई कार्य आरम्भ हो अथवा न हो, कब हो और कैसे हो? इसके लिये किसी चेतन की आवश्यकता रहती है।

इसी सूत्र के भाष्य में श्री स्वामी शंकराचार्य ने परमात्मा के कर्त्ता होने तथा अनुभव के विना कार्य करने इत्यादि के विषय में कहा है। हमारे विचार में उनका इस सूत्र के साथ सीधा अथवा उलटा कैसा भी सम्बन्ध नहीं है। अतः हमने इस पर विवेचना छोड़ दी है। इन उदाहरणों का स्वामीजी के विशेष मत से भी किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है।

स्वामीजी का विशेष मत यह है कि ब्रह्म और परमात्मा पर्यायवाचक शब्द हैं। परन्तु हमारा मत है कि ऐसा नहीं है। ब्रह्म उस एक अथवा अनेक पदार्थों को कहते हैं जो अनादि, अक्षर, अव्यय हैं। इन ब्रह्मस्वरूप पदार्थों में परमात्मा सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान् है और सर्वव्यापक है। जीवात्माएँ अनेक हैं, अज्ञ हैं, अणु मात्र हैं। ये भी अनादि, अक्षर इत्यादि ब्रह्म गुण युक्त हैं। ब्रह्म में एक प्रधान भी है। यह कणदार, त्रिगुणात्मक और जड़ है। इसमें चेतना नहीं।

ब्रह्म को इस प्रकार मानने से अनेकों उपनिषद्-वाक्यों के अर्थ स्पष्ट हो जाते हैं, परन्तु इस मत के स्पष्ट प्रवक्ता श्वेताश्वतर ऋषि हैं। इन्होंने असंदिग्ध शब्दों में यह कहा है—

सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते, अस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा, जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ॥
उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म, तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरं च।
अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा, लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः ॥

(श्वे० १-६,७)

इन मन्त्रों में यह लिखा है कि इस जगत् (ब्रह्म-चक्र) में सब जीव स्थित हैं

और भ्रमण कर रहे हैं। वे हंस समान जगत् रूपी भँवर में फँसे हुए हैं।

आत्मा (परमात्मा) प्रेरणा देने वाला है, उसे पृथक् मानना चाहिए। यह (जीवात्मा) उस (परमात्मा) से जुष्ट (संयुक्त) होकर अमृतत्त्व को प्राप्त होता है।

ऊपर कहा गया (जगत् अर्थात् ब्रह्म-चक्र) परम ब्रह्म है। वह प्रेरित होने योग्य है जीवात्मा और आत्मा अर्थात् परमात्मा जिसके संयोग होने पर अमृतत्व प्राप्त होता है; यह (ब्रह्म-चक्र अर्थात् तीनों) जगत् सहित परम ब्रह्म हैं और उन तीनों को स्थिर (अनादि) अक्षर कहते हैं। इनके अतिरिक्त ब्रह्म को जानने वाले ब्रह्म में लीन ब्रह्म-ज्ञानी योनि मुक्त मानने चाहिएँ।

अगले मन्त्रों में तो और भी स्पष्ट किया है—

संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः।
अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावाज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥
ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्त्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्॥
क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः।
तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद् भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः॥

(श्वे० १-८, ९, १०)

ये तीनों मन्त्र उक्त दोनों (श्वे० १-६, ७) मन्त्रों का अर्थ स्पष्ट करने के लिए दिये गए हैं। इनका अर्थ इस प्रकार है—

क्षर और अक्षर का (ब्रह्म चक्र में) संयोग है। विश्व में व्यक्त और अव्यक्त दोनों का पालन करने वाला ईश्वर है। एक आत्मा अनीश्वर भी है। वह भोग की लालसा में बंधा हुआ है, परन्तु (देव) परमात्मा को जानकर वह सब बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

ज्ञानवान् और अज्ञ दो अजन्मा (आत्मतत्त्व) हैं। एक ईश (शक्तिमान्) और दूसरा अनीश्वर (अल्प शक्तिमान्) है। एक अन्य है जो भोग करने वाले के भोग के निमित्त है। जो अनन्त आत्मा है, वह विश्व के रूप बनाता है, परन्तु अकर्त्ता है। वह भोग नहीं करता। इन तीनों को ब्रह्म जानो।

प्रधान (प्रकृति) क्षर भी है और अमृत (अक्षर) भी है और हरि (परमात्मा) तो अक्षर ही है। इनमें एक देव (परमात्मा) क्षर रूप वाली प्रकृति और आत्मना (जीवात्माओं) को वश में रखता है (शासन करता है)। उस (देव) का ध्यान और योग करने से तथा उसके भाव को जानने से अन्त में जाकर विश्व की भ्रान्ति (मोह) निवृत्त हो जाती है।

अपने कथन को ऋषि ने और भी स्पष्ट किया है—

एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित् ।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् ॥
(श्वे० १-१२)

इसे (त्रिविधं ब्रह्म को) जानकर नित्यं उसमें स्थित होकर उसके आगे और कुछ भी जानने योग्य नहीं है। (किससे आगे ?) भोक्ता, भोग्य और प्रेरणा देने वाले से मानो। ये सब तीन प्रकार के ब्रह्म कहे गये हैं।

ऋषि को इतने से सन्तोष हुआ प्रतीत नहीं होता। वह पुनः इस विषय पर उपनिषद् के चौथे अध्याय में प्रसंग चलाता है।

ऋषि प्रश्न उपस्थित करता है। क्या परमात्मा स्त्री है ? पुरुष है, कुमार है, कुमारी है, वृद्ध है, लाठी के आश्रय चलता है ? परमात्मा ही सब ओर मुख वाला है ?

क्या नीला, लाल, हरा, लोहित वर्ण वाला (सुन्दर रंगों वाला) पदार्थ वह है ? सबका आदि माना जाने वाला, जिसके सामर्थ्य से व्यवहार हो रहा है, जिससे विश्व के भुवन (नक्षत्र) उत्पन्न हुए हैं, क्या वही आत्मा है ?
(श्वे० ४-३, ४)

इस प्रश्न को उपस्थित कर ऋषि स्वयं उत्तर देता है—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥
द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥
(श्वे० ४-५, ६)

अर्थात्—एक अजन्मा है जो लोहित शुक्ल कृष्ण (रजस्, सत्त्व और तमस्) गुण वाला है, जो अपने ही (त्रिगुणात्मक) रूप की वस्तुएँ बनाता है। एक और अजन्मा है, सेवन करता हुआ अनुशासन में रहता है। एक अन्य अजा (अजन्मा) है जो भोग-भोगी हुई (कार्य-जगत्) को त्याग देता है, अर्थात् स्वीकार नहीं करता।

दो सुपर्ण (सुन्दर पंखों वाले पक्षी) सयुजा (संयुक्त हो रहे) सखाया (सखा भाव रखते हुए) समानं वृक्षं (एक ही वृक्ष पर बैठे हुए) परिषस्वजाते (एक-दूसरे में मिले-जुले हुए हैं)। तयोरन्यः (उनमें एक) पिप्पलं (फल) स्वाद्वत् (स्वाद से खाता है) अनश्नन्नन्यो (दूसरा परमात्मा नहीं खाता) और; अभिचाकशीति। (साक्षी रूप देखता है)।

उपर्युक्त कथन देने का प्रयोजन यह है कि ब्रह्म तीन पदार्थों का नाम है,

---

(श्वे० ४-६) का मन्त्र ऋग्वेद १-१६४-२० का मन्त्र है।

प्रकृति, जीवात्माएँ और परमात्मा। इनमें समानता और भिन्नता हमने लिख दी है। ब्रह्म के इस प्रकार अर्थ समझ उपनिषदादि ग्रन्थों के अर्थ लगाये जाते हैं।

स्वामीजी ने उपनिषद् ग्रन्थों से एक तत्त्व निकाला है। वह है 'एको ब्रह्म द्वितीयोनास्ति।' इसमें 'ब्रह्म एक है' तो सत्य निष्कर्ष है, परन्तु 'दूसरा कुछ नहीं', यह कहीं किसी मान्य उपनिषद् में नहीं मिलता। इसके विपरीत श्वेताश्वतर उपनिषद् का स्पष्ट मत हमने ऊपर प्रकट किया है।

यह मत सरल भाषा में त्रैतवाद के नाम से प्रसिद्ध है। इस ब्रह्माण्ड में तीन मूल पदार्थ हैं। ये तीनों अव्यक्त (इन्द्रियों से न दिखायी दिये जाने वाले) अक्षर (जिनका अन्त न हो), अनादि (जिनका आरम्भ नहीं), अव्यय (जो न्यूनाधिक नहीं होते) हैं; परन्तु इनमें एक जो परमात्मा के नाम से प्रसिद्ध है—सर्वज्ञ, सर्व-शक्तिमान् सर्वव्यापक सब प्रकार से पूर्ण है। दूसरा तत्त्व जीवात्मा है। जीवात्माएँ अगणित संख्या में हैं, अणु मात्र हैं, अल्पज्ञ, अल्प-शक्ति के स्वामी हैं और पर-मात्मा के आश्रित हैं। ब्रह्म का तीसरा अंश प्रकृति है। वह जड़ है। 'इदं त्रिविधं ब्रह्म' ऐसा उपनिषद् में लिखा है।

यह विचार किया जाता है कि तीनों को एक ही तत्त्व क्यों न मान लिया जाए? और उस एक ही तत्त्व की तीन स्थितियाँ समझ ली जाएँ। इसमें आपत्ति यह की जाती है कि स्थितियों में मूल गुण में परिवर्तन नहीं होता। जैसे वाष्प, जल और वर्फ एक ही पदार्थ की तीन स्थितियाँ कही जाती हैं। शंकर मता-वलम्वी परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति को वाष्प, जल और वर्फ के समान एक ही पदार्थ की तीन स्थितियाँ मानते हैं। परन्तु वाष्प, जल और वर्फ की सैद्धान्तिक समानता है। तीनों में हाईड्रोजन और ऑक्सीजन १:८ की तुलना में संयुक्त है। यह सैद्धान्तिक समानता यदि विलुप्त हो जाए तो वाष्प, जल और वर्फ एक पदार्थ न हो, दो अथवा अधिक भिन्न-भिन्न पदार्थ हो जाएँगे।

इसी प्रकार त्रिविधं ब्रह्म के तीन घटकों में स्थितियों का सम्बन्ध नहीं है। इनके मूल-गुण भिन्न-भिन्न हैं। उदाहरण के रूप में परमात्मा सत् चित् आनन्द है। जीवात्मा सत् और चित् है, आनन्द नहीं है; और प्रकृति केवल सत् है, न चित् है और न आनन्दस्वरूप है।

चैतन्यता और जड़ता मूल गुण माने जाते हैं। इनमें आत्मा और जीवात्मा एक श्रेणी में आते हैं और प्रकृति इनसे भिन्न है। एक अन्य भेद है। जीवात्मा और परमात्मा अविकारी (विकार रहित) हैं। प्रकृति, विकारयुक्त है। इस प्रकार चैतन्यता और अविकारी होना ये मूल गुण हैं। इसी प्रकार आनन्दमय तथा अनानन्दमय होना भी मूल गुण हैं।

इसी सूत्र के भाष्य में स्वामी शंकराचार्य ने कुछ अन्य प्रश्न उठाये हैं और उनका समाधान किया है। उनमें एक तो यह है कि परमात्मा ईक्षण करता है,

विचार करता है। अतः विचार करने में क्रम होता है। इससे ईश्वर की नित्य सर्वज्ञता में सन्देह होता है। स्वामीजी ने इस आक्षेप का अपने ढंग पर उत्तर दिया है। हमारा इसमें केवल यह कहना है कि ईक्षण का अर्थ विचार करना नहीं। इसका अर्थ है निश्चय करना। सृष्टि उत्पत्ति के समय निश्चय करना कि अब सृष्टि बननी चाहिए।

दूसरा प्रश्न स्वामीजी ने यह उपस्थित किया है कि परमात्मा किन कारणों से सृष्टि की रचना करता है? इसका भी उत्तर स्वामीजी ने अपने ढंग पर दिया है।

स्वामीजी ने दोनों सशंयों का समाधान उपनिषद् प्रमाण से दिया है। ये समाधान, जहाँ तक आप्त प्रमाण का सम्बन्ध है, ठीक हैं। परन्तु जो लोग वेदादि शास्त्रों को सत्य विद्याओं के ग्रन्थ नहीं मानते, उनके लिये उक्त उपनिषदादि ग्रन्थों के उद्धरण निरर्थक सिद्ध होंगे। उनके लिए अनुमान अर्थात् युक्ति ही प्रमाण है।

दर्शन-शास्त्र यही कर रहे हैं।

गौणश्चेन्नात्मशब्दात् ।।६।।

गौणः+चेत्+न+आत्मशब्दात् ।

गौणः=गौण है, चेत्=यदि कहो तो, न=यह (युक्तियुक्त) नहीं, आत्म-शब्दात्=आत्म शब्द (के प्रगोग) से।

इसका अभिप्राय यह है कि यदि यह कहो कि प्रकृति में ईक्षति गौण रूप से विद्यमान है तो यह युक्तियुक्त नहीं। कारण यह कि ईक्षण आत्म-शब्द के साथ सम्बन्धित है।

इसका उदाहरण नास्तिक इस प्रकार देते हैं। वृक्ष पर से पक कर आम गिर जाता है। इसी कारण कहा जाता है कि आम पक कर गिर पड़ता है अथवा नदी के तट के नीचे से मिट्टी बह जाती है तो वह गिर पड़ती है। इस प्रकार कहा जाता है कि अचेतन भी कार्य करता देखा जाता है।

सूत्रकार इस बात का खण्डन करता है और यह कहता है कि पका आम गिरता है अथवा नदी का किनारा टूटता है तो आम और किनारा कार्य नहीं करते। न ही वे गिरने का ईक्षण करते हैं। आम और नदी का किनारा नहीं गिरते हैं। कोई अन्य शक्ति उन्हें गिराती है। आम भू-आकर्षण से गिरता है। इसी प्रकार नदी का किनारा भू-आकर्षण से टूटता है। गिरने से पूर्व उनको गिरने से कोई रोके हुए था। यह रुकावट किसी अन्य कारण से दूर हुई तो आम और नदी

का किनारा गिर पड़े। इनमें नदी के किनारे और ग्राम ने स्वयं कुछ नहीं किया। वे तो जड़ ही हैं, निश्चल और ईक्षति रहित हैं। कार्य और ईक्षति दोनों आत्म-तत्त्व से ही हो सकते हैं। आत्मतत्त्व से चेतन का प्रयोजन है।

बौद्ध तथा अन्य नास्तिक प्रकृति को क्रियाशील प्रकट करने के लिये इसी प्रकार के उदाहरण दिया करते हैं। ये उदाहरण अयुक्ति-संगत हैं। यही इस सूत्र का अभिप्राय है।

इस तथा अनेक अन्य सूत्रों पर भाष्य लिखते हुए स्वामी शंकराचार्य असंगत विषय बीच में ला खड़े करते हैं। इस सूत्र में स्वामीजी लिखते हैं—

यदुक्तं प्रधानमचेतनं सच्छब्दवाच्यं, तस्मिनौपचारिक ईक्षतिः, अप्तेजसो-रिवेति। तदसत्; कस्मात्? आत्मशब्दात्।

अर्थात्—जो यह कहा जाता है कि अचेतन प्रधान के लिए सत् शब्द लिखा है। उसमें आप: और तेज के समान ईक्षति औपचारिक है। उसमें सत् क्यों है? आत्म-शब्द से।

इसके आगे आप उपनिषद् (छा० ६-२-१३) का उद्धरण देते हैं।

यह सब-कुछ सूत्र के मूल भाव से असम्बन्धित है। तनिक व्याख्या से देखें तो पता चलेगा।

स्वामीजी कहते हैं कि यह जो कुछ कहा जाता है कि प्रधान सत् है और उसमें अप: और तेज के समान ईक्षति औपचारिक है।

ऐसा नहीं है। सत् के अर्थ चेतन नहीं। सत् के अर्थ अनादित्व के हैं। न ही प्रधान के सत् होने से ईक्षति गुण का वर्णन है। वर्णन होता तो औपचारिकता, अनौपचारिकता पर विचार किया जा सकता था, परन्तु ऐसा है नहीं।

उदाहरण के लिए (छा० ६-२-१, ३) देखिये। इन दोनों मन्त्रों के अर्थ और उनका भावार्थ हम पूर्व के सूत्र (१-१-४) के भाष्य में लिख आये हैं। वहाँ देख लेना चाहिए। उसमें प्रकृति के ईक्षण का उल्लेख नहीं। सत् के अर्थ चेतन भी नहीं हैं। यह सब हम ऊपर लिख चुके हैं।

इस सूत्र में केवल मात्र यह कहा है कि जहाँ कहीं प्रकृति ईक्षण करती हुई अथवा कार्य करती हुई दिखायी देती है, यह भ्रम है। वह नहीं करती। आत्मा (चेतन तत्त्व) ही ईक्षण करता है और कार्य करता है।

यहाँ ब्रह्म-सूत्रों के एक अन्य भाष्यकार का मत भी लिख दिया जाये तो ठीक होगा। विद्याभास्कर वेदरत्न श्री उदयवीर शास्त्री, न्यायतीर्थ, सांख्य योगतीर्थ, वेदान्ताचार्य, विद्यावाचस्पति ने इसी सूत्र का भाष्य करते हुए लिखा है—

"शास्त्र में सर्ग विषयक ऐसे प्रकरण हैं, जहाँ जगत्कारण के लिए 'ईक्षति' का प्रयोग किया गया है। यह विवेचन करना आवश्यक होगा कि उनमें कहीं

इस क्रिया-पाद का गौण प्रयोग है और कहीं मुख्य ? किसी एक प्रकरण में गौण प्रयोग होने से सर्वत्र वैसा ही प्रयोग हो, यह किसी प्रकार न्याय नहीं कहा जा सकता······।

"ऐसे प्रकरणों में ऐतरेय उपनिषद् का प्रारम्भिक भाग है······।"

विद्वान् भाष्यकार ने उपनिषदादि ग्रन्थों में ऐसे प्रकरण देखे होंगे, जहाँ 'ईक्षण' शब्द का प्रयोग गौण रूप में किया गया होगा, परन्तु जो उदाहरण उन्होंने दिया है (ऐतरेय का प्रारम्भिक भाग) उसमें तो परमात्मा के विषय में ही ईक्षण करने का शब्द प्रयुक्त किया है। इस उदाहरण के अर्थ हम ऊपर (सू० १-१-५ में) लिख आये हैं। शास्त्रीजी ने 'ईक्षति' गौण रूप से क्यों मानी है यह उन्होंने स्पष्ट नहीं किया। इस उपनिषद् (१-१, २, ३, ४) में परमात्मा को ही ईक्षण करने वाला और सृष्टि रचने वाला बताया है। यहाँ ईक्षण गौण क्यों है, समझ में नहीं आया।

इसी प्रकार स्वामी शंकराचार्य ने प्रश्नोपनिषद् के छठे प्रश्न का उदाहरण दिया है। हमारा विचार है कि इस उद्धरण में भी परमात्मा अथवा आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी के ईक्षण करने की बात नहीं। इस प्रश्न के तीसरे मन्त्र में लिखा है—

स ईक्षां चक्रे=उसने ईक्षण किया। किसने ? निस्सन्देह उस पुरुष ने जो सोलह कला वाले शरीर में रहता है और सोलह कला वाले शरीर में कलाओं को प्रकट करता है। यह शरीर में जीवात्मा है।

जीवात्मा भी आत्मतत्त्व है अर्थात् चेतन है। ईक्षण करना चेतनता के कारण है। यह जड़ पदार्थ में नहीं होता। परन्तु यह चेतन आत्मा में भी नहीं हो सकता, यह कोई युक्ति नहीं।

हमारा मत है कि यहाँ पण्डित श्री उदयवीरजी तथा स्वामी शंकराचार्यजी ने 'ईक्षण' को गौण मान 'ईक्षण' का केवल परमात्मा से सम्बन्ध माना है। सो ठीक नहीं। ईक्षण करना चेतनता का लक्षण है। जीवात्मा भी चेतनतत्त्व है। अतः वह ईक्षण कर सकता है। यहाँ ईक्षण सृष्टि-रचना के विषय में नहीं प्रत्युत शरीर में हो रही क्रियाओं के विषय में है।

तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ॥७॥

तत्+निष्ठस्य+मोक्ष+उपदेशात्।

तत्=उस (में)। निष्ठस्य=निष्ठा रखने वाले का। मोक्षोपदेशात्=

मोक्ष के उपदेश से (कल्याण किया गया है शास्त्र द्वारा उसका)।

अभिप्राय यह है कि जिसका वर्णन उक्त सूत्रों में किया गया है। सूत्र संख्या १-१-२ से लेकर १-१-६ तक जिसका उल्लेख किया गया है, उसमें निष्ठा रखने के लिए मोक्ष के उपदेश से (कल्याण किया गया है)।

निष्ठस्य का अर्थ है—निष्ठा अर्थात् विश्वास रखने वाले का। निष्ठस्य के एक अन्य अर्थ यह भी हैं—स्थित हुए का; ठहरे हुए का। यह दूसरा अर्थ हमने नहीं लिया। कारण यह कि जो उसमें स्थित हो गया है अर्थात् उस (परमात्मा) से जुष्ट हो गया है; उसके कल्याण के उपदेश की आवश्यकता ही नहीं रहती। उसका कल्याण हो चुका होता है।

अतः प्रथम अर्थ ही उपयुक्त है। निष्ठस्य अर्थात् निष्ठा (विश्वास) रखने वाले का मोक्ष के उपदेश से (कल्याण किया गया है)।

यदि तो अर्थ किये जाते 'स्थित' के तो तत् के अर्थ परमात्मा के होंगे, परन्तु हमने अर्थ किये हैं विश्वास रखने के अर्थात् जैसा जो है वैसा उसको मानने के। तब यह ठीक होगा कि तत् से अर्थ 'ब्रह्म' के किये जाएँ। ब्रह्म अर्थात् त्रिविध ब्रह्म।

इस अवस्था में हम इस सूत्र के अर्थ इस प्रकार करते हैं। पूर्व सूत्रों (१-१-२ से १-१-६) तक में ब्रह्म अर्थात् प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा का वर्णन है। इस कारण इन तीनों में निष्ठा रखने वाले के लिए मोक्ष के उपदेश से कल्याण किया गया है। अभिप्राय यह कि परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति तीनों को जैसे-जैसे ये हैं, उनको वैसा मानने वाले को, शास्त्र में मोक्ष का उपदेश किया गया है।

यह बात अन्य लोग भी मानते हैं। उदाहरण के रूप में भगवान् कृष्ण श्रीमद्भगवद्गीता में लिखते हैं—

असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु। (७-१)

अर्थात्—ब्रह्म के समग्र स्वरूप को संशय रहित होकर जानने के लिए सुन।

समग्र स्वरूप की व्याख्या भी की है। श्रीकृष्ण कहते हैं—

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥

(भ० गी० ७-२)

इसका अर्थ है—मैं तुमको ज्ञान-विज्ञान सहित सम्पूर्ण रूप में बताता हूँ, जिसे जानकर अन्य कुछ जानने योग्य नहीं रह जायेगा।

इस ज्ञान-विज्ञान में श्रीकृष्ण ने बताया है कि प्रकृति अष्टधा है। इस प्रकृति से सूक्ष्म तत्त्व है जो प्रकृति से मिलकर प्राणी जगत् बनाता है और इन

दोनों तत्त्वों से भी सूक्ष्म एक अन्य तत्त्व है जो इस जगत् को बनाता है और इसका प्रलय करता है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥

(भ० गी० ७-४, ५, ६)

इस समग्र स्वरूप को जानने वाले के लिए ही सूत्रकार ने मोक्ष के उपदेश से कल्याण की बात बतायी है।

इस सूत्र में एक बात और स्पष्ट की गयी है कि जो ब्रह्म में निष्ठा अर्थात् उसके स्वरूप को भली-भाँति समझ लेता है, उसको शास्त्र में मोक्ष का उपदेश दिया है। यह नहीं कि बिना ब्रह्म के स्वरूप को समझे मोक्ष का उपदेश हो जायेगा।

यही बात हमने सूत्र १-१-१ में 'अथ' शब्द की व्याख्या में लिखी है। वहाँ बताया है कि 'अथ' अधिकारार्थ है। सूत्रकार अधिकारपूर्वक कहता है कि ब्रह्म के जानने की इच्छा की हम पूर्ति करते हैं। स्वामी शंकराचार्य ने 'अथ' आनन्तर्यार्थ माना है। मुमुक्षत्व पहले होना चाहिए और ब्रह्म का ज्ञान पीछे दिया जाएगा। इसे ही गाड़ी को घोड़े के आगे लगाना कहते हैं। अर्थात् मोक्ष क्या है, ब्रह्म क्या है और मोक्ष-प्राप्त की इच्छा करने वाला क्या है, यह पीछे बतायेंगे, पहले मोक्ष की इच्छा कर लो। यह अस्वाभाविक है।

इस सूत्र में यह बात स्पष्ट कर दी है कि जो ब्रह्म के स्वरूप को जानकर उसमें विश्वास कर लेते हैं, उनके लिए शास्त्र में मोक्ष का उपदेश है। अर्थात् मोक्ष की अभिलाषा और उसकी पूर्ति के उपाय तो पीछे बताये जाते हैं। पहले (त्रिविधं) ब्रह्म को समझ लो।

स्वामीजी ने सूत्रार्थ तो ठीक किये हैं, परन्तु उन अर्थों को करते हुए एक बात ऐसी लिख दी है जो सूत्र में है नहीं। आप लिखते हैं—

न प्रधानमचेतनमात्मशब्दालम्बनं भवितुमर्हति, 'स आत्मा' इति प्रकृतं सदणिमानमादाय 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छान्दो० ६-८-७) चेतनस्य श्वेतकेतोर्मोक्षयितव्यस्य तन्निष्ठामुपदिश्य 'आचार्यवान्पुरुषो वेद, तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' (छान्दो० ६-१४-२) इति मोक्षोपदेशात्।

अर्थात्—अचेतन प्रधान में आत्म-शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता; क्योंकि 'स आत्म' (यह आत्मा है) इस प्रकार स्वाभाविक सूक्ष्म सत् को लेकर 'तत्त्वमसि

श्वेतकेतो' (छा० ६-८-७) मोक्ष प्राप्त करने के योग्य श्वेतकेतु की उसमें निष्ठा देखकर 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' आचार्यवान् पुरुष ही (ब्रह्म को) जानता है। उसको तब तक ही जब तक वह मोक्ष में स्थित नहीं हो जाता, मोक्ष का उपदेश किया है। (छा० ६-१४-२)।

इसका भावार्थ यह है कि आत्मतत्त्व में निष्ठा रखने वाले के लिए ही मोक्ष का उपदेश है।

सूत्र में 'तत्' शब्द लिखा है और हमारा मत है कि तत् से अभिप्राय केवल आत्मतत्त्व नहीं है, प्रत्युत ब्रह्म से भी है। वह ब्रह्म जो त्रिविध है।

स्वामी शंकराचार्य के भाष्य के एक हिन्दी टीकाकार श्री स्वामी सत्यदेव तो तत् के अर्थ सत् के कर इससे परमात्मा का अर्थ करते हैं। सत् का अर्थ परमात्मा नहीं है। इसका अर्थ है सदा रहने वाले तीन तत्त्व अनादि, अव्यक्त और अक्षर। अतः तत् से अर्थ उन तीनों से है।

स्वामीजी कहते हैं कि (छा० ६-८-७ में) तत् के अर्थ आत्मा से हैं। इस कारण इस दर्शन-सूत्र में तत् से अर्थ प्रधान में निष्ठा के नहीं हैं।

हम समझते हैं कि यह उपनिषद्-वाक्य सूत्र से असम्बद्ध है; इस पर भी उपनिषद्-वाक्य के पढ़ने से यहाँ आत्मा के अर्थ परमात्मा नहीं, जीवात्मा बनते हैं। तनिक उपनिषद्-वाक्य और फिर उस प्रकरण को देखें जो इस उपनिषद् में चल रहा है तो पता चलेगा कि यहाँ तत् से अभिप्राय परमात्मा नहीं, वरंच जीवात्मा है। उपनिषद्-वाक्य इस प्रकार है—

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिद ँ सर्वं तत्सत्य ँ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ।।

(छा० ६-८-७)

इसका अर्थ है—वह जो उससे सूक्ष्म है, यह ही वह आत्मा है। वह सब सत् है, वह आत्मा (सार) है—श्वेतकेतो। (श्वेतकेतु ने कहा) मुझे और भी बताइये। (आरुणि ने कहा) बताता हूँ।

यहाँ 'वह सत् है' का अभिप्राय परमात्मा नहीं है। सत् नित्य पदार्थों के लिए आता है। वह सब सत्य है। ऐसा भी कहा जा सकता है, परन्तु सत्य के अर्थ मूल पदार्थ, कार्य-जगत् और पुनः मूल पदार्थ में लीन होने को माना जाता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में सत्य के विषय में इस प्रकार लिखा है—

आप एवेदमग्र आसुस्ता आपः सत्यमसृजन्त, सत्यं ब्रह्म, प्रजापतिं प्रजापति-र्देवा ँ स्ते देवाः सत्यमेवोपासते। तदेतत् त्र्यक्षर ँ सत्यमिति। 'स' इत्येकमक्षरं 'ति' इत्येकमक्षरम्, 'यम्' इत्येकमक्षरम्, प्रथमोत्तमे अक्षरे सत्यं, मध्यतोऽनृतम्, तदेतदनृतमुभयतः सत्येन परिगृहीत ँ सत्यभूयमेव भवति। नैवं विद्वा ँ समनृत ँ हिनस्ति ।। (बृ० उ० ५-५-१)
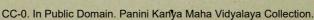
इस वाक्य का अर्थ इस प्रकार है। इससे पहले अपः था। अपः से सत्य का सृजन हुआ। सत्य से ब्रह्म, ब्रह्म से प्रजापति, प्रजापति से देवता। इसी कारण देवता सत्य की उपासना करते हैं। सत्य (सत्यम्) में तीन अक्षर हैं। 'स' यह एक अक्षर है और 'यम्' अन्तिम तीसरा अक्षर है। 'त्' बीच में दूसरा अक्षर है। प्रथम और अन्तिम अक्षर सत्य (अनादि) के द्योतक हैं और मध्यम 'त' अनृत अर्थात् नाशमान् का द्योतक है। मध्य अनृत दोनों ओर सत्य से परिगृहीत है, अतः यह सत्य ही है। विद्वान् अनृत में नहीं फँसते।

इस उपनिषद् का अभिप्राय यह है कि आदि में सत् नित्य था। अन्त में नित्य होगा। बीच में अर्थात् कार्य-जगत् अनित्य है; क्योंकि कार्य-जगत् का आदि और अन्त भी सत् है। इस कारण वह भी सत्य है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रकृति जिसका प्रथम विकार अपः है और प्रलय होने पर अन्तिम स्वरूप अपः बनता है, यह भी अव्यक्त है और जगत् क्षर है और यह सत्य है। प्रकृति के दोनों स्वरूप आदि और अन्त सब सत्य हैं। इस कारण जगत् भी सत्य है।

इस सूत्र में तत् से यदि सत् का अभिप्राय लेना है तो इस (बृ० ५-५-१) में कहे सत् से अभिप्राय ही हो सकता है।

वास्तविक बात यह है कि स्वामीजी से दिया गया उद्धरण (छा० ६-८-७) सूत्र से संगत नहीं खाता। सूत्र से तो यह कठोपनिषद् का मन्त्र अधिक संगत खाता है—

नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्॥

(कठो० २-१३)

नित्यों में नित्य है, चेतनों में चेतन है जो बहुतों (जीवात्माओं) की कामनाओं का फल देता है, उस आत्मा को जो धीर लोग देखते हैं, उनको शाश्वत शान्ति (मोक्ष) मिलती है, दूसरों को नहीं।

अतः सूत्र का भावार्थ यह बनता है—

उसमें निष्ठा रखने वालों के लिये शास्त्र में मोक्ष का उपदेश है।

स्वामी शंकराचार्यजी ने इसी सूत्र के भाष्य में दूसरा उद्धरण छा० ६-१४-२ का दिया है। यह उद्धरण सर्वथा प्रसंग के अनुसार ही है। उपनिषद् के शब्द हैं—

···एवमेवेहाचार्यवान् पुरुषो वेद। तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्य इति॥

(छान्दो० ६-१४-२)

अर्थात्—(एवम+एवेहा) ऐसे ही यहाँ (आचार्यवान् पुरुषो) आचार्यवान् पुरुष (वेद) जानता है (तस्य) उसकी (तावत्+एव) तब तक ही (चिरं) देर है

(यावत् न विमोक्ष्ये) जब तक मुक्त नहीं होता, आँखें खोल नहीं लेता। (अथ संपत्स्य) इसके उपरान्त प्राप्त कर लेता है।

इस उपनिषद् का प्रसंग यह कि एक व्यक्ति है, जिसकी आँखों पर पट्टी बंधी है। उस व्यक्ति को गन्धार देश का मार्ग बताने के लिये पहले उसकी आँखों की पट्टी खोल दी जाती है। तत्पश्चात् उसको मार्ग दिखा दिया जाता है। वह, जिसके आँखों की पट्टी खुल गयी है और जिसे मार्ग दिखा दिया गया है, अपने प्रयत्न से अपने देश गन्धार को पहुँच जाता है।

आँखों की पट्टी खोल देने का अर्थ है कि बुद्धि का विकास कर दिया गया है। मार्ग-दर्शन का अर्थ है कि उसे ब्रह्म का स्वरूप समझा दिया गया है। तब वह व्यक्ति धारणा, ध्यान और समाधि से कैवल्यावस्था प्राप्त कर लेता है।

इस सूत्र में यह बताया है कि विवेक और वैराग्य से जिसकी बुद्धि पर पड़ा बन्धन हट गया है, जिसको पूर्व के सूत्रों से ब्रह्म का अस्तित्व समझ में आ गया है, यह मोक्ष के उपदेश का अधिकारी है। अर्थात् उसे इस उपनिषद् के अनुसार गांधार का मार्ग दिखाया जा सकता है।

हेयत्वावचनाच्च ।।८।।

हेयत्व + अवचनात् + च।

और (उसकी) हीनता न कहे जाने से।

च=और शब्द के प्रयोग से यह प्रकट किया गया है कि इस सूत्र का पूर्व के सूत्र के साथ सम्बन्ध है। दोनों सूत्र (१-१-७ और १-१-८) सम्बन्धित हैं। दोनों को एकसाथ पढ़ना चाहिये।

पहले (ब्र० सू० १-१-७) सूत्र में यह कहा है कि उस ब्रह्म में निष्ठा रखने वालों के लिये मोक्ष का उपदेश है और इस सूत्र (ब्र० सू० १-१-८) में यह कहा है कि वह हीन स्थिति का नहीं कहा गया। अर्थात् वह सामर्थ्य एवं अन्य उच्च गुणों से रहित नहीं।

वह आत्मतत्त्व जो ईक्षण करने की सामर्थ्य रखता है, वह अपने में हीनत्व नहीं रखता।

हमने ब्रह्म में तीन मूल-पदार्थ स्वीकार किये हैं। ब्रह्म-सूत्रों में (१-१-२, १-१-३, १-१-४) तीन प्रकार के ब्रह्म के विषय में कहा है। इनमें भी हमने यह स्पष्ट करने का यत्न किया है जो कुछ सूत्रों में कहा है उसमें एक ब्रह्म कर्त्ता है, दूसरा ब्रह्म वह है जिसके लाभ के लिये किया गया है और तीसरा वह

जिस पर कार्य हुआ है। कार्य है जगत्-रचना। १-१-५ में सूत्रकार ने यह बताने का यत्न किया है कि इस त्रिविधं ब्रह्म में ईक्षण करने वाला आत्मतत्त्व है। वह प्रमाणित है अर्थात् शब्द प्रमाण से भी सिद्ध है। १-१-६ में यह बताया है कि आत्मतत्त्व में ईक्षण एक गौण कार्य नहीं है। जैसे हवा चलती है। इसमें हवा का चलना प्रकट करता है कि हवा स्वेच्छा से बिना किसी के आश्रय के चलती है, परन्तु यह है नहीं। अत: हवा का चलना गौण कर्म है। इस प्रकार आत्मतत्त्व में ईक्षण गौण नहीं। यह मुख्य गुण है।

१-१-७ में ऐसे आत्मतत्त्व के समग्र ज्ञान वाले के लिये मोक्ष का उपदेश है। और १-१-८ में कहा है कि ऐसा आत्मतत्त्व हेय अर्थात् सामर्थ्यहीन, जड़ नहीं। ईक्षण (discretion and decision) से रहित नहीं है। यह शास्त्रोक्त भी नहीं। हेय का अर्थ कई उपनिषदों में कार्य-जगत् भी लिया है। कारण यह कि कार्य-जगत् अस्थाई और परिवर्तनशील है। परन्तु यहाँ हेय का अर्थ निम्न कोटि का मानना ही ठीक है।

स्वामी शंकराचार्य इस सूत्र में भी पुन: अप्रासंगिक बात ले आये हैं। आप कहते हैं—

यद्यनात्मैव प्रधानं सच्छब्दवाच्यं 'स आत्मा तत्त्वमसि' (छान्दो० ६-८-७) **इतीहोपदिष्टं स्यात्।**

अर्थ है—यदि अनात्म प्रधान ही सत् शब्द से प्रकट होता तो छान्दोग्य उपनिषद् (६-८-७) में 'वह आत्मा तुम हो' में (प्रधान) उपदिष्ट होता।

उपनिषद्-वाक्य (६-८-७) के अर्थों के विषय में हमने पूर्व सूत्र के मध्य में लिखा है। वहाँ आत्म-शब्द से परमात्मा का अभिप्राय नहीं है। यहाँ हम यह बताना चाहते हैं कि सत् शब्द 'प्रधान' (मूल प्रकृति) का गुण नहीं है। ऐसा सूत्र में नहीं लिखा। स्वामीजी अपना अप्रमाणित मत कि परमात्मा के अतिरिक्त कोई अन्य अनादि मूलतत्त्व नहीं, सिद्ध करने के लोभ में यत्र-तत्र बिना संगति के भी अपना मत लिख देते हैं।

प्रथम, सत् शब्द का अर्थ 'चेतन' नहीं। यह बात समझ लेनी चाहिए। सत् का अभिप्राय है कि 'है,' जिसका अस्तित्व है। इसमें चेतनता-अचेतनता का प्रश्न नहीं।

मोनियर विलियम सत् शब्द के अर्थ अपने शब्द-कोष में इस प्रकार लिखते हैं—

सत्—being, existing, occuring, happening, being present... real, actual, lasting, enduring.

क्योंकि जीवात्मा और परमात्मा भी उक्त गुण रखते हैं, इस कारण वे भी सत् हैं, और प्रधान, जैसा सांख्य और अन्य शास्त्रों में वर्णन किया गया है, वह

भी उक्त लक्षण रखता है। इस कारण वह भी सत् है।

सत् का अर्थ चेतनता नहीं। स्वामी शंकराचार्य शब्दों के अर्थ विकृत कर अपने मत को उपनिषदादि ग्रन्थों में से सिद्ध करना चाहते हैं।

प्रधान का सत् होना अथवा असत् होना यह इस सूत्र से सम्बन्धित नहीं।

हमारा यह कहना है कि श्वेताश्वतर उपनिषद् के मतानुसार ब्रह्म में तीन तत्त्व मानकर उपनिषद् के अर्थ किये जाएँ तो बहुत से संदिग्ध-वाक्य और अस्पष्ट-वाक्य सरल और सुगम हो जाएँगे।

एक बात माननी पड़ेगी कि उपनिषद् ग्रन्थ मनुष्य कृत होने से और इनके लिखने वाले भिन्न-भिन्न कालों के होने से भाषा में समानता नहीं रही। इस पर भी कुछ सैद्धान्तिक आधार हैं उनको बदला नहीं जा सकता और वे सैद्धान्तिक आधार वेदों से पता चलते हैं।

युक्ति तो बिना किसी प्रमाणित अथवा अप्रमाणित ग्रन्थ का आधार लिये हुए चलती है। इसके लिये बुद्धि विवेकशील अर्थात् सात्त्विकी होनी आवश्यक है और साथ ही वैराग्य अर्थात् पूर्वग्रहों से रहित होनी अनिवार्य है। ऐसा व्यक्ति ही युक्ति कर सकता है और युक्ति की बात समझ सकता है।

जब शास्त्र-प्रमाण का अवसर आता है तो हिन्दू-परम्परा में वेद स्वतः प्रमाण माने हैं। स्वामी शंकराचार्यजी ने तो वेद (संहिताओं) को निम्न कोटि के ग्रन्थ प्रकट कर नास्तिकों के पक्ष का समर्थन किया है। उन्होंने ऐसा क्यों किया ? यह इस कारण कि उनके अपने विचारों का उन ग्रन्थों में समर्थन नहीं मिलता।

वेद मत त्रैतवाद है। हम यह समझते हैं कि छहों वैदिक-दर्शन इसी को मानते हैं। उपनिषद् भी यह स्वीकार करते हैं। केवल वे कहीं-कहीं इतने अस्पष्ट हो जाते हैं कि भ्रम उत्पन्न होने लगता है।

स्वाप्ययात् ॥९॥

स्व+अप्ययात्।

अपने आप अभिगमन करने वाला होने से (वह परमात्मा है, अर्थात् चेतन है)।

इस प्रकार के अर्थ श्री ब्रह्म मुनिजी ने किये हैं।

श्री उदयवीर शास्त्री इसका अर्थ इस प्रकार करते हैं—

स्व+अप्ययात्=अपने में अप्यय (लय) होने से।

स्वामी शंकराचार्यजी इसका अर्थ इस प्रकार करते हैं—

तदेव सच्छब्दवाच्यं कारणं प्रकृत्य श्रूयते –'यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा संपन्नो भवति स्वमपीतो भवति तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते स्वं ह्यपीतो भवति' (छा० ६-८-१) इति। एषा श्रुतिः स्वपितीत्येतत्पुरुषस्य लोकप्रसिद्धं नाम निर्वक्ति। स्वशब्देनेहात्मोच्यते। यः प्रकृतः सच्छब्दवाच्यस्तमपीतो भवत्य-पिगतो भवतीत्यर्थः। अपिपूर्वस्यैतेर्लयार्थत्वं प्रसिद्धं; प्रभवाप्ययावित्युत्पत्तिप्रलययोः प्रयोगदर्शनात्।

अर्थात्—उसी सत् शब्द वाच्य कारण को श्रुति प्रकट करती है। श्रुति है (यत्रतत्पुरुषः—छा० ६-८-१)।

(श्रुति का अर्थ स्वामीजी लिखते हैं) जैसे सुषुप्ति अवस्था में वह पुरुष स्वपिति—सोता है, ऐसा कहा जाता है। उस समय हे सोम्य! यह सम्पन्न होता है अर्थात् परमात्मा के साथ तद्रूप होता है। अर्थात् अपने में लय होता है। उस समय उसे 'स्वपिति', ऐसा कहते हैं, वह अपने में ही लीन होता है। यह श्रुति भी पुरुष के स्वपिति (सोता है)। ऐसा लोक-प्रसिद्ध निर्वचन है। स्व शब्द से आत्मा का अर्थ है जो प्रकृत और सत् शब्द वाच्य है, उसमें लीन होता है। अभिपूर्वक 'इण' गत्यर्थक धातु का लय अर्थ प्रसिद्ध है। प्रभव और अप्यय दोनों शब्द उत्पत्ति और प्रलय अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।

स्वामीजी के प्रवचन को सरल भाषा में लिखा जाये तो उक्त सूत्र का अर्थ इस प्रकार बनेगा कि जब मनुष्य सोता है तो मनुष्य कलेवर में स्थित जीवात्मा सर्वव्यापक परमात्मा में लय हो जाता है।

अतः सूत्रार्थ बना—अपने में लीन हो जाने से वह आत्मा है। स्वामीजी स्व के अर्थ सत् और सत् के अर्थ आत्मा मानते हैं।

स्वामी विश्वेश्वरानन्दजी (अद्वैत आश्रम अलमोड़ा) ने अंग्रेज़ी भाषा में ब्रह्म-सूत्रों का भाष्य किया है। वे इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार करते हैं—

On account of resolving or merging in one's own self. When a man is said to be thus asleep, he is united with the 'sat', my child; he merges in his own self. (chh. 6.8-1) Here it is taught that the in dividual roul merges in 'sat'.

वास्तव में शंकर-पंथी इस सूत्र की विवेचना में स्वप्नावस्था अथवा सुषुप्ति अवस्था को लाकर अर्थों को विषम ही बना रहे हैं। सूत्र का अर्थ जैसा कि स्वामी ब्रह्ममुनि ने लिखा है, अति सरल और एक अकाट्य युक्ति के रूप में है।

अर्थ है—(प्रलय काल में) परमात्मा में जीवात्मा का अभिगमन अर्थात् लय होता है। स्वामी ब्रह्ममुनि इस बात के समर्थन में एक वेद प्रमाण देते हैं। वह इस प्रकार है—

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च ।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश ॥
(यजु० ३२-११)

अर्थ है—सब भूतों में व्याप्त होकर, सब लोकों में व्याप्त होकर, सब दिशाओं और उपदिशाओं में व्याप्त होकर वह प्रथम विद्यमान जो सत् (प्रकृति), आत्मा (जीवात्मा) को भी अपने में स्थापित एवं प्रविष्ट कर लेता है।

यहाँ एक बात समझ लेनी चाहिए कि उपर्युक्त सूत्र परमात्मा के जगत् का निमित्त अथवा उपादान कारण होने की सिद्धि में नहीं लिखा। यह परमात्मा और जीवात्मा तथा प्रकृति के परस्पर सम्बन्धों के विषय में है।

अन्य भाष्यकारों के विषय में कठिनाई यह है कि उदाहरण देने में वे स्वामी शंकराचार्य द्वारा दिए उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। स्वामीजी से पूर्व किसी भी विद्वान् का वेदान्त-दर्शन पर भाष्य मिलता नहीं और उनसे पीछे आने वाले भाष्यकार भी स्वामीजी का अनुकरण करते प्रतीत होते हैं। भले ही उदाहरण का प्रस्तुत सूत्र से किसी प्रकार का मेल न हो।

ब्रह्म-सूत्रों में तो उपनिषदादि ग्रन्थों के उदाहरण अथवा उद्धरणों का संकेत नहीं। वहाँ केवल मात्र वक्तव्य है। प्रायः वक्तव्य युक्तियाँ हैं। भाष्यकारों ने उन युक्तियों तथा वक्तव्यों का उपनिषदादि शास्त्रों में भी उल्लेख बताया है। वास्तव में वे सूत्रों का अंग नहीं हैं।

उदाहरण के रूप में स्वामी शंकराचार्यजी इस सूत्र के आशय को छा० ६-८-१ के उदाहरण से स्पष्ट करना चाहते हैं। सूत्र में इसका संकेत भी नहीं है। छान्दो० ६-८-१ के विषय में इतना बताना पर्याप्त होगा कि उसमें प्राणी की सुषुप्ति की अवस्था में स्वप्न में मन के भटकने और जीवात्मा के आश्रय लौट आने की बात कही है। वहाँ परमात्मा के अपने में लीन होने की बात नहीं।

छान्दोग्य ६-८-१ में लिखा है—

(यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता) जब यह पुरुष (मनुष्य) सोया हुआ नाम से कहा जाता है। (सोम्य तदा सम्पन्नो भवति; स्वमपीतो भवति) हे सोम्य! तब अपने में लीन हो गया होता है। (तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते, स्व ह्यपीतो भवति) इससे वह अपने में लीन कहा जाता है, अपने में ही लीन होता है। सम्पन्न के अर्थ अपने में सन्तुष्ट होने के हैं।

यह जीवात्मा के विषय में कहा है। एक युक्ति यह है कि परमात्मा सोता नहीं। दूसरी युक्ति यह है कि छा०६-८-२ में लिखा है कि जैसे डोरी से बंधा पक्षी बन्धन के कारण दिशाओं और उप-दिशाओं में उड़ता हुआ पुनः बंधने वाले स्थान पर आ जाता है, वैसे ही सुषुप्ति अवस्था में स्वप्न होने पर मन अन्य कहीं आश्रय न मिलने पर प्राण में आश्रय पाता है। प्राण बन्धन है मन का।

इससे स्पष्ट है कि उक्त अपने में लीन होने वाला परमात्मा नहीं, जीवात्मा है। कारण यह कि मन परमात्मा से बंधा नहीं होता, जीवात्मा से बंधा होता है। प्राण बन्धन है मन का। यहाँ प्राण परमात्मा के लिए नहीं, जीवात्मा के लिए है। प्राण मनुष्य भी नहीं। कारण यह कि मन शरीर के साथ बंधा नहीं। यह माना है कि मृत्यु के समय जब जीवात्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जाता है, तब मन भी उसके साथ ही जाता है।

अतः इस (छा० ६-८-१) में स्वपिति जीवात्मा के लिए आया है। परमात्मा के लिए नहीं। कहीं पर व्यक्ति में लीन होने की बात लिखी है।

स्वामी शंकराचार्यजी ने भी यहाँ यही माना है। अर्थात् उन्होंने भी जीवात्मा से ही अभिप्राय माना है। आप लिखते हैं—

स्वशब्देनेहात्मोच्यते। यः प्रकृतः सच्छब्दवाच्यस्तमपीतो भवत्यपिगतो भवतीत्यर्थः।

अर्थात्—(श्रुति उपनिषद् में) स्व शब्द से आत्मा का अर्थ है, जो प्रकृत एवं सत् शब्द से कहा गया है। उसमें अपीत (लीन) होता है।

परन्तु सूत्र (१-१-६) में स्व शब्द जीवात्मा के लिए नहीं है। यह परमात्मा के लिए है। अतः इस सूत्र की व्याख्या में छा० ६-८-१ का उद्धरण अयुक्त है, असंगत है।

सूत्र में स्व से आत्मतत्त्व का अभिप्राय है। क्योंकि वेदान्त-सूत्र (१-१-६, ७,८) में ईक्षण करने वाले आत्मा का ही उल्लेख है। यह परमात्मा है।

गतिसामान्यात् ॥१०॥

गति की समानता होने से (चेतन परमात्मा के अस्तित्व का प्रमाण मिलता है)।

इसका अभिप्राय है कि जगत् के सब पदार्थों में गति=व्यवहार की समानता होने से इसका एक समान कारण होना सिद्ध होता है।

यहाँ जगत् के विभिन्न पदार्थों में रूप तथा अन्य गुणों की समानता नहीं मानी। गति में समानता मानी है। गति का अर्थ व्यवहार से है।

उदाहरण के रूप में सब प्राणियों में सन्तानोत्पत्ति का समान नियम है। पुरुष तथा स्त्री अंश मिलकर भ्रूण बनता है। प्राण ही चेतनता है। बीज से प्राणी बनता है। यह नियम व्यापक है। जिनके सन्तान होती है, सबमें यह समान है। अतः इससे जगत् के एक (समान) ही कारण की पुष्टि होती है।

और उदाहरण लीजिये। जगत् में सूर्य, चन्द्र, तारागण इत्यादि चक्राकार गति में घूमते हैं। इनकी गति वृत्ताकार (circular) नहीं होती, वरन् रवि मार्गाकार (elyptical) है। सब नक्षत्रादि इसी प्रकार घूमते हैं।

इस सूत्र का अर्थ है जगत् के पदार्थों की गतियों में समानता होने से इनका एक ही कारण होने का निश्चय होता है।

यहाँ भी स्वामी शंकराचार्य तथा उनके पद्-चिह्नों पर चलने वाले भाष्यकारों ने इस सरल स्पष्ट अर्थ को छोड़ टेढ़ा-मेढ़ा अर्थ करने का यत्न किया है। स्वामी जी लिखते हैं—

यदि तार्किकसमय इव वेदान्तेष्वपि भिन्ना कारणावगतिरभविष्यत्क्वचिच्चेतनं ब्रह्म जगतः कारणं, क्वचिदचेतनं प्रधानं, क्वचिदन्यदेवेति, ततः कदाचित्प्रधानकारणवादानुरोधेनापीक्षत्यादिश्रवणमकल्पयिष्यत। नत्वेतदस्ति; समानैव हि सर्वेषु वेदान्तेषु चेतनकारणावगतिः।

अर्थात्—यदि तार्किकों की भाँति वेदान्तों में भी भिन्न-भिन्न कारण—गति (व्यवहार) होती, कहीं चेतन ब्रह्म, कहीं अचेतन प्रधान कहीं अन्य देवता जगत् का कारण माना जाता, तब कदाचित् प्रधान (प्रकृति) को कारण मानने वालों के विरुद्ध सिद्धान्त से ईक्षति आदि श्रुति भी प्रधान के विषय में कल्पित की जा सकती थी। ऐसा नहीं है। क्योंकि सभी (वेदान्तों) में समान रूप से चेतन कारण को ही माना है।

यहाँ प्रधान और चेतन के विरोध की बात अकारण उपस्थित कर दी है। साथ ही यह कि क्या जगत् की गतियों में भिन्नता का उल्लेख है? यह भी नहीं कि पूर्ण जगत् सिद्धान्त रूप में एक समान ही व्यवहार करता देखा जाता है। संसार में भिन्नता तो है। पृथिवी और अन्य नक्षत्रों के रूप-रंग में अन्तर (भिन्नता) दिखायी देता है, परन्तु गति (व्यवहार) में समानता है।

इसी प्रकार स्थावर और जंगम प्राणियों में रूप-रंग में भेद है, परन्तु सन्तानोत्पत्ति, जो एक व्यवहार है, उसमें समानता है। 'गतिसामान्यात्' से व्यवहार में समानता का ही अभिप्राय है।

पण्डित उदयवीर शास्त्री गति का अर्थ ज्ञान करते हैं। वह इस सूत्र का अर्थ करते हुए लिखते हैं—

(गति सामान्यात्) गति=ज्ञान=चेतना के समान होने से (ब्रह्म-आत्मा जैसा चेतन है)।

गति के अर्थ ज्ञान हो सकते हैं, परन्तु हमारे मत में गति गम् धातु से बनने के कारण इसे 'चाल' भी कहते हैं और यहाँ यही अर्थ उपयुक्त प्रतीत होता है, जो हमने ऊपर कहे हैं।

—८

श्री ब्रह्ममुनि वही अर्थ करते हैं, जो हमने किये हैं। वे लिखते हैं—

(गति सामान्यात्) गति=गम्यमानता=रीति-नीति=लोक-व्यवहार की समानता से। लोक में चेतन निमित्त कारण ही देखा जाता है। वह उपादान भी नहीं हो सकता।

श्री स्वामी ब्रह्ममुनिजी नें चेतन और जड़ का झगड़ा यहाँ अनावश्यक रूप में उपस्थित कर दिया है।

यह वास्तविकता है कि कार्य-जगत् के व्यवहार में समानता होने से इसका कारण एक ही है।

उपनिषद् इसको इस प्रकार वर्णन करता है—

य एको जालवानीशत ईशनीभिः सर्वांल्लोकानीशत ईशनीभिः।
य एवैक उद्भवे सम्भवे च य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥
एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इमांल्लोकानीशत ईशनीभिः।
प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति संचुकोचान्तकाले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः॥

(श्वे० ३-१, २)

(य एको) जो एक ही है, (जालवानीशत) जाल की भाँति जगत् को नियन्त्रित करता है; (ईशनीभिः) अपनी शक्ति से; (सर्वांल्लोकानीशत) सब लोकों को नियन्त्रण में रखता है; (ईशनीभिः) सब शक्तियों से (य एवैक) जो एक ही (उद्भवे संभवे च) उत्पत्ति एवं पालन करने में है (एतद् विदुः अमृतास्ते) इसे ही जानकर अमृत को प्राप्त होते हैं।

(एको हि रुद्रो) वह परमात्मा एक ही है, (न द्वितीयाय तस्थुर्य) किसी दूसरे को स्थापित मत करो; (इमांल्लोकानीशत ईशनीभिः) इन लोकों को अपनी शक्तियों से नियन्त्रित करता है; (प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति) प्रत्यक्ष रूप में सब प्राणियों में रहता है; (संचुकोचान्तकाले) अन्त काल में संहार करता है; (संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः) विश्व के नक्षत्रादि को बनाकर उनका पालन करता है।

श्रुतत्वाच्च ॥११॥

श्रुतत्वान्+च।

श्रुतत्वात्+च=और श्रुति में भी वर्णन से।

'जन्माद्यस्य यतः' से आरम्भ करके 'गति सामान्यात्' तक, सभी सूत्रों में युक्ति से ब्रह्म और उसमें चेतन तत्त्व के निमित्त कारण होने की बात कही है। दर्शनाचार्य कहते हैं कि श्रुति (वेद) भी इसका वर्णन इसी प्रकार करती है।

हमने अपनी इस व्याख्या के आरम्भ में ही कहा है कि वेदान्त-दर्शन एक वैदिक-दर्शन है। अतः इसमें वैदिक मान्यताओं को युक्ति से सिद्ध किया गया है।

हमारे उक्त कथन का प्रमाण ही यह सूत्र है। दर्शनाचार्य ने अभी तक एक भी संकेत किसी उपनिषद्-वाक्य अथवा वेदमन्त्र की ओर नहीं किया। सब सूत्रों में एक-से-एक प्रबल युक्ति देकर यह सिद्ध किया है कि ब्रह्म है और वही जगत् का कारण है, वह मूल ज्ञान का दाता है, कार्य-जगत् में सब समन्वय उसी से होते हैं, इत्यादि।

इतना सिद्ध कर इस सूत्र में कहा है कि वेदों में भी यही बात कही है। श्रुति में क्या लिखा है? वही जो हम ऊपर लिख आये हैं।

एक-दो उदाहरणों से बात स्पष्ट हो जायेगी। एक वेदमन्त्र में लिखा है—

> हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेकऽआसीत्।
> स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
>
> (यजु० १३-४)

मन्त्र का अन्वय इस प्रकार है—

अग्रे + भूतस्य + जातः + पतिरेक + आसीत + हिरण्यगर्भः + समवर्तत् ।
स + दाधार + पृथिवीम् + द्यामुत + इमाम् + कस्मै + देवाय + हविषा + विधेम।

इसका अर्थ है—सर्ग के पूर्व में प्राणियों का उत्पादन करने वाला एक स्वामी था; तब सम्पर्क रूप में स्थित हुआ हिरण्यगर्भ बना। उसने इस पृथिवी और द्युलोक को धारण किया। ऐसे परमात्मा की भक्तिपूर्वक उपासना करें।

एक अन्य उदाहरण है—

> न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
> आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास॥
>
> (ऋ० १०-१२९-२)

उस समय (प्रलय काल में) न मृत्यु थी, न अमृत; अर्थात् जन्म-मरण नहीं हो रहा था। रात अथवा दिन के होने का भास नहीं था। सूर्य नहीं था। इस कारण उस समय वायु अर्थात् किसी प्रकार की गति नहीं थी। उस समय वह अपनी ही शक्ति से स्थित था। उससे अन्य (अधिक सूक्ष्म) कोई नहीं था। वह एक ही था।

इस मन्त्र का अभिप्राय ही सूत्र 'स्वाप्ययात्' में वर्णन किया है।

आनन्दमयोऽभ्यासात् ।।१२।।

आनन्दमयः+अभ्यासात् ।

अभ्यास से अर्थात् उस (ब्रह्म) की बार-बार उपासना से (जीवात्मा) आनन्दमय हो जाता है।

उपासना का अर्थ है समीप बैठना। परमात्मा तो सर्वत्र व्यापक है। अतः ब्रह्म के समीप बैठने का अभिप्राय यह है कि मनुष्य अपने में ही विद्यमान परमात्मा एवं प्रकृति, जिससे बने हुए शरीर में आत्मा रहता है, इन दोनों के विषय में पूर्ण ज्ञान प्राप्त करे। ब्रह्म के समग्र रूप को भली-भाँति समझना ही ब्रह्म ही उपासना है। बार-बार उपासना करने से जीवात्मा आनन्दमय हो जाता है।

ब्रह्म के अस्तित्व को जानना तो ज्ञान का विषय है। यह युक्ति से भी जाना जा सकता है, परन्तु उस ब्रह्म के समग्र स्वरूप को समझने के लिये ब्रह्म के समीप बैठकर उससे जुष्ट होना आवश्यक है। सूत्रकार का कहना है कि यह अभ्यास से होता है और बार-बार अभ्यास करने से ब्रह्म का समग्र ज्ञान होता है। तब जीवात्मा आनन्दमय हो जाता है।

ब्रह्म को जानने का अर्थ त्रिविध ब्रह्म को जानना है। जीवात्मा अपने को जाने, उस प्रकृति को जाने जो उसे अपने में बाँधे हुए है और परमात्मा को जाने, जो इस सम्पूर्ण जगत् का रचने वाला, पालन करने वाला और प्रलय करने वाला है। परमात्मा और प्रकृति तथा जीवात्मा का अपने विषय में पूर्ण ज्ञान, बार-बार समीप बैठने से ही होता है और तब जीवात्मा आनन्दमय हो जाता है।

परमात्मा और जीवात्मा का सामीप्य तो मनुष्य के हृदय की गुहा में होता है, परन्तु जीवात्मा कार्य-जगत् के रसास्वादन में इतना लीन होता है कि वह परमात्मा के समीप होने पर भी, उसकी ओर ध्यान नहीं देता।

उपनिषद् इस विषय में कहता है—

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ।।

(कठो० १-३-१)

सत्य का पालन करते हुए (सुकृत) मनुष्य लोक में अर्थात् मानव-शरीर में, गुहा में बैठे हुए परम स्थान से अभिप्राय यह है शरीर के उच्च स्थान में दोनों छाया और धूप की तरह हैं। ब्रह्म को जानने वाले, पंच महायज्ञ करने वाले गृहस्थी और अखण्ड ब्रह्मचर्य रखने वाले यही कहते हैं। अभिप्राय यह कि सब विद्वान् और कर्मयोगी यही कहते हैं।

अर्थात्—जीवात्मा और परमात्मा मनुष्य के मस्तिष्क में, एक गुहा में इकट्ठे होते हैं। वहीं दोनों में जुष्ट (योग) हो सकता है। इस योग को ही उपासना

कहते हैं। इससे जीवात्मा आनन्दमय हो जाता है।

इस सूत्र पर भाष्य लिखते समय स्वामी शंकराचार्य अपनी विशेष बुद्धि का परिचय देते हुए इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार करते हैं—

इदमुच्यते—'आनन्दमयोऽभ्यासात्।' पर एवात्माऽऽनन्दमयो भवितुमर्हति। कुतः ? अभ्यासात्। परस्मिन्नेव ह्यात्मन्यानन्दशब्दो बहुकृत्वोऽभ्यस्यते।

अर्थात्—'आनन्दमयोऽभ्यासात्।' यह सूत्र कहा है। परम आत्मा ही आनन्दमय हो सकती है। कैसे ? अभ्यास से। परम आत्मा में ही आनन्द शब्द का प्रयोग हुआ है। वहुत वार अभ्यास करने से......

यहाँ तक तो ठीक है। आत्मा-शब्द से जीवात्मा भी लिया जा सकता है, परन्तु स्वामीजी इसके आगे तैत्तिरीय उपनिषद् २-६, २-७, २-८ तथा २-९ के उद्धरण देते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् ३-६ तथा बृ० उ० ३-९ और २-८ में ब्रह्म के लिए ही आनन्द का शब्द प्रयोग हुआ है। अतः आप कहते हैं—

'आत्म ब्रह्मेति गम्यते।'

अर्थात्—आत्मा का अभिप्राय ब्रह्म ही है।

ब्रह्म आनन्दमय है। इससे ब्रह्म के आनन्दमय होने की बात कह रहे हैं। आपका कहना है कि केवल ब्रह्म को ही बार-बार आनन्दमय लिखा है। इस कारण उक्त सूत्र का अर्थ यह है कि शास्त्र में लिखा होने से यह मानना चाहिए कि वह आनन्दमय है।

परन्तु सूत्र में आनन्द परमात्मा के लिये नहीं है।

हमारा मत यह है कि 'उपासना के अभ्यास से जीवात्मा आनन्दमय हो जाता है।' सूत्र के यह अर्थ हैं। स्वामीजी के लिए इस सरल सीधे अर्थ को स्वीकार करने में कठिनाई यह है कि वह जीवात्मा एवं प्रकृति को अनादि तत्त्व मानते नहीं। वह मानते हैं 'एकमेव ब्रह्म द्वितीयोनास्ति।' अतः इस सूत्र में कौन उपासना करे ? किस की उपासना करे और कौन आनन्दमय होगा ? वह इसका विचार नहीं कर सके।

जीव और परमात्मा के दो पृथक्-पृथक् तत्त्व होने के हम वेद, उपनिषद् और गीता के प्रमाण दे चुके हैं। अतः हमारे लिए उक्त सूत्र के अर्थ में जीवात्मा के आनन्दमय हो जाना मानने में कुछ कठिनाई नहीं होती। हमारा मत है 'अभ्यासात्' का अभिप्राय शास्त्रों में बार-बार लिखा होना नहीं, वरन् बार-बार उपासना में परमात्मा से जुष्ट होना है, वैसे ही जैसे इस उपनिषद् में वर्णित है—

पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति॥

(श्वे० १-६)

अपने को और प्रेरणा करने वाले को पृथक्-पृथक् मान, उससे जुष्ट (संयुक्त) हो अमृत (मोक्ष) पाता है।

अब तनिक उन प्रमाणों को भी देखें जो स्वामीजी ने इस सूत्र के भाष्य में दिये हैं। क्या उन प्रमाणों में जीवात्मा के अस्तित्व को अस्वीकार किया है ?

स्वामीजी तैत्तिरीय उपनिषद् के ब्रह्मवल्ली अध्याय का बार-बार उल्लेख करते हैं। अतः हम इस वल्ली के विषय में कुछ व्याख्या से यहाँ लिख दें तो स्वामीजी द्वारा उपस्थित भ्रम का निवारण हो जायेगा।

तैत्तिरीय उपनिषद् में तीन अध्यास (वल्लियाँ) हैं। प्रथम है शिक्षा वल्ली। इसमें उपनिषद्कार विद्यार्थी की शिक्षा का वर्णन करता है। इसमें वे अ-आ-इ-ई इत्यादि से लेकर शिक्षा का अन्त इस प्रकार करते हैं :

एष आदेशः। एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषत्। एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्। एवमु चैतदुपास्यम्॥

(तैत्तिरीय १-११-४)

अभिप्राय यह कि वर्णमाला से शिक्षा आरम्भ करके वेद, उपनिषद्, अनुशासन और उचित आचरण तक बताया है।

दूसरी वल्ली 'ब्रह्मवल्ली' है इसमें ब्रह्म का उल्लेख है। ब्रह्म क्या है, इसका वर्णन किया है। इसके विषय में ही स्वामीजी बार-बार अपने शारीरिक भाष्य में लिखते हैं। इस पूर्ण वल्ली का अभिप्राय हम नीचे लिख देते हैं।

इस वल्ली में नौ 'अनुवाक' हैं। प्रथम अनुवाक है—

ओं ब्रह्मविदाप्नोति परम् ‥ ‥

ब्रह्म को जानने वाले परम्-पद पाते हैं।

वल्ली का आरम्भ ही यह प्रकट करता है कि ब्रह्म और उसके जानने वाले पृथक्-पृथक् हैं। यह स्पष्ट है कि जानने वाला ब्रह्म से पृथक् है।

आगे परम् का अर्थात् परमात्मा का वर्णन करते हुए लिखा है—

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति।'

जो ब्रह्म को सत्य, अनन्त, ज्ञान युक्त, परम् व्योम की गुहा में स्थित मानता है, वह सर्वज्ञ ब्रह्म के साथ सब कामनाओं को भोगता है।

यहाँ भी, अनन्त ज्ञानयुक्त सब-कुछ देखने वाले को जो ब्रह्म के साथ रहता हुआ सब कामनाओं को भोगने वाला है, उसको परमात्मा से पृथक् माना है।

इसके आगे इन कामनाओं को भोगने वाले का वर्णन किया है। यह पुरुष है अर्थात् प्राणी है।

यहाँ और इस वल्ली के आगे के अनुवाकों में बार-बार ये शब्द आये हैं—

'तस्माद्वा एतस्मादात्मन'

इसका अर्थ है कि उस तथा इस आत्मा से।

यहाँ उस और इससे अभिप्राय केवल मात्र यह है कि पुरुष जिसकी

व्याख्या की जाने वाली है, उसमें दो पदार्थों का संयोग है। उस और इस। इसके साथ 'आत्मनः' शब्द आया है। इससे यह स्पष्ट है कि उसका अभिप्राय किसी अनात्म पदार्थ से है। निस्सन्देह वह प्रकृति ही हो सकती है।

लिखा है कि उस तथा इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से आपः, आपः से पृथिवी, पृथिवी से वनस्पतियाँ, वनस्पतियों से अन्न, अन्न से रेतस् तथा रेतस् से पुरुष। अतः वह पुरुष अन्न रसमय है। अर्थात् अन्न का सार रूप है।

शब्द हैं 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः।

अभिप्राय यह कि पुरुष के शरीर के बनने में प्रकृति और परमात्मा कारण हैं। प्रकृति उपादान कारण है और आत्मा निमित्त कारण है।

दूसरा अनुवाक इस प्रकार है—

शरीर को एक कोष माना गया है। कोष का अभिप्राय है खोल (sheath)। इसे अन्नमय कोष कहा है। यह कहा है कि पृथिवी पर जितने भी प्राणी हैं, सब अन्न से पैदा होते हैं। पैदा होने पर जीवित रहते हैं और अन्त में इस अन्न में ही लीन हो जाते हैं। अभिप्राय यह कि शरीर का अन्त उन तत्त्वों में होता है जो अन्न को उत्पन्न करते हैं। अतः अन्न प्राणियों का (ज्येष्ठ) मुख्य स्रोत है। यह सबकी औषधि है। यहाँ अन्न से अभिप्राय है पंचमहाभूत।

इसके अन्त में कहा है—

येऽन्नं ब्रह्मोपासते। सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति।

जो अन्न ब्रह्म की उपासना करता है, वह सम्पूर्ण अन्न को पाता है।

यहाँ अन्न को ब्रह्म कहा है। अन्न त्रिविध ब्रह्म का एक स्वरूप है। इसमें प्रकृति का अंश है, जीवात्मा भी और परमात्मा भी है। सब अक्षर होने से ब्रह्म हैं।

अगले अनुवाक के प्रथम मन्त्र में उसी वाक्य का प्रयोग किया है, जिसका प्रथम अनुवाक के अन्त में किया है।

तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः।

उस और इस अन्न के रसमय होने से इसमें भी एक सार (आत्मा) है। वह प्राणमय है।

अन्न का रस प्राण माना है और इसको अन्नमय से दूसरा कहा है।

आगे प्राणमय कोप का वर्णन किया है। प्राणमय कोष का रूप पुरुष शरीर जैसा ही है। इसका अर्थ है कि प्राण पूर्ण शरीर में व्याप्त है। इस कोष का भी शिर, पीठ, दक्षिण तथा उत्तर पक्ष है। पुरुष (शरीर) की भाँति इसके अवयव हैं।

प्राण के अर्थ श्वास लेते समय अथवा छोड़ते समय की वायू नहीं है। इसका अर्थ है कि शरीर से कार्य कराने वाली शक्ति। जब तक शरीर कार्य

करता है, यह जीवित माना जाता है । अतः प्राण को आयु भी कहा है ।

लिखा है—**'ये प्राणं ब्रह्मोपासते । सर्वमेव त आयुर्यन्ति ।'** जो प्राण ब्रह्म की उपासना करते हैं, वे आयु प्राप्त करते हैं ।

जहाँ अन्न को ब्रह्म माना है, वहाँ प्राण को भी ब्रह्म माना है । प्राण प्रकृति से प्राप्त परमात्मा की शक्ति का रूप होने से यह भी ब्रह्म है ।

तीसरा अनुवाक भी इसी प्रकार आरम्भ होता है—

तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमयादन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः ।

उससे और इस प्राण ब्रह्म से पृथक् एक और आत्मा (सार) मनोमय है ।

अब मनोमय कोष के लक्षण वर्णन करते हैं । मनोमय कोष भी पुरुष शरीर में व्यापक है । उसका स्वरूप पुरुष शरीर के समान है । इसके भी शिर, पीठ, दक्षिण-उत्तर पक्ष हैं, आत्मा इत्यादि हैं ।

इस कोष को भी ब्रह्म माना है । लिखा है—

यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सह । आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् । न बिभेति कदाचनेति । तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य ।

जब वाणियाँ (इन्द्रियों के विषय; वाणी एक उदाहरण के रूप में है) मन को अप्राप्त होकर लौट जाती हैं, तब ब्रह्म के आनन्द को जानता हुआ मन डरता नहीं । उस (मन) का यही शरीर में रहने वाली आत्मा है । यह इस कारण कि मन जन्म-जन्मान्तर तक जीवात्मा के साथ रहता है ।

इसके आगे फिर वही लिखा है—**'तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयादन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः ।'**

उस और इस मनोमय कोष से एक अन्य और उसके भीतर विज्ञानमय कोष है ।

वह भी पूर्ण शरीर में रहता है । उसका स्वरूप पुरुष शरीर की भाँति है । उसके अवयव शरीर की भाँति हैं । उसके भी सिर, दक्षिण-उत्तर पक्ष और पीठ हैं ।

पाँचवें अनुवाक में विज्ञानमय कोष का उल्लेख है । यह बुद्धि है । इससे धर्म का विस्तार होता है । कर्मों का भी विस्तार होता है । सब देव (इन्द्रियाँ) बुद्धि को अपना बड़ा (ज्येष्ठ) मानती हैं । इसका भी स्वरूप बताया है ।

इसके आगे पुनः—**'तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात्दन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः ।'**

इस और उस विज्ञानमय कोष से अन्य और भीतर एक आनन्दमय कोष है । वह भी पुरुष शरीर के स्वरूप का है । इत्यादि ।

इस आनन्दमय कोष की पीठ ब्रह्म की ही है ।

ये पाँच अनुवाकों का संक्षेप में वर्णन है । ये पाँचों कोष हैं । किसके ?

यह प्रश्न है। निस्सन्देह जीवात्मा के। परमात्मा तो इन कोषों से बाहर भी पूर्ण जगत् एवं ब्रह्माण्ड में व्यापक है। परन्तु यहाँ शरीर से अभिप्राय है।

आनन्दमय कोष भी पुरुष की भाँति पीठ, दक्षिण-उत्तर पक्ष इत्यादि रखता है। पुरुष की भाँति अवयव रखता है।

स्वामीजी ने इस उपनिषद् के चार उद्धरण दिये हैं। २-६,७,८,९ और ३-६।

यहाँ पहले (तैत्ति० २-६) की व्याख्या दे रहे हैं।

(असन्नेव स भवति) असत् न इव=असत् की भाँति नहीं। स भवति, वह होता है; अर्थात् वह विनष्ट नहीं होता। (असद् ब्रह्मेति चेत्) यदि वह ब्रह्म नहीं होता; ('अक्षरं ब्रह्म' (भ० गी०) का अभिप्राय है) (अस्ति ब्रह्मेति चेत् वेद सन्तमेनं ततो विदुरिति) यदि कहो कि ब्रह्म—अक्षर है तो ऐसा ज्ञानी लोग जानते हैं; (तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य) जैसे पूर्व के कोषों को लिखा है, वैसे ही इस शरीर का भी आत्मा है।

(अथातोऽनुप्रश्नाः) इस पर एक छोटा-सा प्रश्न है। (उताविद्वानमुं लोकं प्रेत्य कश्चन गच्छती३) कोई अविद्वान मरने पर मोक्ष पद में जाता है क्या? (आहो विद्वानमुं लोकं प्रेत्य कश्चित् समश्नुता३उ) कहो क्या विद्वान् मरने पर ब्रह्म लोक में जाता है? (अविद्वान् नहीं, विद्वान् जाता है) यह उत्तर है।

इससे यह स्पष्ट है कि जैसे ऊपर वर्णन किया है कि शरीर की आत्मा अन्न है, अन्न की आत्मा प्राण है, प्राण का मन है, मन की आत्मा विज्ञान (बुद्धि) है, और बुद्धि की आत्मा आनन्द है। इन सबमें रहने वाली आत्मा (जीवात्मा) है, जीवात्मा अज्ञानी होने पर ब्रह्म को नहीं पाता। ज्ञानी होने पर ब्रह्म को पाता है। यहाँ सब स्थान पर आत्मा का अर्थ सार हैं।

इस अन्तिम आत्मा को कुछ लोग परमात्मा मानते हैं। हमारा मत है कि यह जीवात्मा है। आनन्दमय कोष तो स्थान है। उसकी पुच्छ ब्रह्म है, परन्तु उसमें रहती आत्मा है। यह उस कोष का स्वामी है, परन्तु यह ब्रह्म को तब पाता है जबकि ज्ञानयुक्त हो जाता है। अन्यथा ब्रह्म को नहीं पाता।

आगे स्पष्ट किया है।

(सोऽकामयत) वह कामना करता है। (बहु स्यां प्रजायेयेति) बहुत प्रजायें (सन्तान) उत्पन्न करूँ। (स तपोऽतप्यत) वह तपस्या=प्रयत्न करता है। (स तपस्तप्त्वा इदँ सर्वमसृजत यदिदं किञ्च) प्रयत्न करने से जो कुछ भी है, वह सब निर्माण करता है।

(तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्) उस=परिवार, सम्पद् इत्यादि की सृष्टि कर वह उसमें ही लीन हो जाता है और फिर वैसा संसारी ही बन जाता है। (निरुक्तं चानिरुक्तं च। निलयनं चानिलयनं

च विज्ञानं चाविज्ञानं च) कहे जाने योग्य अथवा न कहे जाने योग्य, आश्रित, अनाश्रित, ज्ञानयुक्त, ज्ञानरहित, सत्य, असत्य हो गया। जो कुछ वह हुआ, विद्वान् उसे सत्य ही कहते हैं।

हमारा निश्चित मत है कि यह वर्णन जीवात्मा का है, जब वह शरीर में प्रवेश करता है। परमात्मा का क्यों नहीं ? यह इस कारण कि ब्रह्म वल्ली के आदि से संगति बैठायें तो यही प्रकट होता है कि ब्रह्म (परमात्मा) में किसी अतिरिक्त का उल्लेख हो रहा है। आरम्भ में ही लिखा है (ब्रह्मविदाप्नोति परम्) ब्रह्म को जानने वाला परम् महान् है। उसी ब्रह्म को जानने वाले के विषय में यह ब्रह्म (वल्ली) कही है।

पग-पग कर यह वल्ली मनुष्य का विश्लेषण करती चली जाती है। शरीर, प्राण, मन, बुद्धि निस्सन्देह वह ब्रह्म को जानना चाहता है अथवा जान लेता है।

अब आगे देखिये, सातवाँ अनुवाक इस प्रकार है।

लिखा है—

असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत। तदात्मानँ् स्वयमकुरुत। तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति। यद्वै तत्सुकृतं रसो वै सः। रसँ् ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति। को ह्येवान्यात्कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयाति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते। अथ सोऽभयं गतो भवति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति तत्त्वेव भयं विदुषो मन्वानस्य। तदप्येष श्लोको भवति।

(असद्वा इदमग्र आसीत्) यह पहले असत् (क्षर) था। 'इदम्' अर्थात् पुरुष का शरीर। यह अन्नादि से बना है और यह अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोषों से बना है। इस (शरीर) में आने वाले को हमने जीवात्मा बताया है। छठे अनुवाक से यही सिद्ध होता है।

सातवें अनुवाक में इसे असत् लिखकर आगे लिखा है—(ततो वै सदजायत) तब वह सत् (अक्षर) हो जाता है। कारण यह कि उसमें, छठे अनुवाक के अनुसार, जीवात्मा प्रतिष्ठित होता है, जो सत् है। वह आत्मा स्वयं (आनन्दमय कोष में) प्रतिष्ठित होता है। इसी में (तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत) वह सुकृत अर्थात् भले काम करने वाला कहा जाता है।

यहाँ भी भाषा कुछ ढीली प्रतीत होती है, जब यह कहा है कि (तदात्मानं स्वयं कुरुत) उस आत्मा ने स्वयं अपना निर्माण किया। कुछ आचार्य तत् से परमात्मा का अर्थ लेते हैं और निर्माण का अर्थ प्रकट होना मानते हैं, परन्तु अगले ही पाद में बात स्पष्ट कर दी गयी है। वहाँ लिखा है कि इससे वह 'सुकृत' कहा जाता है। परमात्मा तो अकर्त्ता माना है। यह जीवात्मा है जो

शरीर में आकर सुकृत करता है। 'स्वयं कुरुत' से अभिप्राय यह है कि वह अपने को आत्मवान् बना लेता है। वह (ब्रह्मविदाप्नोति) ब्रह्म को जानने वाला माना जा सकता है। अपने को आत्मवान् कर लेता है।

(यद्वै तत्सुकृतम् रसो वै सः) जो वह सुकृत रूप है, वह ही रस (आत्मा) है। जब वह सुकृत करने वाला होता है, तब वह उस (प्रथम पाँचों कोषों) का सार हो जाता है।

(रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति) रस को पाकर आनन्दी (आनन्द भोगने वाला) हो जाता है। (को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात्) कौन प्राण लेने वाली सत्ता और कौन अपान लेने वाला होता है ? (यदेप) जो वह (आकाश) आनन्द में (न स्यात्) नहीं होता। अर्थात् शरीर जो सांस लेता है, वह आनन्द कोप में नहीं आता (एष ह्येवान्दयाति) वह ही आनन्दित करता है। (यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्यऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते) जब यह इस अदृश्य, शरीर रहित, अकथनीय, अविनाशी में अभय हो प्रतिष्ठा को पा लेता है, (अथ सोऽभयं भवति) तब वह अभय हो जाता है।

इस अनुवाक का अर्थ यह है कि जीवात्मा जब आनन्दमय कोष में पहुँच आनन्दी हो जाता है, तो वह सुकृत हो जाता है। तब वह अदृश्य, अशरीरी, अनिर्वचनीय, अक्षर, अभय परमात्मा में जुष्ट हो जाता है। और जुष्ट होकर वह भी अभय हो जाता है।

अब आठवें अनुवाक में परमात्मा के लक्षण लिखे हैं।

(भीषास्माद्वातः पवते) उस (परमात्मा) के भय अर्थात् आदेश से वायु चलती है। यहाँ वायु का अभिप्राय है सब प्रकार की गतियाँ। (भीषोदेति सूर्यः) उसी के आदेश से सूर्य उदित होता है। (भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चम इति) उसी के भय से अग्नि, मेघ काम करते हैं। पाँचवीं मृत्यु उसी की आज्ञा से दौड़ती आती है।

स एको मानुष आनन्दः। ते ये शतं मानुषा आनन्दाः।

आठवें अनुवाक में उस आनन्द की तुलना की है, जो मानवी आनन्द कहलाता है। इसे सुख कहते हैं। इस आनन्द की तुलना गन्धर्वों के आनन्द से की है। गन्धर्व संगीत-विद्या के ज्ञाताओं को कहते हैं और यह लिखा है कि यह आनन्द वेद ज्ञान करने वाले श्रोत्रि के समान हैं। इसी प्रकार गन्धर्वों के आनन्द की तुलना देव गन्धर्वों और पितरों के आनन्द से की है। इनके आनन्द के अनुभव की देवताओं के आनन्द से और देवताओं की कर्म देवों के आनन्द से तुलना की है। कर्म देव उनको कहते हैं जो कर्म से देवत्व प्राप्त करते हैं। कर्म देवों के आनन्द की तुलना देवों के आनन्द और इन्द्र के आनन्द से की है। बृहस्पति का अर्थ उस ज्ञानी से है, जो ब्रह्म-ज्ञान का ज्ञाता हो। ब्रह्म-ज्ञानी के आनन्द की तुलना प्रजापति के

आनन्द से और उसकी तुलना परमात्मा के आनन्द से की है। परमात्मा का आनन्द समाधिगत आत्मा को मिलता है।

नवाँ अनुवाक है—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति। एतँ्ह वाव न तपति, किमहँ् साधु नाकरवम्। किमहं पापमकरवमिति। स य एवं विद्वानेते आत्मानँ् स्पृणुते। उभे ह्येवैष एते आत्मानँ् स्पृणुते। य एवं वेद। इत्युपनिषत्॥

(तैत्ति० २·६)

जिसकी वाणियाँ (इन्द्रियों के विषय) मन को प्राप्त न होकर लौट आती हैं, वह विद्वान् ब्राह्मण कहलाता है। वह किसी से नहीं डरता। वह इस बात से सन्तप्त नहीं होता कि उसने साधु कर्म किया है अथवा पाप कर्म। जो ऐसा जानता है उसे ये (पाप-पुण्य) दोनों ही स्पर्श तो करते हैं (परन्तु प्रभावित नहीं करते)। वही जानता है।

इसका अभिप्राय स्पष्ट है कि जीवात्मा परमात्मा के साथ जुष्ट होकर ब्राह्मण कहलाता है, वह ईश्वरीय आनन्द का भोक्ता हो जाता है।

इतना लम्बा उद्धरण देने का तात्पर्य यह है कि स्वामी शंकराचार्यजी तैत्तिरीय उपनिषद् की इस वल्ली को कई रूपों में उद्धरित करते हैं। अतः यहाँ पूर्ण वल्ली का अभिप्राय बताना उचित समझा गया।

यह ठीक है कि आनन्दमय तो परमात्मा ही है। साथ ही यह भी ठीक है कि जीवात्मा जब परमात्मा से जुष्ट होता है तो उस परमात्मा के आनन्दमय कोष में पहुँच जाता है। इसके लिये इन्द्रियों के विषयों को मन से पृथक् करने की आवश्यकता है। यह समाधि अवस्था में होता है। उस समाधि अवस्था को योगाभ्यास से प्राप्त किया जा सकता है, न कि शास्त्र में लिखित वर्णन के अध्ययन से।

स्वामी शंकराचार्य ने लिखा है—

कुतः ? अभ्यासात्। परस्मिन्नेव ह्यात्मन्यानन्दशब्दो बहुकृत्वोऽभ्यस्यते।

(शं०-भा० सू० १२)

कैसे ? अभ्यास से। (आगे तैत्तिरीय २-६ का वचन है) इसका अर्थ हम ऊपर कर आये हैं। बहुत अभ्यास करने से। यहाँ अभ्यास का अर्थ योगाभ्यास से है।

इससे दो बातों का पता चलता है। एक यह कि इस आनन्दमय कोष में आने वाला कोई भी क्यों न हो, वह परमात्मा से भिन्न है। दूसरा यह कि केवल ज्ञान से ब्रह्मत्व प्राप्त नहीं होता। इसके साथ योग का अभ्यास करना आवश्यक है। यह ठीक है कि योगाभ्यास से भी ज्ञान-उपलब्धि होती है, परन्तु

अभ्यास ज्ञान से पृथक् बात है। उपासना अर्थात् योगाभ्यास कर्म है। यह ही ज्ञान को प्राप्त कराता है।

तैत्तिरीय २-९ से एक बात और विदित होती है। वह यह कि पाप-पुण्य का मोक्षात्मा को स्पर्श होता है, परन्तु प्रभाव नहीं होता। अभिप्राय यह कि ब्रह्म-लीन आत्मायें भी पाप-पुण्य कर्म करती हैं, परन्तु निर्लेप भाव से।

विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात् ॥१३॥

विकार शब्दात्+न+इति+चेत्+न+प्राचुर्यात्।

विकार वाचक (मय शब्द) का प्रयोग नहीं। यदि नहीं तो क्या है? यह तो प्राचुर्यता का अर्थवाचक है।

पूर्व के सूत्र में 'आनन्दमय' का अर्थ आनन्दवत् नहीं है। मय शब्द से ऐसा अर्थ लिया जाता है, परन्तु सूत्रकार कहता है कि यह नहीं। यहाँ (पूर्व सूत्र में) मय प्राचुर्यता अर्थात् परिपूर्णता का वाचक है।

पूर्व सूत्र का अभिप्राय है उपासना के अभ्यास से (जीवात्मा) आनन्दमय हो जाता है। आनन्दमय का अर्थ लिया है अतिशय आनन्द (अर्थात् परमात्मा) से जुष्ट हो जाता है।

पूर्व पक्ष वाले ने यह समझा है कि परमात्मा को आनन्दमय लिखा है। अर्थात् वह आनन्दवत् है। सूत्रकार कहता है कि यह बात गलत है। सूत्र में मय शब्द का अर्थ आनन्द से परिपूर्णता लेना चाहिये।

एक बात विचारणीय है कि ब्रह्मसूत्रों की व्याख्या में कुछ भाष्यकार यह आवश्यक मानते हैं कि किसी उपनिषद् वाक्य का उद्धरण देना चाहिये। चाहे इस उद्धरण की संगति वहाँ बैठे अथवा न बैठे।

यह स्वभाव इस कारण बना है कि स्वामी शंकराचार्य के प्रचण्ड प्रचार के कारण यह विख्यात हो गया है कि ब्रह्मसूत्र तो वेदान्त वाक्यों को सूत्रवत् पिरोने के लिये हैं। अतः सूत्र के साथ वेदान्त वाक्य अवश्य देने चाहियें। उनकी दृष्टि में वेदान्त का अर्थ उपनिषद् है। यह सब भ्रम स्वामी शंकराचार्य का फैलाया हुआ है और जो लोग अपनी बुद्धि का प्रयोग नहीं करते, वे सूत्र में निहित युक्ति को प्रकट तो कर नहीं सकते और अपनी बात को उपनिषद् वाक्य से सिद्ध करने लगते हैं।

वास्तव में सूत्र उपनिषद् वाक्यों अथवा वेद में अध्यात्म वाक्यों से सर्वथा पृथक् हैं। ये स्वतः युक्ति पर आधारित हैं। यह वेदादि शास्त्रों की श्रेष्ठता है

कि जो कुछ दर्शनशास्त्र युक्ति से सिद्ध करते हैं, वह वेदादि शास्त्रों में भी मिलता है।

इस सन्दर्भ में हम श्री ब्रह्म मुनि के भाष्य का उदाहरण देना चाहते हैं। इसी सूत्र की व्याख्या में आप अष्टाध्यायी का एक सूत्र (४-३) देकर यह कहते हैं कि—

"प्रकृति नाम की जड़ वस्तु आनन्द शब्द से कही जाती है। उसका विकार आनन्दमय हो सकता है। आनन्द प्रकृति है। जैसे 'आनन्दमयो ह्यानन्दभुक्चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः (माण्डूक्य-५)। यहाँ आनन्द भुक् आनन्द प्रकृति नामक वस्तु का भोक्ता भक्षक अर्थात् फल पिता पालक है।"

हमारा यह कहना है कि अष्टाध्यायी में कुछ भी लिखा हो। वह वेदान्त ग्रन्थ नहीं, परन्तु माण्डूक्य-५ में यह नहीं लिखा कि प्रकृति आनन्द का नाम है।

माण्डूक्य उपनिषद् में ब्रह्माण्ड की चार अवस्थायें लिखी हैं। उस ब्रह्माण्ड में परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति तीनों अव्यक्त रूप में रहते हैं। इसकी प्रथम अवस्था है जाग्रत। जब जगत् बन जाता है, जगत् कार्य करता है। यह ब्रह्म-दिन की अवस्था कहलाती है।

दूसरी अवस्था है स्वप्न अवस्था। इसमें परमात्मा अन्तः प्रज्ञः होता है। अर्थात् उसका ज्ञान अन्तर्मुखी होता है। यह उषा काल अर्थात् जगत् उत्पत्ति से पूर्व का काल कहा जा सकता है।

तीसरी अवस्था 'माण्डूक्य-५' में वर्णित है। वहाँ लिखा है—

यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते, न कंचन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः।

(यत्र सुप्तो) जिस सोयी अवस्था में जीवात्मा (न कंचन कामं कामयते) कुछ भी कामना नहीं करता; (न कंचन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्) न कुछ भी स्वप्न देखता है, ऐसी सुषुप्ति अवस्था होती है। (सुषुप्त स्थान एकीभूतः) उस सोये स्थान में एक हो जाते हैं। (कौन एक हो जाते हैं? प्रकृति, जीवात्मा तथा परमात्मा) अर्थात् तीनों घुल-मिल जाते हैं। (प्रज्ञानघन) जीवात्मा बुद्धि युक्त और परमात्मा (आनन्दमयो) आनन्द से परिपूर्ण (आनन्दभुक्) आनन्द का भोग करने वाला। (चेतोमुखः) चैतन्य स्वरूप की (प्राज्ञस्तृतीयः पादः) प्राज्ञवान यह तीसरी स्थिति है।

यह उपनिषद् परमात्मा के विषय में ही लिखा गया है। चार स्थितियाँ तो ब्रह्माण्ड की हैं, परन्तु परमात्मा उनको उत्पन्न करने वाला है। यह हम इस कारण कहते हैं कि इसी उपनिषद् के प्रथम मन्त्र में लिखा है—

ओमित्येतदक्षरमिदꣳ सर्वं तस्योपव्याख्यानं···

'ओं' यह अक्षर ही सब-कुछ है और यहाँ उसी का वर्णन है। माण्डूक्योपनिषद् को शंकर-पंथी वेदान्त का स्रोत मानते हैं। इस विषय पर हम आगे चलकर लिखेंगे। यहाँ हमारा केवल मात्र इतने से प्रयोजन है कि स्वामी ब्रह्म मुनिजी का कथन कि इस (माण्डूक्य-५) में प्रकृति का आनन्दमय होना लिखा है, यह उपयुक्त नहीं है। आनन्दमय तो परमात्मा ही है।

आनन्दमय वह स्थान है, जहाँ गुहा में जीवात्मा और परमात्मा का साक्षात्कार होता है। जब साक्षात्कार होता है तो, यहाँ कहा है कि 'एकीभूतः प्रज्ञानघन'। प्रज्ञानघन जीवात्मा को कहा है। वह आनन्दमय कोष में जाने से पहले विज्ञानमय कोष में होता है। वहाँ रहने वाले जीवात्मा को प्रज्ञानघन कहा है। वह प्रज्ञानघन जीवात्मा आनन्दमय कोष में उपस्थित 'ओमित्येतदक्षरमिदं' अक्षर ओं से एकीभूत हो जाता है। इसे ही जुष्ट होना कहते हैं। एकीभूत का अर्थ है मिश्री की भाँति जल में घुल जाना।

इस सूत्र (ब्र० सू० १-१-१३) का अभिप्राय है कि आनन्दमय का अर्थ आनन्दवत् नहीं हैं वरन् आनन्द की प्राचुर्यता से युक्त है। 'मय' प्रत्यय प्राचुर्यता के अर्थों में समझना चाहिये।

तद्धेतुव्यपदेशाच्च ॥१४॥

तत्+हेतु+व्यपदेशात्+च।

और इसमें हेतु के उपदेश (कथन) से।

पूर्वोक्त (१-१-१२) सूत्र में लिखा है कि वार-वार अभ्यास करने से आनन्दमय हो जाता है। इस सूत्र में लिखा है कि परमात्मा तो आनन्दमय है ही। उसके आनन्दमय होने में हेतु नहीं। अतः हेतु यह है कि जो पहले आनन्दमय नहीं, वह आनन्दमय हो। अतः अभ्यास करने से परमात्मा का आनन्दमय होने की बात नहीं। यह जीवात्मा के विषय में है।

इस सूत्र में यह कहा है कि आनन्दमय होने में हेतु के कथन को समझ लेना चाहिये। अभिप्राय यह कि परमात्मा के अतिरिक्त कोई है जो आनन्दमय होना चाहता है। उसे ही आनन्दमय करने के हेतु अभ्यास की योजना है।

मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते ।।१५।।

मान्त्रवर्णिकम्+एव+च+गीयते ।

मन्त्रों में वर्णित अर्थात् प्रतिपादित भी है और गाया भी गया है ।

यहाँ दर्शनाचार्य ने युक्ति से सिद्ध की गई बात को कहा है कि वेदों में भी ऐसा ही प्रतिपादित है और गाया गया है ।

युक्ति से क्या सिद्ध किया है ? वह यह कि जीवात्मा जब परमात्मा से युक्त होता है तो वह आनन्दित हो जाता है । यह इसलिये कि परमात्मा आनन्द-मय है और उसका आनन्दमय होना हेतुमय है । हेतु है दूसरों (जीवात्माओं) को आनन्दित करना ।

दर्शनाचार्य कहता है कि वेदमन्त्रों में भी इसी प्रकार गाया गया है ।

वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम् ।
तस्मिन्निद ँ सञ्च वि चैति सर्वं ँ सऽओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु ।।
(यजु० ३२-८)

(वेन:) मेधावी विद्वान् (पश्यत्) देखते हैं, (सत्) उसे (निहितं गुहा) गुहा में स्थित । कैसा देखते हैं ? (सत् यत्र विश्वम् भवति एकनीडम्) वह सत् स्वरूप अर्थात् अक्षर है, जिसमें सम्पूर्ण विश्व (जगत्) एक घोंसले की भाँति टिका है। (तस्मिन् इदम्) उसमें यह जगत् (सम् एति च वि एति च) मिल जाता है और जिससे यह प्रकट हो जाता है । (स ओत: प्रोतश्च विभु: प्रजासु) वह विभु एक रस व्यापक प्रजाओं अर्थात् सृष्टि के पदार्थों में ओत-प्रोत है ।

अनेकों वेद-मन्त्र दर्शनाचार्य द्वारा कही बात को सिद्ध करने के लिये उदा-हरण के रूप दिये जा सकते हैं । एक अन्य मन्त्र इस प्रकार है—

कस्त्वा सत्यो मदानां मंहिष्ठो मत्सदन्धसः ।
दृळहा　　चिदारुजे　　वसु ।।
(ऋ० ४-३१-२)

अर्थात्—(क: त्वा) वह कौन है (सत्यो मदानां मंहिष्ठ:) सत्य पुरुषों को आनन्दित करने वाला और उन पर कृपा करने वाला । (मत्सत्) हमें आनन्द से युक्त करता है। (दृळहा वसु अरुजे चित्) जो दृढ़ है, धन-धान्य प्राप्त कराता है और चैतन्यता प्रदान करता है । वह सत्य स्वरूप परमात्मा है ।

अथर्व वेद का एक मन्त्र है—

परि विश्वा भुवनान्यायमृतस्य तन्तुं विततं दृशे कम् ।
यत्र देवा अमृतमानशानाः समाने योनावध्यैरयन्त ।।
(अथर्व० २-१-५)

(परि विश्वा भुवनानि) विश्व के सब नक्षत्रादि से परे अर्थात् सूक्ष्म में अथवा त्याग कर (आयम् ऋतस्य तन्तु विततं दृशे) आया हूँ सत्य नियमों के ताँतों को जो विस्तृत है और दुख:कर। (समाने योनौ वस् एरयन्त) समान योनियों अर्थात् उद्गम स्थानों में विचरते हुए (यत्र देवा) जहाँ देवा अर्थात् दिव्य गुण युक्त योगी जन (अमृतम् अनशाना:) अमृत के आनन्द को भोगते हैं।

स्वामी शंकराचार्य ने भी इस सूत्र के ऐसे ही अर्थ किये हैं। जो विशेष बात स्वामीजी ने की है, वह यह कि इस सूत्र के भाष्य में भी संहिताओं (ऋक्, यजु, साम तथा अथर्व) का प्रमाण नहीं दिया। यद्यपि सूत्र में स्पष्ट मन्त्र का शब्द है, परन्तु स्वामीजी के विचार में मन्त्र केवल उपनिषद् ग्रंथों में ही हैं।

यह आर्ष ग्रन्थों की परम्परा में है कि ऋक्, यजु, साम तथा अथर्व ईश्वरीय ज्ञान है और उपनिषदादि ग्रंथ ऋषियों तथा मुनियों के वचन हैं। ऋचायें (ऋक्, यजु, साम तथा अथर्व) ईश्वरीय वाणी हैं। यह सर्वत्र माना गया है।

उदाहरण के रूप में अथर्व वेद में ही इस प्रकार कहा गया है—

यस्माद्दचो अपातक्षन्यजुर्यस्मादपाकषन्। सामानि यस्य
लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखं स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥

(अथर्व० १०-७-२०)

जिससे ऋक् वेद प्रकट हुआ; जिससे यजु: वेद कहा गया; जिसके लोम साम वेद हैं और जिसके जीवन का रस अर्थात् सार अथर्व वेद है; उसे स्कम्भ अर्थात् पूर्ण सृष्टि का आश्रय कहा है। वह अत्यन्त सुखमय है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में इस प्रकार कहा है—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥

(श्वे० उ० ६-१८)

अर्थ है—जिसने सबसे आरम्भ में ब्रह्मा को उत्पन्न किया और जिसने उसके लिये वेदों को कहा है, उस देव को जो मेरी बुद्धि को प्रकाशित कर रहा है, मैं मुमुक्ष उसीकी शरण में आता हूँ।

मनुस्मृति में भी यही बात लिखी है—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्॥

(मनु० १-२३)

अर्थ है—उस सनातन ब्रह्म (परमात्मा) ने अग्नि, वायु, आदित्य से तीन (ऋक्, यजु: साम) वेद उत्पन्न किये यज्ञ की सिद्धि के लिये। अर्थात् इस लोक

में मानव कल्याण के लिये ।

मन्त्र वेद वाक्यों को कहते हैं। दर्शनाचार्य का यही कहना था कि युक्ति से कही बात वेदों में भी कही और गायी गयी है, परन्तु स्वामीजी वेद प्रमाण छोड़ कर अन्य ग्रन्थों का, जो मनुष्यकृत हैं, प्रमाण दे रहे हैं।

अतः यहाँ सन्देह करने में पर्याप्त स्थान है कि स्वामी शंकराचार्य का ज्ञान वेद तक नहीं था और वे जो कुछ वेदों के विषय में कह गये हैं, वह उस काल में सुनी-सुनाई बात थी।

नेतरोऽनुपपत्तेः ॥१६॥

न+इतरः=अनुपपत्तेः ।

किसी दूसरे में (आनन्दमयता) नहीं। क्योंकि इस (आनन्द) की (उपपत्ति) दृष्टिगोचर नहीं होती।

इस सूत्र में दो शब्द व्याख्या के योग्य हैं। एक 'इतरः' है। इसके अर्थ हैं कोई दूसरा। दूसरा किससे ? जिसका उल्लेख ऊपर किया जा रहा है। अर्थात् परमात्मा से दूसरा।

हमारा मत है कि सूत्र (१-१-२,३,४) तो त्रिविधं ब्रह्म के सम्बन्ध में हैं। अन्य आचार्य ब्रह्म को त्रिविधं नहीं मानते। उनकी दृष्टि में ब्रह्म का अर्थ परमात्मा मात्र है।

स्वामी शंकराचार्य तो परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कोई पदार्थ मानते ही नहीं। वह ब्रह्म के अर्थ केवल परमात्मा करते हैं और ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई सत् पदार्थ मानते ही नहीं। इस बात का हम खण्डन कर चुके हैं। इसके साथ ही, यदि वहाँ ब्रह्म में प्रकृति और जीवात्मा को भी सम्मिलित कर लें तो हमारा मत मानने से अनेक स्थानों पर उपनिषद् के अर्थ स्पष्ट हो जाते हैं। जीवात्मा और प्रकृति के अनादि होने के प्रमाण भी हम दे चुके हैं। युक्ति भी इसी बात को मानती है।

इन सूत्रों में ब्रह्म केवल परमात्मा मानें अथवा प्रकृति और जीवात्मा भी मानें, यह अपने-अपने मन की बात है। हमने क्यों त्रिविधं ब्रह्म को इन सूत्रों में ला बैठाया है, यह हमने इन सूत्रों की व्याख्या में बताया है।

सूत्र १-१-५ से १-१-१५ तक में उस ब्रह्म का उल्लेख है जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापक है। यहाँ जीव और प्रकृति का उल्लेख नहीं, परन्तु इन सूत्रों से जीवात्मा तथा प्रकृति की असिद्धि प्रतीत नहीं होती।

अब 'न+इतरः' शब्द से पुनः चेतन परमात्मा को ही आनन्दमय बताते हुए लिखा है कि अन्य ऐसा कोई नहीं।

इससे चेतन परमात्मा के अतिरिक्त किसी अन्य की उपस्थिति का संकेत मिलता है। परमात्मा के अतिरिक्त कोई है जो आनन्दमय नहीं।

सूत्र में दूसरा शब्द है उपपत्ति। इसके अर्थ बहुत विस्तृत हैं। मोनियर विलियम इसके अर्थ इस प्रकार लिखते हैं—

उपपत्ति—

happening, occuring, becoming visible, appearing, taking place, production, effecting, accomplishing.

अर्थों की एक दूसरी श्रेणी भी है—

proving of right, resulting, cause, reason, ascertained as demolished conclusion, proof, evidence, arguement.

आगे लिखा है कि वेदान्त में इस शब्द के अर्थ हैं—

fitness, propriety, possibility.

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि अनुपपत्ति के कौन-से अर्थ उक्त सूत्र में लिये जायँ?

श्री ब्रह्म मुनि 'अनुपपत्तेः' से अर्थ लेते हैं अयुक्तता अर्थात् युक्ति से रहित होने के।

श्री उदयवीर शास्त्री इसके अर्थ लिखते हैं 'उपपाद' न किये जाने से। ब्रह्म से अन्य जीवात्मा आनन्दमय नहीं; क्योंकि (उपपत्ति) युक्ति द्वारा उनका प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। आप यह भी लिखते हैं—

उपपत्ति के अर्थ युक्ति सहित प्रमाण के ही मानने चाहिएँ।

श्री स्वामी शंकराचार्य द्वारा किया गया अर्थ और उस पर विवेचना पृथक् लिखेंगे।

उक्त दो आचार्यों के कथन से यह प्रतीत होता है कि कि उपपत्ति का अर्थ युक्ति तो है ही, साथ ही प्रमाण भी हो सकता है। कोषकार ने happening, occuring अर्थात् (शास्त्र में) होना अथवा आना लिखे हैं।

हमारा मत है कि यहाँ भी, इससे पूर्व के सूत्र की भाँति युक्ति से अर्थ नहीं। जैसे पूर्व के सूत्र में लिखा है कि मन्त्रों (संहिताओं) में परमात्मा को आनन्द स्वरूप लिखा है, वैसे ही इस सूत्र में यह लिखा है कि शास्त्र में प्रमाण न होने से यह सिद्ध है कि दूसरा आनन्दमय नहीं है।

अन्य शास्त्रों के प्रमाण हम आगे चलकर लिखेंगे। यहाँ हम स्वामीजी का इस सूत्र पर अभिमत लिख देना चाहते हैं। स्वामीजी ने लिखा है—

इतश्चानन्दमयः पर एवात्मा। नेतरः। इतर ईश्वरादन्यः संसारी जीव

इत्यर्थः। न जीव आनन्दमयशब्देनाभिधीयते। कस्मात्? अनुपपत्तेः। आनन्दमयं हि प्रकृत्य श्रूयते—'सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा। इदꣳसर्वमसृजत। यदिदं किञ्च' (तै० २-६) इति। तत्र प्राक्शरीराद्युत्पत्तेरभिध्यानं, सृज्यमानानां च विकाराणां स्रष्टुरव्यतिरेकः, सर्वविकारसृष्टिश्च न परस्मादात्मनोऽन्यत्रोपपद्यते॥

अर्थात्—और इस कारण भी कि आनन्दमय परमात्मा ही है, इतर नहीं। इतर का अर्थ है कि ईश्वर से अन्य संसारी जीव। आनन्दमय शब्द से जीव का अभिधान नहीं है; क्योंकि उसमें आनन्दमयत्व की उपपत्ति नहीं है। आनन्दमय को प्रस्तुत कर उसने कामना की कि मैं बहुत प्रजाओं में हो जाऊँ। सो उसने तप किया और तपस्या करने से यह सब सृजन किया। ऐसी श्रुति है (तैत्ति० २-६)। वहाँ (इस श्रुति में) शरीरादि की उत्पत्ति से पहले कामना, सृजमान विकारों का सृष्टा से अव्यतिरेकता (अभेद) एवं सब विकारों की सृष्टि, परमात्मा के अन्य से उत्पन्न नहीं होती।

यहाँ स्वामीजी ने जो कुछ लिखा है, वह कुछ भी सूत्र में नहीं है। न ही सूत्र में लिखी बात को सिद्ध करता है। सब कुछ असंगत है।

यह तो ठीक है कि परमात्मा के अतिरिक्त अन्य आनन्दमय नहीं, परन्तु इसे न तो युक्ति से सिद्ध किया है और न ही प्रमाण से।

आपने प्रमाण दिया है (तैत्तिरीय २-६) सोऽकामयत्।

इस उद्धरण का अर्थ, हम तैत्तिरीय ब्रह्मवल्ली का अभिप्राय लिखते हुए वर्णन कर आये हैं। वहाँ हमने लिखा है कि पाँच कोषों में रहने वाला जब परमात्मा से जुष्ट होता है तो वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है। कोषों में रहने वाला और परमात्मा से जुष्ट होने वाला परमात्मा से भिन्न है। उसे भी सत् (अक्षर) माना है। वह प्राणी नहीं हो सकता।

स्वामी शंकराचार्य लिखते हैं कि इतर से जीव (संसारी जीव अर्थात् शरीर-धारी मनुष्य) माना है। यह मनुष्य सत् नहीं है। शरीर क्षर है। अतः शरीर में आत्मा ही अक्षर है। इसलिए इतर से अर्थ मनुष्य नहीं, वरन् जीवात्मा ही है।

सबसे विचित्र बात यह है कि स्वामी शंकराचार्यजी कहते हैं कि परमात्मा आनन्दमय है; क्योंकि लिखा है कि उसने कामना की कि प्रजाओं को उत्पन्न करूँ और अनेक प्रजाओं की सृष्टि करता है। भला प्रजाओं की सृष्टि करने से उसके आनन्दमय होने का सम्बन्ध है क्या? बुद्धि इन दो बातों (प्रजाओं के उत्पन्न करने और आनन्दमय होने) में किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं देखती। इस कारण हम कहते हैं कि स्वामीजी ने सूत्र का भाष्य करते हुए जो (तैत्ति० २-६) उद्धरण दिया है, वह असंगत है।

सबसे प्रबल प्रमाण है कि तैत्ति० २-७ में जीवात्मा का उल्लेख है, परमात्मा का नहीं। यह उसी में लिखे से सिद्ध होता है। इसका अर्थ और अभिप्राय हम ऊपर लिख आये हैं। वह इस प्रकार है :—

असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायते।
तदात्मानं स्वयमकुरुत। तास्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति।

यह पहले असत् (शरीरधारी क्षर) था। तब वह सत् (अक्षर) हो गया। वह आत्मा स्वयंभुः हुआ। इस होने से उसे सुकृत कहते हैं।

अर्थात्—शरीर छोड़कर अक्षर हो जाने को सुकृत माना है। इससे परमात्मा में लीन होने का अवसर होता है। जिसे इस वल्ली के आरम्भ में 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' लिखा है।

आगे इसी अनुवाक में लिखा है—

यद्वै तत्सुकृतम् रसो वै सः रस ँ ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।

वह जब सुकृत हुआ, उसका रस (सार) ही है। रस प्राप्त होने पर वह आनन्दयुक्त हो जाता है।

बात स्पष्ट है कि जब ब्रह्मवेत्ता शरीर छोड़कर शुद्ध, निर्मल, अक्षर जीवात्मा रह जाता है, तब वह सुकृत है। यह सुकृत किया हुआ जीवात्मा ही आनन्दमय कहलाता है। निस्सन्देह यह परमात्मा नहीं वरन् जीवात्मा है जो शरीर त्याग कर परमात्मा में लीन हो जाता है।

अतः उक्त सूत्र का अभिप्राय यह है कि आनन्दमय परमात्मा ही है, जीवात्मा नहीं है। इतर आनन्दमय नहीं, शास्त्र-प्रमाण न होने से।

भेदव्यपदेशाच्च ॥१७॥

भेदव्यपदेशात्+च।

और भेद बताने से भी।

अभिप्राय यह कि जहाँ-जहाँ शास्त्र में परमात्मा को आनन्दमय बताया है, वहाँ उसे (जीवात्मा से) पृथक् बताया है।

उक्त उदाहरण में भी ऐसा ही प्रकट होता है कि आत्मा सन्तान उत्पन्न करता है। पहले रेतस् से शरीर निर्माण होता है; फिर कोई जीवात्मा उसमें जा बैठता है। यही भेद है।

ऋग्वेद १-१६४-२० में इसका उल्लेख है। श्वेताश्वतर १-६,७ में और १-९ में भी इसका उल्लेख है।

जीवात्मा और परमात्मा में भेद युक्ति से भी सूत्रकार ने बताया है। इसे अगले सूत्र में देखिये।

कामाच्च नानुमानापेक्षा ॥१८॥

कामात्+च+न+अनुमान+अपेक्षा।

अनुमान की अपेक्षा नहीं।

अर्थात्—अनुमान से भी (आत्मा और परमात्मा में) भेद प्रकट होता है, जीवात्मा का आनन्द की कामना रखने से। कामना वही करता है, जिसके पास इच्छित वस्तु नहीं होती। जीवात्मा आनन्द की कामना करता है। अर्थात् वह आनन्दमय नहीं है।

यह कहा जाता है कि आत्मा सुख की उपलब्धि चाहती है, आनन्द की नहीं। कामना सुख की होती है।

उपनिषद्कार (तैत्तिरीय) ब्रह्म वल्ली के आठवें अनुवाक में लिखता है—

सैषानन्दस्य मीमांसा भवति। युवा स्यात्साधुयुवाध्यायक आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठस्तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्। स एको मानुष आनन्दः।

यह उस आनन्द पर विचार है (अर्थात् वर्णन है)। मनुष्य युवा हो श्रेष्ठ एवं पठित हो शिष्ठतायुक्त, सुदृढ़ और बलवान् हो। उसके पास धन इतना हो कि पृथिवी भर जाये। यह मानुषी आनन्द है।

अभिप्राय यह कि यह सुख है। यौवन, शिष्ठता, लम्बी आयु, विद्वत्ता, पुरुषार्थ, शिक्षा और अतुल धनराशि, इनकी प्राप्ति से मानवी आनन्द मिलता है।

मानवी आनन्द और ईश्वरीय आनन्द में अन्तर मात्रा में है। यह कहा है कि मानवी आनन्द से सौ गुणा अधिक गान्धर्व आनन्द है। इससे सौ गुणा अधिक देव गान्धर्व आनन्द होता है। देव गान्धर्व से सौ गुणा अधिक आनन्द पितरों का है। उससे सौ गुणा अधिक ज्ञानज देवताओं का आनन्द है। इनसे कर्म करने वाले देवों का आनन्द है।

इसी प्रकार देवों से इन्द्र का, इन्द्र से बृहस्पति का, बृहस्पति से प्रजापति का और प्रजापति से ब्रह्म का आनन्द सौ-सौ गुणा अधिक बताया है।

इस सबका अर्थ यह है कि मानवी आनन्द (सुख) भी उसी श्रेणी का है, जिस श्रेणी के अन्य आनन्द हैं। अन्तर मात्रा में है। ब्रह्मानन्द मानवी-आनन्द से

करोड़ों गुणा अधिक है।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि 'चाकामइत्स्य' अर्थात् यह कामना रहित हो। निष्काम रहते हुए हो।

इसका अर्थ यह है कि मानवी आनन्द (सुख) भी कामना रहित हो, तब ही वह वास्तविक आनन्द है।

संक्षेप में, सुख भी जब निष्काम जीवन व्यतीत करते हुए मिले तो वह आनन्द है। यद्यपि ब्रह्मानन्द से बहुत कम है।

इसीलिये कहा है कि जीवात्मा आनन्द की कामना करता है। अर्थात् वह आनन्दमय नहीं है।

अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ॥१९॥

च+अस्मिन्+अस्य+तत्+योगं+शास्ति।

और इसमें उसका वह योग होता है। ऐसा शास्त्र में लिखा है।

'इसमें' का अभिप्राय है परमात्मा में। अस्य—जीवात्मा का; यह योग बताता है कि जीवात्मा आनन्दमय नहीं। जीवात्मा परमात्मा से योग की इच्छा करता है। ऐसा 'शास्ति' का अभिप्राय है अर्थात् शास्त्र में लिखा है।

इन (२ से १९) सूत्रों में ब्रह्म की स्थापना की गयी है। अभिप्राय यह कि ब्रह्म है। ऐसा मत प्रतिष्ठित किया गया है।

सूत्र संख्या दो, तीन और चार में यह बताया है कि ब्रह्म सत् है। वह अक्षर है। यह तीन प्रकार का है।

परन्तु तीनों में भेद भी है। उनमें पहला भेद चैतन्य और जड़ता में है। यह सूत्रकार ने सूत्र ५, ६, ७, ८, ९ और १० में वर्णन किया है। उनमें यह कहा है कि आत्म-तत्त्वों और जड़ तत्त्वों में अन्तर है।

सूत्र ११ में यह लिखा है कि जगत् के पदार्थों में समानता होने से जगत् का कर्त्ता एक ही है। इसके उपरान्त सूत्र १२, १३, १४, १५, १६, १७, १८ तथा १९ में आत्म तत्त्वों, अभिप्राय यह कि परमात्मा और जीवात्मा में अन्तर बताया है। युक्ति से भेद बताया है और फिर शास्त्र प्रमाण का भी उल्लेख किया है।

स्वामी शंकराचार्य की कठिनाई यह है कि उन्होंने एक मिथ्या अयुक्ति-युक्त मत पहले स्वीकार कर लिया कि परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कोई सत् (अनादि तथा अक्षर) नहीं, तब वह पूर्ण वेदान्त शास्त्र में ऐसी बातें लिखते चले

गये, जो सूत्रकार के मत के अनुकूल नहीं, सूत्रों में वर्णित भी नहीं और वैदिक शास्त्रों में भी उपलब्ध नहीं। ऐसा करने के लिये उनको अपना पूर्ण कथन अयुक्ति-युक्त बनाना पड़ा है।

स्वामी शंकराचार्य का सांख्य के प्रणेता कपिल से तथा वेद संहिताओं से विरोध भी इसी कारण है कि वे उनके मत का प्रतिपादन नहीं करते। स्वामीजी अपने मत का समर्थन उपनिषदों में ढूंढते हैं। वहाँ पर भी, जब और जहाँ उनके मत का स्पष्ट विरोध मिलता है, वह अर्थों में खींचातानी करने लगते हैं।

उदाहरण के रूप में तैत्तिरीय उपनिषद् की ब्रह्म वल्ली में स्पष्ट रूप में शरीर और जीवात्मा को आनन्दमय ब्रह्म से पृथक माना है। वहाँ लिखा है कि कि पाँच कोष हैं। अन्नमय, मनोमय, प्राणमय, विज्ञानमय और आनन्दमय। जिस-जिस कोष में जीवात्मा रहता है, वैसा ही वह हो जाता है। इसी उपनिषद् के सातवें अनुवाक में लिखा है—

यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते। अथ सोऽभयं गतो भवति।

(यदा) जब (ह्येवैष) ही यह (एतस्मिन्) इस (अदृश्य) अदृश्य में अभिप्राय अव्यक्त में (अनात्म्ये) अनात्म में अर्थात् जो (अनिरुक्त) अनिर्वचनीय है (अनिलयेन) आश्रय रहित है, वह (अभयं प्रतिष्ठां विन्दते) अभय अर्थात् स्थिर प्रतिष्ठा पा लेता है, (सो अभयं) वह अभय हो जाता है।

कौन अभय हो जाता है?

इसका उत्तर नहीं बना तो स्वामी शंकराचार्य अर्थों में खींचातानी करने लगे। 'सः' के अर्थ स्वामीजी ने अपने तैत्तिरीय उपनिषद् के भाष्य में साधक किये हैं। वहाँ वह प्रश्न उठाते हैं—

कदासावभयं गतो भवति? उसका स्वयं उत्तर देते हैं—**साधको यदा नान्यत्पश्यत्यात्मनि चान्तरं भेदं न कुरुते तदाभयं गतो भवतीत्यभिप्रायः।**

कब वह अभय गति वाला होता है? स्वामीजी कहते हैं, जब साधक अन्य कुछ नहीं देखता और अपने आत्मा में किसी प्रकार का अन्तर भेद नहीं करता, तब अभय गति का अभिप्राय है।'

स्वामीजी ने 'सः' का अर्थ विकृत कर साधक कर दिया। वेदादि शास्त्रों में जीवात्मा को साधक कहा है, परन्तु प्रश्न तो ज्यों-का-त्यों ही रहा कि साधक परमात्मा से पृथक् है। तभी तो वह अवस्था विशेष में अपने और उसमें अन्तर न देखकर अभय होता है। यह इस प्रकार है कि जब किसी स्वामी का सेवक स्वामी से अपने को अभिन्न मानता है तो स्वामी की रक्षा का आश्रय पा वह निर्भय हो जाता है। परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं हो जाता कि स्वामी और सेवक एक ही हैं।

साधक कहिए अथवा जीवात्मा, वह परमात्मा से भिन्न ही है और जब वह अपने को परमात्मा के आश्रय कर देता है तो वह निर्भय हो जाता है।

हमारा यह विचारित मत है कि स्वामी शंकराचार्य मिथ्या सिद्धान्त पर अपने ज्ञान को आधारित कर रहे हैं। होना यह चाहिये था कि सिद्धान्त ज्ञान पर आधारित होता। यदि कोई सिद्धान्त ज्ञान के विपरीत बन गया है तो सिद्धान्त का नवीकरण होना चाहिये था, न कि ज्ञान को विकृत कर मिथ्या सिद्धान्त का प्रतिपादन।

तैत्तिरीय उपनिषद् की ब्रह्म वल्ली का उद्धरण प्रस्तुत कर स्वामीजी ने भूल की है। कारण यह कि इस उद्धरण से स्वामीजी के मत का प्रतिपादन नहीं होता। यहाँ ब्रह्म को प्राप्त करने वाले को ब्रह्म से पृथक् माना है। उसे ब्रह्म को प्राप्त करने के लिये उन कोपों को छोड़ना पड़ता है जो अन्नमय, मनोमयः प्राण-मय और विज्ञानमय हैं और आनन्दमय कोष में प्रविष्ट होना पड़ता है। इसमें प्रविष्ट होकर वह उन कोषों में पूर्ण मानवी आनन्द को भी प्राप्त कर लेता है; क्योंकि उससे कई लक्ष्य गुणा अधिक आनन्द वह प्राप्त कर लेता है और इस (१-१-१६) सूत्र में सूत्रकार कहता है कि शास्त्र में भी यह वर्णन है कि आत्मा के परमात्मा से योग में आनन्द की प्राप्ति होती है।

श्री स्वामी शंकराचार्य ने उदाहरण इसी बात का दिया है, परन्तु इस सूत्र को और उसमें दिये उद्धरण को अपने सिद्धान्त 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव ना परः' के विपरीत देख इन दोनों के अर्थों में खींचातीनी कर दी है।

आचार्य उदयवीर शास्त्री ने अपने वेदान्त भाष्य में इस सूत्र की व्याख्या में स्वामीजी के इस (तैत्तिरीय ब्रह्म वल्ली) के उद्धरण के अर्थों को विकृत करने का विस्तार से खण्डन किया है।

स्वामीजी ने एक अन्य व्यर्थ का विवाद उत्पन्न कर दिया है। वह यह कि आनन्दमय ब्रह्म से पृथक् है। क्योंकि ब्रह्म को आनन्दमय का पुच्छ लिखा है। इस सब विवाद को अनावश्यक समझ हम यहाँ उसका विस्तृत उल्लेख नहीं कर रहे हैं।

हमारा केवल इतने मात्र से प्रयोजन है कि इस उद्धरण में जीव तथा ब्रह्म में पृथकता उल्लिखित है और स्वामीजी ने उसको छुपाने का यत्न किया है। होना यह चाहिये था कि वेद (संहिताओं) में से वह कोई प्रमाण देते जिससे यह सरलता से सिद्ध हो जाता कि सूत्र के अर्थों का समर्थन वेद में उपलब्ध है। यजुर्वेद में यह कहा है—

> परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च।
> उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश॥
>
> (यजु०—३२-११)

सब भूतों, सब लोकों, सब दिशाओं-प्रदिशाओं को जानकर अर्थात् ज्ञान

प्राप्त कर सत्य परमात्मा की प्रथम उत्पन्न वाणी का ज्ञान प्राप्त कर जीवात्मा परमात्मा में प्रवेश कर लेता है (अर्थात् उससे युक्त हो जाता है)।

इसी प्रकार ऋग्वेद में भी लिखा है :—

उत स्वया तन्वा संवदे तत्कदा न्वन्तर्वरुणं भुवानि।
किं मे हव्यमहृणानो जुषेत कदा मृलीकं सुमना अभि ख्यम् ॥
(ऋग्वेद ७-८६-२)

मैं अपनी इस देह से उसका कब साक्षात् करूँगा। कब मैं उसे वरण करने योग्य हृदय में होऊँगा, कब वह कोपरहित होकर मेरी प्रार्थना को स्वीकार करेगा और कब मैं शुभ-चित्त होकर उस परम आनन्दमय को प्राप्त करूँगा!

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ॥२०॥

अन्तः+तत्+धर्म+उपदेशात्।

अन्तस् में उपस्थित अर्थात् सबके भीतर व्यापक परमात्मा के धर्मों का वर्णन कर रहे हैं।

प्रथम १९ सूत्रों में त्रिविधं ब्रह्म के अस्तित्व की सिद्धि, अन्तर, परमात्मा की जड़ से विलक्षणता और अन्त में परमात्मा की जीवात्मा से विलक्षणता का वर्णन कर अब परमात्मा के धर्मों का वर्णन किया जा रहा है।

अन्तः शब्द से अभिप्राय है सबमें व्यापक और वह परमात्मा ही है। यह जीवात्मा नहीं हो सकता। कारण यह कि वह सबके भीतर व्यापक नहीं है। अतः परमेश्वर के ही धर्मों का वर्णन किया जा रहा है।

सूत्रकार अपने आशय को अगले सूत्र में स्पष्ट करता है।

भेदव्यपदेशाच्चान्य ॥२१॥

च+भेदव्यपदेशात्+अन्यः।

और व्यवहार में भेद से यह दूसरा है।

जिसको अन्तः कहा है वह जीवात्मा से व्यवहार में दूसरा है। अन्तः के धर्मों का वर्णन हो रहा है, जीवात्मा के नहीं। यहाँ स्पष्ट रूप में यह स्वीकार किया है कि परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कोई है, जिसके विषय में भूल की जा सकती है। इस कारण उसके धर्मों का उल्लेख हो रहा है।

आकाशस्तल्लिङ्गात् ॥२२॥

आकाश+तत्+लिङ्गात् ।

आकाश उसका लिङ्ग है ।

यहाँ आकाश शब्द से पांचभौतिक आकाश नहीं मानना चाहिए । उस आकाश की उत्पत्ति तो प्रधान से हुई है । (प्रधान से महत्, महत् से अहंकार, तदनन्तर अहंकार से पंच महाभूतों में आकाश)। वह परमात्मा का लक्षण नहीं हो सकता ।

वस्तुत: आकाश से यहाँ अभिप्राय है कि वह विस्तृत असीम अवकाश (space) जिसमें परमात्मा व्याप्त है । क्योंकि परमात्मा सर्वत्र व्याप्त है, इस कारण यह माना जाता है कि स्थान, जहाँ परमात्मा व्याप्त है, वह भी परमात्मा की भाँति अनन्त है । इसका अन्त नहीं । अत: परमात्मा और यह आकाश पर्यायवाचक माने जाते हैं । वस्तुत: आकाश तो स्थान है परमात्मा उसमें व्याप्त पदार्थ है । आकाश का कोई अंश परमात्मा के बिना नहीं । अत: आकाश परमात्मा का लिंग माना है ।

स्वामी शंकराचार्य ने यहाँ भी यह पूर्व पक्ष उठाया है कि आकाश शब्द से भूताकाश लेना चाहिए । पूर्व पक्ष में आकाश से भूताकाश लेने में युक्ति यह दी है कि यदि यह नहीं लेंगे तो आकाश शब्द अनेकार्थ वाचक हो जायेगा । साथ ही यह कहा है कि आकाश शब्द का अर्थ भूताकाश ही प्रसिद्ध है ।

यह पूर्व पक्ष की युक्ति थोथी है । संस्कृत भाषा तथा वैदिक भाषा में अनेक शब्द हैं जो अनेकार्थ वाचक हैं । साथ ही प्रसिद्ध अर्थ का अभिप्राय यह नहीं कि दूसरे अर्थ हैं ही नहीं । जहाँ जो अर्थ उपयुक्त लगें, वही लेने चाहिएँ । जो वस्तु हमारे समीप है और वार-बार हमारे प्रयोग में आती है, उसका नाम प्रसिद्ध हो जायेगा । इस पर भी दूसरी वस्तु भी है ।

परन्तु विस्मय तो यह है कि इस पूर्व पक्ष का उत्तर स्वामीजी अयुक्ति-संगत दे रहे हैं । स्वामीजी लिखते हैं—

प्राप्ते ब्रूमः—'आकाशस्तल्लिङ्गात्' आकाशशब्देन ब्रह्मणो ग्रहणं युक्तम् । कुतः ? तल्लिङ्गात् । परस्य हि ब्रह्मण इदं लिङ्गम्—'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते' इति । परस्माद्धि ब्रह्मणो भूतानामुत्पत्तिरिति वेदान्तेषु मर्यादा । ननु भूताकाशस्यापि वाय्वादिक्रमेण कारणत्वं दर्शितम् ।

अर्थात्—ऐसा (पूर्व पक्ष) प्राप्त होने पर हम कहते हैं । 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' में आकाश शब्द से ब्रह्म का ग्रहण करना युक्त है । क्योंकि उसका लिंग है । इसे परमात्मा का लिंग ग्रहण करने में 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते' प्रमाण है । परब्रह्म से ही भूतों की उत्पत्ति होती है, यह वेदान्तों में

मर्यादा है। साथ ही भूताकाश से ही वायु इत्यादि भूतों की क्रम से उत्पत्ति दिखाई है।

यह सब कुछ ठीक होते हुए भी पूर्व पक्ष का उत्तर नहीं। उत्तर तो यह है कि वेद और उपनिषद् में अनेकों शब्द हैं जो अनेकार्थ वाचक हैं। दूसरे यह कि विख्यात् और अविख्यात् होने से कोई अर्थ निःशेष नहीं हो जाता। यह है पूर्व पक्ष की युक्तियों का खण्डन। यदि पूर्व पक्ष वाला आपके वेद तथा उपनिषद् को प्रमाण न मानें तो क्या किया जायेगा ?

पूर्व पक्ष के उक्त खण्डन के उपरान्त पक्ष का समर्थन यह है कि भूताकाश प्रकृति की उपज है। साँख्य के अनुसार प्रकृति से महान्, महान् से अहंकार और अहंकारों से पंच महाभूत—ऐसा उत्पन्न हुआ वर्णन किया है।

प्रकृति से इन भूतों की उत्पत्ति के विषय में मनुस्मृति में लिखा है :—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥
ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम् ।
महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥ (मनु०—१-५, ६)

अर्थात्—यह सब कुछ तम में लीन, अज्ञात, चिह्नरहित, तर्क से परे, अविज्ञेय और सर्वत्र सोये हुए के समान था।

तब स्वयम्भू भगवान् जो अव्यक्त और अपरिमित शक्ति वाला तथा अन्धकार को दूर करने वाला है, उसने इस संसार को प्रकट करते हुए इन महाभूतादि को पैदा किया।

इससे भूत आकाश परमात्मा का लक्षण नहीं, वह परमात्मा से निर्मित पदार्थ है। आकाश के अतिरिक्त अन्य पदार्थ भी हैं। जब पंच महाभूत नहीं थे तब परमात्मा का एक लिंग नहीं रहा मानना होगा।

भूताकाश और परमात्मा के लिंग-आकाश में अन्तर है कि भूताकाश जगत् का एक अंश होने से सर्वव्यापक नहीं। यह सीमा वाला है और परमात्मा का लिंग आकाश असीम है।

स्वामी शंकराचार्यजी कहते हैं कि आकाश शेष चारों भूतों का उत्पत्ति स्थान है और परमात्मा भी सब कुछ का उत्पत्ति स्थान होने से आकाश उसका पर्यायवाचक है। यह युक्ति नहीं। यथा—बैल गोवंश का उत्पत्ति स्थान होने से और गधा गधा वंश का उत्पत्ति स्थान होने से पर्यायवाचक नहीं हो सकते। न ही मोहन का पुत्र गौतम और गौतम का पुत्र कृष्ण होने से मोहन और कृष्ण पर्यायवाचक हो सकते हैं।

ठीक बात को भी ठीक ढंग से न बता सकने का कारण है स्वामीजी को सांख्य दर्शन का ज्ञान न होना। स्वामीजी ने सांख्य के प्रणेता कपिल मुनि को

अनीश्वरवादी माना है। इस सबसे यही सिद्ध होता है कि स्वामीजी को जैसे ऋक् आदि वेदों का ज्ञान नहीं था, वैसे ही सांख्य का ज्ञान भी नहीं था।

इस स्थान पर इतना लिख देना उचित है कि इस सूत्र के भाष्य में स्वामी शंकराचार्य ने एक वेद मन्त्र का उद्धरण भी दिया है। मन्त्र है—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त समासते।।

(ऋ०—१-१६४-३९)

यहाँ व्योम शब्द परमात्मा का वाचक है। इस मन्त्र के अर्थ हैं—वेद मन्त्रों में वर्णन किये गए परम-व्योम (परमात्मा) में सब नक्षत्रादि विश्व-देवता स्थित हैं। जो उस परमात्मा को नहीं जानता, वह वेद के अर्थ को क्या समझेगा ? जो उसका सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर उपासना करता है, वह ही विद्वान् समझा जाता है।

यह एक (कदाचित् एक आध और ही) वेद का उद्धरण स्वामीजी के लेखों में दिखाई दिया है। जहाँ सूत्र १-१-१५ में 'मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते' मन्त्र में लिखा होने पर भी वेद मन्त्र से कोई प्रमाण नहीं दिया जा सका।

सूत्र का अर्थ है कि आकाश परमात्मा का लिंग है। लिंग का अर्थ गुण नहीं। जैसे अग्नि का लिंग धुआं है; अर्थात् धुएँ से अग्नि का ज्ञान होता है। इसी प्रकार आकाश के सर्वत्र होने से सर्वव्यापक परमात्मा का ज्ञान होता है। आकाश परमात्मा का लक्षण है।

अत एव प्राणः ।।२३।।

इसी प्रकार प्राण भी परमात्मा का लक्षण है।

प्राण का अर्थ है, गति उत्पन्न करने वाला। कार्य करने की सामर्थ्य को प्राण कहते हैं। परमात्मा से कार्य जगत् की उत्पत्ति हुई है। अतः यह कार्य करने की सामर्थ्य रखता है।

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम्।।

(अथर्व—११-४-१)

जिसके प्राण (सामर्थ्य) से यह सब जगत् वश में है, जो सब भूतों (प्राणियों) का ईश्वर (रचने वाला) है, जिसमें सब प्रतिष्ठित हैं, उस प्राण भूत (परमात्मा) को नमस्कार हो।

और भी—

यदिदं किंच जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥
(कठो० २-३-२)

जो कुछ यह सब विस्तृत जगत् है (प्राण एजति) प्राण से क्रियावान् हो रहा है, वह महान् भय, उठे हुए, वज्र के समान है। जो इसे जानते हैं वे अमर हो जाते हैं।

अतः प्राण का अर्थ कर्म करने का सामर्थ्य है। परमात्मा परम सामर्थ्य-वान् है। इस कारण प्राण उसका लिंग है। वास्तव में सब प्राकृतिक-पदार्थों में और जीवों के शरीर में भी कार्य करने का सामर्थ्य उस परमात्मा का ही माना जाता है। इस कारण जीवों को भी प्राणी माना है। प्राण के अर्थ साँस लेने तथा छोड़ने वाला वायु नहीं। यह वायु प्राणरूपी सामर्थ्य से चलता है; इस कारण इसे भी प्राण कहा है।

सब प्राकृतिक पदार्थ तथा जीवों के शरीर भी प्राण से कार्य करते हैं और वह प्राण भी ईश्वर के सामर्थ्य का ही सूचक है। ईश्वर का सामर्थ्य (प्राण) कैसे प्राकृतिक पदार्थों में काम करता है? यह प्रश्न है। यह कहा जाता है कि प्रकृति अपने गुणों के बल पर कार्य करती है।

यह ठीक है, परन्तु गुणों का बल भी तो परमात्मा के बल से ही प्रकट हुआ है। यह सांख्य-सिद्धान्त है कि प्रकृति के प्रत्येक कण (परमाणु) में तीन गुणों (सत्त्व, रजस् तथा तमस्) साम्यावस्था में विद्यमान रहते हैं। प्रकृति गुणों की परस्पर सन्तुलित अवस्था है। इनका सन्तुलन परमात्मा के सामर्थ्य से ही टूटता है। सन्तुलन के न होने से ही गुण, कार्य करने लगते हैं। इनका कार्य तब तक चल सकता है, जब तक इनका सन्तुलन टूटा रहता है। परमात्मा ही प्रकृति के परमाणु अन्तर्गत गुणों को पुनः सन्तुलित करने का सामर्थ्य रखता है। अतः वह ही सब चराचर पदार्थों में कार्य का सामर्थ्य देने वाला है।

अतएव प्राण परमात्मा का लक्षण है। इसे परमात्मा का स्वरूप भी कहते हैं।

ज्योतिश्चरणाभिनात् ॥२४॥

ज्योतिः+चरणाभिधानात् ।

छन्दों में ज्योति भी परमात्मा का लक्षण माना है ।

ज्योति का अर्थ प्रकाश एवं ज्ञान है । चरणों में अर्थात् वेद-छन्दों में लिखा गया ज्योतिः शब्द परमात्मा का लक्षण स्वरूप है ।

जैसे आकाश परमात्मा नहीं । आकाश परमात्मा का निवास स्थान होने से परमात्मा का लक्षण होता है; इसी प्रकार प्राण परमात्मा नहीं । परमात्मा का सामर्थ्य परमात्मा का लक्षण (चिह्न) है । अतः प्राण परमात्मा का लक्षण है । इसी प्रकार ज्योतिः परमात्मा नहीं है, परन्तु ज्योति सदा और सर्वत्र परमात्मा के कारण विद्यमान होने से परमात्मा का लक्षण है ।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि सूत्रकार परमात्मा के लक्षण बता रहा है ।

उदाहरण के रूप में वेद मन्त्र है—

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

(यजु०—३४-१)

जागते हुए देव (आत्मा) का (मन) दूर आता जाता है और उस देव (आत्मा) के सोये हुए का (मन) भी वैसा ही करता है । अभिप्राय यह कि जागते अथवा सोये आत्मा का मन भटकता रहता है । वह दूर स्थित ज्योति वालों में ज्योति वाला एक मात्र मेरा मन शुभ संकल्प वाला हो ।

और भी देखिये—

अयं होता प्रथमः पश्येतममिदं ज्योतिरमृतं मर्त्येषु ।
अयं स जज्ञे ध्रुव आ निषत्तोऽमर्त्यस्तन्वावर्धमानः ॥

(ऋ०—६-९-४)

अर्थात्—यह ही सबसे उत्तम सुखों का देने वाला है । इसका साक्षात्कार करो । मरणशीलों में यह अमर ज्ञानस्वरूप है ।

अतः अनेक स्थलों पर ज्योति शब्द प्रकाश एवं ज्ञान के लिए आया है और परमात्मा को ज्ञानस्वरूप माना है । प्रकाश को भी परमात्मा का लक्षण माना है ।

भगवद्गीता में भी इस प्रकार लिखा है—

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥

(१३-१७)

ज्योतियों में भी वह ज्योति है । वह अन्धकार से दूर कहा जाता है ।

वह ज्ञानस्वरूप, जानने के योग्य और ज्ञान से जाना जाने योग्य सबके हृदय में स्थित है। प्रकाश और ज्ञान परमात्मा के लक्षण हैं।

छान्दोग्य उपनिषद् में एक बात स्पष्ट की है—

अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिः।

(छा० ३-१३-७)

परम उच्च देव लोक में विश्व की पीठ पर जो ज्योति प्रकाशित है, वह ही सब उत्तम स्थानों पर प्रकाशमान है। वह ही इस लोक में पुरुष में उपस्थित है।

अभिप्राय यह है कि ज्योति सब स्थान पर एक ही है और वह उस परमात्मा का ही स्वरूप है। अतः ज्योतिः भी परमात्मा का लक्षण है।

छन्दोऽभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोऽर्पणनिगदात्तथा हि दर्शनम् ॥२५॥

छन्दो+अभिधानात्+न+इति+चेत्+न+चेतः+अर्पण+निगदात्+हि+तथा+दर्शनम्।

चेत् (यदि) छन्दों में कहा गया है, ऐसा नहीं। क्योंकि (वहाँ) चित्त को अर्पण करना कहा है। यही बात दर्शनशास्त्र में कही गयी है।

पूर्व सूत्र में 'चरणाभिधानात्' ऐसा वाक्य है। शंका की जा रही है कि यह कोई युक्ति नहीं कि वेदों में कहा गया है कि ज्योति उसका लक्षण है। इससे यह माना नहीं जा सकता।

जो लोग ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते, वे जगत् में प्रकाश की उत्पत्ति प्रकृति के गुणों से मानते हैं। इस कारण ये लोग शंका करते हैं कि वेद में लिखा होने से स्वीकार नहीं किया जा सकता। सूत्रकार कहता है कि 'न सही।' मत मानो। वहाँ इस ज्योति में चित्त को लगाने के लिये लिखा है। वही बात दर्शनशास्त्र में युक्ति से वर्णन की गयी है।

अधिकांश भाष्यकारों ने इस सूत्र के अर्थ स्पष्ट रूप में नहीं लिखे। वे बता नहीं सके कि शंका क्या है और फिर उसका उतर क्या दिया गया है? उक्त व्याख्या हमने अपने विचार से की है।

शब्दों के अर्थों से हमने यही समझा है और यही बात ठीक प्रतीत होती है। पूर्व सूत्र (१-१-२४) में 'चरणाभिधानात्' लिखा है। इसका अर्थ है कि वेदों के पदों में ऐसा प्रतिष्ठित है। वर्तमान सूत्र (१-१-२५) में यह शंका उठा दी है

'छन्दोऽभिधानात् च इति चेत् न'। यदि वेदों में लिखा कहो तो स्वीकार योग्य नहीं। क्यों स्वीकार नहीं ? इस कारण कि शंका करने वाला वेदों को प्रमाण ग्रन्थ नहीं मानता। वह नास्तिक है।

इस पर सूत्रकार उत्तर देता है 'न तथा'—यह इस प्रकार नहीं। अर्थात् वेद में ज्योति को परमात्मा का स्वरूप बताया है। वहाँ परमात्मा का ऐसा वर्णन कर चित्त को उसके अर्पण करने के लिए लिखा है, परन्तु 'तथा हि दर्शनम्' इसी प्रकार दर्शनशास्त्र में भी सिद्ध कर चुके हैं। अर्थात् यही बात कि ब्रह्म ही पूर्ण जगत् का करने वाला है, हम युक्ति से भी सिद्ध कर चुके हैं।

हमारा मत यह है कि दर्शनशास्त्र स्वतन्त्र रूप से ब्रह्म के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं। वेदादि शास्त्रों में लिखा तो वही है जो दर्शनशास्त्र सिद्ध कर रहे हैं, परन्तु दर्शनशास्त्र स्वतन्त्र शास्त्र है। वैदिक दर्शनशास्त्र वेदादि शास्त्रों में वर्णित सच्चाइयों को ही सिद्ध करते हैं। इसी कारण वेदादि का उल्लेख किया जा रहा है।

नास्तिक की शंका का समाधान दर्शनशास्त्र में है। जब जगत् का कर्त्ता परमात्मा सिद्ध हो गया तो सूर्यादि में ज्योति का कर्त्ता भी तो वही सिद्ध है।

जब प्रकृति के गुणों में सन्तुलन टूटता है अर्थात् उनकी साम्यावस्था भंग होती है तो जगत् की रचना होती है। यह साम्यावस्था भंग होती है ईश्वर की करनी से। अन्य कौन कर सकता है ? और जगत् के सूर्य का कितना प्रकाश है और ब्रह्माण्ड में तो इस सूर्य से भी सहस्रों गुणा अधिक प्रकाशमान सूर्य विद्यमान हैं। इतना प्रकाश, इतनी शक्ति तो किसी अद्वितीय 'पुरुष' में ही हो सकती है। उसी को परमात्मा के नाम से स्मरण किया जाता है। इसी कारण उसके लिए यह कहा है—**एकमेव अद्वितीयं ब्रह्म**।

यहाँ पुनः यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि आकाश, प्राण, ज्योति परमात्मा के लक्षण हैं। ये परमात्मा नहीं हैं। ये गुण भी नहीं हैं। गुण गुणी के साथ रहते हैं। लक्षण अर्थात् चिह्न पदार्थ से पृथक् भी दिखाई देते हैं। साथ ही लक्षणों को प्राप्त कर लेने से ही पदार्थ की प्राप्ति सम्भव नहीं। उदाहरण के रूप में सूर्य का प्रकाश, विद्युत में ऊर्जा, अग्नि में ताप, मनुष्य में ज्ञान परमात्मा से प्राप्त होते हैं, परन्तु इनकी प्राप्ति से परमात्मा की प्राप्ति नहीं मानी जाती।

एक वैज्ञानिक आणविक शक्ति का नियन्त्रण कर, उससे कार्य संचालन करता है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि वह परमात्मा को नियन्त्रण में कर उससे कार्य ले रहा है। यद्यपि यह सत्य है कि उसने शक्ति पर अधिकार प्राप्त किया है, परन्तु यह अधिकार परमात्मा के अधिकार का सूचक नहीं। कोयला जला कर ताप से स्टीम इञ्जन चलाना और आणविक शक्ति से मशीनों को चलाना, एक ही श्रेणी के कार्य हैं। शक्ति पर अधिकार प्राप्त किया गया है।

यह शक्ति परमात्मा द्वारा मूल प्रकृति से मुक्त (release) हुई कही गई है। उसके एक अति न्यून अंश पर मनुष्य का अधिकार हो गया है। यह अधिकार परमात्मा पर अधिकार का सूचक नहीं।

अतः इस सूत्र का अर्थ केवल नास्तिकों का समाधान करना है कि वेद के नाम से भयभीत होने की बात नहीं। 'तथा ही दर्शनम्।' इसी प्रकार दर्शनशास्त्र में युक्ति से सिद्ध कर चुके हैं।

भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् ॥२६॥

भूतादि + पाद + व्यपदेशः + उपपत्तेः + च + एवम्।

भूतादि का अभिप्राय जगत् है। जड़ और चेतन के ये पाद कहे गये हैं और उपपत्ति (युक्ति) से भी ऐसा ही प्रकट होता है।

ऊपर के सूत्र में बताया है कि यदि वेद को प्रमाण नहीं मानते तो दर्शन-शास्त्र (युक्ति) से भी तो हम ब्रह्म की सत्ता को सिद्ध कर चुके हैं।

यह विश्व (पृथिवी नक्षत्रादि) जिसे सूत्र में भूतादि कहकर वर्णन किया है, इनको चरण (पग) ही कहा है। परमात्मा की कर्तृत्व शक्ति में भूत इत्यादि चरण मात्र हैं। इस जगत् की रचना में तो कई पग हैं।

सूर्यादि को देवता माना है। ये भूतों से अगला पग है। इसके भी आगे अन्य पग हैं। यह जगत् रचना में युक्ति की जा सकती है। इस प्रकार ज्योति इत्यादि लक्षण भी उस परमात्मा के कर्तृत्व में पग हैं।

इस सूत्र का भाष्य श्री स्वामी शंकराचार्य किस प्रकार करते हैं यह जानना लाभप्रद होगा। आप लिखते हैं—

इतश्चैवमभ्युपगन्तव्यमस्ति, पूर्वस्मिन्वाक्ये प्रकृतं ब्रह्मेति। यतो भूतादीन्पादान्व्यपदिशति। भूतपृथिवीशरीरहृदयानि हि निर्दिश्याह—'सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री' इति। नहि ब्रह्मानाश्रयणे केवलस्य छन्दसो भूतादयः पादा उपपद्यन्ते। अपि च ब्रह्मानाश्रयणे नेयमृक् संबध्येत--'तावानस्य महिमा' इति। अनया हि ऋचा स्वरसेन ब्रह्मैवाभिधीयते, 'पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' (छा०—३-१२-५) इति सर्वात्मत्वोपपत्तेः। पुरुषसूक्तेऽपीयमृग्ब्रह्मपरतयैव समाम्नायते।

अर्थात्—ऊपर (के सूत्र में) इसी कारण यह स्वीकार करना चाहिये कि ब्रह्म ही उसमें प्रकृत है; क्योंकि (श्रुति) भूतादि पादों का उपदेश करती है। भूत, पृथिवी, शरीर, हृदय को ही निर्देश करके कहा है। वह गायत्री के चार पाद

वाली और छः प्रकार की है। यदि ब्रह्म का ग्रहण न करें तो भूतादि केवल छन्द के पाद में उत्पन्न नहीं होते और ब्रह्म का ग्रहण न करते तो 'तावानस्य महिमा' यह ऋचा समन्वित नहीं हो सकती। वस्तुतः इस ऋचा द्वारा मुख्य रूप से ब्रह्म का ही अभिधान होता है। क्योंकि 'पादोऽस्य सर्वाभूतानि' (छा० ३-१२-५) इससे सर्वात्मत्वा सिद्ध होता है। पुरुष सूक्त में भी यह ऋचा ब्रह्म परत से ही आयी है।

इस और आगे के पूर्ण वक्तव्य का आशय यह है कि पूर्व सूत्र (१-२-२४) में उल्लिखित चरण गायत्री के चरण नहीं, वरन् ब्रह्म के चरण हैं। देखने की बात यह है कि गायत्री को व्यर्थ में बीच में घसीट कर लाया गया है। सूत्र (१-१-२४) में चरण का अर्थ मन्त्रों के पदों से हैं। सूत्र (१-१-२५) में यह सामान्य कथन था। इसमें भी गायत्री के चार पादों को अकारण घसीट कर लाया गया है और फिर उसी की लकीर पीटते हुए सूत्र (१-१-२६) का भाष्य किया गया है।

तनिक छान्दो० ३-१२-५ को भी देख लिया जाये कि वह उक्त सूत्र के अर्थों से कहाँ संगति खाता है? इस उपनिषद में लिखा है—

सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री तदेतदृचाभ्यनूक्तम् ॥

(छा०—३-१२-५)

वह यह चार चरण वाली और छः प्रकार की गायत्री है। वह इस ऋचा में कही गयी है।

इसके आगे छठे मन्त्र में इस प्रकार लिखा है—

तावानस्य महिमा ततो ज्यायाँश्च पूरुषः ॥
पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवीति ॥

(छा०—३-१२-६)

इसका अर्थ है—इस (गायत्री) की महिमा उतनी ही है। उससे पुरुष बड़ा है। सब भूत इसका पाद हैं। इसके तीन पाद प्रकाशमय लोक में हैं।

गायत्री के चार पाद हैं, परन्तु भगवान् परमात्मा के शेष तीन पाद तो ब्रह्मलोक में हैं, जो अमृत पाद हैं।

अतः हमारा कहना यह है कि गायत्री उक्त सूत्र वे० द० १-१-२६ से सम्बन्धित नहीं। छान्दो० (३-१२-६) में पादों का उल्लेख इस सूत्र के पादों से संगति नहीं खाता। गायत्री के चार पादों और छः प्रकारों में तो उस पर-ब्रह्म परमात्मा की स्तुति गान की गयी है। स्वामीजी का यह कहना तो ठीक है कि परमात्मा के भूतादि पाद हैं। इन्हीं का उल्लेख छान्दो० (३-१२-६) में किया है, छा० (३-१२-५) में नहीं। यहाँ चार पाद नहीं, तीन पाद वर्णन किये गये हैं। वहाँ उपनिषद् में चार पाद हैं।

इस सूत्र का मत छान्दो० (३-१२-८, ९) में भली प्रकार वर्णित है।

वहाँ कहा है कि उस भगवान् का प्रकाश सूर्यादि में जो मनुष्य के बाहर है, विद्यमान है और वही ज्योति मनुष्य के भीतर विद्यमान है।

यही आशय सूत्र का है। इसमें लिखा है कि परमात्मा की शक्ति (ज्योति) का एक पाद भूतादि (जड़ चेतन) जगत् में है। दूसरे पादों का यहाँ (सूत्र में) उल्लेख नहीं, परन्तु संकेत है कि दूसरे पाद देवतागण हैं और अन्तिम पाद (दिव्य) ब्रह्मलोक में है। ये पाद हैं छान्दोग्य उपनिषद के अनुसार।

यहाँ पाद का अभिप्राय भी समझ लेना चाहिये। परमात्मा ने सृष्टि को रचा है। रचने में कई पग (stages) पर कार्य हुआ है। प्रथम पग है जड़ चेतन जगत्। दूसरा पग है सूर्यादि देवता, तीसरा पग है ब्रह्मलोक।

श्री स्वामीजी द्वारा ब्रह्म सूत्र—१-१-२६ में जो पाद वर्णन किये हैं, उनका गायत्री के पादों से समन्वय कर सूत्रार्थ में भ्रम फैला है।

उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् ॥२७॥

उपदेश+भेदात्+न+इति+चेत्+न+उभयस्मिन्+न+अपि+अविरोधात्।

कथन (के ढंग) में भेद से यदि कहो तो भेद नहीं। दोनों में विरोध भी नहीं है।

उपनिषद् ग्रन्थों में तथा अन्य अनेक स्थानों पर परमात्मा से सृष्टि और परमात्मा की सृष्टि का भिन्न-भिन्न विभक्तियों में वर्णन मिलता है। सूत्रकार का कहना है कि इस वर्णन के भेद से अर्थों में भेद नहीं पड़ता। परस्पर विरोध भी नहीं है।

उक्त विभक्तियों में भेद से अर्थों में भेद की सम्भावना तो है ही। यह सूत्रकार ने बताया है कि अर्थों में भेद नहीं पड़ता, परन्तु सूत्रकार का एक अन्य भी अभिप्राय है जो प्रायः भाष्यकारों की दृष्टि में नहीं आया।

उपनिषदों में अनेक स्थलों पर ऐसा वर्णन मिलता है, जिससे यह प्रतीत होता है कि परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं। उदाहरण के रूप में उपनिषद् वाक्य हैं—

ओमित्येतदक्षरमिदँ सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोंकार एव। यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव।

(माण्डूक्य०—१)

इसका अर्थ है—ओं जो यह अक्षर है, वही सब कुछ है। सब भूत, भविष्य और वर्तमान उसका ही व्याख्यान है। सब ओंकार ही है। अन्य भी, जो इन तीन कालों से परे है, वह भी ओंकार ही है।

इसका अर्थ यह है कि ओंकार अर्थात् परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं। परन्तु एक अन्य उपनिषद् में लिखा है—

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्॥
क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः।
तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः॥
(श्वेताश्वतर०—१-९,१०)

इन दोनों मन्त्रों का भावार्थ इस प्रकार है—

ज्ञानवान् और अज्ञानी दो अजन्मा हैं। एक ईश्वर है और दूसरा अनीश्वर है। एक अन्य अजन्मा है, जो भोग करने वाले के भोग के निमित्त है। विश्वरूप आत्मा तो अनन्त है। वह अकर्त्ता (भोग नहीं करने वाला) है। जब मनुष्य यह जान जाता है कि ये तीनों ब्रह्म हैं तो वह जान जाता है।

नाशवान् कार्य जगत् और अविनाशी (जीवात्मा) और हरि, ये तीन हैं। कार्य जगत् और आत्मा (जीवात्मा) इन दोनों पर जो एक देव शासन करता है, इस देव का चिन्तन करने से सम्पूर्ण अविद्या की निवृत्ति हो जाती है।

आगे और भी लिखा है—

भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्॥
(श्वेताश्वतर—१-१२)

भोग करने वाला, भोग्य-सामग्री और प्रेरणा देने वाला सब तीन प्रकार का ब्रह्म कहा है।

अतः माण्डूक्य उपनिषद् के मन्त्र संख्या-१ तथा श्वेताश्वतर उपनिषद् के ऊपर लिखे मन्त्रों में अर्थ भेद प्रतीत होता है। सूत्रकार का कहना है कि यहाँ अर्थ भेद नहीं है। कैसे भेद नहीं है? यह इन उपनिषदों के भाष्यकार अपने-अपने मत से बताते हैं। हमने भी बताया है कि माण्डूक्योपनिषद् में जहाँ परमात्मा को ही सब-कुछ कहा है, वह परमात्मा को निमित्त कारण मानकर ही कहा है। वहाँ प्रधान और जीवात्मा का विरोध नहीं है। परमात्मा इन दोनों पर शासक होने से सब-कुछ है, ऐसा माना है। श्वेताश्वतर में तीनों के गुणों में समानता और भेद का वर्णन किया है।

सूत्रकार उक्त सूत्र से यह प्रकट करते हैं कि यह भेद परस्पर विरोध प्रकट नहीं करता।

इस और पूर्व के सूत्र को देने का प्रयोजन नास्तिकों, शास्त्र पर शंका

करने वालों का समाधान करना है। सूत्रों में संकेत है। भाष्यकारों का कर्त्तव्य था कि वे इस दिखाई देने वाले भ्रम की व्याख्या और निराकरण करते। अधिकांश भाष्यकार विभक्तियों का उल्लेख कर ही रह गये हैं। वे तो हैं ही, परन्तु वास्तविक बात अन्य है।

स्वामी शंकराचार्य भी इसी भ्रम में फँस गये हैं। इस भ्रम में फँसने का कारण यह है कि दर्शन-शास्त्र के सूत्रों को वेदान्त-वाक्यों की व्याख्या में समझ पूर्व सूत्र (१-१-२६) में एक उद्धरण देकर, उस उद्धरण में सप्तमी और पंचमी के चक्कर में वह फँस गये हैं। वास्तविकता यह है कि सूत्रकार ने किसी भी उपनिषद् वाक्य तथा अन्य किसी शास्त्र के वाक्य का उल्लेख नहीं किया। सूत्रकार ने तो सिद्धान्त उपस्थित किये हैं। जब सूत्र कहा था, तब उसके मन में कौनसा वाक्य था, कहा नहीं जा सकता।

सिद्धान्त यह है कि कहीं-कहीं परमात्मा को ही सब-कुछ माना है और कहीं जीवात्मा और प्रकृति को भी अजन्मा और अनादि माना है। यह भेद है जिसके विषय में सूत्रकार कहता है कि अर्थ-भेद नहीं। ये परस्पर अविरोधी हैं।

कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामी शंकराचार्य भाष्य करते हुए यत्र, तत्र, संगत-असंगत उद्धरण देते रहते हैं और फिर उनकी संगति बैठाने के लिए सूत्रार्थों में खींचातानी करने लगते हैं।

अतः हमारा मत है कि सूत्र में 'उपदेशभेदान्नेति' का अभिप्राय है प्रकृति, आत्मा, परमात्मा को जो भिन्न-भिन्न प्रकार से कहा गया प्रतीत होता है, उनमें भेद नहीं है। एक पदार्थ के व्याख्यान में, दूसरे के वर्णन के अभाव से उसका विरोध नहीं होता।

प्राणस्तथाऽनुगमात् ॥२८॥

प्राण: + तथा + अनुगमात्।

इसी प्रकार प्राण भी अनुगम होने से।

जैसे ज्योति है, वैसे भी प्राण है। हमने बताया है कि ज्योति परमात्मा नहीं है। परमात्मा का लक्षण है। जहाँ शास्त्र में ज्योति को परमात्मा लिखा है अथवा प्राण को परमात्मा लिखा है, वहाँ यही समझना चाहिए जो अनुगम (संगति से ठीक) है।

स्वामी शंकराचार्य तथा उनके अनुगामी भाष्यकार सूत्र पढ़ते ही किसी उपनिषद् वाक्य का उद्धरण देने को लालायित हो जाते हैं। सूत्रकार के मन में सूत्र

कहने के समय वही उपनिषद् वाक्य उपलक्ष्य था यह कहना कठिन है। अतः उचित तो यह है कि सूत्र की युक्तियुक्त व्याख्या की जाये। आवश्यक हो तो कोई उदाहरण दिया जाये। यत्न यही होना चाहिये कि व्याख्या स्वयं में ऐसी सामान्य और विस्तृत हो कि वह वाक्य पर युक्त हो सके। ब्रह्म सूत्रों के शंकर भाष्य और अधिकांश अन्य भाष्यों में ऐसा प्रकट करने का यत्न किया गया है, मानो सूत्रकार ने उपनिषद् वाक्यों पर ही अपने सूत्र कहे हैं।

सूत्रकार ने ऐसा कहीं उल्लेख नहीं किया है। संकेत भी नहीं किया। अतः हमारा मत है कि सूत्र युक्तियाँ हैं। प्रायः ब्रह्म सूत्र (परमात्मा, जीवात्मा, एवं प्रकृति के) रहस्य को स्पष्ट करने के लिए लिखे गये हैं। कहीं-कहीं नास्तिकों के शास्त्र वर्णित सिद्धांतों पर शंकाओं को दूर करने का उल्लेख प्राप्त होता है। ऐसे स्थानों पर भी सैद्धान्तिक स्पष्टता ही है।

उक्त सूत्र पर भाष्य आरम्भ करते ही स्वामी शंकराचार्य लिखते हैं—

अस्ति कौषीतकिब्राह्मणोपनिषदीन्द्रप्रतर्दनाख्यायिका—'प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम युद्धेन च पौरुषेण च' इत्यारभ्याम्नाता। तस्यां श्रूयते—'स होवाच प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्स्व' इति।

अर्थात्—दिवोदास का पुत्र प्रतर्दन युद्ध और पराक्रम से इन्द्र के प्रिय धाम-स्वर्ग को गया। कौषीतकि ब्राह्मण उपनिषद् में इन्द्र और प्रतर्दन की आख्यायिका कही गयी है। उसमें 'स होवाच्च प्राणोऽस्मि' इन्द्र ने कहा कि मैं प्राण हूँ, प्रज्ञात्मा हूँ। उस मेरी आयु तथा अमृत रूप से उपासना कर—इत्यादि।

क्या यह उद्धरण सूत्रकार के मन में था? हमारा मत है कि नहीं था। कारण यह है कि सूत्र के अर्थों से इसकी संगति नहीं बैठती।

सूत्र स्पष्ट है। तथा = इसी प्रकार, प्राणः = प्राण है। अनुगमात् = अनुगामी होने से।

किसके अनुगामी? परमात्मा के। अर्थ है कि प्राण परमात्मा की प्रेरणा पर कार्य करता है। अतः प्राण से भी ब्रह्म का अभिप्राय समझा जा सकता है।

जैसे तुलसीकृत रामचरितमानस तुलसी की अनुगामी (विचारानुकूल) होने से दोनों एक ही माने जा सकते हैं। इस पर भी तुलसी पृथक् है और रामचरित मानस पृथक् है।

न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसंबन्धभूमा ह्यस्मिन् ।।२९।।

न+वक्तुः+आत्मोपदेशात्+इति+चेत्+अध्यात्म+संबन्धभूमा+हि+अस्मिन् ।

वक्ता की आत्मश्लाघा के लिये यह नहीं । अध्यात्म सम्बन्धी, प्रकरण में यदि न आया होता ।

यह वाक्य कि प्राण ब्रह्म (परमात्मा) का वाचक है, मनुष्य आत्मश्लाघा के लिये भी कह सकता है । मनुष्य प्राणी कहलाता है । इसमें प्राण (कार्य करने का सामर्थ्य) रहता है । अतः यदि प्राण परमात्मा है और मनुष्य का जीवन प्राण रहने तक माना जाता है तो प्राणी परमात्मा है ऐसा मनुष्य आत्म श्लाघा के लिये कह सकता है । सूत्रकार कहता है कि नहीं । यदि यह होता तो अध्यात्म के प्रसंग में प्राण का प्रयोग न होता ।

अभिप्राय यह है कि प्राणी में प्राण जीवन तक रहता है । अतः संशय करने वाले के मत से शास्त्र में प्राण शब्द आदि-अन्त वाले पदार्थ के लिये माना जायेगा । सूत्रकार का कहना है कि नहीं । क्योंकि प्राण अध्यात्म के प्रसंग में आया है । अध्यात्म है अक्षर का ज्ञान ।

अब इसके उदाहरण दिये जा सकते हैं । अथर्ववेद में एक प्राण सूक्त (अथर्व० ११-४) है । इसमें प्राण परमात्मा है । और प्राण क्यों है, इसका विस्तार से वर्णन है ।

इस सूत्र का प्रथम मन्त्र है—

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे ।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम् ।।

(अथर्व०—११-४-१)

जिसके वश में सब कुछ है, उस प्राण के लिये नमस्कार हो । जो स्वयम्भू है, सबका ईश्वर है, जिसमें सब प्रतिष्ठित हैं ।

स्पष्ट है कि यहां प्राण परमात्मा के लिये प्रयुक्त हुआ है ।

इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में लिखा है कि (स्तनयित्नवे) जैसे स्तन से दूध निकलता है, वैसे ही सुखों की वर्षा करने वाला प्राण (अथर्व० ११-४-२) है ।

इसी प्रकार एक अगले मन्त्र में लिखा है **'स्तनयित्नुनाभिक्रन्दत्योषधीः'** (११-४-३) मेघों द्वारा औषधियों का पालन करने वाले प्राण हों । प्राण का विशेष प्रयोजन भी वर्णन किया है । **(प्र वीयन्ते गर्भान्दधतेऽथो बह्वीर्विजायन्ते)** (अथर्व०—११-४-३) गर्भ धारण कराने में एवं बहुविध प्रजाओं की उत्पत्ति में विशेष रूप में प्राण सहायक होता है ।

और आगे अथर्व० ११-४-६ में कहा है **'अभिवृष्टा ओषधयः प्राणेन**

समवादिरन्' भरपूर वर्षा से सिंचित औषधियाँ प्राण रूप परमात्मा से कहती हैं कि 'आयुर्वै नः प्रातीतरः सर्वा नः सुरभीरकः' आप उन्हें (औषधियों को) आयु देते हैं। वे हम सबको सुगन्धित पुष्प प्रदान करती हैं।

इस प्रकार इसी सूक्त में एक स्थान पर लिखा है 'नमस्ते प्राण विद्युते' (११-४-२) बिजली में प्राण (शक्ति) तुम हो और हम तुमको नमस्कार करते हैं।

हमारा कहने का अभिप्राय यह है कि प्राण शब्द जहाँ अध्यात्म प्रसंग में आया है, वहाँ परमात्मा का वाचक है। साथ ही परमात्मा को प्राण इस कारण कहा है, क्योंकि यह सर्वशक्तिमान् है और शक्ति ही प्राण है। प्राण परमात्मा का लक्षण है।

प्राणी में भी प्राण (शक्ति) ईश्वर की ही दी हुई है। यह अन्न (औषधियों) से प्राप्त होती है और अन्न में प्राण परमात्मा ही डालता है।

शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् ॥३०॥

शास्त्रदृष्ट्या+तु+उपदेशः+वामदेववत् ॥

शास्त्र की दृष्टि के उपदेश को (शास्त्र माना जाता है), जैसे वामदेव (का कथन है।)

प्राणवान् परमात्मा को प्राण ही कहा जाता है वैसे ही जैसे वामदेव जैसे शास्त्र दृष्टा के उपदेश को शास्त्र ही माना जाता है।

गुणी गुण से जाना जाता है। इसी प्रकार पदार्थों का ज्ञान उनके लक्षणों से होता है। लक्षण को ही लिङ्ग कहते हैं।

न्याय-दर्शन में यह सूत्र है—

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति।

(न्या०—१-१-१०)

अर्थात्—इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख तथा ज्ञान (चेतना) ये आत्मा के लिङ्ग (लक्षण) हैं।

जैसे यहाँ सुख, दुःख, इच्छा इत्यादि जीवात्मा नहीं, वरन् ये आत्मा के लिङ्ग हैं, इसी प्रकार आकाश, प्राण, ज्योति इत्यादि परमात्मा के लिङ्ग हैं।

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात ।।३१।।

जीव+मुख्यप्राण+लिङ्गात्+न+इति+चेत+न+उपासा+त्रैविध्यात्+आश्रित्वात्+तद्योगात् ।

जीवात्मा का मुख्य लिंग प्राण होने से यहां (जीवात्मा का अर्थ) नहीं। (यदि होता तो) त्रिविध उपासना का आश्रय का प्रसंग न होता।

सूत्र १-२९ की व्याख्या में हमने अथर्व वेद के प्राण सूक्त का उदाहरण दिया है। वहाँ प्राण परमात्मा का सूचक है।

जीवात्मा में भी प्राण लिंग है। न्याय-दर्शन में प्राण का पर्याय 'प्रयत्न' लिखा है, परन्तु उक्त (अथर्व वेद तथा अन्य ऐसे ही) प्रसंगों में प्राण परमात्मा के लिए प्रयुक्त हुआ है। सूत्रकार कारण यह देता है कि वहां उपासना का प्रसंग है। तीन प्रकार में किसी भी प्रकार की भी उपासना का प्रसंग हो, वहा प्राण से परमात्मा के ही अर्थ लेने चाहियें।

इसके साथ वेदान्त दर्शन के प्रथम अध्याय का प्रथम पाद समाप्त होता है।

इस पाद में तीन सूत्र (२,३,४) ब्रह्म की सिद्धि में हैं। हमने अपना मत व्यक्त किया है कि त्रिविध ब्रह्म से ही इनका अभिप्राय है। इसमें प्रमाण हमने दिया है। साथ ही हमारा यह मत है कि उपनिषदादि ग्रन्थों में ब्रह्म शब्द इन तीन में से किसी एक, दो अथवा तीनों (परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति) के लिए माना जा सकता है। यह किसके लिये है? प्रसंगानुसार देखना चाहिये। इन सूत्रों में परमात्मा को निमित्त कारण के रूप में, प्रकृति को उपादान कारण के रूप में और जीवात्मा को भोक्ता के रूप में स्वीकार कर 'जन्माद्यस्य यतः' इत्यादि का अर्थ सर्वथा युक्तियुक्त है।

जिस द्वारा जन्म, जिससे और जिसके लिये हुआ है, वह ब्रह्म है, ऐसा मानना ठीक रहेगा। अन्य भाष्यकारों का विरोध नहीं, वरन् वर्णन करने में एक विशेषता के रूप में ही यह है।

सूत्र ५, ६, ७ परमात्मा अर्थात् परम चेतन तत्त्व की व्याख्या में हैं।

सूत्र ८, ९, १० परम चेतन तत्त्व की जड़ तत्त्व (प्रधान) से भिन्नता को दर्शाने के लिये हैं।

सूत्र ११, १२, १३, १४, १५ में यह बताने का यत्न किया है कि जो कुछ पूर्व के सूत्रों में युक्ति से सिद्ध किया है, वह वैदिक शास्त्रों में भी लिखा है।

सूत्र १६, १७, १८, १९ परमात्म-तत्त्व और आत्म-तत्त्व (जीवात्मा) में भेद वर्णन करते हैं।

सूत्र २० में यह लिखा है कि परमात्मा, जो सबके भीतर व्यापक है, उसके धर्मों का आगे वर्णन होगा।

सूत्र २१ में यह बताया है कि जिसके धर्मों का आगे वर्णन होगा, वह जीवात्मा से भिन्न है।

सूत्र २२, २३, २४ में ब्रह्म के तीन लक्षण लिखे हैं। आकाश से सर्वव्यापकता का लक्षण है। प्राण से सर्वशक्तिमान का अभिप्राय है और ज्योति से सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ, ज्ञानवान् का प्रयोजन है। ये परमात्म-तत्त्व के मुख्य लिंग हैं।

सूत्र २५, २६, २७, २८, २९, ३०, ३१ में बताया है कि वेदादि शास्त्रों में ऐसे ही लक्षण परमात्मा के हैं। नास्तिकों के कुछ संशयों का भी निवारण किया गया है।

हमने यत्रतत्र श्री स्वामी शंकराचार्य के भ्रममूलक भाष्य का उल्लेख किया है और उसमें भ्रम को स्पष्ट करने का यत्न किया है। जितने उद्धरण हमने स्वामीजी के भाष्य में से दिये हैं, केवल वे ही सब भ्रममूलक नहीं, अन्य भी हैं, परन्तु स्थानाभाव के कारण कुछ का ही उल्लेख हो सका है।

स्वामी शंकराचार्य परवर्ती अनेक भाष्यकारों ने पूर्णतः उनकी भाष्य-शैली का ही अनुकरण किया है। उनकी शैली है कि सूत्र ग्रन्थ वेदान्त वाक्यों (उपनिषदादि ग्रन्थों) को, मणियों को सूत्र में बाँधने की भाँति हैं। स्वामीजी के प्रचार का प्रभाव इतना प्रबल हुआ है कि अन्य भाष्यकारों ने आँखें मूँदकर श्री स्वामीजी का, पूर्ण रूपेण अथवा आंशिक रूप में अनुकरण किया है।

हमारा मत उनसे भिन्न है। हम दर्शनशास्त्रों को ऐसा नहीं समझते, जैसा कि श्री स्वामीजी ने माना है। हमारा मत यह है कि वैदिक दर्शनशास्त्र युक्ति अर्थात् अनुमान-प्रमाण से वैदिक सिद्धान्तों को सिद्ध एवं स्पष्ट करने के लिये लिखे गये हैं। अतः सूत्र का अर्थ वर्णन करने के लिये उपनिषदादि ग्रन्थों की साक्षी आवश्यक नहीं, वरन् वैदिक सिद्धान्तों की सत्यता को सिद्ध करने के लिये दर्शनशास्त्र स्वतन्त्र प्रमाण देते हैं। ये सूत्र उनके लिये ही लिखे गये हैं जो वेदादि ग्रन्थों को प्रमाण नहीं मानते।

प्रत्येक सूत्र एक युक्ति प्रस्तुत करता है और वह युक्ति वेदादि शास्त्रों में वर्णित सिद्धान्तों का समर्थन करती है।

इस बात के लिये ही शास्त्र और मन्त्रों इत्यादि की ओर संकेत है।

द्वितीय पाद

प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद में ब्रह्म में दो आत्म तत्त्वों की परस्पर समानता, भेद और सम्बन्ध के विषय में लिखा है। हमारा यह मत है कि सूत्र शुद्ध, सरल और अकाट्य युक्तियाँ ही हैं। इस पाद के अध्ययन से भी यही सिद्ध होता है।

अन्य भाष्यकारों का मत है कि इस पाद के सूत्र उपनिषद् आदि ग्रन्थों के वाक्यों को स्पष्ट करने के लिये कहे गए हैं। अधिकांश भाष्यकारों का कथन है कि वेदान्त वाक्यों को स्पष्ट करने वाले ये सूत्र हैं। हम वेदान्त वाक्यों का अथवा सूत्रों का अर्थ समझने में इनको परस्पर सहायक नहीं मानते। भाष्यकारों ने अनेक स्थानों में असंगत प्रमाण देकर सूत्रार्थों को विकृत ही किया है।

यह नहीं कहा जा सकता कि शंकर मत से अप्रभावित पूर्व के आचार्य दर्शनशास्त्रों को किस दृष्टि से देखते थे ? उनके भाष्य प्रायः अप्राप्य हैं, परन्तु शंकराचार्य के उत्तरकालीन आचार्य प्रायः उनकी शैली को ही अपनाते हैं। यहाँ तक कि श्री रामानुजाचार्य भी यही मानते प्रतीत होते हैं कि दर्शनशास्त्र उपनिषदादि ग्रन्थों के अनुगामी हैं। यद्यपि श्री रामानुजाचार्य के निष्कर्ष श्री स्वामी शंकराचार्य के निष्कर्षों के विपरीत हैं, परन्तु भाष्य में शैली वही है।

श्री स्वामी शंकराचार्य इस द्वितीय पाद के लिखने का प्रयोजन यह लिखते हैं:—

अर्थान्तरप्रसिद्धानां च केषांचिच्छब्दानां ब्रह्मविषयत्वहेतुप्रतिपादनेन कानिचिद्वाक्यानि स्पष्टब्रह्मलिंगानि संदिह्यमानानि ब्रह्मपरतया निर्णीतानि। पुनरप्यन्यानि वाक्यान्यस्पष्टब्रह्मलिंगानि संदिह्यन्ते—किं परं ब्रह्म प्रतिपादयन्त्याहोस्विदर्थान्तरं किंचिदिति। तन्निर्णयाय द्वितीयतृतीयौ पादावारभ्येते।

अर्थात्—कुछ शब्दों के प्रसिद्ध ऐसे अर्थ जो ब्रह्म के अतिरिक्त हैं, उनको ब्रह्म के हेतु ही बताने से एवं कुछ ऐसे वाक्य हैं, जिनमें ब्रह्म लिंग तो स्पष्ट है, परन्तु सन्देह होता है कि वे ब्रह्म विषयक हैं अथवा नहीं, उनका निर्णय करने के लिये सूत्र हैं। फिर भी अन्य वाक्य हैं कि वे स्पष्ट ब्रह्म लिंग वाले नहीं हैं और उन पर सन्देह किया जाता है कि वे स्पष्ट ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं अथवा किसी दूसरे अर्थ का। इस निर्णय के लिये दूसरे और तीसरे पाद का आरम्भ किया जाता है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वामी शंकराचार्य वेदान्त दर्शन का और साथ ही उसके प्रथम अध्याय के दूसरे और तीसरे पाद का वह प्रयोजन नहीं मानते, जो हमने ऊपर वर्णन किया है। वे यह समझते हैं कि कई उपनिषद् वाक्य अस्पष्ट हैं और उनके स्पष्ट रूप से संशयरहित अर्थ करने के लिये ये सूत्र लिखे गये हैं।

हमारा मत इसके विपरीत है। हम समझते हैं कि न तो उपनिषद् वाक्य अस्पष्ट हैं और न ही उनके अर्थ लगाने में कहीं भ्रम हो रहा है। आर्ष परम्परा यह है कि उपनिषदादि ग्रन्थ मनुष्यकृत हैं। उनमें भूल हो सकती है; परन्तु भूल जानने की कसौटी वेद हैं, ब्रह्मसूत्र नहीं। वैसे उपनिषद् इतने अस्पष्ट और अशुद्ध नहीं कि उनको स्पष्ट करने के लिये दर्शनशास्त्रों की आवश्यकता पड़े। दर्शनशास्त्र तो सूत्रवत् हैं। यदि कहीं अस्पष्टता अथवा भूल है तो उसको ईश्वरीय ज्ञान वेद से संशोधित किया जा सकता है। दर्शनशास्त्रों का प्रयोजन भिन्न है और वह प्रयोजन हम ऊपर कह चुके हैं।

अब हम इस दर्शनशास्त्र के प्रथम अध्याय के दूसरे पाद का भाष्य करते हैं। इसमें हम बतायेंगे कि स्वामी शंकराचार्य इस शास्त्र के प्रयोजन से ही अनभिज्ञ थे। यह शास्त्र वेदान्त वाक्यों की अस्पष्टता को सुधारने के लिये नहीं, वरंच उन वेदान्त वाक्यों की सत्यता को युक्ति से सिद्ध करने के लिये है।

दर्शन स्वतः अपने मत को सिद्ध करने वाले ग्रन्थ हैं। यह सत्य है कि उन सिद्ध किये जाने वाले सिद्धान्तों को दर्शनाचार्य ने वेदादि शास्त्रों से ही ग्रहण किया है, परन्तु उन सिद्धान्तों को विना शास्त्र का आश्रय लिये ही सिद्ध किया है।

इसका एक प्रमाण तो हम वे० द० १-१-२५ की व्याख्या में दे आये हैं। वहाँ दर्शनाचार्य ने कहा है कि वेदादि शास्त्र को प्रमाण नहीं मानते तो न मानो, परन्तु हम 'दर्शन' युक्ति (logic) से भी तो वही बात सिद्ध कर रहे हैं।

एक अन्य भी संकेत है जो यही प्रकट करता है कि दर्शनशास्त्र स्वतन्त्र शास्त्र हैं। वेदान्त दर्शन में कहीं भी किसी वेदान्त वाक्य की ओर संकेत नहीं। उल्लेख तो है ही नहीं।

यह तो वैदिक ग्रन्थों की श्रेष्ठता और सत्यता का प्रमाण है कि जो श्रेष्ठ युक्ति से सिद्ध होता है, वह वेदादि शास्त्रों में भी पाया जाता है।

हम जहाँ कहीं भी उपनिषदादि शास्त्र का उद्धरण देते हैं, हमारा उससे अभिप्राय यह है कि वेदादि शास्त्र जिस सत्य का निरूपण करते हैं, उसी को दर्शनशास्त्र युक्ति से सिद्ध करते हैं।

इस द्वितीय पाद में परमात्मा तथा जीवात्मा के सम्बन्ध में ही लिखा है।

सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ॥१॥

सर्वत्र+प्रसिद्ध+उपदेशात् ।

सब स्थान पर प्रसिद्ध के कहे जाने से।

क्या प्रसिद्ध है ? यह जगत् ही प्रसिद्ध है। हम देखते हैं, सुनते हैं, अनुभव करते हैं कि जगत् है।

जगत् है। यदि यह बन-बिगड़ रहा है तो इसके बनाने-बिगाड़ने वाला भी कोई है। यह किससे बना है ? यह भी सिद्ध है कि कुछ है, जिससे यह बना है। साथ ही इसके बनने में क्या प्रयोजन है ? यह भी हम देखते हैं।

वही पहले कही गयी बात है कि परमात्मा इस जगत् का बनाने वाला अर्थात् निमित्त कारण है। जड़ प्रकृति इसका उपादान कारण है और जीवात्माओं के भोग के लिये इसका निर्माण हुआ है।

इस सूत्र के एक अन्य प्रकार से भी अर्थ किये गए हैं।

सर्वत्र=सब स्थानों पर, प्रसिद्ध उपदेश से। इस अर्थ में और ऊपर दिये अर्थों में अन्तर यह है कि ऊपर है प्रसिद्ध के उपदेश से, परन्तु इसमें है सर्वत्र प्रसिद्ध उपदेश से।

दोनों के भावों में अन्तर नहीं है। इसमें युक्ति यह है कि मुख्य शब्द है सर्वत्र। इसका अर्थ है कि सब स्थानों पर, अथवा सर्वत्र से अर्थ हैं सब शास्त्रों में उल्लेख। हमारा यह मत है कि यहाँ अभिप्राय है लोक में सर्वत्र। वैसे शास्त्रों में भी जगत् की ही चर्चा सर्व प्रसिद्ध है।

चाहे तो यह कहें कि लोक में सर्वत्र प्रसिद्ध बात की चर्चा से और चाहे यह कहें कि सर्वत्र लोक में प्रसिद्ध चर्चा से। दोनों का समाधान एक ही होगा।

जो सर्वत्र प्रसिद्ध बात है अथवा जिसकी प्रसिद्ध चर्चा है, वह प्रसिद्ध बात जगत् के विषय में है अथवा वह बात प्रसिद्ध जगत् के विषय में है।

अतः कथन से यह प्रसिद्ध कैसे है ? प्राणी जो इस पृथ्वी पर रहता है, वह जो कुछ देखता, सुनता, स्पर्श इत्यादि करता है और अनुभव करता है, वही तो प्रसिद्ध है। अतः यह प्रसिद्ध है कि जगत् है। इसके कारण, दोनों निमित्त और उपादान भी सिद्ध हैं और यह भी प्रसिद्ध है कि मनुष्य और अन्य प्राणी हैं, जो इस जगत् के स्वादिष्ट फलों का भोग करते हैं।

अतः तीन पदार्थों की उपस्थिति इस जगत् में होनी सिद्ध है। निमित्त कारण परमात्मा, उपादान कारण प्रकृति और जगत् में भोक्ता जीवात्मा। केवल एक शंकराचार्य ही हैं जो यह मानते हैं कि यह जगत् मिथ्या है, परन्तु वह भी इसको युक्ति से मिथ्या सिद्ध नहीं कर सके। उपनिषदों के वाक्यों के भ्रान्त अर्थ करके

ही वह यह सिद्ध करने का यत्न करते हैं। सीधी सरल बात को नहीं मानते कि जगत् सत्य है। यह बना है। अतः इसके बनाने वाला (कुम्हार की भाँति) निमित्त कारण है और (कुम्हार की मिट्टी की भाँति) उपादान कारण भी है। वह प्रकृति है। इस लोक में रहने वाले प्राणी भी हैं।

यह है इस सूत्र का भावार्थ।

कुछ भाष्यकारों ने प्रसिद्ध बात ब्रह्म मानी है। हमारा इसमें यह मत है कि सूत्रकार का यह आशय नहीं। यदि ब्रह्म प्रसिद्ध अर्थात् भली-भाँति सिद्ध किया हुआ होता तो फिर ब्रह्म सूत्रों के लिखने की आवश्यकता ही न रहती।

सूत्रकार स्पष्ट(प्रत्यक्ष) बात से ब्रह्म की सिद्धि चाहता है। इस कारण उसने कहा है कि बात के प्रसिद्ध उपदेश से अथवा प्रसिद्ध बात के उपदेश अर्थात् कथन से ब्रह्म की सिद्धि होती है और वह स्पष्ट प्रत्यक्ष बात है जगत्।

महाभारत में एक प्रसंग मिलता है जब इस प्रकार का एक प्रश्न यक्ष द्वारा युधिष्ठिर से पूछा गया। प्रश्न है 'का वार्त्ता'? बात अर्थात् चर्चा किस बात की है?

इस प्रश्न के उत्तर में युधिष्ठिर ने कहा—

अस्मिन् महामोहमये कटाहे सूर्याग्निना रात्रिदिवेन्धनेन।
मासर्तुदर्वीपरिघट्टनेन भूतानि कालः पचतीति वार्ता॥

(महा भा० वन० ३१३-११८)

अर्थात्—इस महा मोक्ष रूपी कड़ाहे में भगवान् काल समस्त प्राणियों को मास तथा ऋतुओं की करछी से उलट-पुलटकर सूर्य रूपी अग्नि में एवं रात-दिन के ईंधन से राँध रहा है। यही वार्ता है।

अतः प्रसिद्ध बात जगत् है और उसके कथन से ब्रह्म की सिद्धि होती है। इस पाद के प्रथम सूत्र का यह अर्थ हमने अपने विचार से किया है। सूत्र के अर्थ करने में किसी वेदान्त वाक्य की सहायता की आवश्यकता नहीं।

सरल बात ही कही है कि—

जो सर्वत्र प्रसिद्ध है। उसके कथन से (ब्रह्म की सिद्धि होती है)।

प्रसिद्ध तो यही है कि हम हैं। यह जगत् है। यह बन और बिगड़ रहा है। इस प्रसिद्ध बात का अर्थ सूत्रकार ने यह बताया है कि इस जगत् का निमित्त कारण है। उपादान कारण है। और इसका प्रयोजन है जीवात्माओं को सुख और उनकी अनादि खोज, आनन्द की प्राप्ति के लिये अवसर प्रदान करना।

शास्त्र भी ऐसा ही मानते हैं तो यह एक पृथक् बात है। इससे शास्त्र की महिमा प्रदीप्त होती है, परन्तु सूत्र का अर्थ वही है जो हमने बताया है।

श्री ब्रह्म मुनि 'प्रसिद्धोपदेशात्' का अर्थ करते हैं, **'उपास्य रूप से प्रतिपादित किये हुए ब्रह्म का उपदेश होने से अन्यत्र संदिग्ध अथवा सन्देह युक्त**

स्थलों में केवल ब्रह्म ही उपास्य जानना चाहिये।'

यह सर्वथा स्वामी शंकराचार्यजी का मत है।

हमारा इसमें यह कहना है कि 'उपदेशात्' के सरल अर्थ 'कहने से' को छोड़ उपास्य ब्रह्म को बीच में लाने, संदिग्ध स्थलों को लाकर खड़ा कर देने में कुछ भी प्रयोजन नहीं था। क्योंकि स्वामी शंकराचार्य ने यह लिखा था, अतः ब्रह्ममुनिजी ने भी उसी का उल्लेख कर देना उचित समझा है।

परन्तु हम आगे चलकर बतायेंगे कि वेदान्त वाक्यों (उपनिशदों) में कुछ भी संदिग्ध नहीं। वे प्रायः स्पष्ट हैं। वास्तव में उनके समझने में हम ही भूल करते हैं।

अब तनिक देखें कि कौनसे वेदान्त वाक्य का प्रमाण दिया है, जिसका अर्थ स्पष्ट नहीं अथवा संदिग्ध है।

श्री स्वामी शंकराचार्य उदाहरण देते हैं छान्दोग्य उपनिषद् (३-१४-१, २) का। श्री स्वामी ब्रह्म मुनि भी इसी उदाहरण को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि यहाँ सन्देह होता है कि 'उपासीत्' क्रिया का उपास्य कौनसी वस्तु है?

श्री स्वामी शंकराचार्य भी इन्हीं शब्दों का प्रयोग करते हुए लिखते हैं—

इदमाम्नायते—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिंल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत', 'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः' इत्यादि। तत्र संशयः—

(छा०—३-१४-१, २)

विचित्र बात यह है कि श्री उदयवीर शास्त्री ने भी इसी उद्धरण को संशित मान इसका उल्लेख किया है। हमारा केवल यह कहना है कि जब एक बार स्वामी शंकराचार्य की इस धारणा को स्वीकार कर लिया कि वेदान्त वाक्य अस्पष्ट हैं और उन वाक्यों को स्पष्ट करने के लिए वेदान्त दर्शन लिखा गया है, तब स्वामी शंकराचार्य के पदचिह्नों पर चलते हुए भूल होगी ही।

तनिक इस उद्धरण की परीक्षा होनी चाहिये कि वह संशय जो इस उपनिषद् वाक्य की स्पष्टता पर किया गया है, वह कहाँ है और क्या उसका वेद प्रमाण से निवारण नहीं होता?

साथ ही यह देखना है कि वेदान्त दर्शन ने उसको स्पष्ट करने का कहीं संकेत अथवा प्रयास किया है?

उपनिषद् वाक्य इस प्रकार है—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिंल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति सक्रतुं कुर्वीत॥

मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः

सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः ॥

(छा०—३-१४-१, २)

इसका अर्थ इस प्रकार है—

यह सब निश्चय से ब्रह्म है। उससे जन्म होता है, उसी में लीन होता है और उसी से पालन होता है। शान्त चित्त से उसकी उपासना करनी चाहिये। वह निश्चय से क्रतुमय (निर्माण करने की योग्यता वाला) पुरुष है। जैसे इस लोक में (कार्य करने में समर्थ) वह पुरुष होता है, वैसा ही प्रेत्य (मरने के उपरान्त) योनि में होता है। (ऐसा जानकर) वह क्रतु यज्ञ अथवा कर्म करे।

दूसरे मन्त्र का अर्थ है :—

(मनोमयः प्राण शरीर भारूपः) वह निर्माण करता है मनोमय और प्राणमय शरीर प्रकाश (चेतनता) वाले। (यह प्रथम मन्त्र में भी बताया जा चुका है कि इस कार्य जगत् में प्राणी बनते और मरते हैं। अब उन प्राणियों की व्याख्या है।) मनोमय प्राणमय शरीर चेतनतायुक्त। (सत्य संकल्प) उनके संकल्प सत्य होते हैं। (अकाशात्मा) उनके आत्मा अव्यक्त होते हैं। (सर्व कर्मा सर्व कामः सर्व गन्धः सर्व रसः) इन प्राणियों में सब कर्म का मूल, कामनाओं का मूल, गन्ध और रसों का पाने वाला। वह आत्मा पूर्ण शरीर में व्याप्त रहता है।

इस उपनिषद् के अर्थ स्पष्ट हैं। अस्पष्ट उनके लिये हैं जो इसमें से वे अर्थ हठपूर्वक निकालना चाहते हैं, जो मिथ्या हैं। इस ब्रह्माण्ड में परमात्मा के अतिरिक्त दो अन्य मूल पदार्थ हैं। वे हैं जीवात्मा और प्रधान। इन तीनों को ब्रह्म माना गया है। बस यह बात स्वीकार कर लेने पर अर्थों में किसी प्रकार का भ्रम नहीं रह जाता। स्वामी शंकराचार्य ने यह मिथ्या बात मस्तिष्क में बैठा रखी है कि परमात्मा के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं और वह बात इस उपनिषद् से निकलती नहीं। अतः स्वामीजी को अर्थों में अस्पष्टता प्रतीत हुई है।

कुछ परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति को अनादि, अक्षर पदार्थ मानने वाले भी भ्रम में इस कारण फँस गये हैं कि वे श्वेताश्वतर उपनिषद् के कथन 'त्रिविधं ब्रह्म' को विस्मरण कर देते हैं।

अब देखिये, उक्त उपनिषद् का भाव क्या है? उपनिषद्कार ने लिखा है—यह निश्चय है कि यह पूर्ण (त्रिविधं) ब्रह्म है। जगत् में परमात्मा भी है, जीवात्मायें भी हैं और प्रधान भी है।'

आगे लिखा है (तज्जलानीति) यह उत्पन्न करता है, प्रलय करता है और पालन करता है। कौन करता है? यह हम (१-१-२ में) बता चुके हैं कि उत्पन्न, पालन और प्रलय में तीनों प्रकार के ब्रह्म भाग लेते हैं। ऐसे ही जैसे कि घड़े के बनने तथा प्रयोग में कुम्हार, मिट्टी और ग्राहक का भाग होता है।

आगे लिखा है कि शान्त चित्त से इसकी उपासना करनी चाहिये।

—११

उपासना का अर्थ पूजा, प्रशंसा अथवा याचना करना नहीं है। उप + आसन करना। समीप बैठना अर्थात् इन तीनों का ज्ञान प्राप्त करना।

भगवान् कृष्ण ने यह कहा है कि ब्रह्म के समग्र स्वरूप को जानना चाहिये। उसके जानने के उपरान्त पुन: कुछ जानने के लिये नहीं रह जाता। (भ० गी० ७-१, २) इस समग्र ज्ञान का आरम्भ अष्टधा-प्रकृति से किया है। उसमें अव्यक्त जीवात्मा का और परमात्मा पुरुषोत्तम का ज्ञान भी दिया है (भ० गी० ७-४, ५, ६)।

अत: यहाँ भी ब्रह्म के अर्थ तीनों मूल पदार्थों से लेने चाहिएँ और उपासना का अर्थ समीप बैठ, इनका समग्र ज्ञान प्राप्त करना ही है।

आगे लिखा है कि इस ब्रह्म में क्या-क्या है ? निश्चय (क्रतुमय) संकल्पमय पुरुष। उसमें (क्रतु: अस्मिन् लोके पुरुषो भवति) निर्मित इस जगत् (कार्य जगत्) में पुरुष (पुरुषो भवति तथेत:) पैदा होते हैं और (प्रेत्य भवति) मरते हैं। (सक्रतुं कुर्वीत) वह इस कार्य यज्ञ को करता है।

यहाँ प्राणी के कर्म, कामनाओं, इंद्रियों के विषयों और रसों के मूल अव्यक्त आत्मा को कारण बताया है। वह जीवात्मा ही है।

यह है उपनिषद् का अर्थ। सर्वथा स्पष्ट है। इसमें न तो कुछ समझाने को है और न ही दर्शनशास्त्र ने कुछ समझाया है।

हमारा यह विचारित मत है कि सूत्र १-२-१ का इस उपनिषद् से दूर का भी सम्बन्ध नहीं। सूत्र का सरल अर्थ है कि जगत् को सर्वत्र, प्रसिद्ध (बात) के बताने से यह पता चलता है कि जगत् है और यह (तीन पदार्थ) ब्रह्म है।

विवक्षितगुणोपपत्तेश्च ॥२॥

विवक्षित + गुणोपपत्तेः + च।

और कहे गये गुणों की स्पष्ट से उपपत्ति से।

विवक्षित के अर्थ हैं स्पष्टता से कहना। उपपत्ति के अर्थ हैं उपस्थित होना।

प्रथम सूत्र के साथ इस सूत्र को मिलाने से यह अर्थ बनते हैं कि जगत् का होना सर्वत्र प्रसिद्ध है और यह प्रसिद्धि गुणों की स्पष्ट उपस्थिति से है।

कुछ गुण हैं जो हमें बाह्य इन्द्रियों से अनुभव होते हैं। कुछ गुण ऐसे हैं जो हम अपने अन्तःकरण से अनुभव करते हैं। कुछ ऐसे भी लक्षण हैं, जिनको

हम अनुमान प्रमाण अथवा उपमान् प्रमाण से समझ पाते हैं। इन सबका सामूहिक अनुभव यह है कि जगत् है। यह निर्मित है, यह कार्य कर रहा है और इसका लय होगा। साथ ही इसके गुण भली-भाँति दिखाई देते हैं।

विवक्षित के अर्थ हैं कि स्पष्ट रूप से अनुभव में आने से। उपपत्तिः का अभिप्राय है समीप आ जाने से। अर्थात् समझ में आ जाने से।

प्रायः अन्य भाष्यकार इस सूत्र को उपनिषद् वाक्यों के स्पष्टीकरण में ही मानते हैं। उदाहरण के रूप में श्री स्वामी शंकराचार्य इस सूत्र का भाष्य करते हुए लिखते हैं—

तदिह ये विवक्षिता गुणा उपासनायामुपादेयत्वेनोपदिष्टाः सत्यसंकल्पप्रभृतयस्ते परस्मिन्ब्रह्मण्युपपद्यन्ते। सत्यसंकल्पत्वं हि सृष्टिस्थितिसंहारेष्वप्रतिबद्धशक्तित्वात्परमात्मन एवावकल्पते। परमात्मगुणत्वेन च 'य आत्माऽपहतपाप्मा' (छा० ८-७-१) इत्यत्र 'सत्यकामः सत्यसंकल्पः' इति श्रुतम्।

अर्थात्—इसलिए जो गुण उपासना के लिए उपादेय के रूप में उपदिष्ट होते हैं, वे सत्य संकल्प प्रभृति परब्रह्म में उपपद्य हैं। सत्य संकल्प ही सृष्टि, स्थिति, संहार अपरिमित शक्ति से ही परमात्मा में कल्पित किये जाते हैं। परमात्मा पापरहित है। (छा० ८-७-१) यहाँ सत्य काम और सत्य संकल्प परमात्मा के गुण-रूप में सुने जाते हैं।

इसका सरल भाषा में भाव यह है कि उपनिषद् वाक्य में जहाँ कहीं सत्य संकल्प, सत्य काम शब्द आये हैं, उसे परमात्मा के अर्थों में समझो। कारण यह कि इन्हीं गुणों वाले की उपासना अभीष्ट है।

यह बात तो ठीक है, परन्तु क्या यह सूत्र से प्रकट होती है? सूत्र में किसी भी उपनिषद् वाक्य का उल्लेख अथवा संकेत नहीं। न ही यहाँ उपासना का उल्लेख है।

सूत्र संख्या एक में यह लिखा है कि एक सर्वत्र प्रसिद्ध बात कही जाने से। दूसरे सूत्र में यह कहा गया है कि प्रसिद्ध क्यों है? यह प्रसिद्ध है स्पष्ट गुणों की विद्यमानता से।

स्वामीजी तथा उनकी परिपाटी के भाष्यकारों का यह कहना है कि उन गुणों की उपपत्ति केवल परमात्मा में ही हो सकती है और हम कह रहे हैं कि प्रसिद्ध बात है पूर्ण जगत् की। इस जगत् में गुण हैं परमात्मा के, जीवात्मा के और प्रधान (जड़ प्रकृति) के। बस इसी बात में अन्तर है।

उपासना के लिए अभी तक इन दो सूत्रों में कुछ भी उल्लेख नहीं। जगत् के गुणों की उपासना करें अथवा उसको जानकर क्या करें, यह अभी तक नहीं लिखा।

उपासना का अभिप्राय हम ऊपर लिख आए हैं और ब्रह्म के अर्थ हम कई बार बता चुके हैं।

भ० गी० ७-१, २, ३, ४, ५, ६ से यह स्पष्ट है कि पूर्ण जगत् का ज्ञान प्राप्त करने से ही कल्याण की आशा की जा सकती है। इसी को ब्रह्म की उपासना माननी चाहिए।

स्वामीजी ने छान्दोग्य (८-७-१) का उद्धरण दिया है। इस उद्धरण से भी तो वही बात प्रकट होती है, जो हमने कही है। उपनिषद्कार ने एक कथा के रूप में बात कही है।

एक बार देवताओं के राजा इन्द्र और असुरों के राजा विरोचन प्रजापति के पास यह जानने के लिए पहुँचे कि आत्मा क्या है ?

प्रजापति ने बता दिया कि जल के पात्र में अपना-अपना प्रतिबिम्ब देखो। बस वही आत्मा है।

इसका अर्थ दोनों भिन्न-भिन्न समझे। विरोचन यह समझा कि प्रतिबिम्ब तो शरीरादि वस्त्राभूषणों का था। बस वही आत्मा अर्थात् परमात्मा है। अतः असुर, शरीर की पूजा (सजाने) में लग गये।

इन्द्र को इससे सन्तोष नहीं हुआ। प्रजापति ने उसे कुछ और अधिक बता दिया। परन्तु उसे इस पर भी सन्तोष नहीं हुआ। वह कई बार प्रजापति के पास गया। अन्त में प्रजापति ने परम सूक्ष्म बात उसे बता दी। प्रजापति ने कहा—

आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतँ स आत्मा प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये··· (छा०—८-१४-१)

निश्चय से आकाश (निराकार परमात्मा) ही है जो नाम और रूपों (जगद् के पदार्थों) को (निर्वहिता) चलाने वाला है। (ते यदन्तरा तद्ब्रह्म) वे अर्थात् भिन्न-भिन्न नामों और रूपों वाली वस्तुएँ जिसके भीतर हैं, वह ब्रह्म है। वह (अमृत) अक्षर है। वह (जो चलाने वाला है) आत्मा है। हम उस प्रजापति की सभा अर्थात् संगत में उपस्थित हों···

इस वाक्य से सब बात समझ में आ जाती है और यह अन्तिम बात है जो प्रजापति ने इन्द्र को बताई। इस बात को सुनकर इन्द्र को सन्तोष हो गया।

इन्द्र और विरोचन प्रजापति के पास आत्मा के विषय में जानने के लिए गए थे। प्रजापति ने बताने का यत्न किया, परन्तु इन्द्र की समझ में तब तक नहीं आया जब तक प्रजापति ने यह नहीं बता दिया कि पूर्ण जगत् ब्रह्म है और उस पर नियन्त्रण करने वाला आत्मा है।

अब उपनिषद् के उस अंश को देखें, जिसका उद्धरण श्री स्वामीजी ने दिया है। वह इस प्रकार है—

य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सो पिपासः…

इसी मन्त्र के अन्त में लिखा है—

स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच। (छा०—८-७-१)

इसका अर्थ है कि जो आत्मा पापरहित है, अजर, अमर है, शोकरहित है, क्षुधा तथा पिपासा से रहित है…इत्यादि, जो उस आत्मा को जान लेता है, उसका साक्षात् कर लेता है; वह सब लोकों को और सारे मनोरथों को प्राप्त कर लेता है। ऐसा प्रजापति ने कहा है।

स्पष्ट है कि जो इस आत्मा (परमात्मा) को जान लेता है। कौन जान लेता है ? ज्ञाता और ज्ञेय भिन्न-भिन्न हैं और फिर सब लोकों और मनोरथों को प्राप्त कर लेता है तो लोक और मनोरथ भी भिन्न हैं।

यह निर्विवाद है कि ज्ञाता, ज्ञेय और लोक तीन पदार्थ हैं। प्रश्न केवल यह रह जाता है कि परमात्मा जिसे ज्ञेय का नाम दिया है केवल वह ही जानने योग्य है अथवा पूर्ण ब्रह्म (निमित्त कारण, उपादान कारण और जीव) सब कुछ जानने योग्य है। उल्लिखित उपनिषद् के प्रवक्ता का अभिप्राय है कि आत्मा (परमात्मा) जानने योग्य है। भाष्यकारों ने इसके साथ 'ही' शब्द अपने पास से लगा दिया है। उपनिषद् के शब्द हैं 'साऽन्वेष्टव्यः' वह जानने योग्य है। इसके अतिरिक्त और 'कुछ नहीं'। यह यहाँ नहीं लिखा।

यह बात यजुर्वेद (४०-१४) में लिखी है कि विद्या और अविद्या दोनों को जानना चाहिए। अविद्या के ज्ञान से मृत्यु को पार किया जा सकता है और विद्या के जानने से अमृत प्राप्त किया जा सकता है।

परन्तु सूत्रार्थों के साथ यह सब असंगत है। सूत्रार्थ तो है कि सर्वत्र प्रसिद्ध बात के कहने से (ब्र० सू० १-२-१) और (वह सर्वत्र प्रसिद्ध) उसके स्पष्ट दिखाई देने वाले गुणों से उपमेय होती है (सिद्ध होती है)।

वह सर्वत्र प्रसिद्ध पूर्ण दृश्य-अदृश्य जगत् है। इससे अधिक प्रसिद्ध और सिद्ध अन्य कुछ भी नहीं। सूत्रकार का अभिप्राय है कि मूल में परमात्मा जीवात्मा और जड़ (प्रधान) तीनों प्रसिद्ध हैं। परन्तु…

अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ॥३॥

अन्+उपपत्तेः+तु+न+शारीरः ।

(कुछ गुण) अनुपस्थित होने से शरीर तथा शरीरी नहीं हैं।

क्या नहीं है ? इसी विषय में स्वामी शंकराचार्य और प्रायः भाष्यकार कहते हैं 'उपास्य नहीं है'। अभी तक के तीनों सूत्रों में उपास्य शब्द लाकर इन सूत्रों की संगति उपनिषद् से लगाने का यत्न किया गया है। यह अकारण है।

उपनिषद् का जो उद्धरण श्री स्वामी शंकराचार्य तथा अन्य भाष्यकारों ने दिया है, वह छान्दो० (८-७-१) का है और वहाँ उपासना शब्द नहीं है। वहाँ जानने योग्य आत्मा (परमात्मा) तो लिखा है, परन्तु केवल वह ही जानने योग्य है, ऐसा नहीं लिखा।

अतः हमारा मत है कि सूत्र में उपासना का अर्थ यदि जानने से लिया जाये तो इस सूत्र के अर्थ इस प्रकार बनते हैं—

कुछ गुणों की अनुपपत्ति (अनुपस्थित) होने से शरीर और शरीरी नहीं है, (वह जिसमें वे गुण हैं)। अभिप्राय यह कि जो सर्वत्र प्रसिद्ध है उसके कुछ गुण शरीर और शरीरी में न होने से वे उन गुणों वालों से पृथक् हैं। यहाँ जगत् में तीन पदार्थ की भिन्नता प्रकट कर दी है।

भाष्यकार उपासना का क्या अर्थ समझते हैं, वह स्पष्ट नहीं। सम्भवतः वे उपासना को भक्ति-पूजा और फिर याचना के अर्थों में लेते हैं। इन अर्थों की तो सूत्रों में गंध भी नहीं। ये सूत्र शुद्ध वैज्ञानिक ढंग से आत्मा-परमात्मा और प्रकृति में भिन्नता प्रकट करने के लिए लिखे गये हैं।

देखिये, सूत्र के उपरान्त सूत्र में कैसे संगति बैठती चली जाती है। प्रसिद्ध बात बताने से (प्रथम सूत्र) जो बात स्पष्ट गुणों से दिखाई देती है, (दूसरा सूत्र) कुछ गुण शरीर और शरीरी में न होने से प्रसिद्ध वस्तु में भेद दिखाई दिया है। अर्थात् उस प्रसिद्ध वस्तु में एक से अधिक मूल पदार्थ हैं।

कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च ॥४॥

कर्म+कर्तृ+व्यपदेशात्+च ।

और कर्म और कर्त्ता के (भिन्न-भिन्न) कहे जाने से।

कर्म है 'भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः' (भ० गी०—८-३) भूत (प्राणियों) के भाव (रूपादि) को उत्पन्न करने वाला और उनका विसर्ग

(प्रलय) करने वाला कर्म है ।

अभिप्राय यह कि जगत् का निर्माण, पालन और प्रलय कर्म है और इसके करने वाला कर्त्ता (परमात्मा) है ।

(उपदेशात्) बताये जाने से ।

अर्थात्—जो सूत्र (३) में लिखा है कि कुछ गुणों के अनुपस्थित होने से शरीर और शरीरी, वह नहीं है जो उन गुणों के रखने वाला है । अब गुणों में भेद की ओर संकेत किया है । वह (जगत्) इस प्रकार से कि एक कर्म है, दूसरा (परमात्मा) कर्त्ता है । कार्य जगत् जिसमें प्राणी भी है, वह कर्म है और कर्त्ता परमात्मा है ।

ब्रह्मसूत्र के प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद में क्रमवार परमात्मा और जीवात्मा में विलक्षणता का वर्णन किया गया है ।

द्वितीय पाद के सूत्रों की व्याख्या में हमने प्रायः अन्य भाष्यकारों का बीच में उपासना को ले जाने का खण्डन किया है । यहाँ परमात्मा और जीवात्मा में भेद प्रकट करते हुए कहा है कि कर्त्ता है परमात्मा । जीवात्मा कर्म का कर्त्ता नहीं । अर्थात् उस कर्म को करने में असमर्थ है, जिस कर्म की व्याख्या भगवद्-गीता (८-३) में की है ।

शब्दविशेषात् ॥५॥

शब्द+विशेषात् ।

शब्द प्रमाण से भी परमात्मा और जीवात्मा में विशेषता से (भिन्नता) (बताई है) ।

उक्त चार सूत्रों में जगत्, उसमें परमात्मा-जीवात्मा और प्रकृति के विस्मय में और उनमें गुणों का भेद बताकर कह दिया है कि वेदादि शास्त्रों में भी ऐसा ही वर्णन किया हुआ है । क्या वर्णन किया है ? यही कि परमात्मा-जीवात्मा (शरीरी) से भिन्न है ।

सूत्र (अ० सू० १-२-१, २, ३, ४) में सिद्धान्त की बात कही है और फिर सूत्र संख्या पाँच में कह दिया है कि जो कुछ हमने ऊपर सिद्ध किया है, वह शब्द प्रमाण से भी सिद्ध होता है ।

शब्द प्रमाण से हमारा अभिप्राय वेद प्रमाण से ही है । उपनिषदादि ग्रन्थों को हम गौण प्रमाण मानते हैं । वे इस सीमा तक ही प्रमाण हैं जहाँ तक वे वेदानुकूल हैं ।

इस अध्याय के दूसरे पाद के सूत्र संख्या १, २, ३, ४ में छान्दोग्य उपनिषद् (८-७-१) का प्रमाण शंकराचार्य और अन्य कई भाष्यकारों ने दिया है। हमने छान्दोग्योपनिषद् के आठवें प्रपाठक के सात, आठ, नौ, दस, ग्यारह और बारह खण्डों का भाव बताया है। उसमें वह बात सिद्ध होती नहीं, जो श्री स्वामी शंकराचार्य सिद्ध करना चाहते हैं। वह यह बताना चाहते हैं कि उक्त ब्रह्मसूत्रों में उपास्य देव केवल परमात्मा है। हमने बताया है कि उपास्य तथा उपासना का उल्लेख सूत्रों में नहीं है। ये सूत्र केवल परमात्मा और जीवात्मा में भेद स्पष्ट करने के लिए लिखे गये हैं तथा इनमें प्रसिद्ध बात (जगत्) में गुणों से कर्म और कर्त्ता में भेद बताया गया है।

अलंकारिक रूप में ऋ० १-१६४-२० में तो बताया ही है कि एक वृक्ष पर दो पक्षी बैठे हैं। एक फलों को खाता है और दूसरा साक्षी मात्र है। इसी सूक्त का एक अन्य मन्त्र है—

न वि जानामि यदि वेदमस्मि निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि।
यदा मागन्प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः॥
(ऋ० १-१६४-३७)

मन से सन्नद्ध हुआ (जन्म-जन्मान्तर में) चलने वाला मैं कौन हूँ, छुपा हुआ मैं नहीं जानता। जब मैं पहले ऋत् (ज्ञानकारक) इन्द्रियों से सम्बद्ध हुआ। इस वाणी के भोग अर्थात् सत्य ज्ञान को प्राप्त हूँ।

इससे अगले मन्त्र में उक्त संशय का उत्तर दिया है—

अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्यन्यं चिक्युर्नु नि चिक्युरन्यम्॥
(ऋ० १-१६४-३८)

वह (जीवात्मा) प्रकृति से संयुक्त होकर जन्म लेता है अर्थात् निकृष्ट योनियों अथवा उच्च योनियों में जाता है।

(शाश्वत) अर्थात् आत्मा तथा नाशवान् अर्थात् देह इकट्ठे हो जाते हैं। (लोग) एक (देह) को जान लेते हैं और दूसरे आत्मा को नहीं जान पाते।

इस प्रकार अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, जहाँ जीवात्मा और परमात्मा में भेद बताया गया है।

स्मृतेश्च ॥६॥

स्मृतेः+च ।

और स्मृतियों में भी यही बात बताई गई है ।

क्या बताई गई है ? यही कि जीवात्मा और परमात्मा भिन्न-भिन्न हैं ।

स्मृति से अभिप्राय मनुष्य-कृत ग्रन्थों से है। श्री स्वामी शंकराचार्य इस सूत्रार्थ को स्पष्ट करने के लिए भगवद्गीता का प्रमाण देते हैं।

प्रश्न है कि क्या स्पष्ट करने के लिए उद्धरण दिया है ? निस्सन्देह जो ऊपर के सूत्रों में कहा है। ऊपर के सूत्रों में कहा है कि प्रसिद्ध वस्तु की चर्चा से पता चलता है कि उसके गुण मूल पदार्थों के गुण हैं, परन्तु कुछ गुण शरीरी में नहीं पाये जाते। कर्म और कर्त्ता के गुण शरीरी (जीवात्मा) में नहीं हैं।

परन्तु स्वामीजी उदाहरण देते हैं—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

(भ० गी० १८-६१)

सब प्राणियों के हृदय-देश में ईश्वर रहता है। सब प्राणी शरीर रूपी यन्त्र में बँधे हुए मेरी शक्ति से भ्रम में फँसे रहते हैं।

इसकी पूर्व के सूत्रों में कही बात से किंचिन्मात्र भी संगति नहीं।

आचार्य उदयवीर शास्त्री ने स्मृति में से निम्न प्रमाण दिया है—

एकोऽहमस्मीत्यात्मानं यत्त्वं कल्याण ! मन्यसे ।
नित्यं स्थितस्ते हृद्येष पुण्यपापेक्षिता मुनिः ॥

(मनु० ८-९१)

अर्थात्—न्यायाधीश साक्षी को कहता है कि हे भले आदमी, यदि तुम ऐसा मानते हो कि तुम अकेले थे जब तुमने पाप किया था, तुमको किसी ने देखा नहीं। यह ठीक नहीं। तुम्हारे हृदय में नित्य विराजमान परमात्मा पुण्य-पाप को देखता था।

इससे भी अधिक स्पष्ट मनुस्मृति का यह प्रमाण है—

युगपत्तु प्रलीयन्ते यदा तस्मिन्महात्मनि ।
तदायं सर्वभूतात्मा सुखं स्वपिति निर्वृतः ॥
तमोऽयं तु समाश्रित्य चिरं तिष्ठति सेन्द्रियः ।
न च स्वं कुरुते कर्म तदोत्क्रामति मूर्तितः ॥
यदाणुमात्रिको भूत्वा बीजं स्थास्नु चरिष्णु च ।
समाविशति संसृष्टस्तदा मूर्तिं विमुञ्चति ॥

(मनु० १-५४, ५५, ५६)

अर्थात्—जब एकाएक प्रलय होती है तब उस परमात्मा में सब प्राणी लीन हो जाते हैं। तब सब प्राणियों की जीवात्मा संसार से निवृत्त होकर सुख से सोती है।

जब जीवात्मा चिरकाल तक इन्द्रियों के साथ तमोभूत रहने के उपरान्त अपना कर्म करना छोड़ देता है, तब यह शरीर से निकल जाता है।

जब यह अणुमात्र होकर स्थावर अथवा चर प्राणियों के बीजों में प्रवेश करता है तब (नवीन) प्रकृति के सम्पर्क में आकर (पूर्व) देह को छोड़ देता है।

जीवात्मा के इन्द्रियों के भोग भोगते हुए थककर शरीर छोड़ना और फिर अणु रूप हो बीच में प्रवेश कर नये स्थावर अथवा चर प्राणी के शरीर में जाना तथा प्रलय के समय प्राणी के शरीर का तो परमात्मा में लीन हो जाना और जीवात्मा का सुखपूर्वक सोना, जीवात्मा का परमात्मा से पृथकता का वर्णन है।

स्वामी शंकराचार्य मानते हैं कि परमात्मा ही सब-कुछ है और परमात्मा के अतिरिक्त कुछ नहीं। इस असिद्ध बात को सिद्ध करने के लिए उन्होंने इन सूत्रों के अर्थ और भाव को विकृत करने का यत्न ही किया है। इन सूत्रों में परमात्मा और आत्मा की भिन्नता प्रकट की है और स्वामीजी यह सिद्ध करने का यत्न कर रहे हैं कि इनमें केवल परमात्मा का अस्तित्व ही सिद्ध होता है।

आपने उपनिषद् वाक्यों की अस्पष्टता को सूत्रों से स्पष्ट करने का यत्न किया है और जहाँ ब्रह्म का उल्लेख है, वहाँ आत्मा (परमात्मा) मान लिया है और कह दिया है कि ऐसा सूत्रकार का मत है।

उपनिषद् वाक्य अस्पष्ट नहीं हैं और यदि कहीं हैं भी तो उसके अर्थों का संशोधन वेदमत से करना चाहिए, न कि किसी अन्य पौरुषेय ग्रन्थ से।

आपने एक उदाहरण (छा० ८-७-१) का दिया है। इसके विषय में हम ऊपर लिख चुके हैं।

यदि यहाँ कुछ संदिग्ध है तो उसका संशोधन वेदों से होना चाहिए।

इसी प्रकार एक अन्य उदाहरण लिखा है बृहदारण्यक उपनिषद् का (३-७-२३)। इसमें भी पूर्ण सातवाँ खण्ड देखें तो एक भिन्न ही बात दिखाई देगी।

बृहदारण्यक ३-७ के १ से २३ मन्त्र तक पढ़ें तो पता चलेगा कि यह परमात्मा के लिए नहीं लिखे। वहाँ कथा इस प्रकार है: एक बार अरुणी के पुत्र उद्दालक ने याज्ञवल्क्य मुनि को कहा कि क्या वह उस सूत्र के विषय में जानता है, जिससे पूर्ण जगत् संचालित होता है! यदि नहीं जानता तो वह ब्राह्मणों के लिए लाई गौओं को ले जाकर पाप करेगा। (३-७-१) याज्ञवल्क्य ने कहा कि वह जानता है कि वह कौन-सा सूत्र है, जिससे जगत् संचालित हो रहा है।

याज्ञवल्क्य ने बताया कि सुनो, 'स होवाच वायुर्वै गौतम'…

हे गौतम ! वह वायु है। (बृ० उ० ३-७-२)

वायु परमात्मा को उसी प्रकार कहते हैं कि जैसे आकाश परमात्मा को कहते हैं। आकाश परमात्मा नहीं, वह परमात्मा का लिंग है। यह हम ऊपर प्रथम पाद (सूत्र १-२-२२) की व्याख्या में बता चुके हैं। इसी प्रकार वायु परमात्मा नहीं। यह परमात्मा का लिंग है। यह परमात्मा की सामर्थ्य है, जैसे अग्नि है। इससे पूर्ण जगत् में गति सम्पन्न होती है। यह सामर्थ्य परमात्मा की हैं।

इसी को कहा है कि यह पृथिवी में है। पृथिवी से बाहर भी है, पृथिवी इसे नहीं जानती। पृथिवी इसका शरीर है। (बृहद० ३-७-३)

इसी प्रकार जगत् के भिन्न-भिन्न पदार्थों का नाम लेकर बताया है। यहाँ ध्यान देने के योग्य है कि पृथिवी, अप:, अग्नि:, दिशा, सूर्य और भौतिक वायु है। (बृहद० ३-७-१ से १४ पर्यन्त)

प्रत्येक मन्त्र के अन्त में यह लिखा है—

'यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः।' इस पद से विभ्रम उत्पन्न हुआ है, परन्तु पूर्व के भाव को देखें तो भ्रम नहीं रहता। इस पद का अर्थ हैं कि (यमा इति एवं त आत्मान्तर्यामी अमृत:), यमा है यह जो अन्तर्यामी अमृत है। दो शब्द यहाँ विशेष आये हैं। यमा है संचालन करने वाला, चलाने वाला, नियन्त्रण करने वाला। अन्तर्यामी के अर्थ साधारण भाषा में आत्मा के लिए जाते हैं, परन्तु आत्मा इस कारण लिए जाते हैं कि वह भी भीतर से शरीर का संचालन और नियन्त्रण करता है। यहाँ वायु भी यही करती बतायी है। अतः इस स्थान पर अन्तर्यामी से अर्थ वायु है।

मोनियर विलियम ने अन्तर्यामी के अर्थ 'soul' के अतिरिक्त यह भी लिखा है, 'Checking or regulating the internal feelings'.

अतः हमारा मत है कि बृहदारण्यक उपनिषद् में एक तो यह लिखा है कि वायु वह सूत्र है, जिससे जगत् संचालित होता है। साथ ही यह भी लिखा है कि सब गतिशील पदार्थों में वायु है। वायु उनके बाहर भी है। वे पदार्थ वायु को नहीं देखते। वे वायु का शरीर हैं। अभिप्राय यह कि जगत् वायु नहीं। जगत् वायु से पृथक् है।

प्रत्येक मन्त्र के अन्त में लिखा है (यमा) वह जो जगत् का संचालन करती है, वही है जो तुम्हारे (उद्दालक के) भीतर से नियन्त्रण कर रही है। वह भीतर अक्षर है अथवा वायु अमर है। कुछ भी हो। यहाँ परमात्मा का उल्लेख नहीं।

इसी खण्ड के मन्त्र १४ के उपरान्त लिखा है, 'इत्यधिदैवतमथाधिभूतम्।'

अभिप्राय यह कि ३ से १४ तक तो देवताओं (अन्तरिक्ष के दिव्य पदार्थों) के विषय में लिखा है और अब अधिभूतों (प्राणियों) के विषय में लिखेंगे।

प्राणी के विषय में भी वैसा ही लिखा है कि वायु उनमें है। वायु उनसे बाहर भी है। प्राणी उनको नहीं जानते। वह ही सामर्थ्य है जो प्राणी के भीतर बैठी हुई उसका संचालन करती है।

मन्त्र १५ के अन्त में लिखा है, 'इत्यधिभूतमथाध्यात्मम्।'

यह प्राणियों के विषय में लिखा है। अब अध्यात्म के विषय में लिखेंगे। अध्यात्म से अभिप्राय आत्म तत्त्व के विषय में है।

अब आगे (बृहद० ७-३-१६ से २३ मन्त्र तक) यह लिखा है कि प्राण, वाक्, चक्षु, श्रोत्र, त्वक्, मन, बुद्धि और रेतस् सब वायु से संचालित हैं। इनसे बाहर भी हैं, इनके भीतर भी हैं। प्राण, वाक् इत्यादि वायु नहीं। ये वायु का शरीर हैं। प्रत्येक मन्त्र के अन्त में वही बात लिखी है कि यही संचालक वायु तुम्हारे अन्तर्यामी भीतर से संचालन एवं नियन्त्रण करने वाली है। वह अक्षर है।

वायु को अमर इस कारण कहा है कि जिसकी यह सामर्थ्य है, वह अमर है।

कुछ भी हो। यह निश्चय है कि सूत्रों में इस संचालन और नियन्त्रण करने वाले का उल्लेख नहीं। वहाँ कर्त्ता (ब्र० सू० १-२-४) का कर्म (जगत्) से भिन्नता प्रकट करने के लिए लिखा है।

उपासना का शब्द इसमें भी नहीं है। यह सामर्थ्य की बात इस एक उदाहरण से स्पष्ट हो जायेगी। एक मोटरगाड़ी है। उस मोटर को चलाने की शक्ति पैट्रोल की है। चलाने वाले चालक और मोटर से यह भिन्न है। न तो मोटर पैट्रोल है, न ही चालक। इसी प्रकार जगत् है। इसमें देवता हैं, प्राणी हैं और आत्मा हैं। ये तीनों वह शक्ति (वायु) नहीं, जो जगत् (देवता, प्राणी तथा भीतर से संचालन करने वाली) की सामर्थ्य है। जगत्-रूपी मोटर में ड्राइवर जीवात्मा का यहाँ उल्लेख नहीं। यहाँ पैट्रोल का वर्णन है।

इस उपनिषद् के पूर्ण उद्धरणों को देने से हमारा प्रयोजन यह है कि ऊपर का सूत्र इनके विषय में नहीं है। वे पृथक् हैं।

अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च ॥७॥

(अर्भकौकस्त्वात् + तत् + व्यपदेशात् + च + न + इति + चेत् + न + निचाय्यत्वात् + एवं व्योम वत् + च)

और बहुत छोटे से स्थान वाला होने और वैसा कहे जाने से नहीं। यदि ऐसा कहा जाता तो यह ठीक नहीं और निश्चय (साक्षात्कार) होने से इस प्रकार आकाशवत् है।

यहाँ पुनः आत्मा और परमात्मा में भेद प्रकट किया है। आत्मा हृदय की गुहा में रहता है। गुहा बहुत छोटा-सा स्थान है और परमात्मा का साक्षात् करने से अथवा निश्चय करने से आकाश की भाँति सर्वव्यापक है। दोनों में अन्तर है।

जीवात्मा का प्रभाव शरीर से बाहर नहीं दिखायी देता और परमात्मा का प्रभाव सर्वत्र है। अतः दोनों भिन्न-भिन्न हैं। परमात्मा आकाश की भाँति सर्वव्यापक है। दोनों का साक्षात्कार तो उस छोटे-से स्थान गुहा में ही होता है। परमात्मा सर्वत्र होने से वहाँ भी होता है और जीवात्मा केवल वहीं रहता है। इस कारण दोनों वहाँ सम्पर्क में रहते हैं।

यह भेद इस प्रकार प्रकट किया गया है।

बहुत छोटे से स्थान में होने वाला कहे जाने से वह (छोटा) नहीं। जीवात्मा भी उस छोटे से स्थान में रहता है। वह छोटा है। दोनों में भेद यह है कि यह निश्चय करने से आकाशवत् व्यापक दिखायी देता है (परन्तु जीवात्मा का प्रभाव शरीर से बाहर नहीं। अतः वे एक-दूसरे से भिन्न हैं।)

संभोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् ॥८॥

संभोगप्राप्तिः + इति + चेत् + न + वैशेष्यात् ॥

यदि कहो कि सम्भोग प्राप्ति है (तो) नहीं। (कारण) विशेष गुणों से।

जब यह निश्चय हुआ कि हृदय की गुहा में जीवात्मा और परमात्मा साथ-साथ रहते हैं तो स्वाभाविक प्रश्न होता है कि जीवात्मा भोग करता है तो क्या वह भोग परमात्मा को भी प्राप्त होता है? यदि यह कहें कि साथ-साथ होने से समान रूप में दोनों द्वारा भोग हो सकता है। इस पर सत्रकार कहता

है कि नहीं। ऐसा नहीं होता। कारण यह कि दोनों के गुणों में विशेषता है।

क्या विशेषता है ?

एक अज्ञ है और दूसरा ज्ञानवान् है। (श्वेताश्वतर० १-९)। अज्ञानी सांसारिक भोगों में लिप्त हो जाता है, परन्तु जो सर्वज्ञ है, वह लिप्त नहीं होता।

केवल उपनिषद् के कहने से ही नहीं, वरन् यह प्रत्यक्ष है कि प्राणी में जीवात्मा सर्वज्ञ नहीं। उसको न तो कुछ दूर भूत की, न ही कुछ भविष्य काल की बात का ज्ञान होता है और परमात्मा के विषय में तो यह मानना ही पड़ता है कि वह त्रिकालज्ञ है, अपार ज्ञान का स्वामी है।

दोनों में भेद का यह स्पष्ट वर्णन स्वाभाविक रूप में स्वामी शंकराचार्य को चिन्तित करने वाली बात है। स्वामीजी मानते हैं कि ब्रह्म के अतिरिक्त जीव है ही नहीं। तो फिर जब जीवात्मा भोग प्राप्त करता है तो परमात्मा क्यों नहीं ? दोनों में, स्वामीजी के कथनानुसार, भेद नहीं।

इस पर भी स्वामीजी ने इस सूत्र में टेढ़ी-मेढ़ी युक्तियाँ प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।

स्वामीजी पूर्व पक्ष लिखकर कि जब जीव और ब्रह्म एक ही हैं और ये परस्पर सान्निध्य में रहते हैं तो फिर एक का भोग दूसरे को भी प्राप्त होना चाहिये। इस पूर्व पक्ष का आप जो उत्तर देते हैं वह बहुत विचित्र है। आप लिखते हैं—

"न वैशेष्यात्। न तावत्सर्वप्राणिहृदयसंबन्धाच्चिद्रूपतया च शारीरवद्ब्रह्मणः संभोगप्रसङ्गः; वैशेष्यात्। विशेषो हि भवति शारीरपरमेश्वरयोः। एकः कर्ता भोक्ता धर्माधर्मादिसाधनः सुखदुःखादिमांश्च। एकस्तद्विपरीतोऽपहतपाप्मत्वादिगुणः एतस्मादनयोर्विशेषादेकस्य भोगो नेतरस्य।"

अर्थात्—पूर्व पक्ष को अस्वीकार करते हुए आप कहते हैं, परमात्मा भोग नहीं करता। अपनी-अपनी विशेषताओं के कारण सब प्राणियों के हृदय में सम्बन्ध से और चैतन्य रूप होने से, जीव के समान ब्रह्म में भोग प्राप्ति नहीं। (अपनी-अपनी) विशेषता के होने से। शरीरी और परमेश्वर में वैशेष्य है ही। एक कर्त्ता है, भोक्ता है, धर्म-अधर्म में साधन है और सुख-दुःखादि वाला है। दूसरा पहले से विपरीत पाप इत्यादि से रहित गुणों वाला है। इस प्रकार दोनों में विशेषता होने से एक भोग करता है, दूसरा नहीं।

यह है स्वामीजी महाराज की युक्ति। एक कर्त्ता है, भोक्ता है, धर्म-अधर्म में साधन है और दूसरा इसके विपरीत है। इस कारण एक भोक्ता है और दूसरा नहीं। यह थोथी युक्ति स्वामीजी ने की है।

और भी देखिये—

यदि च संनिधानमात्रेण वस्तुशक्तिमनाश्रित्य कार्यसंबन्धोऽभ्युपगम्येत, आकाशादीनामपि दाहादिप्रसङ्गः ।

यदि यह कहो कि सान्निध्य मात्र से, वस्तु की सामर्थ्य का विचार किये बिना कार्य का सम्बन्ध माना जाये तो आकाशादि में भी जलने का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायेगा ।

यह स्वामीजी ने ठीक लिखा है कि सान्निध्य होने मात्र से कर्म की समानता में कोई युक्ति नहीं, परन्तु कर्म-भेद में भी तो यह युक्ति नहीं । कर्म में भेद गुण की विशेषता के कारण है और स्वामीजी ने जो कुछ ऊपर लिखा है वह गुणों में भेद नहीं, वरन् कर्मों में ही भेद बता दिया है ।

अब आप आगे पुनः युक्ति करने लगे हैं । आप लिखते हैं—

सर्वगतानेकात्मवादिनामपि समावेतौ चोद्यपरिहारौ ।

अर्थात्—सर्वव्यापक अनेक आत्माओं के मानने वालों के लिए भी वही समाधान है, जो ऊपर दिया है ।

आपने लिखा कि 'अनेक आत्माओं के और उनके सर्वव्यापक होने को मानने वाले ।' यह पक्ष किन का है ? जो आत्माओं को अनेक मानेंगे, वह आत्मा को सर्वव्यापक नहीं मान सकते । यह बुद्धि से बाहर की बात है ।

अनेक होने से ही वे सर्वव्यापक नहीं हो सकते । सर्वव्यापक तो वह होता है जो एक हो, जो विभु हो । हाँ, यह कहा जा सकता था कि आत्माएँ सर्वत्र हैं । सर्वत्र और सर्वगतान् में अन्तर है । सर्वत्र का अर्थ है कि अनेक आत्माएँ हैं और वे सब लोकों में हैं, परन्तु क्या वे पत्थर और ईंट में भी हैं, पहाड़ और नदी-नाले में भी हैं ? नहीं । सर्वत्र का यह अर्थ नहीं । जब हम सर्वव्यापक कहते हैं तो अभिप्राय यह होता है कि सब वस्तुओं में ओत-प्रोत ।

जब अनेक हैं तो प्रत्येक की सीमा होगी । सीमा होगी तो सर्वव्यापक नहीं हो सकतीं ।

यह मिथ्या पूर्व पक्ष देकर स्वामीजी कहते हैं कि इस प्रकार मानने वालों का भी वही समाधान है । क्या समाधान है ? यही न कि परमात्मा भोग नहीं करता और जीव करता है । क्योंकि परमात्मा भोक्ता और कर्त्ता नहीं और जीव भोक्ता और कर्त्ता है ।

हमारा यह कहना है कि जीवात्मा और परमात्मा का हृदय की गुहा में सान्निध्य होने पर दोनों के कर्म समान नहीं; क्योंकि दोनों के गुणों में भिन्नता है । एक अज्ञानी है और दूसरा ज्ञानवान् है । व्यर्थ और हानिकर बातों को करना तथा वस्तुओं का भोग करना अज्ञान के लक्षण हैं ।

स्वामीजी इस बात का भास तो करते हैं कि जीवात्मा अज्ञानी होने से भोग में फँस जाता है, परन्तु जीव और ब्रह्म को एक मान लेने के उपरान्त

वे एक को ज्ञानवान् और दूसरे को अज्ञानी नहीं मान सके। परस्पर-विरोधी गुण एक ही पदार्थ में नहीं हो सकते। अतः आपने एक अन्य विशेषण घड़ा है। आप लिखते हैं—

अथागृहीतं शारीरस्य ब्रह्मणैकत्वं, तदा मिथ्याज्ञाननिमित्तः शारीरस्योपभोगः।

अब शरीरी का ब्रह्म के साथ एकत्व अस्वीकार किया है तो मिथ्या ज्ञान के कारण शरीरी की भोग प्रवृत्ति है।

भला मिथ्या ज्ञान और अज्ञान में क्या अन्तर है? एक सर्वज्ञ मिथ्या ज्ञानी क्यों हो गया? क्या (स्वामीजी की मान्यता के अनुसार) एक-दूसरे की उपज नहीं हैं? सर्वज्ञ को मिथ्या ज्ञान नहीं होना चाहिये। वास्तव में यह मिथ्या पक्ष को सिद्ध करने का असफल प्रयास ही है।

आकाश कड़ाही के तल की भाँति गोल दिखाई देता है। यह ठीक है, परन्तु इसको ऐसा मानता तो वही है जो अज्ञानी है। पूर्ण ज्ञान रखने वाला जान जायेगा कि आकाश की गोलाई नहीं, वरन् यह उसकी दृष्टि की सीमा है जो आकाश को ऐसा दिखा रही है। बालक की भाँति अज्ञानी ही इस मिथ्या भास को सत्य स्वीकार करेंगे। प्रश्न यह है कि ज्ञानी मिथ्या ज्ञानी हुआ कैसे?

अतः जीवात्मा अज्ञानी है और वह परमात्मा से भिन्न है जो सर्वज्ञ है। इसी कारण संसार का यह भोग करता है और परमात्मा नहीं करता।

अत्ता चराचरग्रहणात् ॥६॥

अत्ता + चराचर + ग्रहणात्।

चर और अचर को खा जाने वाला होने से (परमात्मा में विशेषता है)।

चर और अचर (स्थावर और जंगम) प्राणियों के जीवन को समाप्त करने वाला परमात्मा ही है, जीवात्मा नहीं। यह सूत्र भी दोनों में भेद बताता है।

अत्ता के अर्थ खा जाने वाला, जैसे रोटी खाने वाला ग्रास-ग्रास कर खाता है, वैसे ही चराचर प्राणियों की आयु थोड़ी-थोड़ी कर समाप्त की जाती है। प्राणी का जीवन क्यों समाप्त होता है? शरीर में घिसाई (wear and tear) होती है। वह उसके करने से होती है, जिसने शरीर में चलने की शक्ति उत्पन्न की है। यह वायु, जो परमात्मा का लिंग है, के कारण है। अतः जिसने चलने

की सामर्थ्य दी है, उसने ही घिसाई बनाई है।

जीवात्मा यह चाहता है कि उसका शरीर सदैव चलता रहे। अपनी सामर्थ्यानुसार वह इसे चालू रखने का यत्न भी करता है, परन्तु अन्त में शरीर वृद्धता को प्राप्त होता है और वह समाप्त हो जाता है। यही अर्थ है खाये जाने का।

स्थावर जंगम प्राणियों को खा जाने वाला ईश्वर है, जीवात्मा नहीं। यह बात भी दोनों में भेद बताती है। जीवात्मा शरीर में भोग करता हुआ सदा के लिये बना रहना चाहता है, परन्तु कोई उच्च स्तर की शक्ति है जिसने शरीर निर्माण किया था और वह ही इसमें ह्रास उत्पन्न कर रहा है। यह परमात्मा है। अतः दोनों में भेद है।

प्रायः भाष्यकारों ने यह अपना धर्म समझ रखा है कि प्रत्येक सूत्र की व्याख्या में किसी उपनिषद् के वाक्य का उद्धरण दें। यह बात ठीक होते हुए भी व्यर्थ है। उक्त युक्ति और संसार के अनुभव की विद्यमानता में उपनिषद् वाक्यों के प्रमाणों की आवश्यकता नहीं। सूत्रार्थ प्रकट करने के लिये प्रमाण की आवश्यकता नहीं। हाँ, वेदान्त-वाक्यों की महिमा गान करने के लिये कि वे सर्वथा युक्ति-युक्त होते हुए सत्य का निरूपण करते हैं, वेदान्त-वाक्यों का उल्लेख समझ में आ सकता है।

प्रकरणाच्च ॥१०॥

प्रकरणात्+च।

और प्रकरण से भी यही पता चलता है (कि परमात्मा जीवात्मा से भिन्न है)।

किस प्रकरण से? जो चल रहा है।

प्रकरण का अर्थ है कि पूर्वापर की संगति से। यहाँ प्रकरण से अभिप्राय इसी दर्शन में जो कुछ ऊपर लिखा गया है और जो कुछ आगे लिखा जाने वाला है उससे है।

स्वामी ब्रह्म मुनि इस सूत्र के भाष्य में लिखते हैं:—

'यहाँ प्रकरण परमात्मा के भोक्ता होने का नहीं है, किन्तु उसकी शक्ति का प्रदर्शन करते हुए उसका जानना (प्राप्त करना) चल रहा है।' यह बात ठीक प्रतीत नहीं होती।

अभिप्राय यह कि जीवात्मा की तुलना में परमात्मा की सामर्थ्य का उल्लेख

—१२

सूत्रों में आ रहा है। यही प्रकरण है और इससे पता चलता है कि दोनों में भेद है।

गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ॥११॥

गुहां+प्रविष्टौ+आत्मानौ+हि+तद्+दर्शनात्।

गुहा में दो आत्मा प्रविष्ट हुओं के दर्शन करने से (यह पता चलता है कि दोनों में अन्तर है)।

जहाँ तक सूत्र का सम्बन्ध है किसी प्रकार का विवाद नहीं, परन्तु शंकराचार्यजी तथा उनकी परिपाटी के लोग अपना कर्त्तव्य बना बैठे हैं कि सूत्र के सरल सीधे अर्थों को स्पष्ट करने के लिये किसी उपनिषद् वाक्य का उद्धरण दें। उन उद्धरणों के देने से उपनिषद् वाक्य स्पष्ट होते हैं अथवा नहीं होते, हाँ! सूत्रार्थों में भ्रम अवश्य पड़ जाता है।

इस सूत्र के भाष्य में यही बात हुई है। सूत्र के अर्थ तो स्पष्ट हैं कि गुहा में दो आत्माओं के प्रविष्ट हुओं के दर्शन से परमात्मा और जीवात्मा में भेद प्रकट हो जायेगा।

परन्तु स्वभावानुसार उक्त सूत्र के भाव से मिलता-जुलता कठोपनिषद् का एक मन्त्र दे दिया है। मन्त्र है :—

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः॥

(कठो० १-३-१)

इस मन्त्र के अर्थ हैं—(ऋतं) सत्य को (पिबन्तौ) पान करते हुए (सुकृतस्य लोके) सुकृतों से प्राप्त लोक (मानव देह) में (गुहां प्रविष्टौ) गुहा में प्रविष्ट हुए (परमे परार्धे) उच्च स्थान पर (छायातपौ) धूप और छाया के समान विद्यमान है। ऐसा ब्रह्मवादी पंच कर्म करने वाले गृहस्थी और (त्रिणाचिकेता) अखण्ड ब्रह्म का पालन करने वाले कहते हैं।

यह मन्त्र जिस प्रकार प्रकरण में आया है, वह ब्रह्मसूत्रों का प्रकरण नहीं। ब्रह्मसूत्र तो शुद्ध वैज्ञानिक एवं दार्शनिक (Philosophical) दृष्टि से लिखे गये हैं। सूत्रकार तो एक-एक अक्षर विचारकर लिख रहा है। परन्तु उपनिषद् भक्ति-भाव से उत्प्लावित हो मनोद्गारों में बहते हुए वाक्य हैं। अतः यह स्वाभाविक ही है कि उपनिषद् की भाषा उतनी स्थिर और निश्चित अर्थयुक्त न हो, जितनी कि सूत्र की है।

यही वात इस मन्त्र में दिखाई देती है। स्वामी शंकराचार्यजी इस मन्त्र की भाषा की शिथिलता प्रकट करने में पूर्व पक्ष उपस्थित करते हैं। पूर्व पक्ष वाले के मन में जो संशय उत्पन्न होता है, उसका भी वर्णन किया है।

संशय यह है कि (१) गुहा का क्या अर्थ है? यह कहाँ है? गुहा का अर्थ शरीर है अथवा शरीर में कोई स्थान है?

(२) दो कौन हैं? मन्त्र में आत्मानौ शब्द नहीं। अभिप्राय यह कि ये दो आत्मा हैं, संदिग्ध है।

(३) ऋतं पिवन्तौ के अर्थ सत्य कृत्यों का पान करने वाले अर्थात् अच्छे कर्मों का फल भोगने वाले हैं। अतः इन दो में एक परमात्मा नहीं हो सकता।

(४) सुकृतस्य लोके—अच्छे कर्मों से प्राप्त लोक में। यह विशेषण भी परमात्मा का नहीं हो सकता।

(५) छाया और आतप से एक चेतन और दूसरा अचेतन लेना चाहिये। अतः दोनों आत्मा नहीं हो सकते।

ये सव शंकायें श्री स्वामीजी ने इस ब्रह्मसूत्र के अपने भाष्य में पूर्व पक्ष के रूप में उपस्थित की हैं। साथ ही पूर्व पक्ष यह दिया है कि ये दो जीवात्मा और परमात्मा नहीं हो सकते, वरन् ये बुद्धि और जीव हैं।

स्वामी शंकराचार्य ने इन संशयों का उत्तर अपनी युक्ति से शिथिल ढंग से दिया है। एक वात स्वामीजी ने भी की है कि इस मन्त्र में दो को जीवात्मा और परमात्मा ही माना है। आप लिखते हैं :

एवं प्राप्ते ब्रूम—विज्ञानात्मपरमात्मानाविहोच्येयाताम्।

अर्थात्—ऐसा प्राप्त होने पर हम कहते हैं कि (इस प्रसंग में) जीवात्मा और आत्मा दोनों यहाँ कहने चाहिएँ।

यह ठीक है कि स्वामीजी जीव का अर्थ विज्ञानात्मा कहते हैं। विज्ञानात्मा से उनका अभिप्राय परमात्मा का वह अंश है जो बुद्धि से लिप्त हो जाता है। इस विषय पर किसी अन्य स्थान पर लिखेंगे कि परमात्मा बुद्धि से लिप्त होकर जीव की संज्ञा में आ जाता है अथवा जीव परमात्मा से भिन्न है। इतना स्पष्ट है कि स्वामीजी गुहां में दो प्रविष्ट हुओं को जीव और परमात्मा मानते हैं।

यह नहीं कि हम उपनिषद् (कठो०—१-३-१) को आत्मा और जीवात्मा के विषय में नहीं मानते। हमारा यह कहना है कि उपनिषद् वाक्य सूत्र के समर्थन में ठीक उद्धरण नहीं।

सूत्र उपनिषद् वाक्य से अधिक स्पष्ट हैं। वहाँ दो आत्माओं का उल्लेख है। गुहा में प्रविष्ट हुओं का उल्लेख है और उनके दर्शन से सूत्रकार के विषय के प्रकरण का उल्लेख है।

विशेषणाच्च ॥१२॥

विशेषणात्+च।

और विशेषणों से।

उक्त सूत्र में जो यह कहा गया है कि दो आत्मा हैं उनके दर्शन से पता चलता है कि उनमें परस्पर अन्तर है।

यहाँ इस सूत्र में बताया है कि यह अन्तर विशेषणों से भी पता चलता है। विशेषणों से पता चलता है कि जीवात्मा और परमात्मा दो हैं।

कौन-कौन से विशेषण हैं, जिनसे आत्मा और परमात्मा में भिन्नता का ज्ञान होता है? इनको कई प्रकार से लिखा जा सकता है। कारण कि कई विशेषण हैं, जिनमें अन्तर है।

उदाहरण के रूप में स्वामी शंकराचार्यजी ही लिखते हैं।—

विशेषणं च विज्ञानात्मपरमात्मनोरेव भवति। "आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु" (का० १-३-३) इत्यादिना परेण ग्रन्थेन रथिरथादिरूपक-कल्पनया विज्ञानात्मानं रथिनं संसारमोक्षयोर्गन्तारं कल्पयति।

अर्थात्—और विशेषणों से विज्ञानात्मा तथा परमात्मा में भेद होते हैं। कठोपनिषद् (१-३-३) में रथ शरीर को जानो और रथी विज्ञानात्मा को। पथ पर चलते हुए एक रूपक की कल्पना की गयी है। रथिनं (रथ का स्वामी) संसार रूपी पथ पर मोक्ष की ओर जा रहा है।

कठोपनिषद् (१-३-३, ४) इस प्रकार हैं—

आत्मानं् रथिनं विद्धि शरीरं् रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयां्स्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥

इसका अर्थ है :—

आत्मा को रथिनं (रथ का स्वामी) जान। शरीर रथ है, बुद्धि सारथि है, मन लगाम है। इन्द्रियों को घोड़े और विषयों का मार्ग समझो। इन्द्रियाँ मन और आत्मा को मनीषी लोग भोक्ता मानते हैं।

इन मन्त्रों को हमने इस कारण दिया है कि यहाँ आत्मा को विज्ञानात्मा नहीं कहा। विज्ञान बुद्धि का नाम है और बुद्धि और आत्मा को पृथक्-पृथक् माना है।

परन्तु हम तो विशेषणों में उक्त रथ, रथी और सारथि की बात मानते हुए भी यह कहेंगे कि आत्मा-परमात्मा में स्थिर और स्पष्ट भेद ज्ञानवान् और अज्ञानवान्, सर्व सामर्थ्यवान् और अल्पसामर्थ्यवान्, सर्वव्यापक और केवल शरीर

में सीमित होने को ही मानते हैं। ये ऐसे गुण हैं जिनसे आत्मा और परमात्मा में भेद स्पष्ट होता है।

मनुष्य पृथ्वी पर उत्पन्न सब प्राणियों से श्रेष्ठ और अधिक सामर्थ्यवान् है। इस पर भी इसकी सामर्थ्य जगत् के कर्त्ता, भर्त्ता और हन्ता से बहुत कम है। एक मनीषि यही अन्तर आत्मा और परमात्मा में देखता है इस पर भी दोनों के विशेषणों में नैसर्गिक अन्तर अज्ञ और ज्ञानवान् होने का ही है।

जिस समय जीवात्मायें बुद्धि से युक्त होकर काम करती हैं तब ये विज्ञानात्मा कहलाती हैं। स्वामी शंकराचार्य इससे विपरीत बात मानते हैं। वे मानते हैं कि जब परमात्मा बुद्धि से युक्त होकर कार्य करता है तब यह विज्ञानात्मा कहलाता है। दूसरे शब्दों में वे बुद्धि को परमात्मा में हीनता उत्पन्न करने वाली मानते हैं। हमारे मत में बुद्धि आत्मा को उन्नति के मार्ग पर ले जाने वाली ही कहनी चाहिए।

भगवान् कृष्ण ने भी भगवद्गीता में यही कहा है। वह कहते हैं :—

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥

(भ० गी० ३-४३)

अर्थात्—अतः बुद्धि से श्रेष्ठ आत्मा को मान अपने-आपको वश में कर दुर्गम कामना रूपी शत्रु को मार।

'आत्मानं रथिनं' वाले उदाहरण में तो जीवात्मा का बुद्धि से पृथक् कर वर्णन किया है। अतः इसे विज्ञानात्मा कहना भूल है। वेदान्त दर्शन में तो आत्मा और परमात्मा को पृथक् सिद्ध किया है। अतः विज्ञानात्मा परमात्मा का अंश नहीं हो सकता। यह जीवात्मा है, जब बुद्धि से युक्त हो परमात्माभिमुख होता है, तब मोक्ष की ओर अग्रसर होता है।

यहाँ एक बात स्वामी शंकराचार्यजी की और समझने की है। आप इसी सूत्र के भाष्य में एक वेद-मन्त्र का उद्धरण देते हैं। वह मन्त्र है—

(ऋ०—१-१६४-२०)

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया...

इस मन्त्र का अर्थ हम ऊपर दे आये हैं। स्वामीजी भी यहाँ इस उद्धरण को देकर वही अर्थ करते हैं जो हमने किये हैं। आप लिखते हैं—

तस्मादिह जीवपरमात्मानावुच्येयाताम्। एष एव न्यायः 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (मुण्ड० ३-१-१) इत्येवमादिष्वपि। तत्रापि ह्यध्यात्माधिकारान्न प्राकृतौ सुपर्णावुच्येते। 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' इत्यदनलिङ्गाद्विज्ञानात्मा भवति। 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' इत्यनशनचेतनत्वाभ्यां परमात्मा। अनन्तरे च मन्त्रे तावेव द्रष्टृद्रष्टव्यभावेन विशिनष्टि...'समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।

अर्थात्—इससे जीवात्मा और परमात्मा ही कहना चाहिए। यह भी युक्ति है। (द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया) इत्यादि में भी यही है। वहाँ भी ये अध्यात्म अधिकार से, प्रकृति से नहीं, सुपर्णा कहे गये हैं। (तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति) इत्यादि लिङ्गों से विज्ञानात्मा है। अनश्नन्नयोऽभिचाकशीति) इन अभक्षण और चेतनत्व लक्षणों से परमात्मा समझना चाहिए। मन्त्र में आगे (समानं वृक्षं) से एक ही देह में दोनों को द्रष्टा और द्रष्टव्य मान शरीर में निमग्न मोह को प्राप्त होते हैं।

यहाँ इस वेद-मन्त्र को वेद का न कहकर मुण्डक उपनिषद् का माना है। इसके अर्थ तो ठीक ही किये हैं, परन्तु ये ठीक अर्थ कर स्वामीजी को अपना ही पक्ष दुर्बल हो गया प्रतीत हुआ तो कहने लगे कि इस मन्त्र का ऐसा अर्थ लगाना ठीक नहीं है; क्योंकि 'पैङ्गि रहस्य' ब्राह्मण में इसका अन्य प्रकार से व्याख्यान किया है। वहाँ दूसरे पक्षी को बुद्धि माना है।

हम यहाँ यह लिख दें तो और भी ठीक होगा कि यही मन्त्र श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी ज्यों-का-त्यों आया है और वहाँ आत्मा-परमात्मा और प्रकृति के अर्थों में माना है। वहाँ तीनों को 'अजा' (अजन्मा) भी माना है।

हमारा कहने का अभिप्राय यह है कि अपने मिथ्या सिद्धान्त को सिद्ध करने के लिए स्वामीजी निरन्तर वेदादि शास्त्रों का अपने विचार से अर्थ प्रकट करने में लीन रहे हैं।

अन्तर उपपत्तेः ॥१३॥

अन्तर+उपपत्ते :

युक्ति से भी दूसरा है।

उपपत्ते का अर्थ श्री ब्रह्म मुनि और श्री उदयवीर 'युक्ति से सिद्ध' ऐसा करते हैं। स्वामी शंकराचार्य भी उपपत्ते का अर्थ 'इति दृश्यते' (ऐसा देखा जाता है) करते हैं। यहाँ देखने का अर्थ चक्षु इन्द्रिय से देखने का नहीं, वरन् बुद्धि से देखने का है। इसे ही युक्ति करना कहते हैं।

युक्ति से भी जीवात्मा और परमात्मा में अन्तर दिखाई देता है, यही इसका अर्थ है।

स्वभाववश यहाँ भी वर्तमान युग के भाष्यकार स्वामी शंकराचार्य का अनुकरण करते हुए छान्दोग्य उपनिषद् का उदाहरण देते हैं। स्वामी शंकराचार्य तो युक्ति कर नहीं सके। इस कारण वे युक्ति करने के स्थान प्रमाण देने के लिए

विवश थे, परन्तु उपपत्ति का अर्थ युक्ति से सिद्ध माना है तो आत्मा और परमात्मा में अन्तर बताने के लिए युक्ति ही देनी चाहिए थी।

देखिये, स्वामी शंकराचार्यजी क्या कहते हैं :

'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्-ब्रह्मेति। तद्यद्यप्यस्मिन्सर्पिर्वोदकं वा सिञ्चति वर्त्मनी एव गच्छति' (छा० ४-१५-१) इत्यादि श्रूयते। तत्र संशयः—किमयं प्रतिबिम्बात्माऽक्ष्यधिकरणो निर्दिश्यते, अथवा विज्ञानात्मा, उत देवतात्मेन्द्रियस्याधिष्ठाता, अथवेश्वर इति। किं तावत्प्राप्तम्। छायात्मा पुरुषप्रतिरूप इति। कुत : ? तस्य दृश्यमानत्वप्रसिद्धे:।

इसका अर्थ है—यह जो नेत्र में पुरुष दिखाई देता है, वह आत्मा है; ऐसा कहा है। वह अमृत है, अभय है, ब्रह्म है। यदि उस नेत्र में जल अथवा घी डालें तो वह पलकों में चला जाता है (छा० ४-१५-१) यह श्रुति है। वहाँ संशय उत्पन्न होता है—क्या यह आँख के अधिकरण में जो प्रतिबिम्ब दिखायी देता है, आत्मा है अथवा विज्ञानात्मा है अथवा इन्द्रिय का अधिष्ठाता देवता है अथवा ईश्वर है ? इससे क्या समझें ? छायात्मा पुरुष का प्रतिबिम्ब है ? कैसे ? उसका दृश्य होना प्रसिद्ध है।

यहाँ स्वामीजी ने उपनिषद् वाक्य देकर उस पर संशय प्रकट किया है और कहा है कि वर्तमान सूत्र उस संशय की निवृत्ति करता है। तनिक देखने का यत्न करें कि सूत्र और इस छान्दोग्योपनिषद् (४-१५-१) के उद्धरण में क्या और कहाँ संगति बैठती है ? छान्दोग्योपनिषद् ४-१५-१ इस प्रकार है—

य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति तद्यद्यप्यस्मिन्सर्पिर्वोदकं वा सिञ्चन्ति वर्त्मनी एव गच्छति।

इसका अर्थ है—जो इस आँख में पुरुष दिखायी देता है, यह आत्मा है। क्या ऐसा उसने कहा (पूछा) यह अमृत है, अभय है और ब्रह्म है। (तत् यत् अपि) अब जो भी है, उसमें जल अथवा घी डालें तो वह आँखों के पटलों को खींचता है और फिर निकल जाता है।

'आँख में पुरुष दिखायी देता है' यह वाक्य ही समझने का है। जब कोई दूसरा व्यक्ति किसी की आँख के सामने खड़ा हो जाये तो पहले पुरुष का दूसरे की आँख में प्रतिबिम्ब दिखायी देने लगता है। ऐसा इस उपनिषद् वाक्य से अर्थ बनता है, परन्तु इससे अगले मन्त्र (छा० ४-१५-२) के पढ़ने से पता चलता है कि यहाँ प्रतिबिम्ब की बात नहीं हो रही।

यहाँ आँख में देखने की शक्ति की बात हो रही है। उपनिषद्कार का कहना है कि आँख से जो सामने खड़ा पुरुष दिखायी देता है, वह आँख में कौनसी शक्ति देखती है ? आँख देखती है ? मनुष्य का आत्मा (जीवात्मा) देखता है

अथवा कुछ और है जो वह देखने की सामर्थ्य देता है ?

उपनिषद्कार इसका उत्तर देता है कि वह देखने की सामर्थ्य देने वाला अमृत है, अभय है, ब्रह्म है ।

हमने यह बृहदारण्यक (३-७-१ से २३ तक) के मन्त्रों की व्याख्या में लिखा है कि मनुष्य के अंग-प्रत्यंग में कार्य करने की शक्ति वायु की है । वायु परमात्मा की उस शक्ति का नाम है, जिससे कार्य होता है ।

यही बात यहाँ केवल आँख का उदाहरण लेकर बतायी है । बृहदारण्यक ३-७-१ से २३ में यह बताया है कि यह शक्ति परमात्मा की है और वह परमात्मा जीवात्मा में भी विराजमान है ।

यहाँ भी यही अभिप्राय है ।

हमने वहाँ एक उदाहरण दिया है । मोटरगाड़ी है । मोटरगाड़ी चलती है पैट्रोल से, परन्तु चलाने वाला ड्राइवर है । यही बात शरीर की है । अंग-प्रत्यंग में शक्ति परमात्मा की है, परन्तु उस शक्ति का प्रयोग करने वाला जीवात्मा है ।

यहाँ भी यही अभिप्राय है कि आँख में देखने की शक्ति उस अभय, अमृत ब्रह्म की है ।

इसी उपनिषद् (छा० ४-१५-२) के दूसरे मन्त्र में लिखा है कि आँख में देखने की शक्ति देने वाला है जिसे अमर, अभय ब्रह्म के नाम से स्मरण किया है । वह संयद्वाम कहा है । संयत् वाम का अभिप्राय है, जहाँ सौन्दर्य संचित हो । आँख का सौन्दर्य अर्थात् शोभा उसके देखने की शक्ति ही है । आगे लिखा है—

सर्वाण्येनं वामान्यभिसंयन्ति ।

सब सौन्दर्य समन्वय होता है । उसी अभय, अमृत ब्रह्म से सौन्दर्य प्राप्त होता है ।

अभिप्राय यह कि आँख इत्यादि इन्द्रियों में जो कार्य-शक्ति है, वह परमात्मा की ही है ।

यह हुआ उपनिषद् के उद्धरण का अर्थ । यह ठीक है कि इसमें इन्द्रियों में कार्य-शक्ति परमात्मा की बतायी है, परन्तु सूत्र 'अन्तर उपपत्तेः' भिन्न है युक्ति से । परमात्मा आत्मा से भिन्न है । यह उक्त उद्धरण से न तो युक्ति से स्पष्ट हुआ है और न ही उदाहरण में यह स्पष्ट है कि आँख की शक्ति का प्रयोग करने वाला भिन्न है । यह अन्तर बताना ही सूत्र में अभीष्ट है ।

एक उदाहरण लें तो बात स्पष्ट हो जायेगी । मनुष्य की भुजाओं में बल परमात्मा की देन है, परन्तु उस बाहुबल से मनुष्य किसी अपाहिज की सहायता भी कर सकता है और किसी भले मनुष्य को मार-पीट कर उसका धन भी छीन सकता है । दोनों कार्यों में परमात्मा की शक्ति का प्रयोग हुआ है, परन्तु कार्य

करने वाला परमात्मा नहीं, आत्मा है। पुण्य-पाप का जीवात्मा भोग करेगा, परमात्मा नहीं। यद्यपि दोनों कार्यों में परमात्मा की शक्ति का ही प्रयोग हुआ है।

हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि सूत्र के अभिप्राय को छान्दोग्योपनिषद् (४-१५-१) ने स्पष्ट नहीं किया।

अतः सूत्र का अभिप्राय यह है कि परमात्मा और जीवात्मा में अन्तर है और यह अन्तर युक्ति से स्पष्ट हो जाता है। यह इस प्रकार है। सब मनुष्यों में बल परमात्मा का है, परन्तु कोई तो उस बल का प्रयोग निर्धनों, अपाहिजों और समार्थ्य हीनों की सहायता में कर सकता है। दूसरा उस बल को अत्याचार, अनाचार, परद्रव्य के अपहरण में कर सकता है। अतः शक्ति के स्रोत परमात्मा और कार्य करने वाले जीवात्मा में अन्तर है। सब मनुष्यों में जीवात्मा भिन्न-भिन्न हैं। अतः शक्ति का प्रयोग भिन्न-भिन्न प्रकार से होता है।

मोटरगाड़ियों में पैट्रोल एक ही पैट्रोल-पम्प से भरा जाता है, परन्तु कोई मोटर वेश्यागार को जाती है और कोई मोटर भगवान् के मन्दिर को जाती है। मोटरों को ले जाने वाले ड्राइवर की करनी से ऐसा होता है। पैट्रोल अथवा पैट्रोल भरने वाली दूकान का इसमें गुण-दोष नहीं।

यह है युक्ति जिससे परमात्मा और जीवात्मा में अन्तर प्रतीत होता है। भाष्यकारों ने अनुपयुक्त उपनिषद् वाक्य लिखकर सूत्रों को व्यर्थ में बोझिल बना दिया है।

स्थानादिव्यपदेशाच्च ॥१४॥

स्थानादि+व्यपदेशात्+च।

और स्थानादि के बताने से भी जीवात्मा और परमात्मा में अन्तर प्रतीत होता है।

जीवात्मा का निवास-स्थान तथा उसका कार्यक्षेत्र कहाँ है और परमात्मा का निवास एवं उसका कार्यक्षेत्र कहाँ है? इससे भी दोनों में भिन्नता का ज्ञान होता है।

यह प्रथम पाद के सूत्र २२ में लिखा है कि आकाश उसका लिंग है। इसका अभिप्राय यह है कि पूर्ण आकाश उसका स्थान है, परन्तु जीवात्मा का स्थान प्राणी की गुहा में है। इस प्रकार दोनों के स्थान में अन्तर से दोनों में भिन्नता का ज्ञान होता है।

परमात्मा वह आत्म-तत्त्व है जो पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त है और जीवात्मा वह आत्म-तत्त्व है जो प्राणी में ही सीमित है और शरीर की गुहा में रहता है।

सुखविशिष्टाभिधानादेव च ॥१५॥

सुख विशिष्ट + अभिधानात् + एव + च।

और सुख-विशेष के कथन से परमात्मा और आत्मा की भिन्नता प्रकट होती है।

ब्रह्मसूत्र प्रथम अध्याय के प्रथम पाद के सूत्र संख्या १२ में लिखा है—

'आनन्दमयो अभ्यासात्' अभ्यास से आनन्द की प्राप्ति होती है। यहाँ इस सूत्र में यह लिखा है कि इस आनन्द अर्थात् सुख के होने की बात के कथन से परमात्मा और आत्मा में भिन्नता प्रकट होती है। यह कैसे ?

इसमें युक्ति इस प्रकार है। अभ्यास करने से आनन्दमय हो जाता है। कौन आनन्दमय हो जाता है ? जो पहले आनन्दमय नहीं था और जिसने अभ्यास किया है।

आनन्दमय एक स्थान, अवस्था अथवा स्थिति है। यह प्राप्त होती है परमात्मा की उपासना अर्थात् उसके समीप बैठने से। वैसे वह सर्वत्र व्यापक है। इस पर भी उसके समीप बैठने का अभिप्राय यह है कि उसका ज्ञान प्राप्त करने से।

किसी महानात्मा के समीप बैठा हुआ एक साधारण मनुष्य किसी अन्य का चिन्तन करता हुआ हो सकता है। ऐसी अवस्था में वह समीप बैठा नहीं कहा जा सकता। अतः उपासना का अभिप्राय यह है कि उसके समग्र स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना। ऐसा बार-बार करने को अभ्यास कहते हैं। इससे आनन्दमय स्थिति प्राप्त होती है। वह आनन्दमय इस कारण है कि परमात्मा स्वयं आनन्दमय होता है।

अतः परमात्मा और जीवात्मा में भेद इस विषय में भी है कि एक आनन्दमय है, दूसरा नहीं है। दूसरा भी आनन्दमय हो सकता है अभ्यास से। अतः जो पहले आनन्दमय नहीं था और जो पहले से ही अर्थात् सदा आनन्दमय है, दोनों में अन्तर तो है।

यही इस सूत्र का आशय है। यहाँ सुख शब्द का प्रयोग किया है। यह सुख ही आनन्द है। सुख का नाम तैत्तिरीय उपनिषद् में मानवी आनन्द लिखा है और बताया है कि ब्रह्म की उपासना से जो आनन्द प्राप्त होता है, वह मानवी

आनन्द से करोड़ों गुणा अधिक है। इस पर भी हैं दोनों आनन्द ही।

जीवन के रस और आनन्द में अन्तर यह बताया है कि जब मनुष्य निष्काम भाव से कर्म करता है तो उससे जो रस प्राप्त होता है वह आनन्द है। मनुष्य, गन्धर्व, देवादि लोकों में भी जब सुख निष्काम भाव से प्राप्त होता है तब ही वह आनन्द कहलाता है; अन्यथा वह रस मात्र ही कहा जा सकता है।

सुख-विशेष के कथन से अभिप्राय है कि यह विशेष सुख एक में है और दूसरे में नहीं है। इसी कारण दोनों में भिन्नता है।

तैत्तिरीय उपनिषद् में यह लिखा है कि मानवी सुख की अपेक्षा गन्धर्व को जो सुख मिलता है, वह एक सौ गुणा अधिक है। गन्धर्व का अर्थ एक संगीतज्ञ से है। अर्थात् निष्काम भाव से संगीत करने वाले को भी सुख मिलता है। इसी प्रकार अधिक और अधिक सुख प्राप्त होता है जो जीवात्मा उच्च और उच्च लोक में पहुँचता है। अन्त में ब्रह्म लीन व्यक्ति को असीम सुख (आनन्द) प्राप्त होता है।

स्वामी शंकराचार्य सुख-विशेष का कथन इस प्रकार करते हैं—

अपि च नैवात्र विवदितव्यं—किं ब्रह्मास्मिन्वाक्येऽभिधीयते न वेति। सुखविशिष्टाभिधानादेव ब्रह्मत्वं सिद्धम्। सुखविशिष्टं हि ब्रह्म यद्वाक्योपक्रमे प्रक्रान्तं 'प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म' इति, तदेवेहाभिहितं; प्रकृतपरिग्रहस्य न्याय्यत्वात्। 'आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता' (छा० ४-१४-१) इति च गतिमात्राभिधानप्रतिज्ञानात्। कथं पुनर्वाक्योपक्रमे सुखविशिष्टं ब्रह्म विज्ञायत इति? उच्यते—'प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म। इत्येतदग्नीनांवचनं श्रुत्वोपकोसल उवाच—'विजानाम्यहं यत्प्राणो ब्रह्म, कं च खं च तु न विजानामि' इति। तत्रेदं प्रतिवचनम्—'यद्वाव कं तदेव खं यदेव खं तदेव कम्' (छा० ४-१०-५) इति।

अर्थात्—इस (य एषोऽक्षिणो) वाक्य में ब्रह्म का अभिप्राय है अथवा नहीं, विवाद करने की आवश्यकता नहीं। क्योंकि सुख-विशिष्ट के कथन से ब्रह्मत्व सिद्ध है। प्राण ब्रह्म है, 'क' ब्रह्म है, 'ख' ब्रह्म है। इस वाक्य के उपक्रम में जो सुख-विशिष्ट ब्रह्म प्रस्तुत है उसका ही यहाँ अभिप्राय है। प्रकृत का ग्रहण करना ही न्याय (युक्ति) है। छान्दोग्योपनिषद् (४-१४-१) में (आचार्य तुझे मार्ग दिखायेगा) इस प्रकार गति मात्र की व्यवस्था का उल्लेख है। पुनः वाक्य में सुख-विशिष्ट से ब्रह्म का ज्ञान कैसे होता है? यह इस प्रकार कहा है। प्राण ब्रह्म, 'क' ब्रह्म, 'ख' ब्रह्म इस प्रकार अग्नियों का यह वचन सुनकर उपकोसल ने यह कहा, 'मैं यह तो मानता हूँ कि प्राण ब्रह्म है, किन्तु यह मैं नहीं जानता कि 'क' ब्रह्म, 'ख' ब्रह्म दोनों कैसे ब्रह्म हो गये?' इसका उत्तर इस प्रकार है—'जो 'क' है वही 'ख' है, जो 'ख' है वही 'क' है।'

(छा० ४-१०-५)

स्वामी शंकराचार्यजी के कथन का इतना लम्बा उद्धरण देने का अभिप्राय यह है कि इसका कुछ सिर-पैर नहीं है। इसका विशिष्ट सुख से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं। न ही उसकी सिद्धि में किसी प्रकार का प्रमाण है।

तनिक स्वामीजी के भाष्य को पढ़िये। आप लिखते हैं कि चक्षु में जो देखता है, वह ब्रह्म है। इसमें विवाद करने की आवश्यकता नहीं; क्योंकि सुख-विशिष्ट की विद्यमानता में ब्रह्मत्व सिद्ध है।

सुख कहाँ उपस्थित है और सुख के उपस्थित होने से ब्रह्म कैसे सिद्ध हो गया? इस विषय में किसी प्रकार का अपना मत प्रकट न करते हुए लिखते हैं—प्राण ब्रह्म है, 'क' ब्रह्म है और 'ख' ब्रह्म है। ऐसा ग्रहण करना ही युक्ति है और उपनिषद् (छान्दोग्य० ४-१४-१) उद्धरण दे दिया है।

पूर्व इसके कि हम इस उद्धरण (छा० ४-१४-१) का निरीक्षण करें, हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि विशिष्ट सुख आँख इत्यादि इन्द्रियों के कर्म से प्राप्त होता है और इस कारण उनमें ब्रह्म की विद्यमानता सिद्ध होती है। दोनों वातों का परस्पर सम्बन्ध नहीं है। आँख में देखने वाला ब्रह्म है; क्योंकि वहाँ विशिष्ट सुख उपलब्ध है। अर्थात् जब किसी अंग में सुख न हो अथवा कष्ट हो तो वहाँ ब्रह्म नहीं है क्या? यह युक्ति नहीं।

अब देखें छान्दोग्योपनिषद् (४-१४-१) को। मंत्र इस प्रकार है—

ते होचुरुपकोसलैषा सौम्य तेऽस्मद्विद्याऽऽत्मविद्या चाचार्यस्तु ते गतिं वक्तेत्याजगाम हास्याचार्यस्तमाचार्योऽभ्युवादोपकोसल ३ इति ॥

वे (अग्नियाँ) वोलीं, 'हे उपकोसल! हे प्रिय! तुमको यह जो विद्या दी है, वह आत्मविद्या है। तुम्हें तुम्हारा आचार्य उस (परमात्मा) की गति (व्यवहार) का वर्णन करेगा।' इतने में उसका आचार्य आ गया और वह उपकोसल से पूछने लगा।

उक्त उपनिषद् मंत्र का सूत्र के साथ किसी प्रकार का सम्वन्ध है क्या?

यह सब भाष्य को बोझिल बनाने में ही योग्य हुआ है। सूत्रार्थ स्पष्ट करने में इसका कुछ भी योगदान नहीं। न ही सूत्र एक असम्बन्धित बात को स्पष्ट कर सकता है।

सूत्रों का सम्बन्ध उपनिषद् वाक्यों से नहीं है। उनको व्यर्थ में यहाँ दिया है। ऐसा इस मिथ्या धारणा के कारण दिया गया है कि ब्रह्मसूत्र वेदान्त वाक्यों की अस्पष्टता को स्पष्ट करने के लिए है।

इस प्रकार 'प्राणो ब्रह्म, क ब्रह्म, ख ब्रह्म' की वात है। प्राण ब्रह्म है, शरीर ब्रह्म है और आकाश ब्रह्म है, का किसी प्रकार का सम्बन्ध इस सूत्र (सुख-विशिष्टाभिधानादेव च) के साथ नहीं है।

सूत्र का अर्थ है 'और विशिष्ट सुख की उपस्थिति से भी।' यही सिद्ध होता है। क्या सिद्ध होता है ? जो प्रकरण चला आ रहा है कि जीवात्मा और परमात्मा एक नहीं भिन्न-भिन्न हैं।'

श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च ।।१६।।

श्रुतोपनिषत्क + गति + अभिधानात् + च।

और वेद तथा उपनिषद् के ज्ञाता के (गति) व्यवहार में (अभिधानात्) होने से भी (वही बात स्पष्ट होती है)।

जैसा कि हम ऊपर कई बार लिख चुके हैं कि ब्रह्मसूत्रों में वेद-उपनिषदादि ग्रंथों में वर्णित सत्य सिद्धान्तों को युक्ति से सिद्ध कर यह कहा गया है कि वैसी बात वेदादि शास्त्रों भी में लिखी है। यही इस सूत्र में कहा है।

इस सूत्र में कहा है कि वही बात जो पिछले पन्द्रह सूत्रों में कही है, उपनिषद् और वेद के जानने वाले भी कहते हैं और अपने व्यवहार से प्रकट करते हैं।

तनिक देखें कि इस पाद के पिछले पन्द्रह सूत्रों में क्या कहा गया है ? संक्षेप में यह इस प्रकार है—

(१) सर्वत्र प्रसिद्ध बात के कहे जाने से यह पता चलता है कि यह जगत् है। यह गतिशील है और इसका प्रलय होगा।

(२) प्रसिद्ध है विशेष रूप से देखे गये गुणों के उपपन्न होने से अर्थात् कार्य-जगत् में विशेप गुणों के देखे जाने से, जो चेतन-स्वरूप परमात्मा में उपपन्न होते हैं।

(३) वे चेतना के गुण शरीर एवं शरीरी में नहीं हैं।

(४) चेतन और जड़ (शरीर) में कर्म और कर्त्ता के कहे जाने से भेद प्रकट होता है।

(५) शब्द प्रमाण (वेदों में तथा शास्त्रों में) दोनों, चेतन और जड़ में विशेषता बताई है।

(६) स्मृतियों में भी इस भेद का उल्लेख है।

(७) चेतना में भी भेद है। एक अल्प स्थान वाला है। वह (परमात्मा) नहीं। निश्चय से उसके आकाश में सर्वत्र उपस्थित होने से।

(८) हृदय-देश में जीव और ब्रह्म साथ-साथ रहते हैं, परन्तु परमात्मा भोग प्राप्त नहीं करता।

(९) चर और अचर सबके जीवन को परमात्मा खाता रहता है। वह उनका जीवन समाप्त करता रहता है।

(१०) ईश्वर चर-अचर के जीवन का भोक्ता होने से संसार का भोग करने वाला नहीं। यह तो प्रकरण से ही ऐसा कहा है।

(११) हृदय-देश की गुहा में उपस्थित दो आत्मायें हैं। परमात्मा और जीवात्मा।

(१२) इन दो में भेद विशेषणों से ही किया जाता है। दो हैं जीवात्मा और परमात्मा। ऐसा ही माना है कि जीवात्मा और शरीर (जड़) में विशेषणों से भेद का पता चलता है। हमने जीवात्मा और परमात्मा में भेद की बात ही मानी है।

(१३) युक्ति से भी जीवात्मा दूसरा चेतन तत्त्व है।

(१४) जीवात्मा और परमात्मा के निवास-स्थान और कार्यक्षेत्र में भिन्नता होने से दो भिन्न-भिन्न हैं।

(१५) सुख-विशेष के कहने से दोनों में भिन्नता है। परमात्मा परम आनन्दमय है।

ये सब बातें श्रुति और उपनिषद् के जानने वालों के व्यवहार से पता चलती हैं। गति का अर्थ ज्ञान से भी किया गया है। इसमें हम वेद और उपनिषद् के प्रमाण ऊपर दे चुके हैं।

तैत्तिरीय ब्रह्मवल्ली में भी ब्रह्म विद्याप्नोति परम का आदेश है। इसमें आनन्दमय कोष में पहुँच जीवात्मा का आनन्दमय होना लिखा है। ऋग्वेद (१-१६४-२०) का उद्धरण परमात्मा जीवात्मा और प्रकृति में भिन्नता प्रकट करता है।

यहाँ एक बात समझ लेनी चाहिए कि सूत्र है 'श्रुतोपनिषत्क' अर्थात् श्रुति और उपनिषद् के जानने वाले। यहाँ ब्रह्म के जानने वालों के विषय में नहीं लिखा। इसका अर्थ हमने यह किया है कि उपनिषद् और वेदादि शास्त्रों के ज्ञाता अपने ज्ञान अथवा व्यवहार से भी यह सिद्ध करते हैं जो कुछ पिछले १५ सूत्रों में वर्णन किया गया है।

स्वामी शंकराचार्य इत्यादि इस सूत्र के भाष्य में यह कहते हैं कि—

चक्षु स्थान में विद्यमान पुरुष परमात्मा ही है। जिसने उपनिषद् सुना है अथवा जिसने विज्ञान का रहस्य सुना है, जो देवयान गति से ब्रह्म तक पहुँचा है जैसा प्रश्न० (१-१०) में वर्णित है कि तपस्या से, ब्रह्मचर्य से, श्रद्धा से, विद्या से आत्मा को जानकर यहाँ से जाते हैं, वे आदित्य लोक को प्राप्त होते हैं। ये लोक प्राणों (शक्तियों) का घर हैं, यह अमृत आनन्दमय और निर्भय है, यह परम आश्रय है। यहाँ से आत्मा फिर लौटकर नहीं आता। इत्यादि।

यह सब ठीक है कि तपस्या ब्रह्मचर्य श्रद्धा इत्यादि से जीवात्मा आदित्य लोक को प्राप्त होता है और वहाँ से लौटकर नहीं आता, परन्तु सूत्र से यह अर्थ निकलते प्रतीत नहीं होते। इसमें अधिकांश कल्पना मात्र ही है।

सूत्रार्थ तो केवल इतना है कि श्रुति एवं उपनिषद् के ज्ञाता के व्यवहार से यही पता चलता है जो ऊपर वर्णन किया है। गति के अर्थ ज्ञान के भी लिये जाते हैं। अभिप्राय यह कि श्रुति और उपनिषद् के ज्ञाता यह कहते हैं और अपने व्यवहार से यह प्रकट करते हैं कि कार्य जगत् में परमात्मा-जीवात्मा और प्रकृति हैं और ये गुणों से, विशेषणों से और स्थान के विचार से परस्पर भिन्न हैं।

अनवस्थितेरसंभवाच्च नेतरः ॥१७॥

अनवस्थितेः+असम्भवात्+च+न+इतरः।

न स्थिति होने से अर्थात् शरीर के सब अंगों में उपस्थित न होने से तथा उसकी पूर्ण अंगों में उपस्थिति असम्भव होने से वह दूसरा नहीं। अर्थात् जीवात्मा परमात्मा नहीं।

जीवात्मा शरीर के सब अंगों में उपस्थित नहीं होता। उसका उपस्थित होना सम्भव भी नहीं। इस कारण शरीर की सामर्थ्य (संचालन शक्ति) जीवात्मा की नहीं है। वह परमात्मा की है जो सर्वव्यापक है।

यह हम बता चुके हैं कि यद्यपि जीवात्मा शरीर में कर्म करने वाला है, इस पर भी कार्य करने की शक्ति परमात्मा की है। हमने मोटरगाड़ी का उदाहरण दिया है। मोटर को चलाने की शक्ति पैट्रोल की है, परन्तु मोटर को चलाने का समय और दिशा ड्राइवर के अधीन है। इसी प्रकार शरीर में शक्ति परमात्मा की है; यद्यपि चलाने वाला जीवात्मा है। इसमें युक्ति यह है कि जीवात्मा शरीर के अंग-प्रत्यंग में उपस्थित नहीं। इस कारण यह कहा जाता है कि अंग-भंग होने पर भी जीवात्मा शरीर में ही रहता है। वह न कटता है, न मरता है और न निकलता ही है। वह हृदय-देश में रहता हुआ शरीर का संचालन करता है जैसे मोटर ड्राइवर अपने स्थान पर बैठा हुआ मोटर के सब कल-पुर्जों को चलाता है और वह सामर्थ्य जिससे शरीर चलता है, वह परमात्मा की है जैसे मोटरगाड़ी में शक्ति पैट्रोल की है।

शरीर के सब अंगों में जीवात्मा का विद्यमान होना सम्भव भी नहीं। वह इस कारण कि जीवात्मा तो अणु मात्र है। वह पूर्ण शरीर में नहीं हो सकता।

अतः पूर्ण शरीर में व्यापक परमात्मा है और उसको चलाने की सामर्थ्य भी उसी की है, जीवात्मा की नहीं।

अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् ।।१८।।

अन्तर्यामी + अधिदैवादिषु + तत् + धर्म + व्यपदेशात् ।

अधिदैवादि में अन्तर्यामी (परमात्मा) ही है। उसके धर्मों के वहाँ कहे जाने से।

देवताओं के धर्मों के ज्ञान से अधिदेव इत्यादि में अन्तर्यामी अर्थात् भीतर से नियन्त्रण करने वाला परमात्मा है।

अधिदेव का अर्थ अन्तरिक्ष की वायु, आदित्य, मरुत, वरुण इत्यादि है। इन दिव्य शक्ति-सम्पन्न अधिदेवों में नियन्त्रण परमात्मा का ही है।

यहाँ इतना और जान लेना चाहिये कि देवताओं में नियन्त्रण परमात्मा का है, परन्तु देवता भी परमात्मा हैं, ऐसा नहीं लिखा। देवताओं का भीतर से नियन्त्रण परमात्मा की शक्ति से ही होता है। यह बात उन (देवताओं) के धर्मों के जानने से पता चलती है।

अर्थात् सूर्य प्रकाशमान, तापमान है। ये सूर्य के धर्म हैं। ये दोनों शक्तियाँ परमात्मा की हैं। इसी प्रकार पृथिवी चलती है। सूर्य के चारों ओर चक्कर काट रही है। यह चलना परमात्मा की शक्ति से होता है। इस प्रकार सब देवताओं के सब धर्मों का स्रोत परमात्मा ही प्रतीत होता है।

देवता जड़ पदार्थों से बने हैं। अतः उनके (गति प्रकाशादि) धर्म स्वतः उत्पन्न नहीं हो सकते। उदाहरण के रूप में पृथिवी चलती है, सूर्य प्रकाशमान हो रहा है। ये धर्म जड़ के नहीं हैं।

यहाँ लक्षण, गुण और धर्म में अन्तर समझ लेना चाहिये। लक्षण पदार्थ के गुणों अथवा धर्मों से उत्पन्न होने वाले प्रभाव को कहते हैं। ये कुछ बाहरी बातें हैं, जिनका उत्पन्न होना पदार्थ के गुणों के कारण है; परन्तु वे पदार्थ का न तो अंग हैं और न ही उसके साथ सम्बन्धित हैं।

उदाहरण के रूप में आकाश परमात्मा का लक्षण है। आकाश से अभिप्राय है स्थान (space)। यह परमात्मा नहीं, परन्तु स्थान में परमात्मा रहता है। अतः स्थान परमात्मा का लक्षण है। जहाँ-जहाँ स्थान है, वहाँ परमात्मा है। इसी प्रकार सुख-दुःख अनुभव करना जीवात्मा के लक्षण हैं। सुख-दुःख जीवात्मा का अंग नहीं हैं। अर्थात् जीवात्मा में सुख अथवा दुःख के न रहने से जीवात्मा

छोटा-बड़ा नहीं हो जाता। ये जीवात्मा को अनुभव होते हैं। अतः ये जीवात्मा के लक्षण हैं।

गुण पदार्थ के साथ जुड़ा रहता है। गुण गुणी का अंग है। शक्कर का गुण मिठास है। परमात्मा का गुण ज्ञान है। जीवात्मा का गुण अज्ञान है। जड़ का गुण जड़त्व अर्थात् चेतनहीनता है।

धर्म का सम्बन्ध पदार्थ के कार्य से है। सूर्य प्रकाशमान हो रहा है। प्रकाश देना सूर्य का कार्य है। अतः यह सूर्य का धर्म है। इसी प्रकार पृथिवी नक्षत्रादि चल रहे हैं। ये इनके धर्म हैं। भौतिक वायु चलती है। यह वायु का धर्म है।

अतः जब जीवात्मा और परमात्मा के विशेषणों में भेद बताया तो उनके गुणों में भी भेद बताया है, जब धर्मों में भेद बताया तो उनके कर्मों में भी भेद बता दिया है।

इस सूत्र में देवताओं के धर्मों अर्थात् कार्यों को परमात्मा के कारण बताया है। सूत्र में कहा है कि देवताओं में भी अन्तर्यामी (भीतर से नियन्त्रण करने वाला) परमात्मा है। यह देवताओं के गुण से प्रतीत होता है।

स्वामी शंकराचार्य इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार करते हैं और वे वही हैं जो हमने किये हैं—

अत्राधिदैवतमधिलोकमधिवेदमधियज्ञमधिभूतमध्यात्मं च कश्चिदन्तरवस्थितो यमयिताऽन्तर्यामीति श्रूयते। स किमधिदैवाद्यभिमानी देवतात्मा कश्चित्, किंवा प्राप्ताणिमाद्यैश्वर्यः कश्चिद्योगी, किंवा परमात्मा, किंवाऽर्थान्तरं किंचिदित्यपूर्वसंज्ञादर्शनात्संशयः।

अर्थात्—यहाँ अधिदैव, अधिलोक, अधिवेद, अधियज्ञ, अधिभूत और अध्यात्म के अन्दर रहकर इन सबका नियमन करने वाला कोई अन्तर्यामी है। ऐसा श्रुति कहती है। यह क्या अधिदैवादि का अभिमानी कोई देवात्मा है अथवा अणिमादि ऐश्वर्य को प्राप्त किया कोई योगी है अथवा परमात्मा है अथवा कोई दूसरा ही पदार्थ है, इसमें अपूर्व संज्ञा के दर्शन से ऐसा संशय है।

स्वामीजी ने सूत्रार्थ तो ठीक ही किया है, परन्तु अपनी वही बात दुहरा दी है कि सूत्र, उपनिषदादि ग्रन्थों की अस्पष्टता को समझाने के लिए कहे हैं। उनका कहना है कि उपनिषद् (बृ० ३-७-१, २) स्पष्ट नहीं बताता। उसके पढ़ने से संशय उत्पन्न होता है।

हमारा यह कहना है कि उपनिषद् ग्रन्थों के संशय निवारण के लिए वेद प्रमाण होना चाहिए। कारण वेद ईश्वरीय ज्ञान माने जाते हैं, सूत्र नहीं। साथ ही सूत्र संक्षिप्त हैं। उनमें उपनिषद की व्याख्या करने की क्षमता नहीं।

वैसे हमने इस उपनिषद् के अर्थ सूत्र (वे० द० १-१-६) के भाष्य में किये हैं। यहाँ स्मरणार्थ इतना कह दिया जाये तो ठीक है।

—१३

याज्ञवल्क्य देवताओं, लोक-परलोक और सारे भूत जिस सूत्र से ग्रथित हैं, उसके विषय में बताते हैं। प्रथम मन्त्र में यही बताया है कि अरुणि के पुत्र उद्दालक ने याज्ञवल्क्य से पूछा था कि वह उस सूत्र को जानता है क्या? जो पूर्ण जगत् में सूत्र की भाँति भीतर से नियमन करता है और याज्ञवल्क्य ने कहा कि वह जानता है।

अगले मन्त्रों में याज्ञवल्क्य उस अन्तर्नियन्ता के विषय में बताता है। याज्ञवल्क्य का कहना है 'तत्सूत्रं वायुना वै' अर्थात् वह सूत्र जो सब लोक-परलोक, देवताओं और प्राणियों को नियमन में रखता है, वह वायु है। वायु परमात्मा की शक्ति है। यह सबको नियम में बाँधती है।

अगले मन्त्रों में बताया है कि वह वायु पृथिवी, सूर्य, अन्तरिक्ष, द्युलोक, चन्द्रादि नक्षत्रों में सबका नियमन करती है। वह वायु ही भूतों (प्राणियों) एवं देवताओं में भी है। वही वायु मनुष्य के शरीर के अंग-प्रत्यंग का नियमन करती है। वही रेतस् (वीर्य, रज) में कार्य करती है।

और सब मन्त्रों में इसी वायु के विषय में कहा है—

'यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः।'

अर्थात्—वही नियन्त्रणकर्त्ता (वायु) जो (ऊपर वर्णित है) वह तेरे आत्मा के भीतर है। वह अमृत है।

इसी बृहदारण्यक उपनिषद (३-७) का अन्तिम (२४वाँ) मन्त्र पूर्ण वक्तव्य का निष्कर्ष बताता है।

अदृष्टो द्रष्टाश्रुतः श्रोतामतो मन्ताविज्ञातो विज्ञाता नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता नान्योऽतोऽस्ति मन्ता नान्योऽतोऽस्ति विज्ञातैष त आत्मान्तर्याम्यमृतोऽतोऽन्यदार्तं ततो होद्दालक आरुणिरुपरराम।

अर्थात्—वह (वायु) दिखायी न देने वाली, किन्तु देखने वाली है, सुनाई न देने वाली, किन्तु सुनने वाली है, मनन का विषय न होने वाली, किन्तु मनन करने वाली है। यह विज्ञान नहीं किन्तु विज्ञाता है, इससे अन्य दूसरा कोई विज्ञाता नहीं। यह तुम्हारे आत्मा को भीतर से नियमन करने वाला अमृत है। तब इस (आत्मा), जिसमें वायु स्थित है (आर्त्त) दुःखस्वरूप है। उद्दालक प्रश्न करने से निवृत्त हो गया।

यही है जो सूत्रवत् सबको नियमन में देखता है। हमारा यह कहना है कि यह उपनिषद् सर्वथा स्पष्ट है। इसमें संशय कुछ भी नहीं। यहाँ आत्मा का उल्लेख नहीं। केवल वायु, परमात्मा की शक्ति, के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु के नियमन करने वाले होने में संशय उत्पन्न नहीं होता।

हमारा यह निश्चित मत है कि स्वामी शंकराचार्य की उपनिषद् वाक्यों सम्बन्धी अस्पष्टता एवं निराकरण मूलतः उनका अपना ही भ्रम है।

अतः वेदान्त सूत्र इन उपनिषद् वाक्यों को स्पष्ट करने के लिये नहीं लिखे गये, वरन् वैदिक सिद्धान्तों को युक्ति से सिद्ध करने के लिए लिखे गये हैं। दर्शनाचार्य वार-वार कहता चला जाता है कि ये युक्ति से सिद्ध सिद्धान्त ही वेदादि शास्त्रों में लिये गये हैं।

स्वामी शंकराचार्य न तो ब्रह्म सूत्रों का अभिप्राय समझे हैं और न ही वेदान्त सूत्रों का अभिप्राय। इसमें कारण यह है कि वह एक मिथ्या सिद्धान्त के पूर्वग्रह लेकर चले हैं और इस कारण जब अपने उस सिद्धान्त का समर्थन नहीं पाते तो अपनी मिथ्या धारणा को छोड़ने की अपेक्षा वेदान्त वाक्यों को अस्पष्ट कहने लगे हैं।

न च स्मार्तमतद्धर्माभिलापात् ॥१९॥

न+च+स्मार्तम्+अतत्+धर्माभिलापात्

और यह स्मृति यन्त्र नहीं उन (जो ऊपर वर्णन किये हैं) धर्मों के न उपस्थित होने से।

स्मृति यन्त्र है मन, जिसे अंग्रेज़ी भाषा में 'mind' और साधारण हिन्दी भाषा में मस्तिष्क कहते हैं। वह शरीर के कार्यों को करने वाला नहीं। कारण यह कि उन धर्मों की उसमें उपस्थिति न देखी जाने से।

किन धर्मों की? जिनसे प्राणियों के शरीर के कार्य सम्पन्न होते हैं। देवताओं के कार्य और व्यवहार होते हैं और पृथिवी पर सब कार्य होते हैं।

इससे पहले सूत्र में यह कहा है कि देवताओं को भीतर से नियमन में रखने के धर्म से परमात्मा की उनमें सिद्धि होती है। इस पर कई नास्तिक यह कहते हैं कि प्राणी में इन्द्रियों से कार्य कराने वाला प्राणी का मस्तिष्क (brain) है। इसी से चेतना का निर्माण होता है और इसका प्राकट्य होता है।

सूत्रकार का कहना है कि ऐसा नहीं। परमात्मा के धर्मों (कर्मों) का इस मस्तिष्क में अभाव है। यह इस प्रकार कहा जाता है। सब प्राणियों में आँख, नाक, कान, इत्यादि इन्द्रियाँ कार्य करती हैं। मस्तिष्क (स्मृति-यन्त्र) के उन्नत और अवनत होने से इन्द्रियों की कार्य-शक्ति का सम्बन्ध नहीं है। उदाहरण से बात स्पष्ट हो जायेगी। गीध की देखने की शक्ति मनुष्य से कई गुणा अधिक तीव्र होती है। बहुत ऊँचाई पर उड़ते हुए भी उसकी आँख भूमि पर छोटे से मांस के टुकड़े को देख लेती है। ऐसे टुकड़े को मनुष्य तीस-चालीस गज़ के अन्तर पर भी नहीं देख सकता, परन्तु मनुष्य का मष्तिष्क गीध के मस्तिष्क

से अधिक उन्नत एवं विकसित होता है।

और भी देखिये। बन्दर की बाहों में मनुष्य की बाहों से अधिक लचक होती है। यह पेड़ों पर कूदता, लटकता ऐसे चढ़-उतर सकता है जैसे कि मनुष्य नहीं कर सकता। इस पर भी मनुष्य का स्मृति-यन्त्र बन्दर के स्मृति-यन्त्र से उन्नत है।

मनुष्य ने जितने भी आविष्कार किये हैं, वे स्मृति-यन्त्र के उन्नत होने के कारण किये हैं, परन्तु वह शक्ति जो इन्द्रियों में विद्यमान है, वह अनेक इतर जीव-जन्तुओं में अधिक है और मनुष्य में कम है।

इसके अतिरिक्त जो शक्ति सूर्य, चन्द्रादि नक्षत्रों में है, वह स्मृति-यन्त्र का विषय प्रतीत नहीं होती। पृथिवी में अन्न उत्पन्न करने की शक्ति परमात्मा की है। इसका स्मृति-यन्त्र से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं।

अतः सूत्रकार का कहना है कि नास्तिकों का यह कहना उपयुक्त नहीं कि प्राणी में जो कुछ चेतनता अर्थात् चेतना के कार्य हम देखते हैं, वे मस्तिष्क (mind) के कारण ही हैं, उसी की उपज हैं और उसी से प्रकट होते हैं। मन (स्मृति-यन्त्र) में वह धर्म नहीं देखे जाते जिनके कारण परमात्मा देवताओं एवं लोक-परलोक का नियमन करता है। मन चेतना का स्रोत नहीं है। चेतना का स्रोत आत्मा और परमात्मा है।

ब्रह्म सूत्रों के प्रथम अध्याय और दूसरे पाद में आत्मा और परमात्मा का ही उल्लेख है। स्मृति-यन्त्र को जड़ माना है। यह चेतना का स्रोत नहीं हो सकता। यही इस सूत्र का अभिप्राय है।

स्वामी शंकराचार्य ने 'स्मार्तम्' का अर्थ सांख्य किया है और व्यर्थ में इसे बीच में लाकर रगड़ दिया है। आप लिखते हैं—

अदृष्टत्वादयो धर्माः सांख्यस्मृतिकल्पितस्य प्रधानस्याप्युपपद्यन्ते; रूपादिहीनतया तस्य तैरभ्युपगमात्। 'अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः' (मनु० १-५) इति हि स्मरन्ति तस्यापि नियन्तृत्वं सर्वविकारकारणत्वादुपपद्यते। तस्मात्प्रधानमन्तर्यामिशब्दं स्यात्।

अर्थात्—सांख्य स्मृति के अनुसार कल्पित प्रधान में भी अदृष्टादि धर्म उत्पन्न होते हैं, क्योंकि प्रधान को वहाँ रूपरहित होना स्वीकार किया है। जैसे (मनुस्मृति १-५) में लिखा है कि प्रकृति तर्क के परे, अविज्ञेय, सोई हुई-सी प्रतीत होती है। ऐसा स्मृतिकार कहते हैं। उसका भी नियन्त्रण है; क्योंकि वह सब विकारों का कारण है। इससे प्रधान अन्तर्यामी शब्द है।

सम्भवतः श्री स्वामी शंकराचार्य कपिल के सांख्य का उल्लेख नहीं कर रहे। कुछ बौद्ध नास्तिकों ने भी अपने मीमांसा शास्त्रों को सांख्य का नाम दिया है। कपिल मुनि ने कहीं ऐसा नहीं कहा कि प्रधान जगत् का अन्तर्यामी

है। प्रधान में विकार होते हैं, परन्तु इन विकारों को कौन करता है? यह कपिल ने अपने इस सूत्र में प्रकट किया है।

तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत् ॥ (सां० १-९६)

उस (जगत्) को संगठित और अधिष्ठित ऐसे करता है जैसे मणियों को सूत्र बाँधता है। और भी लिखा है—

स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता।

ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा ॥ (सां० ३-५६, ५७)

वह ही सब पर नियन्त्रण करता और सबका निर्माता है।

इनसे ईश्वर की सिद्धि सिद्ध है।

स्वामी शंकराचार्य को सांख्य को बीच में लाने की आवश्यकता नहीं थी। कारण यह कि स्मृति से कहीं भी सांख्य का अभिप्राय नहीं लिया गया।

मनुस्मृति में यह लिखा है कि प्रकृति इन्द्रियगोचर नहीं है, परन्तु ऐसा भगवद्गीता में भी लिखा है। अन्य कई स्थानों पर भी ऐसा ही वर्णन है, परन्तु यहाँ सूत्र में अव्यक्त-व्यक्त का विषय उपस्थित ही नहीं। शब्द है स्मार्तम्। नास्तिकों द्वारा, जो परमात्मा के अस्तित्व को नहीं मानते, यह कहा गया है कि मस्तिष्क ही प्राणी में चेतना उत्पन्न करता है। सूत्रकार ने इसका खण्डन किया है। वह खण्डन हमने इसी सूत्र के भाष्य में लिख दिया है।

स्वामीजी समझते हैं कि वेदान्त वाक्य (बृ० उप० ३-७-२) अस्पष्ट है और उसके अर्थ स्पष्ट करने के लिए यह सूत्र लिखा गया है। हमारा कहना है कि उपनिषद् वाक्य (बृ० ३-७-२) अस्पष्ट नहीं और न ही उसका स्मार्तम् शब्द से किसी प्रकार का सम्बन्ध है। इस उपनिषद् वाक्य में परमात्मा को शरीर में कार्य करने वाला लिखा है अवश्य, परन्तु 'स्मार्तम्' का इसमें उल्लेख नहीं है।

शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते ॥२०॥

शरीरः+च+उभये+अपि+हि+भेदेन+एनम्+अधीयते।

मस्तिष्क और शरीरी (जीवात्मा) दोनों भी (नहीं हैं); क्योंकि भेद से इसको कहते हैं।

इस सूत्र में 'नहीं हैं' शब्द नहीं लिखे। क्योंकि पूर्व सूत्र की युक्ति ही चल रही है; इस कारण उस सूत्र का 'न' इसमें भी प्रयुक्त समझना चाहिए। उस सूत्र में कहा है कि स्मृति-यन्त्र अन्तर्यामी नहीं है। अब यह कहा है कि

स्मृति-यन्त्र और जीवात्मा दोनों भी नहीं (वह शक्ति जो परमात्मा की कही गई है)।

जीवात्मा उस शक्ति का स्वामी नहीं, जिससे प्राणी की इन्द्रियाँ इत्यादि काम करती हैं। यह शक्ति परमात्मा की ही है। जीवात्मा भोगकर्त्ता है। भोग करने में शक्ति तो परमात्मा की ही है। हमने मोटर, पैट्रोल और ड्राइवर का उदाहरण दिया है।

यहाँ वही युक्ति दी जा सकती है जो हम ऊपर के दो सूत्रों में दे आये हैं।

श्री उदयवीर शास्त्री 'उभयेऽपि' का अर्थ करते हैं कि वेदों की दोनों शाखाओं में जीवात्मा और परमात्मा का भेद वर्णन किया है। यह अर्थ असंगत नहीं हैं। स्वामी शंकराचार्य भी यही मानते हैं। इस पर भी हमारा मत है कि क्योंकि सूत्र १९ और २० सम्बन्धित हैं, इस कारण 'उभये' से अभिप्राय स्मृति-यन्त्र और शरीरी (दोनों) से है। यहाँ वेद की शाखा श्री उदयवीर शास्त्री द्वारा ले आने से भ्रम ही उत्पन्न होता है।

इन्द्रियों में और शरीरी में कार्य करने की शक्ति न तो स्मृति-यन्त्र (मन) की है और न ही जीवात्मा की। शक्ति ईश्वर की है। जीवात्मा उस शक्ति का प्रयोग करता है और मन जीवात्मा के प्रयोग में सहायक मात्र है। सूत्र के अर्थ हैं 'और शरीरी (जीवात्मा) और स्मृति-यन्त्र दोनों ही भेद से हैं।' इसको कहते हैं कि शरीर में कार्य करने की शक्ति परमात्मा की है।

इस स्थान पर स्वामी शंकराचार्य ने यह पक्ष, कि जीवात्मा परमात्मा से भिन्न नहीं है, उठाया है। यद्यपि इस प्रश्न का सूत्र के साथ सीधा सम्बन्ध नहीं है; इस पर भी यह प्रश्न सूत्र के भाव से उत्पन्न हो सकता है। स्वामी शंकराचार्य इसको इस प्रकार उपस्थित करते हैं—

तस्माच्छारीरादन्य ईश्वरोऽन्तर्यामीति सिद्धम्। कथं पुनरेकस्मिन्देहे द्वौ द्रष्टारावुपपद्येते? यश्चायमीश्वरोऽन्तर्यामी, यश्चायमितरः शारीरः। का पुनरिहानुपपत्तिः? 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादि श्रुतिवचनं विरुध्येत। अत्र हि प्रकृतादन्तर्यामिणोऽन्यं द्रष्टारं, श्रोतारं, मन्तारं, विज्ञातारं चात्मानं प्रतिषेधति।

अर्थात्—इससे यह सिद्ध होता है कि शरीर से भिन्न अन्तर्यामी ईश्वर है। यदि यह है तो इस देह में दो द्रष्टा कैसे विद्यमान हो सकते हैं? एक ईश्वर अन्तर्यामी और दूसरा शरीर का स्वामी जीव? इसमें अनुपपत्ति क्या है? द्रष्टा (ईश्वर से) भिन्न नहीं। इस श्रुति वचन के विपरीत होगा। यहाँ (श्रुति में) प्रकृति (शरीर) के भीतर अन्तर्यामी के अतिरिक्त देखने वाला, सुनने वाला, मनन करने वाला, विज्ञाता आत्मा का विरोध किया है।

यह स्वामीजी ने पूर्व पक्ष दिया है। वह यह कि यदि द्रष्टा ईश्वर से

जीव को भिन्न मानें तो श्रुति-विपरीत हो जायेगा; क्योंकि वहाँ शरीर के भीतर अन्तर्यामी के अतिरिक्त देखने, सुनने वाले का विरोध है। इसका उत्तर वह इस प्रकार देते हैं—

...नियन्त्रन्तरप्रतिषेधार्थमेतद्वचनमिति चेत्—नः नियन्त्रन्तराप्रसंङ्गादविशेषश्रवणाच्च। अत्रोच्यते...अविद्याप्रत्युपस्थापितकार्यकरणोपाधिनिमित्तोऽयं शारीरान्तर्यामिणोर्भेदव्यपदेशो न पारमार्थिकः। एको हि प्रत्यगात्मा भवति, न द्वौ प्रत्यगात्मानौ संभवतः। एकस्यैव तु भेदव्यवहार उपाधिकृतः, यथा घटाकाशो महाकाश इति। ततश्च ज्ञातृज्ञयादिभेदश्रुतयः प्रत्यक्षादीनि च प्रमाणानि संसारानुभवो विधिप्रतिषेधशास्त्रं चेति सर्वमेतदुपपद्यते। तथा च श्रुति—'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' इत्यविद्याविषये सर्वं व्यवहारं दर्शयति। 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' इति विद्याविषये सर्वंव्यवहारं वारयति।

अर्थात्—नियन्त्र से किसी दूसरे के प्रतिवन्ध का कथन है। यदि ऐसा कहें तो नहीं; क्योंकि यहाँ दूसरे नियन्ता का प्रसंग नहीं और किसी विशेष का श्रवण भी नहीं। यहाँ अविद्या से प्रस्थापित कार्य-कारण के निमित्त से शरीर के भीतर अन्तर्यामी से भेद कहा है। यह परमार्थिक नहीं। वस्तुतः प्रत्यगात्मा एक ही है। दो प्रत्यगात्मा सम्भव नहीं। एक में ही भेद व्यवहार उपाधिकृत है। जैसे घट का आकाश और महाकाश और इससे ज्ञाता ज्ञेय इत्यादि भेद श्रुति में, प्रत्यक्ष प्रमाण में, संसार अनुभव में, विधि प्रमिषेध शास्त्र में यह सब उपपन्न है। और श्रुति है 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पृश्यति' यह अविद्या विषय में सब व्यवहारों को दिखाती है और 'यत्र त्वस्य सर्वं' यह श्रुति विद्या विषय में सब व्यवहार का निषेध करती है।

इस लम्बे उद्धरण को देने का कारण यह है कि स्वामी शंकराचार्य की कल्पना का पूर्ण उल्लेख इसमें आया है और हम उसका थोथापन यहाँ प्रकट करना चाहते हैं।

स्वामीजी ने जो पूर्व पक्ष उठाया है, वह संशय हो सकता है। यह पूर्व पक्ष इस प्रकार है कि जहाँ ब्रह्मसूत्र (१-२-१८, १९, २०) में यह कहा गया है कि देवताओं का भीतर से नियमन करने वाला उसके धर्मों के उपदेश से वह (परमात्मा) है। वह प्राणी में स्मृति यन्त्र नहीं और न ही दूसरा (जीवात्मा) है।

इन सूत्रों से पूर्व-पक्षी कहता है कि यदि यह बात है तो जीव की उपस्थिति, जो शरीर का स्वामी माना जाता है, की क्या आवश्यकता है? स्वामीजी कहते हैं कि शरीर के स्वामी (नियन्ता) से किसी दूसरे का अभिप्राय यदि है तो यह नहीं।

अर्थात् स्वामीजी पूर्व पक्ष को उपस्थित कर यह मान गये हैं कि

नियन्त्रण करने वाला और स्वामी एक ही है। अर्थात् (अपने पुराने उदाहरण में) मोटर में पेट्रोल और ड्राइवर एक ही हैं।

स्वामी जी पूर्व पक्ष का उत्तर नहीं जानते थे। इसी कारण मान गये हैं और अपने मानने को सिद्ध करने के लिए आगे युक्ति और प्रमाण देते हैं। हम पहले स्वामी जी की अपने पक्ष की सफ़ाई को देखेंगे; बाद में पूर्व पक्ष का अपना उत्तर देंगे।

स्वामी जी कहते हैं कि उपनिषद् वाक्यों में जहाँ नियमन करने वाला परमात्मा माना है, वहाँ किसी दूसरे नियन्ता का प्रसंग नहीं।

यह बात स्वामी जी ने उपनिषद् के अर्थ को न समझते हुए ही कही है। यद्यपि हम ऊपर बता आये हैं, परन्तु इस स्थान पर उसका संकेत कर देना चाहते हैं कि स्वामी जी उपनिषद् का अर्थ ठीक नहीं कर रहे। स्वामी जी का आशय (बृ० उ० ३-७) से है। वैसे तो बार-बार इन मंत्रों में एक बात प्रकट की गई है। हम एक मंत्र को ही लेकर स्पष्ट करेंगे। मंत्र है—

यो विज्ञाने तिष्ठन्विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञान्ँ शरीरं, यो विज्ञानमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ (बृ० ३-७-२२)

जगत् के तथा प्राणी के भिन्न-भिन्न पदार्थों को लेकर यही बात कही गई है जो उक्त मन्त्र में विज्ञान के विषय में है।

विज्ञान का अर्थ बुद्धि है। यह कहा है जो बुद्धि में रहता हुआ बुद्धि से बाहर भी है, जिसे विज्ञान (बुद्धि) नहीं जानता, जिसका शरीर बुद्धि है, जो विज्ञान (बुद्धि) को भीतर से नियमन करता है, वह तुम्हारे आत्मा (जीवात्मा) में अन्तर्यामी अमृत (परमात्मा) है।

यहाँ आत्मा (जीवात्मा) को अमृत (परमात्मा) से भिन्न बताया है। शब्द है त+आत्मा+अन्तः+यामी+अमृतः। वह जीवात्मा के भीतर यामी (नियन्त्रण करने वाला) अमृत है।

कहीं किसी उपनिषद् में परमात्मा का ही उल्लेख हो सकता है और आत्मा का नहीं, परन्तु किसी के उल्लेख न होने से उसका अस्तित्व ही नहीं है, कहना अज्ञानता है।

इसके आगे स्वामी जी उक्त उद्धरण में कहते हैं कि अविद्या के कारण दो प्रत्यगात्मा दिखाई देते हैं। वास्तव में दो हैं नहीं।

यह कथन मात्र है। यह शास्त्र में कहीं नहीं मिलता कि एक के दो दिखाई देते हैं। ठीक तो यह होगा कि अविद्या के कारण दो के एक दिखाई देते हैं। दो कैसे हैं, यह हम आगे चल कर बतायेंगे। युक्ति और प्रमाण दोनों देंगे। परन्तु केवल कथन से, विद्या-अविद्या से क्या दिखाई देता है इसका निश्चय नहीं हो सकता।

स्वामी जी कहते हैं कि एक में ही व्यवहार भेद से भेद दिखाई देता है जैसे घटाकाश और महाकाश।

यह मिथ्या युक्ति है और मिथ्या वक्तव्य है। घड़े में आकाश और घड़े से बाहर के आकाश के व्यवहार में क्या अन्तर है? एक दूसरे का भाग है। यह स्पष्ट है कि दोनों के व्यवहार में कुछ भी अन्तर नहीं।

यह इस प्रकार है कि जैसे एक घड़े में जल भरा हो, उस जल में से एक गिलास में जल ले लें तो घड़े में जल के आकार और गिलास में जल के आकार में भेद हो जायेगा। इस पर भी घड़े के जल और गिलास वाले जल का व्यवहार, गुण एवं धर्म में किसी प्रकार का अन्तर नहीं। अतः दोनों जल जल ही हैं और जल ही कहे जाते हैं। घटाकाश और महाकाश एक ही हैं। दोनों में अन्तर नहीं।

स्वामी जी कहते हैं कि ज्ञाता और ज्ञेय का भेद ही है। अर्थात् ज्ञाता और ज्ञेय दो नहीं हो सकते, अथवा दो नहीं हैं। यह कोई युक्ति नहीं है। इसका प्रमाण कहाँ है?

कोई प्रोफ़ेसर इतिहास का ज्ञाता होने से स्वयं ही इतिहास नहीं होता। न लौह धातु का ज्ञाता लोहा होता है। ज्ञाता और ज्ञेय भिन्न-भिन्न होते हैं। श्री स्वामी जी लिखते हैं कि घटाकाश और महाकाश में भेद ज्ञाता और ज्ञेय का है। इसी कारण हम कहते हैं कि स्वामी जी को तार्किक कहना उपयुक्त नहीं। स्वामी जी ज्ञाता और ज्ञेय के एक होने को प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं। हमें तो यह प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता।

आप कहते हैं कि संसार अनुभव में, विधि प्रतिषेध शास्त्र में यह सब सिद्ध है। विधि प्रतिषेध का अर्थ क्रिया-प्रतिक्रिया (action and reaction) के हैं। परन्तु यह क्रिया-प्रतिक्रिया का सिद्धांत यहाँ लागू नहीं होता। कारण यह कि क्रिया और प्रतिक्रिया की दिशा विपरीत होती है, परन्तु व्यवहार में समानता होती है। प्रतिक्रिया भी गति ही है। गति की प्रतिक्रिया स्थिरता (जड़ता) नहीं होती।

स्वामी जी संस्कृत भाषा के दो वाक्य उद्धरण के रूप में देते हैं। एक है 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति।' एक अन्य वाक्य आपने दिया है, 'यत्र त्वस्य सर्व···' ये दोनों वाक्य किसी प्रामाणिक ग्रन्थ के प्रतीत नहीं होते। ये युक्ति और वेद प्रमाण के भी विपरीत हैं।

स्वामी जी ने पूर्व पक्ष उठाया, परन्तु उसको विना कारण और युक्ति के मान लिया है। उस मानने के पक्ष में जो युक्तियाँ दी हैं, वे अशुद्ध हैं। प्रमाण गलत हैं।

पूर्व पक्ष का हमारा उत्तर है कि पहले प्रमाण लें। (ऋ० १-१६४-२०)

में परमात्मा, आत्मा को भिन्न-भिन्न माना है। श्वेताश्वतर उपनिषद् १-९, १० में भी यही लिखा है। १-६, ७ में भी इसी का उल्लेख है। भगवद् गीता ७-४, ५, ६ में भी इसी प्रकार वर्णन है। भगवद्गीता १३-१९, २०, २१ में तथा १५-१६, १७, १८ में भी ऐसा ही वर्णन है।

ये और अन्य अनेकों प्रमाण दिये जा सकते हैं, जहाँ जीवात्मा और परमात्मा में भेद वर्णित है और वहाँ यह नहीं लिखा कि अविद्या से दो दिखाई देते हैं।

अब तनिक सूत्रों की हमारी व्याख्या देखें तो पता चलेगा कि जिस बृहदारण्यक उपनिषद् (३-७-१ से १३ तक) के उद्धरणों पर स्वामी जी ने अपनी कल्पना का भवन-निर्माण किया है, वह कल्पना मात्र ही है।

उसी उपनिषद् में अरुणि का पुत्र उद्दालक प्रश्न करता है कि वह कौन सा सूत्र है, जिससे पूर्ण चराचर जगत् संचालित है? तो याज्ञवल्क्य कहता है कि वह 'वायु' है।

याज्ञवल्क्य कह सकता था कि वह ब्रह्म है, ईश्वर है अथवा आत्मा है। किन्तु उसने ऐसा नहीं कहा। वायु गति उत्पन्न करने वाली शक्ति है। यह ठीक है कि यह परमात्मा की शक्ति है, परन्तु यह परमात्मा नहीं है। परमात्मा तो शक्तिमान् है।

'वायु' जगत् का संचालन करती है। प्रश्न है परमात्मा क्या करता है? परमात्मा इस शक्ति के प्रयोग की दिशा और काल निश्चय करता है। इसको अंग्रेजी में कहते हैं decision and direction। निर्णय और दिशा-निर्धारण ज्ञानवान करता है।

बृहदारण्यक उपनिषद् (३-७) में परमात्मा का उल्लेख नहीं, वरन् परमात्मा की शक्ति वायु का उल्लेख है। परमात्मा जब चाहता है और जहाँ चाहता है, उस वायु का प्रयोग कर जगत् की रचना, पालन और प्रलय करता है।

यही बात प्राणी में बताई है। प्राणी के अंग-प्रत्यंग का संचालन वायु से होता है; परन्तु उस वायु की दिशा, स्थान और काल जीवात्मा निश्चय करता है।

उदाहरण के रूप में आँख में देखने की शक्ति वायु है। वह परमात्मा की शक्ति है; परन्तु आँखें क्या देखें, किधर देखें और कब देखें, इसका निश्चय जीवात्मा करता है 'decision and direction' जीवात्मा ही करता है।

इस पर भी जगत् में वायु से कार्य करने वाला परमात्मा है और प्राणी में वायु से कार्य करने वाला (परमात्मा से भिन्न) जीवात्मा है। यह इसका अर्थ है।

कुछ विद्वान् लोग यह कहते हैं कि शक्ति और शक्तिमान् एक ही हैं। हम यह नहीं मानते। यह न तो युक्ति से सिद्ध है और न प्रमाण से। देखिये, अग्नि में,

विद्युत में, आणविक शक्ति ईश्वरीय है, परन्तु इसका प्रयोग मनुष्य करता है। कोई इससे समुद्रयान अथवा कारखाने चलाते हैं, दूसरे इससे अस्त्र-शस्त्र युद्ध में प्रयोग कर सहस्रों-लाखों मनुष्यों की हत्या करते हैं। यदि शक्ति और परमात्मा एक ही मान लें तो प्रयोग में यह भेद नहीं हो सकता।

वही उदाहरण पेट्रोल और मोटर ड्राइवर का ले सकते हैं। पेट्रोल मोटर गाड़ी चलाती है, परन्तु ड्राइवर मोटर का प्रयोग मानवी सेवाओं के लिए कर सकता है अथवा डाका डालने के लिए भी कर सकता है। यदि पेट्रोल की शक्ति और परमात्मा एक होते तो डाका डालने के समय पेट्रोल निस्तेज हो जाता।

प्रमाण हम ऊपर वेद, उपनिषद् और गीता में से दे चुके हैं।

अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः ॥२१॥

अदृश्यत्वादि + गुणकः + धर्मोक्तेः।

अदृश्य इत्यादि गुणों वाला कहे गये धर्मों से (जानना चाहिये)।

स्वामी शंकराचार्य तथा अन्य भाष्यकार भी यह मानते हैं पर वहाँ हमने केवल जानना चाहिये लिखा है वहाँ ब्रह्म है। ऐसा वह लिखते हैं। इसमें, उनके विचार से अर्थ बन जाते हैं—

'अदृश्यत्व आदि गुणों वाला। कहे गये धर्मों से ब्रह्म मानना चाहिये।'

हमारा यह कहना कि क्योंकि इस पूर्ण पाद में परमात्मा और जीवात्मा दोनों का वर्णन आ रहा है और दोनों में भेद बताते चले आ रहे हैं तो यहाँ दोनों में समानता अथवा भेद का वर्णन है। दोनों अदृश्य, इन्द्रियों से न पता चलने वाले, अर्थात् अव्यक्त हैं। इस पर भी धर्मों में भेद है।

यह ठीक है कि यहाँ दो का स्पष्ट उल्लेख नहीं। साथ ही यहाँ सूत्र में एक वचन है, इससे यह निश्चय से नहीं कहा जा सकता कि यह परमात्मा के लिये ही है। धर्म तो दोनों के पृथक हैं। अदृश्य दोनों ही हैं।

अतः हमारा यह कहना है कि जीवात्मा अथवा परमात्मा समान अव्यक्त गुण वाले हैं और पृथक्-पृथक् धर्मों वाले हैं। एक वचन का प्रयोग दोनों को चेतन तत्त्व मानकर किया गया है।

गुण तो अव्यक्त है और धर्म कर्म के साथ सम्बन्ध रखता है। दोनों ही ईश्वरीय शक्ति से अपने-अपने क्षेत्र में कार्य करते हैं। परमात्मा पूर्ण जगत् में और जीवात्मा केवल शरीर में। दोनों में कर्म का काल, दिशा और स्थान निश्चय करने का धर्म है। अर्थात् दोनों ईक्षण करने से चेतन हैं। परन्तु धर्म का

क्षेत्र भिन्न-भिन्न है।

गुण अव्यक्तता अर्थात् अदृश्यता है। स्वामी शंकराचार्य ने मुण्डकोपनिषद् का उद्धरण दिया है कि परमात्मा अदृश्य है। इसको अस्वीकार नहीं किया जाता, परन्तु परमात्मा ही अदृश्य है, यह वेदादि शास्त्रों से सिद्ध नहीं होता।

तीन अक्षर हैं। तीनों अव्यक्त हैं। ये गुण परमात्मा, जीवात्मा और प्रधान तीनों में हैं। इस पर भी तीनों एक ही नहीं हैं। कारण यह कि इनके कुछ अन्य गुण, धर्म और लक्षण हैं जिनसे इनकी भिन्नता सिद्ध होती है।

मुण्डकोपनिषद् के पूर्ण वाक्य से यहाँ सम्बन्ध नहीं, वह विषयान्तर है।

अतः अदृश्यत्व इत्यादि गुणों वाला अवयव कहे गये धर्मों से जानने चाहियें। जो गुण, कर्मजन्य हैं, वह धर्म कहलाते हैं। अर्थात् परमात्मा और जीवात्मा के धर्मों में अन्तर है। अतः अदृश्यत्वादि गुणों में (समानता) होने पर भी धर्मों (की विलक्षणता) से जानो।

विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ ॥२२॥

विशेषण + भेद + व्यपदेशाभ्याँ + च + न + इतरो।

और विशेषणों में भेद के कहे जाने से दूसरे दो (जीवात्मा और प्रकृति) नहीं।

गुण और विशेषणों में क्या अन्तर है? जो गुणों में समान हैं, क्या वे विशेषणों में भेद रख सकते हैं और क्यों? यह इस सूत्र के पढ़ने से संशय उत्पन्न होता है।

पूर्व सूत्र में यह कहा है कि अदृश्यत्व आदि गुणों वालों को कहे धर्मों से जानना चाहिये। अभिप्राय यह कि गुण समान होने से धर्म में भेद हो सकता है। यह हमने उक्त सूत्र की व्याख्या में बताया है कि जीवात्मा जगत् का संचालन नहीं कर सकता। इसको उत्पन्न तथा इसका प्रलय भी नहीं कर सकता। ईश्वर कर सकता है। अतः एक शक्तिहीन और दूसरा सर्वशक्तिमान् है। यह धर्मों में अन्तर है। जहाँ जीवात्मा अपने शरीर के कार्यों तथा शरीर द्वारा कार्यों की दिशा, काल और स्थान निश्चय कर सकता है, परन्तु जगत् के जन्म, पालन एवं मरण के विषय में जीवात्मा काल दिशा और स्थान का निश्चय नहीं कर सकता।

वर्तमान सूत्र में लिखा है कि धर्मों के अतिरिक्त परमात्मा विशेषणों में भी दूसरे दो से भिन्न है। विशेषण इस प्रकार हैं। परमात्मा सर्वज्ञ, सर्वशक्ति-

मान, सर्वव्यापक है। जीवात्मा अणु समान होने से सर्वव्यापक हो नहीं सकता। यह सर्वज्ञ भी नहीं और न ही सर्वशक्तिमान् है। जड़ तो चेतन भी नहीं और अन्य विशेषण भी इसके साथ प्रयुक्त नहीं हो सकते।

जैसे धर्म उस गुण को कहते हैं जो कर्म करने में योगदान देता है, इसी प्रकार विशेषण उन गुणों से बनते हैं जो लक्षण उत्पन्न करते हैं।

परमात्मा का सर्वज्ञ होना गुण है। यह विशेषण भी है। इसमें कारण यह है कि सर्वज्ञता से जगत् के सुचारु रूप में संचालनादि के लक्षण प्रकट हुए हैं।

प्रकृति में अवस्थितत्व (inertness) है। यह जिस अवस्था और स्थिति में पड़ी हो, पड़ी रहती है। अपनी अवस्था तथा स्थान को बदल नहीं सकती। अतः प्रकृति का जड़त्व अर्थात् अवस्थितत्व गुण है और अक्रियता इसका लक्षण है। जड़त्व इसका विशेषण भी है।

विशेषणों में भेद होने से यह दूसरे दो (जीवात्मा प्रकृति) नहीं।

विशेषणों का उल्लेख इसी पाद के सूत्र १-२-१२ में भी आया है। वहाँ गुहा में प्रविष्ट दो आतम-तत्त्वों की तुलना की जा रही थी। यहाँ सामान्य रूप में तीनों अक्षर तत्त्वों की तुलना हो रही है।

रूपोपन्यासाच्च ॥२३॥

रूप+उपन्यासात्+च।

और रूप का कथन होने से भी परमात्मा-जीवात्मा और प्रकृति में भेद है।

रूप से क्या अर्थ है? यह विशेष विचारणीय बात है। रूप से क्या नाक, कान इत्यादि का अभिप्राय है अथवा क्या इससे गोरा-काला अथवा लम्बे-चौड़े से अभिप्राय है?

कुछ भाष्यकार ऐसा ही मानते हैं, परन्तु यह अशुद्ध है।

आचार्य उदयवीर शास्त्री सूत्र १-२-२१ के भाष्य में लिखते हैं, 'जीवात्मा यद्यपि अदृश्य, सूक्ष्म, नित्य और अव्यय, अपरिणामी है, पर वह अचक्षु-श्रोत्र तथा अपाणिपाद नहीं माना जाता। वह अगोत्र और अवर्ण भी नहीं। सर्ग के आदि काल से जीवात्मा के साथ इन्द्रियादि समस्त करणों का सम्पर्क बराबर रहता है तथा देह धारण करने पर गोत्र (वंश) और वर्ण (ब्राह्मणत्वादि) की रेखा पर होकर ही जीवात्मा का मार्ग है'।

हमारा आचार्य उदयवीर जी से मतभेद है। ये अवयव जीवात्मा के नहीं।

ये सूक्ष्म अथवा स्थूल शरीर के हैं। भले ही शरीर और जीवात्मा का सम्बन्ध एक दीर्घ काल के लिये हो, परन्तु शरीर शरीर है और जीवात्मा जीवात्मा। ये परस्पर परिवर्तित नहीं हो सकते।

जीवात्मा का भी स्वरूप है, परन्तु वह आँख, श्रोत्र, नेत्रादि नहीं। वह अन्य है। यह स्वरूप आगे चलकर लिखेंगे।

आचार्य उदयवीर जी वर्तमान सूत्र (१-२-२३) का अर्थ इस प्रकार करते हैं—

'(रूपोपन्यासात्) रूप का कथन होने से, (च) भी। इस प्रसंग में आगे ब्रह्म के विराट रूप का कथन होने से जीवात्मा और प्रकृति अदृश्यत्वादि गुण वाले नहीं माने जाने चाहियें।'

आचार्य जी इस सूत्र में रूपोपन्यास का अभिप्राय नहीं समझे।

रूप का अर्थ अंग-उपांग नहीं, वरन् उन गुणों से है जो लक्षण उत्पन्न करते हैं। परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति तीनों में ऐसे गुण हैं जो विशेष और अपने भिन्न-भिन्न लक्षण उत्पन्न करते हैं। उनमें भेद होने से परमात्मा जीवात्मा और प्रकृति से भिन्न है। इस सूत्र का यह अर्थ बनता है।

अब देखना यह है कि वे कौन-कौन से गुण और लक्षण हैं, जिनसे तीनों में भेद प्रतीत होता है ? परन्तु इस देखने से पूर्व हम स्वामी शंकराचार्य जी का मत भी लिख दें तो ठीक होगा। आप लिखते हैं—

अपि च 'अक्षरात्परतः परः' इत्यस्यानन्तरम् 'एतस्माज्जायते प्राणः 'इति प्राणप्रभृतीनां पृथिवीपर्यन्तानां तत्त्वानां सर्गमुक्त्वा तस्यैव भूतयोनेः सर्व-विकारात्मकं रूपमुपन्यस्यमानं पश्यामः। (रा० भा० १८४)

और अक्षरात्परतः परः इसके अनन्तर 'एतस्माज्जायते प्राणाः' इस प्रकार प्राण से लेकर पृथिवी पर्यन्त सब तत्त्वों की सृष्टि कहकर उसी भूतयोनि के सर्व विकारात्मक उपन्यस्यमान कहे जा रहे रूपों को हम देखते हैं।

नीचे दिये दोनों उद्धरण मुण्डकोपनिषद् के हैं। इन उद्धरणों को भी देख लिया जाना चाहिये। ये इस प्रकार हैं—

दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः॥
एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी॥

(मुण्डको० २-१-२, ३)

इन मन्त्रों का अर्थ है—(पुरुष) परमात्मा दिव्य अमूर्त्त, वह बाहर और भीतर विद्यमान, वह प्राण, अजन्मा और मन से रहित, शुद्ध (अक्षरात्मपरतः परः) परे के अक्षर से भी परे है।

दूसरे मन्त्र का अर्थ है—उससे प्राण उत्पन्न होता है। सब इन्द्रियाँ और मन, द्युलोक, वायु, ज्योति उत्पन्न होते हैं और सबको धारण करने वाली पृथिवी भी।

इन मन्त्रों में यह तो लिखा है कि वह परमात्मा परे के अक्षर से भी परे है, परन्तु वह परे का अक्षर क्या है? यह इससे आगे एक मन्त्र में वर्णन किया है। वह स्पष्ट रूप में जीवात्मा है।

> आविः सन्निहितं गुहाचरं नाम महत्पदमत्रैतत्समर्पितम्।
> एजत्प्राणन्निमिषच्च यदेतज्जानथ सदसद्वरेण्यं परं विज्ञाना-
> द्यद्वरिष्ठं प्रजानाम्॥ (मुण्डको० २-२-१)

यह अक्षर है, जिसे जीवात्मा के नाम से जाना जाता है। इसका वर्णन इस प्रकार है।

(आविः) आविर्भूत हुआ (सन्निहितं गुहाचरं नाम) अत्यन्त निकट ही गुहाचर नाम वाला (महत्पदम्) उच्च स्थानों में स्थित (अत्रैतत्) यहाँ यह (एजत्प्राण) गतिमान प्राण (कर्म करने की शक्ति) (निमिषं च) और झपकने अर्थात् हिलने-डोलने की शक्ति (समर्पितम्) उसी में समर्पित है। (यत्+एतत्) जो यह (सदसद्वरेण्यं) सत्-असत् अर्थात् प्रकृति कार्य कारण को वरण करने योग्य (विज्ञानात् परम्) जो बुद्धि से भी परे है। (प्रजानाम वरिष्टं) प्रजाओं में सर्वोत्कृष्ट है। (जानथ) उसे जानो।

वास्तव में इस मन्त्र के अर्थ को ठीक समझ कर ही ऊपर के दो मन्त्रों का अर्थ समझ में आ सकता है। इस मन्त्र में लिखा है कि जन्म के समय जीवात्मा शरीर में आकर गुहा में विचरने लगता है और उसको ईश्वरीय शक्ति मिलती है, जिससे वह प्राण और हिलने-डोलने की शक्ति प्राप्त करता है। अर्थात् जीवात्मा सत्+असत्, कार्य कारण, प्रकृति के साथ संयुक्त हो बुद्धि से वह प्रजाओं में श्रेष्ठ वन जाता है। प्रजा तो जड़ इत्यादि है। पहाड़, नदी, नाले इत्यादि भी प्रजा है। परन्तु जीवात्मा बुद्धि पाकर उनसे श्रेष्ठ बन जाता है।

दूसरे मन्त्र में, इस अक्षर से भी सूक्ष्म अक्षर का वर्णन है। वह परमात्मा है, जिसके गुण दूसरे और तीसरे मन्त्र में वर्णन किये हैं, परन्तु हमारा यह कहना है कि न तो ये मन्त्र सूत्रार्थ को प्रकट करते हैं और न ही सूत्रार्थ का इन मन्त्रों से किसी प्रकार का सम्बन्ध है। ये परमात्मा का स्वरूप वर्णन नहीं करते। ये उद्धरण व्यर्थ हैं। स्वामी जी ने इनको कदाचित् इस कारण दिया है कि परमात्मा ही सब कुछ है, सिद्ध हो सके। यह इनसे सिद्ध होता नहीं।

आगे स्वामी जी इसी व्याख्याधीन सूत्र के भाष्य में कहते हैं—

'अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः। वायुः

प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा' (मुण्ड० २-१-४) इति। तच्च परमेश्वरस्यैवोचितं; सर्वविकारकारणत्वात्। न शारीरस्य तनुमहिम्नः। नापि प्रधानस्यायं रूपोपन्यासः संभवति।

अर्थात् अग्नि जिसका सिर है; सूर्य, चन्द्रमा चक्षु हैं, दिशायें श्रोत्र और विवृत वेद (वाणी) हैं; वायु, प्राण और विश्व हृदय है जिसके पाद से पृथिवी हुई है; सब प्राणियों की जो आत्मा है (मुण्ड० २-१-४)। यह कथन परमेश्वर में ही उचित है। क्योंकि वह सर्व विकारों का कारण है। जीवात्मा के तनु में ये कथन युक्त नहीं। न ही प्रधान के रूप के कथन में यह सम्भव हो सकता है।

उक्त चारों मन्त्रों को एक साथ पढ़ने से यह स्पष्ट है कि जीवात्मा शरीर से सम्बद्ध होकर गुहा में रहता हुआ परमात्मा से प्राप्त शक्ति से प्राण और निमिषत् की शक्ति धारण करता है। वह सत्-असत् रूपी प्रकृति के बने शरीर में रहता है, परन्तु इस अक्षर (जीवात्मा) से भी परे परमात्मा है। इसके गुण माण्डू० १-२-४ में वर्णन किये हैं। ये गुण न तो जीवात्मा में हैं और न ही प्रधान में।

ये मन्त्र सूत्र के अर्थ तक पहुँचते हैं। परमात्मा का रूप यह है।

यहाँ शिर, चक्षु, पाद इत्यादि का वर्णन है, परन्तु ये केवल उपमा रूप में ही कहे हैं। वास्तव में अग्नि, वायु, वेदवाणी इत्यादि ईश्वर के स्वरूप हैं।

यह स्वरूप जीवात्मा और प्रकृति का नहीं। इस कारण तीनों में इस स्वरूप से भेद किया जा सकता है।

वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् ॥२४॥

वैश्वानरः+साधारण+शब्दविशेषात्।

वह अग्नि जो पूर्ण विश्व में व्यापक है। सामान्य शब्द का विशेष अर्थ लेने से परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान होता है।

पूर्व के सूत्र में रूपों का वर्णन है। वहाँ परमात्मा के रूप में अग्नि उसका एक स्वरूप वर्णन किया है। मुण्डकोपनिषद् में भी परमात्मा का शिर अग्नि कहा है। शिर इसलिए कहा है कि इसके द्वारा ही परमात्मा ने सम्पूर्ण जगत् में प्रवेश किया हुआ है। वहाँ अग्नि के अर्थ वह शक्ति है जो तेजोमय है। शक्ति जिससे तेज (प्रकाश) का प्रादुर्भाव होता है।

वर्तमान सूत्र में इसका, जो पूर्ण विश्व में व्यापक है, उल्लेख है।

वैश्वानरः वह अग्नि है जो विश्व का आधार है। विश्व और अग्नि साधारण शब्द हैं, परन्तु इन साधारण शब्दों से विशेष अग्नि का अभिप्राय है। यह वह अग्नि नहीं, जिससे रोटी सेंकी जाती है अथवा जल गर्म किया जाता है। यद्यपि यह अग्नि भी पूर्ण जगत् में देखी जाती है और यह भी परमात्मा की शक्ति ही है, परन्तु वैश्वानर के विशेष अर्थ हैं। यह वह अग्नि है जो परमात्मा ने हिरण्य-गर्भ में बीजारोपण करते हुए डाली थी और जिससे देवता, पृथिवी और द्युलोक बने थे।

इस विशेष अग्नि से परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान होता है।

यों तो पूर्ण जगत् का प्रत्येक कार्य परमात्मा की शक्ति से ही चलता है, ऐसा हम ऊपर लिख चुके हैं, परन्तु उस शक्ति का कार्य किसी-न-किसी साधन द्वारा होता है। उदाहरण के रूप में लकड़ी जलने ने ताप उत्पन्न होता है। है तो वह भी परमात्मा की शक्ति का रूप ही, परन्तु लकड़ी जलाने वाले के द्वारा इसका प्रकटीकरण होता है। अतः यह परमात्मा के स्वरूप को प्रकट करने में वह स्पष्टता नहीं रखता जितना कि वह शक्ति जो हिरण्यगर्भ में बीज बनकर जगत् की रचना करती है। इस वैश्वानर अग्नि को प्रकट और कार्य करने में किसी दूसरे साधन का प्रयोग नहीं। उस समय जब अचल, मृत-प्राय प्रकृति में सृष्टि-रचना आरम्भ होती है, तब परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कोई प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष था नहीं। अतः वैश्वानर अग्नि परमात्मा के स्वरूप को प्रकट करती है। इस स्वरूप को देखकर परमात्मा के दर्शन होते हैं।

इसी कारण इस ग्रन्थ के आरम्भ में ही दर्शनाचार्य ने परमात्मा की सिद्धि के लिए 'जन्माद्यस्य यतः' का उल्लेख किया है।

यहाँ इस सूत्र में वैश्वानर की विशेषता से परमात्मा के स्वरूप का प्रतीक वर्णन किया है।

स्वामी शंकराचार्य जी इसको इस प्रकार वर्णन करते हैं। वे लिखते हैं कि जठराग्नि को भी वैश्वानर के शब्द से स्मरण किया है। इसका वह उदाहरण बृ० ५-९ में देते हैं।

यह सब ठीक है। इसी कारण सूत्रकार ने कहा है कि 'विशेषात्' विशेष अर्थों में जब प्रयोग किया जाये तो यह परमात्मा के स्वरूप की वाचक है।

स्वामी जी ने वैश्वानर अग्नि को विशेष अर्थों में प्रयोग करने का एक उदाहरण ऋ० १०-८८-१२ का दिया है। इस ऋग्वेद के मन्त्र में वैश्वानर उस अग्नि को कहा है, जिसे द्युलोक के नक्षत्रादि बने हैं।

अतः वैश्वानर अग्नि जब विशेष अर्थों में हो तो परमात्मा के स्वरूप का प्रतीक है।

स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति ॥२५॥

स्मर्यमाणम्+अनुमानं+स्यात्+इति ।

स्मरण किया जाने योग्य अनुमान से है यह (परमात्मा का स्वरूप) ।

स्मरण का अभिप्राय है, जाना जाता है । अतः इस सूत्र का अर्थ बनता है कि अनुमान से जाना जाता है कि वैश्वानर अग्नि परमात्मा के स्वरूप की प्रतीक है ।

एक तो अनुमान की बात समझ लेनी चाहिये । हमने पूर्व के सूत्र में यह बताया है कि अग्नि जहाँ भी देखी जाती है, वह परमात्मा की सामर्थ्य की ही सूचक है । परन्तु जब जगत् रचना में इसका प्रयोग होता है तब यह स्पष्ट रूप से परमात्मा की शक्ति का ही सूचक होती है । यही अनुमान है । ऐसा अनुमान इस कारण है कि उस समय मनुष्य देवता इत्यादि अन्य कोई विद्यमान नहीं था । उस समय प्रकृति थी तथा परमात्मा था । प्रकृति जड़ होने से स्वयं कुछ भी करने के योग्य नहीं थी । अतः हिरण्यगर्भ में जो अग्नि प्रकट हुई, वह परमात्मा की ही थी । अन्य कोई था ही नहीं तो वह अग्नि परमात्मा का ही स्वरूप हो सकती थी ।

दूसरी बात जो ध्यान देने योग्य है वह है परमात्मा के और वैश्वानराग्नि के परस्पर सम्बन्ध की ।

हम अग्नि एतदर्थं वैश्वानराग्नि को परमात्मा की शक्ति, सामर्थ्य मानते हैं । इस सामर्थ्य को ही परमात्मा का स्वरूप माना है । कुछ विद्वान् शक्ति और शक्ति के स्वामी परमात्मा में अन्तर नहीं मानते । उदाहरण के रूप में स्वामी शंकराचार्य जी ही लिखते हैं—

इतश्च परमेश्वर एव वैश्वानरः, यस्मात्परमेश्वरस्यैवाग्निरास्यं द्यौर्मूर्धेतीदृशं त्रैलोक्यात्मकं रूपं स्मर्यते "यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा खं नाभिश्चरणौ क्षितिः । सूर्यश्चक्षुर्दिशः श्रोत्रं तस्मै लोकात्मने नमः ।" इति । एतत्स्मर्यमाणं रूपं मूलभूतां श्रुतिमनुमापयदस्य वैश्वानरशब्दस्य परमेश्वरपरत्वेऽनुमानं लिङ्गं गमकं स्यादित्यर्थः ।

इससे भी परमेश्वर ही वैश्वानर है; क्योंकि उनका अग्नि मुख है । द्यौमूर्धा—यह भी त्रिलोकी के आत्मा का रूप स्मरण किया जाता है, जिनका अग्नि मुख है, द्यौ मूर्धा है, आकाश नाभि, पृथिवी चरण, सूर्य नेत्र और दिशायें श्रोत्र हैं; उस लोकात्मा को नमस्कार हो । यह श्रुति है । इस प्रकार यह 'स्मर्यमाणं रूपं' भी अपनी मूलभूत श्रुति अनुमान कराता हुआ वैश्वानर शब्द के परमेश्वरपरक अनुमान लिङ्ग ज्ञापक है । ऐसा अर्थ है ।

और तो स्वामी जी ने वही लिखा है जो हम ऊपर लिख आये हैं ।

अर्थात् वैश्वानर शब्द अनुमान लिङ्ग से पता चलता है, परन्तु स्वामी जी का यह कहना ठीक नहीं कि 'इतश्च परमेश्वर एव वैश्वानरः' । वैश्वानर परमेश्वर की शक्ति है, परमेश्वर नहीं। यदि शक्ति और शक्तिमान पर्यायवाचक मानेंगे तो शक्ति पर आंशिक अधिकार मनुष्य का हो जाता है। इससे यह सिद्ध होगा कि आर्थिक रूप में परमेश्वर पर ही अधिकार है।

उदाहरण के रूप में आणविक शक्ति से मनुष्य ने वहुत काम लिया है। इसका, भले और बुरे कामों पर अपनी इच्छा से प्रयोग भी किया है। अतः यदि शक्ति और शक्तिमान् पर्यायवाचक मान लें तो यह मानना पड़ेगा कि आंशिक रूप में ही सही, परमात्मा पर मनुष्य का अधिकार हो गया और वह इससे अच्छे और बुरे कर्म करा सकता है।

यह बात अशुद्ध होगी। शक्ति परमात्मा की है परन्तु यह परमात्मा से पृथक् है और मनुष्य, देवता अथवा राक्षस तपस्या से इसे प्राप्त कर लेते हैं और वे अपने आत्मा के निर्देश पर उस शक्ति का प्रयोग करते हैं।

अतः हमारा यह मत है कि परमात्मा और उसकी शक्ति दो पृथक्-पृथक् हैं। यह शक्ति किसी प्रकार की स्थाई वस्तु नहीं है। यह परमात्मा से प्रकट होती रहती है और वह कार्य करने पर निरर्थक हो जाती है।

अतः यह परमेश्वर नहीं है, परन्तु यह परमेश्वर से उद्भव होने से परमात्मा का स्वरूप मानी है। स्वरूप का अर्थ लक्षण है जैसे धुआँ, अग्नि का लक्षण है।

शब्दादिभ्योऽन्तः प्रतिष्ठानाच्च नेति चेन्न तथादृष्ट्युप-देशादसंभवात्पुरुषमपि चैनमधीयते ॥२६॥

च + शब्दादिभ्यः + अन्तः + प्रतिष्ठानात् + न + इति + चेत् + न + तथा दृष्टि + उपदेशात् + असम्भवात् + पुरुषम् + अपि + च + ऐनम् + अधीयते।

ऊपर कहा है कि वैश्वानर परमात्मा के स्वरूप का ज्ञापक है। उस बात को आगे चलाते हुए सूत्रकार कहता है कि वैश्वानर (जगत् के) भीतर प्रतिष्ठित होने से 'शब्दादि' से (वह परमात्मा है)।

सूत्रार्थ इस प्रकार है—

च=और; शब्दादिभ्यः=शब्दादि से (कहने मात्र से); अन्तः= भीतर (जगत् के); प्रतिष्ठानात्=प्रतिष्ठित होने से; न-इति=नहीं है; चैत-न=यदि ऐसा कहो तो ठीक नहीं; तथा=और; दृष्टि=दृष्टि का;

उपदेशात्=उपदेश से (कहे जाने से); असम्भवात्=असम्भव होने से; पुरुषम् अपि=पुरुष (परमात्मा) भी; च=और; ऐनम्=ऐसा; अधीयते= पढ़ते हैं।

अभिप्राय यह है—

वैश्वानर जगतादि के भीतर प्रतिष्ठित होने से इसको परमेश्वर नहीं मानना चाहिए। यदि यह परमेश्वर नहीं और देखने से, असम्भव होने से भी यह परमेश्वर नहीं। फिर भी परमात्मा का प्रतीक समझा जाता है अथवा पढ़ा जाता है।

जैसे वेदों में अग्नि, मित्र, वरुण इत्यादि शब्दों से परमात्मा का अर्थ लिया जाता है। इसी प्रकार यद्यपि वैश्वानर परमात्मा नहीं, परन्तु परमात्मा के अतिरिक्त अन्य किसी में भी वह शक्ति सम्भव न हो सकने से, परमात्मा का वाचक ही मानी जाती है।

हमने यह लिखा है कि वैश्वानर परमात्मा की शक्ति का ज्ञापक है। शक्ति और शक्तिमान भिन्न-भिन्न हैं। सूत्रकार कहता है कि यह बात ऐसे ही है। वैश्वानर परमात्मा नहीं। देखने से और असम्भव होने से भी यही मानना चाहिये कि वैश्वानर अग्नि परमात्मा नहीं; परन्तु पुरुष, अभिप्राय यह कि परमात्मा के अतिरिक्त अन्य किसी में जगत् रचना की सामर्थ्य नहीं तथा इस (वैश्वानर) को परमात्मा का सूचक भी स्वीकार किया जाता है।

ऋग्वेद के दशम् मण्डल के ८८वें सूक्त में मन्त्रों का देवता अर्थात् विवेचित विषय है सूर्य वैश्वानरौ। सूर्य और वैश्वानर दोनों विषयों पर मन्त्र हैं। इसी सूक्त के मन्त्र १२ का उल्लेख पिछले सूत्र में किया है। उसमें वैश्वानर उस अग्नि को कहा है कि जिससे नक्षत्रादि निर्माण होते हैं। सूर्य भी नक्षत्र है और सूर्य के निर्माण से दिन-रात की गणना होती है। मन्त्र इस प्रकार है—

विश्वस्मा अग्निं भुवनाय देवा वैश्वानरं केतुमह्नामकृण्वन्।
आ यस्ततानोषसो विभातीरपो ऊर्णोति तमो अर्चिषा यन्॥

(ऋ० १०-८८-१२)

विद्वानों ने सम्पूर्ण जगत् के लिये वैश्वानर अग्नि अर्थात् सूर्य को दिन-रात के निर्माण के लिए निश्चय किया है। जो (सूर्य) प्रकाशमान् है वह उषाओं का निर्माण करता है और तम का नाश करता है। यहाँ सूर्य में ताप और प्रकाश परमात्मा ने दिया है और वह वैश्वानर है। यह इस मन्त्र का अभिप्राय है।

इसी सूक्त का एक और मन्त्र है—

वैश्वानरं कवयो यज्ञियासोऽग्निं देवा अजनयन्नजुर्यम्।
नक्षत्रं प्रत्नममिनच्चरिष्णु यक्षस्याध्यक्षं तविषं बृहन्तम्॥

(ऋ० १०-८८-१३)

इस मन्त्र का पदच्छेद और अर्थ इस प्रकार है—

यज्ञासः=यज्ञ के उपासक; कवयः=विद्वान लोग; अग्निम्=अग्नि को; अजनयन=प्रज्वलित करते हैं; देवा=ज्ञानवान परमात्मा को; अजुर्यम्=जो नाश न होने वाला; नक्षत्रम्=सर्व व्यापक; प्रत्नम्=अति पुरातन; चरिष्णु=नाना कर्मों का फल देने वाला; यज्ञस्य अध्यक्षम्=संसार रूपी यज्ञ का अध्यक्ष ; तविषं बृहन्तम्=महान वलवान; वैश्वानरम्=वैश्यवानर अग्नि का (स्वामी है)।

कहने का अभिप्राय यह है कि वैश्वानर उस अग्नि को कहते हैं जो सूर्यादि नक्षत्रों में परमात्मा ने स्थापित की है।

परन्तु सूत्रकार कहता है कि वैश्वानर तो साधारण शब्द है। इसकी विशेषता के कारण यह परमात्मा की ज्ञापक है और आगे लिख दिया है कि वैश्वानर इत्यादि शब्द जगत् में प्रतिष्ठित होने से यद्यपि परमात्मा नहीं और दिखायी देने से, वेदों में कहे जाने से और परमात्मा के विना असम्भव होने से इसे परमात्मा का भी ज्ञापक माना जाता है।

अत एव न देवता भूतं च ॥२७॥

अतः+एव+न+देवता+भूतम्+च ।

अतः (वैश्वानर) न तो देवता है और न ही भूत (पञ्चमहाभूतों) में कोई है।

देवता का स्पष्ट अर्थ है कि वायु, मरुत, वरुण इत्यादि अन्तरिक्ष की दिव्य शक्तियाँ। ये वैश्वानर नहीं हैं। भूतम् से अभिप्राय सूक्ष्म अथवा स्थूल भूतों से है। भूताग्नि से वैश्वानर का अभिप्राय नहीं है। साथ ही ऊपर बता आये हैं कि यह है तो अग्नि ही, परन्तु विशेष अर्थों में यह उस अग्नि को कहते हैं जो परमात्मा के अतिरिक्त किसी अन्य के द्वारा प्रकट नहीं की जा सकती। यह केवल परमात्मा से ही उत्पन्न की गयी है। अतः यह परमात्मा की ज्ञापक मानी जाती है।

साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः ॥२८॥

साक्षात्+अपि+अविरोधं+जैमिनिः ।

साक्षात् में जो अग्नि है, वह भी विरोध नहीं करती ।

अर्थात् वह भी परमात्मा से ही दी जाती है । उसी की शक्ति का रूप है । ऐसा जैमिनि मुनि का उत्तरमीमांसा में कथन है ।

वैश्वानर के अर्थ निरुक्त में इस प्रकार किये हैं—

वैश्वानरः कस्मात् ? विश्वान् नरान् नयति विश्व एवं नरा नयन्तीति वा । अपि वा विश्वानर स्यात् । प्रत्युतः सर्वाणि भूतानि । तस्य वैश्वानरः तस्यैषा भवति । (निरुक्त ७-२०-२१)

इसका अर्थ है—वैश्वानर किस (कारण) से ? सारे नरों को ले जाता है । अथवा सारे नर इसे ले जाते हैं । सब भूतों में पहुँची हुई है । वैश्वानर ऐसी है ।

अभिप्राय यह है कि सब नर इससे काम करते हैं और यह सब नरों का कार्य करती है । अथवा शब्द है 'प्रति ऋतः' । इसका अर्थ है सबमें पहुँची हुई है (भूतों में) पंच महाभूतों में ।

यहाँ उस अग्नि को वैश्वानर कहा है जो पृथिवी पर सामान्य काम में आती है ।

अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः ॥२९॥

अभिव्यक्तेः+इति+आश्मरथ्यः ।

अभिव्यक्त होने अर्थात् स्पष्ट वर्णन होने से ऐसा अश्मरथ् नामक आचार्य ने कहा है ।

ऊपर वे० द० १-२-२८ में जैमिनि की साक्षी दी है । यहाँ अश्मरथ ऋषि के कथन की साक्षी दी है ।

स्पष्ट रूप में क्या कहा है ? यही कि इस पृथिवी पर वैश्वानर से सामान्य शक्ति को लेना चाहिये । अभिप्राय यह कि सामान्य अग्नि भी द्यू लोक की वैश्वानर से ही उत्पन्न हुई है ।

अनुस्मृतेर्बादरिः ॥३०॥

अनु स्मृतेः+वादरिः।

अनुस्मरण अर्थात् जाना हुआ, स्मरण करने से यह कहा जा सकता है कि बादरि ऋषि भी यही कहते थे।

वादरि व्यास जी के पिता थे। इसी कारण व्यास का नाम वादरायण पड़ा। व्यास जी लिखते हैं कि अपने पिता की वात स्मरण कर भी मैं यही कहता हूँ कि वैश्वानर से परमात्मा का अर्थ लेना चाहिये तथा संसार में भी उसी अग्नि का रूप है।

संपत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति ॥३१॥

सम्पत्तेः+इति+जैमिनिः+तथा+हि+दर्शयति।

समाधि से प्राप्त अवस्था को सम्पत्ति कहते हैं। सम्पत्ति से भी ऐसा ही सिद्ध होता है।

क्या सिद्ध होता है? वैश्वानर परमात्मा का स्वरूप ही है और जैमिनि भी अपने दर्शन शास्त्र में यही सिद्ध करते हैं।

आमनन्ति चैनमस्मिन् ॥३२॥

आमनन्ति+च+ऐनम्+अस्मिन्।

और बार-बार वेदों में उल्लेख करते हैं इसे इस विषय में।

बार बार कौन उल्लेख करते हैं? ऋषिजन। कुछ का नाम सूत्रकार ने ऊपर लिखा है।

सूत्रकार का कहना है कि इस विषय में इनके अतिरिक्त भी विद्वान् यही कहते हैं। प्रश्न है कि किस विषय में? हमारा मत है कि यह सूत्र इस पाद का अन्तिम है। अतः 'इस विषय' का अभिप्राय पूर्ण पाद के विषय से है।

पूर्ण पाद में क्या लिखा है? यह हम संक्षेप में यहाँ लिख दें तो उपयुक्त होगा।

(१) प्रसिद्ध वस्तु ब्रह्म नहीं, वरन् यह जगत् है। जगत् दिखाई देता है। हमारे अनुभव में दिन और रात आते हैं। (वे० द० १-२-१)

(२) इस जगत् में एक से अधिक मूलपदार्थ हैं। यह बात विशेष गुणों के देखे जाने से पता चलती है। इसमें विवक्षित गुणों के अर्थ हैं कि विशेष रूप में गुणों के देखे जाने से यह सिद्ध होता है। (वे० द० १-२-२)

(३) शरीरी में विशेष गुणों की असिद्धि से। शरीरी के अर्थ—जीवात्मा और शरीर। प्राणी भी है। यहाँ परमात्मा को जीवात्मा और शरीर से पृथक् सिद्ध किया है। (वे० द० १-२-३)

(४) कर्म कर्त्ता के सिद्धान्त से भी जगत् और जगत् का कर्त्ता भिन्न-भिन्न है। इसको दार्शनिक भाषा में कार्य और कारण भी कहा जाता है। (वे० द० १-२-४)

(५) शब्द-प्रमाण से भी कार्य और कारण में भेद स्पष्ट है। स्मृतियों में भी यह स्वीकार किया है। परमात्मा शरीर (प्रकृति एवं जीवात्मा) से पृथक् है। (वे० द० १-२-५, ६)

(६) जीवात्मा एक छोटे से स्थान में रहने वाला है और परमात्मा आकाश में व्यापक है। इस कारण आत्म तत्त्व दो हैं। (वे० द० १-२-७)

(७) साथ ही जीवात्मा भोग करता है, परन्तु परमात्मा समीप और सब स्थान पर रहता हुआ भी भोग से पृथक् रहता है। इस कारण दो हैं। (वे० द० १-२-८)

(८) ईश्वर चर और अचर को खाता चला जा रहा है। अर्थात् उनकी आयु क्षीण करता जाता है। यह खाने का प्रसंग परमात्मा की शक्ति का प्रकरण है। (वे० द० १-२-९, १०)

(९) ये दोनों आत्म-तत्त्व गुहा में प्रविष्ट होने पर पता चलते हैं। इनमें भेद इनके विशेषणों से पता चलता है। एक अज्ञ है और दूसरा ज्ञानवान् है। एक सामर्थ्यहीन है और दूसरा सामर्थ्यवान् है। एक अणु मात्र है और दूसरा सर्वव्यापक है। दोनों में अन्तर सिद्ध है। (वे० द० १-२-११, १२, १३)

(१०) निवास स्थान के भेद से भी जीवात्मा और परमात्मा भिन्न-भिन्न हैं। इसके साथ सुख विशेष होने से भी दोनों में भिन्नता प्रकट होती है। (वे० द० १-२-१४, १५)

(११) श्रुति और उपनिषद् ग्रन्थों में भी यही वर्णित है कि परमात्मा और जीवात्मा में अन्तर है। (वे० द० १-२-१६)

(१२) शरीर के सब अंगों में विद्यमान न हो सकने से जीवात्मा परमात्मा नहीं। इसके विपरीत परमात्मा, शरीर तो क्या सब देवताओं में भी विद्यमान है और उनके धर्मों को भीतर से नियन्त्रण करता है। (वे० द० १-२-१७, १८)

(१३) प्राणी के शरीर में कर्मों का अधिष्ठाता स्मृति-यन्त्र (मन) नहीं। क्योंकि उन धर्मों की वहाँ उपस्थिति नहीं। देवताओं को भीतर से परमात्मा नियमन करता है। शरीर को जीवात्मा। कुछ लोग कहते हैं कि यह मन है। यह नहीं। कारण ऊपर बता दिया है। जीवात्मा और मन दोनों मिलकर भी नहीं। (वे० द० १-२-१६, २०)

(१४) आत्म-तत्त्व अदृश्य हैं। विशेष बात यह है कि दोनों में कर्म करने का धर्म समान है। कर्म का काल, दिशा और ढंग निश्चय करना इनका धर्म है। परन्तु विशेषण से ये एक-दूसरे से भिन्न हैं और दोनों ही धर्म और विशेषणों से प्रकृति से भिन्न हैं। (वे० द० १-२-२१, २२)

(१५) स्वरूप से परमात्मा जीवात्मा से विलक्षण है। स्वरूप का अर्थ विशिष्ट गुणों से है। परमात्मा का एक स्वरूप वैश्वानर है। यह अनुमान से जाना जाता है। वैश्वानर अग्नि जो हिरण्यगर्भ में बीज डालकर जगत् की रचना करती है। (वे० द० १-२-२४, २५)

(१६) वैश्वानर अग्नि शब्द के साधारण अर्थ तो सब प्रकार की अग्नि हैं, परन्तु जगत् रचना में वैश्वानर तो परमात्मा की ही शक्ति की ज्ञापक है। अतः वह परमात्मा को प्रकट करती है। (वे० द० १-२-२६)

(१७) यह वैश्वानर देवता अथवा भूत अग्नि नहीं। जैमिनि ऋषि तो वैश्वानर को देवताओं और भूतों में भी परमात्मा की ही शक्ति मानते हैं। (वे० द० १-२-२७, २८)

(१८) इस सिद्धान्त को कि सब शक्ति परमात्मा की है, अश्मरथ ऋषि भी मानते हैं। बादरि भी यही कहते हैं और अन्य विद्वानों ने यही कहा है। योगाभ्यास से समाधि में भी यही पता चलता है। (वे० द० १-२-२६, ३०, ३१, ३२)

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि इस पाद में जगत् की चर्चा है और इसके मूल में तीन अव्यक्त हैं—परमात्मा, आत्मा और प्रकृति तथा ये तीनों गुण धर्म और लक्षणों से भिन्न-भिन्न हैं।

इस पाद पर हमारे विचार इस प्रकार हैं—

(१) दर्शन शास्त्र सत्य का निरूपण करने के लिए स्वतन्त्र ग्रन्थ है। इनकी रचना शब्द प्रमाण के पुनरुल्लेख के लिए नहीं हुई।

(२) वैदिक दर्शनशास्त्र वेदों में प्रतिपादित सत्य को शब्द-प्रमाण के अतिरिक्त साधनों से सिद्ध करने के लिए लिखे गये हैं। अतः हमारा अन्य भाष्यकारों से यह मतभेद है कि हम सूत्रों को वेदान्त-वाक्यों के स्पष्टीकरण के लिए लिखे गए नहीं मानते। प्रत्येक सूत्र एक युक्ति है, जिससे किसी-न-किसी वैदिक सच्चाई को सिद्ध किया गया है।

(३) जहाँ वेद शास्त्र अथवा शब्द-प्रमाण का उल्लेख आया है, वहाँ इसका अर्थ है कि सूत्रकार यह कहना चाहता है कि जो कुछ उसने सूत्रों में युक्ति से सिद्ध किया है, वह वैदिक शास्त्रों में भी लिखा है।

यह नहीं कि वैदिक शास्त्रों में ऐसा लिखा है, इस कारण सूत्र का अर्थ इस प्रकार लेना चाहिए। जो दर्शनशास्त्र में युक्ति से सिद्ध किया है, वह वेदान्त में भी है। इससे सूत्र का साक्षी वेदान्त वाक्य नहीं, प्रत्युक्त सूत्र वेदान्तों की बात को सिद्ध करते हैं।

तृतीय पाद

महर्षि व्यास ब्रह्मसूत्र के प्रथम अध्याय के आरम्भ में कहते हैं—

'जन्माद्यस्य यतः'

अर्थात्—जिससे कार्य जगत् का जन्मादि (जन्म, पालन और प्रलय) होता है; (वह ब्रह्म है)।

इस सूत्र का भाष्य करते हुए हमने लिखा है कि कार्य जगत् के जन्मादि में कारण दो हैं और इस कार्य का उद्देश्य जीवात्माओं को अपना कल्याण करने का अवसर प्रदान करना है।

इसी अध्याय के दूसरे पाद में प्रथम सूत्र है—

'सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्'

अर्थात्—जो सर्वत्र प्रसिद्ध है, उसकी बात बताने से। सर्वत्र प्रसिद्ध यह कार्य जगत् है। प्रसिद्ध का अर्थ है जो सहज ही सिद्ध होता है। इस कार्य-जगत् का निर्माण, पालन और प्रलय ही प्रसिद्ध है। इसमें भी सूत्रकार ने यह बताने का यत्न किया है कि इस जगत् में एक तो इसको करने वाला है, दूसरा, इस जगत् का उत्पादन कारण है और तीसरे जीवात्माएँ हैं, जिनके भोग के लिए इस जगत् की रचना हुई है।

द्वितीय पाद में सूत्रकार ने परमात्मा और जीवात्मा में अन्तर स्पष्ट करने का यत्न किया है।

अब सूत्रकार तृतीय पाद को आरम्भ करता है।

द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् ॥१॥

द्यु+भू+आदि+आयतनम्+स्व+शब्दात्।

अर्थ है—द्यु लोक, भूलोक इत्यादि का आश्रय स्थान है। अपने शब्द से।

सूत्र सर्वथा सरल है। केवल 'स्व' शब्द के अर्थ की विवेचना की आवश्यकता है।

जो लोग सूत्रों के अर्थ उपनिषदादि ग्रन्थों में ढूंढने लगते हैं, वे उपनिषदों में स्व शब्द का प्रयोग भी खोज करने में लगे हैं। दस उपनिषदों में स्व शब्द इस प्रसंग में नहीं मिला तो उसी के अर्थ वाला शब्द ढूंढा जाना आवश्यक समझा गया। स्वामी शंकराचार्य को स्व शब्द द्यू, भू इत्यादि के सन्दर्भ में मिला प्रतीत नहीं हुआ; अतः उन्होंने लिख दिया—

यदेतदस्मिन्वाक्ये द्यौः पृथिव्यन्तरिक्षं मनः प्राणा इत्येवमात्मकं जगदोतत्वेन निर्दिष्टं तस्यायतनं परंब्रह्म भवितुमर्हति। कुतः? स्वशब्दात्, आत्मशब्दादित्यर्थः। आत्मशब्दो हीह भवति—'तमेवैकं जानथ आत्मानम्' इति।

ऐसा सिद्ध होने पर इस वाक्य में द्यौ, पृथिवी अन्तरिक्ष को मन, प्राण आदि जगत् में ओत-प्रोत भाव आत्म-निर्दिष्ट किया है। उसका आयतन परब्रह्म ही हो सकता है। क्योंकि स्व शब्द है। आत्म शब्द इसका अर्थ है। इस श्रुति में **'तमेवैकं जानथ आत्मानम् इति'** (मुण्ड० २-२-५) यह श्रुति है।

हमारा यह अभिप्राय नहीं कि मुण्डक उपनिषद् में ऐसा नहीं लिखा जैसा कि सूत्रकार ने लिखा है। हमारा यह कहना है कि सूत्र पढ़ते ही उसके शब्दों को उपनिषद् वाक्यों में ढूंढने से सूत्रार्थ विकृत हो जाते हैं। यही बात यहाँ हुई है। स्व शब्द से आत्मा अर्थात् परमात्मा के अर्थ नहीं।

स्व शब्द के अर्थ ब्रह्म मुनिजी ने ठीक किये हैं। वे लिखते हैं—

(स्व शब्दात्) निज शब्द से। पूर्व सूत्रों में द्यू, भू आदि पदार्थ उस परमात्मा के अंग कहे हैं और वह परमात्मा का केवल अंग ही नहीं, किन्तु उन द्यू, भू आदियों का आयतन-आधार भी है।

हमारा मत है कि 'स्व' शब्द सूत्रकार अपने लिये प्रयोग करता है। वह कह रहा है कि जैसे पूर्व कहे सूत्रों से सिद्ध होता है, वह परमात्मा द्यू, भू आदि का आयतन (आश्रय स्थान) है।

हम यह बात बार-बार कहते चले आ रहे हैं कि सूत्रों के अर्थ स्वतन्त्र रूप से करने चाहियें। ये सूत्र उपनिषदादि ग्रन्थों पर आश्रित नहीं हैं। न ही सूत्र उपनिषदों के संदिग्ध वाक्यों के अर्थ स्पष्ट करने के लिये कहे गये हैं।

सूत्र तो इस जगत् के रहस्य को युक्ति से स्पष्ट करने के लिये लिखे गये हैं। हाँ, स्थान-स्थान पर इन सूत्रों में यह कहा है कि, जो बात सूत्रों में युक्ति से सिद्ध की गई है, वही वेदादि शास्त्रों में भी लिखी है।

उक्त सूत्र का अर्थ हम इस प्रकार करते हैं—

द्यु-लोक, भू-लोक आदि और अन्तरिक्ष भी जिसके आश्रय हैं अथवा जिसमें टिके हुए हैं, वह परमात्मा है। ऐसा हम (सूत्रकार) ऊपर कह आये हैं। पूर्व के वचन से भी यही पता चलता है।

सूत्रकार क्या कह आये हैं और कहाँ कह आये हैं, यह प्रश्न उपस्थित

होता है ।

ब्रह्म मुनिजी ने सूत्रकार का इस सन्दर्भ में सूत्र 'रूपोपन्यासाच्च' (१-२-२३) का उल्लेख किया है । वहाँ भी हमने परमात्मा का रूप उपन्यास से परमात्मा के अंग उपांग नहीं माने । हमने वहाँ कहा है कि परमात्मा का वास्तविक स्वरूप अग्नि, वायु, वेदवाणी इत्यादि है । सूर्य, चन्द्रादि इसका स्वरूप नहीं हैं ।

अतः सूत्रकार 'स्व' शब्द से इस सूत्र 'रूपोपन्यासाच्च' की ओर संकेत नहीं करता । उसका संकेत निम्न सूत्रों की ओर है—

(१) जन्माद्यस्य यतः (१-१-३)
(२) तत्तु समन्वयात् । (१-१-४)
(३) आकाशस्तल्लिङ्गात् । (ब्र० सू०—१-१-२२)

इसी प्रकार कुछ अन्य सूत्र भी इसी आशय के हैं ।

इन सूत्रों में जगत् की रचना और पालन इत्यादि की ओर संकेत है । यहाँ इस सूत्र में भी यही लिखा है कि द्यु-लोक, भू-लोक और अन्तरिक्षादि उस परमात्मा के आश्रय हैं अर्थात् परमात्मा ही उनका निवास स्थान है ।

स्वामी शंकराचार्य और उनके उत्तरकालीन भाष्यकार यह तो मानते हैं कि परमात्मा द्यु-भू इत्यादि का आश्रय स्थान है, परन्तु 'स्व' शब्द से आत्मा अर्थात् परमात्मा का अर्थ लेने से वह उपनिषद् वाक्यों का आश्रय लेने लगते हैं ।

इस सन्दर्भ में वे मुण्ड़कोपनिषद का आश्रय लेते हैं । मुण्डकोपनिषद में क्या लिखा है, यह हम कुछ पूर्व अध्यायों में लिख आये हैं और कुछ आगे चलकर लिखेंगे । यहाँ हमारा केवल मात्र इतने से ही अभिप्राय है कि द्यु-लोक, भू-लोक और अन्तरिक्ष, अभिप्राय यह कि पूर्ण ब्रह्माण्ड उसमें ही स्थित है और उसके ही आश्रित है ।

इसमें सूत्रकार अब युक्ति नहीं देता । वह केवल यह कहकर आगे चलता है कि ऐसे वह पहले कह चुका है (स्व शब्दात्) । उसने यह कहाँ कहा है ? प्रथम पाद के सूत्र संख्या २, ४, २२ की ओर उसका संकेत हमने दे दिया है ।

इस बात को यहाँ दोहराने का अभिप्राय यह है कि सूत्रकार इस तृतीय पाद में जगत् में तीनों ब्रह्मों (परमात्मा, आत्मा तथा प्रकृति) का परस्पर सम्बन्ध बताना चाहता है ।

मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् ।।२।।

मुक्तः+उपसृप्य+व्यपदेशात् ।

मुक्त आत्माओं के उपसृप्य अर्थात् उपगम्य स्थान कहे जाने से ।

कहे जाने से क्या ? यह कहने से कि मुक्त जीव परमात्मा में ही गमन करते हैं, यह सिद्ध होता है कि इनका भी वह (परमात्मा) ही आश्रय स्थान है ।

मुक्त जीव ब्रह्मलीन माने जाते हैं । अर्थात् वे परमात्मा में ही रहते हैं। उनका आयतन परमात्मा ही है ।

जब यह स्वीकार किया गया कि जगत् की रचना जीवात्माओं को मोक्ष प्राप्त करने का अवसर देने के लिये हैं तो यह भी सिद्ध है कि मुक्त जीवत्मायें प्रकृति के बन्धन से छूट परमात्मा में ही लीन हो जाती हैं ।

यही इस सूत्र का आशय है ।

नानुमानमतच्छब्दात् ।।३।।

न+अनुमानम्+अतत्+शब्दात् ।

ऊपर 'स्व शब्दात्' आया है। यहाँ 'अतत् शब्दात्' आया है । अभिप्राय है (सूत्रकार कहता है) कि उस शब्द (कथन) से नहीं, जो हमने 'स्वशब्दात्' से संकेत किया है । हम अनुमान नहीं लगा रहे । न तो उससे जो हमने कहा है और न ही अनुमान से है । हमने कहा है कि द्यू, भू और मुक्त आत्माओं का आश्रय स्थान परमात्मा है । केवल कथन से नहीं, न ही अनुमान से । दूसरे प्रकार से भी यही सिद्ध होता है कि द्यू, भू इत्यादि का आश्रय स्थान परमात्मा है ।

अनुमान नहीं लगा रहे तो क्या कर रहे हैं ? अनुमान के अतिरिक्त तो प्रत्यक्ष ही अभिप्रेत हो सकता है ।

परन्तु प्रत्यक्ष दो प्रकार का है । एक तो इन्द्रियों से अनुभव होने वाला प्रत्यक्ष और दूसरा योगी द्वारा समाधि द्वारा प्रत्यक्ष किया हुआ ।

जगत् की रचना के विषय में 'जन्माद्यस्य यतः', ज्ञान देने के विषय में 'शास्त्र योनित्वात्' और संसार चलाने के विषय में भी 'ततु समन्वयात्' ये तीन सूत्र और इसी प्रकार की अन्य बातें जो सूत्रकार ने ऊपर कही हैं, वे अनुमान मात्र नहीं, वरन् प्रत्यक्ष भी हैं ।

संसार में कोई वस्तु वनती, चलती अथवा बिगड़ती नही, जव तक उसके बनाने वाला न हो । जब तक उसके लिये उपादान कारण न हो और जब तक उस बनने वाली तथा चलने वाली वस्तु का कुछ उपयोग न हो । इस प्रत्यक्ष

बात से ही सूत्रकार ने कहा कि इस जगत् के बनाने, पालन करने और विनष्ट करने वाला कोई निमित्त कारण है। उपादान कारण है और कोई इस जगत् का भोग करने वाला भी है। इसी को सूत्रकार ने कहा है कि 'अतत् शब्दात् न अनुमानम्' यह केवल अनुमान ही नहीं है।

यह भी हम प्रत्यक्ष में देखते हैं कि विना किसी के ज्ञान दिये मनुष्य कुछ सीख नहीं सकता। अतः सृष्टि के आदि में उसे ज्ञान देनेवाला कोई होना चाहिये। अतः यह भी प्रत्यक्ष ही है। इसी प्रकार 'समन्वयात्' की बात है।

वर्तमान विवेच्य सूत्र का अर्थ और व्याख्या हमने अपने मत से की है। अब तनिक देखें कि अन्य भाष्यकार क्या कहते हैं ?

स्वामी शंकराचार्य लिखते हैं।

यथा ब्रह्मणः प्रतिपादको वैशेषिको हेतुरुक्तो नैवमर्थान्तरस्य वैशेषिको हेतुः प्रतिपादकोऽस्तीत्याह। नानुमानिकं सांख्यस्मृतिपरिकल्पितं प्रधानमिह द्युभ्वाद्यायतनत्वेन प्रतिपत्तव्यम्। कस्मात् ? अतच्छब्दात्। तस्याचेतनस्य प्रधानस्य प्रतिपादकः शब्दस्तच्छब्दः, न तच्छब्दोऽतच्छब्दः। न ह्यत्राचेतनस्य प्रधानस्य प्रतिपादकः कश्चिच्छब्दोऽस्ति, येनाचेतनं प्रधानं कारणत्वेनायतनत्वेन वाऽवगम्येत।

अर्थ है—जैसे ब्रह्म के प्रतिपादन करने वाला विशेष हेतु कहा गया है—किसी दूसरे पदार्थ का प्रतिपादक कोई विशेष हेतु नहीं। इस प्रतिपादक के विषय में यह कहा है 'नानुमानिकं' सांख्यस्मृति में कल्पित प्रधान को वहाँ द्यू, भू आदि आयतन रूप में स्वीकार करना उचित नहीं। यह क्यों ? अतत् शब्दात् होने से। उस अचेतन प्रधान का प्रतिपादक शब्द 'तत् शब्द' और तत् शब्द से भिन्न अतत् शब्द हुआ। यहाँ अचेतन प्रधान का प्रतिपादक ऐसा कोई शब्द नहीं जिससे अचेतन प्रधान कारण रूप से अथवा आश्रय रूप से अवगत होता हो।

किसी ने भी प्रधान को द्यू, भू का आयतन (घर) स्वीकार नहीं किया। कारण और आश्रय शब्द न तो पर्यायवाचक हैं और न ही संयोनिवाचक। योनि का अर्थ उत्पत्ति स्थान है। आश्रय का अर्थ उपादान कारण हो सकता है, परन्तु यह आयतन शब्द से प्रकट नहीं होता। जो लोग प्रधानं (प्रकृति) को एक अनादि पदार्थ मानते हैं, वे कहते हैं कि द्यू, भू इत्यादि प्रकृति का कार्यरूप है। द्यू, भू आदि और प्रधान भी उस (परमात्मा) के आयतन (निवास स्थान) में रहते हैं।

द्यू, भू का अथवा प्रधान का भी आयतन परमात्मा होने से क्या द्यू, भू अथवा प्रधान के अस्तित्व से इन्कार हो गया ? कोई कहे कि रामचन्द्र शान्ति निवास में रहता है तो इसका क्या यह अभिप्राय हो गया कि शान्ति निवास अस्तित्वहीन है ?

इसी प्रकार यदि आयतन का अर्थ आश्रय लें तब भी यही उदाहरण उस स्थिति का ठीक विश्लेषण करता है। मान लो कि रामचन्द्र अपने पिता भागीरथ के आश्रय ही है तो क्या रामचन्द्र अस्तित्वहीन हो गया ?

इसी प्रकार द्यू, भू को सांख्य-दर्शन वाले प्रधान (प्रकृति) का परिणाम मानते हैं। अतः द्यू, भू की भाँति उनका स्रोत प्रधान भी परमात्मा के आयतन में रहने वाला माना जायेगा।

ब्रह्म के प्रतिवादन का विशेष हेतु कहा है। ऐसा स्वामीजी ने इस सूत्र के अपने भाष्य में कहा है। ठीक है, परन्तु किसी दूसरे पदार्थ के प्रतिपादन में कोई हेतु नहीं। यह क्यों ? भगवद्दत्त द्वारा शान्ति निकेतन बनाया गया, परन्तु वह मकान रामचन्द्र के रहने के लिये बनाया है, यह क्यों सत्य नहीं ? और उस मकान को बनाने में ईंट, सीमेंट, लौह इत्यादि का प्रयोग हुआ है, यह भी सत्य क्यों नहीं ?

स्वामीजी अपनी कल्पित बात की कल्पना करते हुए सर्वथा अयुक्ति संगत और अप्रामाणिक बातें कह देते हैं और उनसे इस प्रकार के कल्पित वक्तव्यों को पढ़कर उनके शिष्य स्वामीजी को तार्किक कहने लगते हैं।

परमात्मा के लिये तो हेतु है, परन्तु जगत् के मूल पदार्थ प्रधान के होने में हेतु क्यों नहीं ?

श्री स्वीमीजी अपनी बात के लिये किसी उपनिषद् वाक्य का उद्धरण दे देते हैं। प्रायः वह उद्धरण उस बात का उल्लेख ही नहीं कर रहा होता, जिसके विषय में वह उद्धरित किया गया है। कभी कुछ उस विषय पर लिखा होता है तो वह स्वामीजी के कथन को सिद्ध ही नहीं करता।

जो प्रमाण उक्त भाष्य की पुष्टि में श्री स्वामी शंकराचार्य ने दिया है, हम उसकी भी परीक्षा कर यह बताना चाहते हैं कि वह प्रमाण स्वामीजी के कथन को सिद्ध नहीं करता। आप कहते हैं—

यहाँ अचेतन प्रधान का प्रतिपादक कोई शब्द नहीं कि जिससे अचेतन प्रधान कारणरूप अथवा आश्रयरूप अवगत होता हो। प्रत्युत—

तद्विपरीतस्य चेतनस्य प्रतिपादकशब्दोऽत्रास्ति—'यः सर्वज्ञः सर्ववित्'।
(मुण्डक० १-१-६)

अर्थात् विपरीत चेतन के प्रतिपादन के लिये यहाँ शब्द है—जैसे सर्वज्ञः सर्ववित्।

इससे पूर्व भी मुण्डकोपनिषद् के यत्र-तत्र उदाहरण दिये गए हैं। कहीं-कहीं से एक-आध शब्द अथवा वाक्य देने से किसी बात की सिद्धि नहीं होती। इस कारण तनिक देखना चाहिये कि यह उपनिषद् क्या कहता है ?

हमने अपने प्रथम पाद के भाष्य में तैत्तिरीय उपनिषद् की 'ब्रह्म वल्ली' की

विस्तृत व्याख्या की है। अब यहाँ मुण्डकोपनिषद् के विषय में लिख देना चाहते हैं। मुण्डकोपनिषद् का आरम्भ इस प्रकार है—

देवताओं में मुख्य ब्रह्मा है। वह पूर्ण जगत् का कर्त्ता और भुवनों का (गोप्ता) रक्षक है। उसने सब विद्याओं में श्रेष्ठ विद्या, ब्रह्मविद्या (सर्वविद्या-प्रतिष्ठाम् ब्रह्म विद्यां) 'अथर्व' को कही।

अतः यह मुण्डकोपनिषद् अथर्ववेदीय उपनिषद् है। इसके प्रवक्ता ब्रह्मा कहे गये हैं। ब्रह्मा ने अथर्व ऋषि को कहा। अथर्व ने इसे अंगिरस को और अंगिरस ने सत्यवाह को। उसने परावरा को और परावरा ने अंगिरा को कहा।

(मुण्डको० १-१-१,२)

इसका अभिप्राय यह है कि ब्रह्मा के अतिरिक्त भी कुछ देवता हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्मा को परमात्मा स्वीकार किया है (क्योंकि उसे 'भुवनस्य गोप्ता' कहा है)। ब्रह्मा के अतिरिक्त देवता तो जीवात्मा और प्रकृति ही हो सकते हैं। साथ ही ब्रह्मविद्या के अतिरिक्त भी कुछ अन्य विद्याओं का वर्णन किया है। इसी कारण कहा है कि सब विद्याओं में अधिक प्रतिष्ठित ब्रह्म-विद्या का उपदेश दिया।

एक बार शौनिक ऋषि ने अंगिरा के पास जाकर आदरपूर्वक नमस्कार कर पूछा—भगवन्!

कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति ॥

(मुण्डको० १-१-३)

जिस बात के जानने से सब कुछ जाना जा सकता है, वह क्या है? इसका उत्तर देते हुए भगवान् अंगिरा ने कहा—

द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च।

(मुण्डको० १-१-४)

अर्थात्—दो विद्यायें जानने योग्य हैं। ऐसा ब्रह्मविद् कहते हैं। एक परा और दूसरी अपरा।

इससे यह बात स्पष्ट होती है कि ब्रह्मविद् परा और अपरा दोनों के ज्ञाता थे।

परा है शिक्षा-कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष और जो ऋक्, यजु, साम तथा अथर्व में वर्णित है।

और अपरा है 'यया तदक्षरमधिगम्यते।' (मुण्डको० १-१-५) जिससे उस अक्षर का ज्ञान होता है। उपनिषदों का नाम नहीं लिया गया।

यह प्रश्न स्वाभाविक है कि अक्षर क्या है? श्वेताश्वतर उपनिषद्कार तीन अक्षर मानता है। परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति (श्वेता० १-९ तथा ४-५, ६)।

मुण्डकोपनिषदकार ने यहाँ एक अक्षर का वर्णन किया है। अन्य दो का नहीं किया, परन्तु यह नहीं कहा कि अन्य दो नहीं हैं और एक ही है।

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्। नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥ (मुण्डको० १-१-६)

(यत् तद् अदृश्य) इसमें कहा है कि वह अक्षर जो अदृश्य (इन्द्रियों से ग्रहण न होने वाला)—इत्यादि है।

यद्यपि यहाँ इस उपनिषद् में प्रकृति और जीवात्मा का नाम नहीं लिया, परन्तु कहने के ढंग से यह प्रतीत होता है कि अक्षर परमात्मा के अतिरिक्त भी हैं; परन्तु उनका उल्लेख विषयान्तर होने से नहीं किया।

इसके आगे जगत् रचना का वर्णन है। लिखा है—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाक्षरात् सम्भवतीह विश्वम् ॥
(मुण्ड० १-१-७)

जैसे मकड़ी जाले को रचती है और निगल जाती है; जैसे भूमि में वनस्पतियाँ उत्पन्न होती हैं, जैसे जीवित पुरुष से केश और लोम उत्पन्न होते हैं, वैसे ही अक्षर से यह जगत् उत्पन्न हुआ है।

यहाँ अक्षर शब्द के प्रयोग से केवल परमात्मा का अर्थ ही लेना ठीक नहीं।

मकड़ी में जाला स्वयं नहीं बनता। उसके शरीर से जाला निकलता है और फिर शरीर में ही समाता है। उसमें विद्यमान जीव इसे नहीं बनाता। भूमि से वनस्पतियों को उत्पन्न करने वाली भूमि नहीं। वह कोई और है और मकड़ी के शरीर की भाँति वनस्पतियाँ भूमि से बनती हैं। इसी प्रकार मनुष्य की आत्मा, केश और लोम नहीं बनाती। ये शरीर से बनते हैं। इसी प्रकार परमात्मा, जिस अक्षर का ऊपर (१-१-६ में) वर्णन किया है, उससे विश्व की रचना होती है। यह रचना मकड़ी के शरीर की भाँति और मनुष्य के शरीर की भाँति प्रधान (प्रकृति) से होती है। इसको बनाने वाला परमात्मा है।

जब प्रधान को अजा लिखा है और प्रधान से ही कार्य जगत् की उत्पत्ति मानी है, तो उस अजा (अक्षर) से ही जगत् की उत्पत्ति का अभिप्राय है।

इसके आगे (मुण्ड० १-१-८, ९ में) यह लिखा है कि ब्रह्म ने तव (परिश्रम) से (चीयते) निरीक्षण किया, देखा, ढूंढा। शब्द है 'तपसा चीयते ब्रह्म'।

क्या देखा और कहाँ देखा? इससे यही अभिप्राय प्रतीत होता है कि जब परमात्मा ने सृष्टि बनाने का विचार किया तो प्रकृति को ज्ञान तथा तपस्या से देखा और उसमें से अन्न उत्पन्न हुआ। अन्न से प्राण (जीवन शक्ति) प्राण

से मन, मन से बुद्धि और बुद्धि से कर्मफल भोगने के लोक-लोकान्तर में (कर्मसु चामृत) और कर्मों से अमृत (मोक्ष पद) उत्पन्न हुआ।

अगला मन्त्र इस प्रकार है—

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद् ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते॥

(मुण्डको० १-१-९)

इसी उपनिषद् मन्त्र की ओर स्वामी शंकराचार्य ने संकेत किया है। इसका अर्थ है—

जो सर्वज्ञ है और सब कुछ देखता है, उसके ज्ञानमय तप से कार्य जगत् और भोग सामग्री उत्पन्न हुई। वैसे ही उत्पन्न हुई जैसे कि मकड़ी में से जाला अथवा मनुष्य के लोम उत्पन्न होते हैं। परन्तु ये वस्तुएँ शरीर से उत्पन्न होती हैं। उत्पन्न करने वाला शरीर से भिन्न कोई दूसरा है।

मुण्डकोपनिषद् प्रथम मुण्डक के प्रथम खण्ड का यही अभिप्राय है। यह उपनिषद् ब्रह्म और परमात्मा का वर्णन करने के लिये लिखा गया है। साथ ही इस खण्ड के नौ मन्त्रों में जीवात्मा तथा प्रकृति का खण्डन तथा उनके अस्तित्व का विरोध कहीं नहीं है। यदि कहीं संकेत मिलता है तो परमात्मा के अतिरिक्त भी अन्य अक्षरों का संकेत मिलता है।

परमात्मा को अपने ज्ञान, तप से जगत् की रचना करने वाला माना है।

इस उपनिषद् के प्रथम मुण्डक के द्वितीय खण्ड में लिखा है कि वेदों में कर्म करने की बात कही है। इसको यज्ञ कहते हैं।

यज्ञ मनुष्य को स्वर्ग तक पहुँचा देता है, परन्तु यदि यज्ञ करने वाला ब्रह्म ज्ञान का ज्ञाता न हो, वह मूढ़ पुनः जन्म-मरण के बन्धन में आ जाता है।

यज्ञ कर्म ब्रह्म लोक तक पहुँचा तो देते हैं, परन्तु वहाँ स्थिति सुदृढ़ करने के लिए यज्ञ के अतिरिक्त ज्ञान की प्राप्ति भी होनी चाहिए।

(मुण्डक० १-२-८, ९, १०, ११, १२)

इस खण्ड में भी कहीं यह नहीं लिखा कि जीवात्मा तथा प्रकृति का अस्तित्व नहीं। इन दोनों का संकेत तो मिलता है, परन्तु इनका विस्तार से वर्णन नहीं। यह विषयान्तर था। मुण्डक उपनिषद् के दूसरे मुण्डक के दूसरे खण्ड का आरम्भ ही इस प्रकार किया जाता है—

आविः सन्निहितं गुहाचरं नाम महत्पदमत्रैतत् समर्पितम्।
एजत्प्राणन्निमिषच्च यदेतज्जानथ सदसद्वरेण्यं परं विज्ञानाद्यद्वरिष्ठं प्रजानाम्॥

(मुण्डक २-२-१)

इस मन्त्र का अर्थ हम ऊपर (ब्र० सू० १-२-२३ के भाष्य में) लिख आये हैं।

स्पष्ट है कि दूसरा मुण्डक जब परमात्मा में सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन कर रहा है तो उसमें प्राणी की उत्पत्ति का भी वर्णन कर दिया है। इस मुण्डक के दूसरे खण्ड के प्रथम मन्त्र में यह बताया है कि गुहा के भीतर आविर्भूत होने वाला परमात्मा प्राण (कार्य करने की शक्ति) और निमष् (हिलने-डोलने की शक्ति) यहाँ यह अर्पित करता है।

यह हम ऊपर बता चुके हैं कि शरीर में कार्य करने की शक्ति परमात्मा की है। यही यहाँ बताया है। परन्तु पूर्व इसी उपनिषद् (२-१-२) में बताया है 'ह्यक्षरात्परतः परः'। इस अक्षर से परे अक्षर है जो प्राण को उत्पन्न करता है।[1]

इस अक्षर से भी परे का अर्थ है कि दो अक्षर हैं। एक परा छोटा है, दूसरा परा बलवान् है। साथ ही 'इस अक्षर' से इस बात का भी संकेत मिलता है कि कोई और तीसरा अक्षर भी है।

अक्षर का अर्थ है न टूटने-फूटने वाला। वह अजन्मा भी होता है। इस उक्त मन्त्र में यह भी लिखा है कि परमात्मा मूल प्रकृति और कार्य जगत् (सदसद्वरेण्यं) से भी ऊपर है।

यहाँ परमात्मा और जगत् दो भिन्न-भिन्न पदार्थ माने हैं।

इससे अगले मन्त्र में यह लिखा है—(यदर्चिमद्यदणुभ्योऽणु) वह सूक्ष्म पदार्थों में भी सूक्ष्म है। (यस्मिल्लोका निहिता लोकिनश्च) जिसमें लोक स्थित हैं और लोकों में रहने वाले स्थित हैं। वह अमृत है, उसे जानना चाहिए।

द्वितीय मुण्डक में परमात्मा की महिमा का गान है; परन्तु इसमें प्रकृति के अस्तित्व से इन्कार नहीं किया गया; वरन् यह लिखा है कि परमात्मा सत्-असत् (कारण-कार्य जगत्) से भी ऊपर है। अर्थात् कार्य जगत् परमात्मा से कुछ भिन्न है।

साथ ही यह लिखा है कि (तत् एतत्) वह और यह सत्य है। वह परमात्मा के लिये है और एतत् प्रकृति के लिए है।

अब तीसरे मुण्डक के पहले खण्ड के प्रथम मन्त्र को देखिये। लिखा है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥
(मुण्डको० ३-१-१)

यह ऋग्वेद (१-१६४-२०) का मन्त्र है। इसका अर्थ हम ऊपर लिख चुके हैं। अभिप्राय स्पष्ट है कि तीन पदार्थ हैं। आत्मा, परमात्मा और शरीर।

जहाँ दूसरे मुण्डक में परमात्मा के अतिरिक्त सत्-असत् (प्रकृति) की ओर संकेत है, वहाँ इस तीसरे मुण्डक में परमात्मा और जीवात्मा को पृथक्-

१. १-२-३३ की विवेचना देखें।

पृथक् कर दिया है। प्रकृति को भी स्पष्ट रूप में लिख दिया है।

इससे अगले मन्त्र में यह लिखा है कि जब देखने वाला (जीव) परमात्मा को देख लेता है जो ज्योतिस्वरूप है, रचना करने वाला ईश्वर है, ब्रह्म (वेदों) का स्रोत है, तब विद्वान् (जीव) पुण्य-पाप के बन्धन को त्यागकर परम शान्ति को प्राप्त होता है।

तीसरे मुण्डक के प्रथम खण्ड का अन्तिम मन्त्र है—

यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान्
तं तं लोकं जयते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः ॥
(मुण्डको० ३-१-१०)

इसका अर्थ है—(विशुद्ध सत्त्व) विशुद्ध आत्मा (यं यं लोकं मनसा) मन से जिस-जिस लोक की (संविभाति) भावना करता है, (कामयते यांश्च कामान्) जिन-जिन कामनाओं की कामना करता है, (तं तं लोकं जयते तांश्च कामान्) उन-उन लोकों को और कामनाओं को पा लेता है। (तस्मात् आत्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः) इस कारण विभूति को चाहने वाला व्यक्ति आत्मज्ञ की अर्चना करे।

इससे स्पष्ट है कि परमात्मा और जीवात्मा प्रकृति रूपी वृक्ष पर बैठे हैं। दोनों के स्वभाव में अन्तर है। एक भोग भोगता है और दूसरा तटस्थ रहता है। जीवात्मा जब परमात्मा को देखता है तो उससे जुष्ट होकर परम शान्ति को प्राप्त होता है।

इसी मुण्डक के दूसरे खण्ड के प्रथम मन्त्र में लिखा है—

स वेदैतत्परमं ब्रह्म धाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम्।
उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः ॥
(मुण्डको० ३-२-१)

(स वेद ऐतत् परमं ब्रह्म धाम) वह (ब्रह्मज्ञानी) जानता है कि ब्रह्म का परम धाम वही है, जिसमें पूर्ण जगत् रहता है और जो शुभ्र प्रकाश से देदीप्यमान है।

(उपासिते पुरुषं ह्यकामास्ते) जो कामनारहित (जीवात्मा) उसकी उपासना अर्थात् समीप बैठते हैं, उसे जान लेते हैं, (शुक्रम्+एतद्+अति+वर्तन्ति धीराः) वे धीर पुरुष इस बीज (जन्म-मरण) बंधन को पार कर जाते हैं।

इस मुण्डक के अन्तिम मन्त्र में यह लिखा है कि जो उस परम ब्रह्म को जान जाता है, वह ब्रह्म हो जाता है, उसके कुल में भी कोई ब्रह्म से अज्ञानी नहीं रह जाता। वह शोक तथा पाप को पार कर जाता है और हृदय की ग्रन्थियों से मुक्त हो जाता है।

यहाँ यह शब्द है कि वह ब्रह्म हो जाता है। इसका अर्थ यह है कि वह

ब्रह्म में लीन हो जाता है। जैसे मिश्री जल में लीन हो जाती है।

इसमें कुछ लोग यह कहते हैं कि इस उपनिषद् में लिखा है कि परमात्मा से ही सब कुछ उत्पन्न हुआ है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि ईश्वर द्वारा सब पदार्थ बनाये गये हैं। बनाने में उपादान कारण पृथक् है। यदि ऐसा अभिप्राय न होता तो सत्-असत् का पृथक् उल्लेख न होता, जो अक्षर है, वह अनादि भी है।

इसी प्रकार उपनिषद् के अन्त में लिखा है जो उसको जान लेता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है। इसका हमने यह अर्थ किया है कि वह ब्रह्म में लीन हो जाता है। यह अर्थ हमने इसलिए किये हैं कि जो पहले ब्रह्म से पृथक् था तो वह कैसे पृथक् था? क्यों पृथक् हुआ था? ब्रह्म को भूल गया था, तब ही तो वह न भूलने वाले ब्रह्म से पृथक् था। जो पहले पृथक् था तो फिर भी पृथक् होगा। यदि यह कहा जाये कि अब वह ब्रह्म को नहीं भूलेगा तो यह अयुक्तियुक्त कथन है। इस कारण कि जो एक बार भूल चुका है, वह फिर भी भूल सकता है। भूलना उसका स्वभाव होगा, तभी तो भूला होगा।

अत: (स ये हवे तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति) का अर्थ यही बनता है कि वह जो उस परम ब्रह्म को जान लेता है, वह ब्रह्म में लीन हो जाता है। यहाँ 'भवति' शब्द लीनता की उग्रता को प्रकट करने के लिए ही लिखा गया है।

हमने पूर्ण उपनिषद् का भावार्थ इस कारण लिख दिया है क्योंकि श्री स्वामी शंकराचार्यजी ने यह अयुक्त बात लिखी थी।

नैवमर्थान्तरस्य वैशेषिको हेतुः प्रतिपादकोऽस्तीत्याह।

अर्थात्—अन्य पदार्थ का प्रतिपादक कोई विशेष हेतु नहीं है। इस बात का न तो सूत्र में संकेत किया गया है और न ही मुण्डक १-१-९ में अथवा पूर्ण मुण्डक उपनिषद् में कहीं उल्लेख है। प्रत्युत वहाँ तो प्रकृति और जीवात्मा का उल्लेख है।

सूत्र है—'**नानुमानमतच्छब्दात्**।'

स्व शब्दों में, जो सूत्रकार ने प्रथम पाद में ब्रह्म की सिद्धि के लिए कहा है, वह केवल अनुमान मात्र नहीं; प्रत्यक्ष भी है।

वर्तमान पाद में ब्रह्म और प्रकृति का सम्बन्ध बताने के लिए उक्त बात कही जा रही है। प्रथम सूत्र में सूत्रकार ने कहा है कि हम (सूत्रकार) कह चुके हैं कि द्यू, भू आदि (ब्रह्म के) आश्रय हैं।

दूसरे सूत्र में कहा है कि मुक्त पुरुषों का भी उपगमन स्थान ब्रह्म ही है। इसी आशय को श्वेताश्वतर उपनिषद् में इस प्रकार लिखा है—

उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरं च।
अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः॥

(श्वे० १-७)

परमात्मा से युक्त होकर आत्मा मुक्त हो जाता है।

यह सब परम ब्रह्म (ब्रह्माण्ड) ही है। इस परम ब्रह्म में तीन अक्षर अनादि प्रतिष्ठित हैं। इसी में ब्रह्मविद् हैं, जो ब्रह्म में लीन कहे जाते हैं।

अत: तीसरे सूत्र में कहा है कि यह जो हम (सूत्रकार) ने कहा है, यह अनुमान मात्र ही नहीं, वरन् प्रत्यक्ष भी है। प्रत्यक्ष की व्याख्या ही तो स्वशब्दात् में है।

यह तो प्रत्यक्ष दिखाई देता है कि जगत् में बिना किसी बनाने वाले के कुछ बनता नहीं। इसी प्रत्यक्ष से यह अनुमान है कि जगत् बना है तो इसके बनाने वाला भी कोई है। वह बनाने वाला ब्रह्म है।

अत: यह अनुमान मात्र ही नहीं।

दूसरा प्रत्यक्ष जो योगी लोग सिद्धि प्राप्त कर जानते हैं, वह तो केवल मात्र प्रत्यक्ष है। उसमें अनुमान का स्थान नहीं है। कारण यह कि जो कुछ अनुमान किया गया है, वह योगी को स्पष्ट दिखायी देने लगता है।

प्राणभृच्च ॥४॥

प्राण+भृत्+च।

और प्राण धारण करने वाला भी उसी के आश्रय है।

वास्तव में स्वामी शंकराचार्य तथा उनका अनुकरण करने वाले अन्य भाष्यकार इस पाद का अर्थ आरम्भ से ही भिन्न प्रकार से करते हैं।

उन्होंने प्रथम सूत्र का अर्थ किया है।

द्यू, भू आदि परमात्मा के आश्रय हैं अथवा परमात्मा में निवास करते हैं।

इतना तो ठीक है। 'स्वशब्दात्' के अभिप्राय में मतभेद था। इन भाष्यकारों ने स्व के अर्थ परमात्मा का शब्द अर्थात् वेद वाक्य अथवा वेदान्त शास्त्रों से लिया है। हमने 'स्व' से अभिप्राय सूत्रकार के अपने शब्दों का लिया है।

दूसरे सूत्र में यह है कि मुक्त जीवों का भी आयतन ब्रह्म ही है, ऐसा कहा गया है। इस सूत्र में भी मतभेद नहीं।

मुख्य मतभेद है तीसरे सूत्र में। अनुमानम् से, शंकर इत्यादि भाष्यकार यह कहते हैं कि अनुमान से जो जाना जाता है अर्थात् प्रकृति आयतन नहीं है।

हमारा कहना है कि यह ठीक नहीं कि अनुमान से केवल प्रकृति का ही ज्ञान होता है और परमात्मा-जीवात्मा का नहीं। यह मत श्री स्वामीजी का

ही है। 'जन्माद्यस्य यतः' इत्यादि सूत्रों के भाष्य में हम बता चुके हैं कि उनमें अनुमान का आश्रय लेकर ही ब्रह्म की सिद्धि की गयी है।

अतः 'अनुमानम्' से केवल प्रकृति ही सिद्ध होती है, यह बात गलत है। हम जीवित शरीर और मृत शव में अन्तर देखकर ही जीवित शरीर में चेतन जीव का अनुमान लगाते हैं। अतः जीवात्मा की सिद्धि भी अनुमान से होती है।

इसी कारण सूत्र (१-३-३) के अर्थ करने में मतभेद हुआ है। 'न अनुमानम्' अनुमान से ही नहीं 'तत् शब्दात्' उन शब्दों का अर्थ लगाये जाने से। वरंच प्रत्यक्ष से भी लगाया जा सकता है। यह हमने पूर्व सूत्र के भाष्य में स्पष्ट कर दिया है।

अब वर्तमान सूत्र के अर्थ में भी मतभेद है। हमारा यह मत है कि इस सूत्र (१-३-४) का 'च' शब्द से सम्बन्ध सूत्र सं० १-३-१, २ से है, सूत्र सं० १-३-३ से नहीं।

जैसे कहा है कि द्यू, भू आदि परम ब्रह्म में आश्रित हैं। जैसे यह कहा है कि मुक्त जीव भी परम ब्रह्म के आश्रित है, वैसे ही वर्तमान सूत्र में यह कहा है कि 'प्राणभृत्' अर्थात् प्राणी भी उसके आश्रय ही हैं, अर्थात् उसमें ही निवास करते हैं।

आयतन का शाब्दिक अर्थ है निवास स्थान। निवास स्थान जिस प्रकार स्थान पर रहने वाले का आश्रय होता है; इसी प्रकार परमात्मा भू, द्यू इत्यादि का आश्रय है। मुक्त जीवों का भी आश्रय है और प्राण भृत् का भी आश्रय स्थान है।

स्वामी शंकराचार्य तो प्रकृति और जीवात्मा का परमात्मा से पृथक् अस्तित्व मानते नहीं। अतः वे ब्रह्म के अर्थ, आयतन के अर्थ और प्राणभृत् के अर्थ अपने पृथक् करते हैं। उपानिषदकार ऐसा नहीं मानते। समझने की बात इस प्रकार है—

(१) ब्रह्म के अर्थ परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति तीनों से, दोनों से अथवा केवल परमात्मा से भी लिए जाते हैं। जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं।

(२) परम ब्रह्म शब्द का प्रयोग प्रायः तीनों ब्रह्म के समूह को बताने के लिये किया जाता है।

(३) तीनों ब्रह्म अक्षर माने हैं। जो अक्षर है, वह अनादि भी होता है। यह नहीं कि किसी का आदि तो हो, परन्तु अन्त न हो।

(४) प्राणी (प्राणभृत्) जीवात्मा और प्रकृति के विशेष संयोग का नाम है।

(५) परमात्मा सर्वव्यापक होने से प्राणी में भी रहता है और जीवात्मा प्राणी के हृदय की गुहा में रहता है। वहीं बैठा यह मन तथा इन्द्रियों द्वारा पूर्ण

शरीर पर नियन्त्रण रखता है ।

(६) परमात्मा सर्वव्यापक होने से पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त है । पूर्ण ब्रह्माण्ड असीम है । इसी को आकाश कहा है ।

इन सब बातों को सिद्ध किया जा सकता है । प्रत्यक्ष (योग सिद्धि) से भी और आंशिक रूप में सामान्य प्रत्यक्ष से भी, अनुमान से भी । शब्द प्रमाण तो इन सब बातों को सिद्ध करने के लिये प्रचुर मात्रा में उपस्थित हैं ।

अतः उपनिषद् वाक्यों के अर्थ करते समय इन शब्दों को इस प्रकार समझ कर किये जायें तो उपनिषद् वाक्य स्पष्ट अर्थ देने वाले प्रकट होंगे । अन्यथा सूत्रों से उपनिषदों को स्पष्ट करते रहेंगे और उपनिषद् वाक्यों से सूत्रों को । इससे दोनों ही असिद्ध हो जायेंगे ।

भेदव्यपदेशात् ॥५॥

भेद + व्यपदेशात् ।

भेद कहे जाने से ।

किस-किस में भेद ? प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा में । भू, द्यू और प्राणियों में ये तीनों ही विद्यमान हैं । इस विषय में ब्रह्मसूत्र प्रथम अध्याय द्वितीय पाद में बताया है । द्यू, भू इत्यादि का आश्रय वह जीवात्मा प्रकृति नहीं, वरंच परमात्मा है ।

स्वामी शंकराचार्य और आचार्य उदयवीर शास्त्री ने और कदाचित् अन्य भाष्यकारों ने भी इसको सिद्ध किया है मुण्डक उपनिषद् (२-२-५) के उद्धरण से ।

इस उद्धरण का अभिप्राय हम पूर्व सूत्र के भाष्य में दे आये हैं । वहाँ हमने बताया है कि जिसमें द्यु, भू, अन्तरिक्ष, मन, प्राण सब ओत-प्रोत हैं, उस एक को ही जानें । (आत्मानम् अन्या) जीवात्मा दूसरा है । (वाचोविमुञ्चयं) इसकी बात छोड़ो । वह (परमात्मा) ही अमृत का सेतु है । यह पूर्ण मन्त्र इस प्रकार है—

यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः ।
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः ॥

(मुण्ड० २-२-५)

अर्थ है—जिसमें द्यु, पृथिवी और अन्तरिक्ष, मन और प्राणी सहित सब ओत-प्रोत हैं, उस एक को ही जानो । अन्य आत्मा की बात छोड़ो । मोक्ष में

यह ही सेतु है ।

परन्तु इस उद्धरण का सूत्र के साथ क्या सम्बन्ध है ?

परमात्मा से जीवात्मा का भेद सूत्रकार ने बताया है। उससे यह स्पष्ट है कि जीवात्मा भू, द्यू इत्यादि का आश्रय नहीं । जो आश्रय नहीं अर्थात् जो पूर्ण ब्रह्माण्ड का निवास स्थान नहीं, क्या उसको जानना ही नहीं चाहिये ? अमृत प्राप्त करने के लिये न सही, परन्तु संसार में रहने के लिये भी क्या जीवात्मा का ज्ञान वर्जित है ।

ब्रह्मसूत्र तो परब्रह्म का रहस्य प्रकट करने के लिये लिखे गये हैं और परम ब्रह्म वह है (श्वे० १-७) जिसमें तीन अक्षर रहते हैं अर्थात् तीन अक्षरों के समूह को परम ब्रह्म कहते हैं । अतएव जानना तो तीनों अक्षरों के विषय में है, परन्तु मोक्ष-प्राप्ति के लिए केवल परमात्मा ही स्रोत अर्थात् सहायक है । अभिप्राय यह कि उपनिषद् (मुण्ड० २-२-५) तो सर्वथा सत्य है, परन्तु इस सूत्र के साथ उसका किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं । विरोध तो है ही नहीं ।

प्रकरणात् ॥६॥

प्रकरण के विचार से ।

अर्थात्—भेद से तो यह कहा जा सकता है कि जीवात्मा द्यू, भू इत्यादि का आश्रय नहीं ।

परन्तु प्रकरण के विचार से इस पाद में परमात्मा, प्रकृति और जीवात्मा को समझना चाहिये । जहाँ-जहाँ जिसका प्रकरण है, वहाँ-वहाँ उसको समझना चाहिये ।

स्थित्यदनाभ्यां च ॥७॥

स्थिति+अदनाभ्यां+च ।

स्थिति का विचार करके और अदन (भोग सामग्री) का विचार करके ।

स्थिति का अभिप्राय है कि जिसमें सब-कुछ स्थित है । जो सबका आयतन है और अदन का अभिप्राय है भोग सामग्री अर्थात् कार्य जगत् ।

जहाँ जिसका प्रकरण हो, उसको ही वहाँ समझना चाहिये । यह बात

सूत्रकार अपने सूत्र ग्रन्थ को समझाने के लिये कह रहा है कि जहाँ परमात्मा का प्रकरण हो, वहाँ परमात्मा समझो और जहाँ कार्य जगत् का, जो भोग सामग्री उपस्थित करता है, प्रकरण हो वहाँ कार्य जगत् समझना चाहिये।

परन्तु स्वामी शंकराचार्य, तो सूत्र ग्रन्थों का प्रयोजन ही अन्य समझे हैं। यहाँ भी वह मुण्डक उपनिषद् का उद्धरण दे देते हैं।

आप लिखते हैं—

द्युभ्वाद्यायतनं च प्रकृत्य 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' '(मु० ३-१-१) इत्यत्र स्थित्यदने निर्दिश्येते। 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' इति कर्मफलाशनम् 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' इत्यौदासीन्येनावस्थानं च। ताभ्यां च स्थित्यदनाभ्या-मीश्वरक्षेत्रज्ञौ तत्र गृह्येते। यदि चेश्वरो द्युभ्वाद्यायतनत्वेन विवक्षितस्ततस्तस्य प्रकृतस्येश्वरस्य क्षेत्रज्ञात्पृथग्वचनमवकल्पते। अन्यथा ह्यप्रकृतवचनमाकस्मिकम-संबद्धं स्यात्।

यह संशय वर्णन किया है कि—

अर्थात्—द्यू, भू के आश्रय को प्रस्तुत कर 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (मु० ३-१-१) इस मन्त्र में स्थिति और अदन (भोग) का निर्देश किया गया है। 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' इस मंत्रांश से कर्मफल भोग का वर्णन है और 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति'। इससे अन्य उदासीन रहने वाले का निर्देश है। इस स्थिति और भक्षण से इस मन्त्र में ईश्वर और जीव का ग्रहण करना चाहिये। यदि ईश्वर द्यु, भू आदि के आश्रय रूप विवक्षित माना जाये तो उस प्रवृत्त ईश्वर का क्षेत्रज्ञ से पृथक् वचन उपपन्न (सिद्ध) होता है। अन्यथा यह अप्रकृत (अस्वभाविक) वचन आकस्मिक और असम्वद्ध हो जावेगा।

आपका वचन भी पृथकता विवक्षित करेगा।

हम तो यह कहते हैं कि मुण्डकोपनिषद् के इस उद्धरण का सूत्र के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं।

इस पर भी देखें कि इस संशय का श्री स्वामीजी क्या उत्तर देते हैं? संशय (स्वामीजी के विचार से) यह है कि 'द्वा सुपर्णा सयुजा' (ऋ० १-१६४-२०) तथा मुण्डक० ३-१-१) में प्रकृति, जीव और परमात्मा पृथक्-पृथक् वर्णन किये हैं। अतः इनको पृथक्-पृथक् क्यों न माना जाये?

स्वामीजी कहते हैं—

न; तस्याविवक्षितत्वात्। क्षेत्रज्ञो हि कर्तृत्वेन भोक्तृत्वेन च प्रतिशरीरं बुद्ध्याद्युपाधिसंबद्धो लोकत एव प्रसिद्धो नासौ श्रुत्या तात्पर्येण विवक्ष्यते। ईश्वरस्तु लोकतोऽप्रसिद्धत्वाच्छ्रुत्या तात्पर्येण विवक्ष्यत इति न तस्याकस्मिकं वचनं युक्तम्। 'गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि' (ब्र० १-२-११-३) इत्यत्राप्येतद्दर्शितं 'द्वा सुपर्णा' इत्यस्यामृचीश्वरक्षेत्रज्ञावुच्येते इति।

नहीं, क्योंकि जीव अविवक्षित (असंकेतित) होने से। क्षेत्रज्ञ तो कर्त्ता और भोक्ता रूप से प्रति शरीर में बुद्धि आदि उपाधियों से युक्त है और लोक में प्रसिद्ध है। इस कारण वह श्रुति के तात्पर्य से अभिप्रेत नहीं। ईश्वर तो लोक में अप्रसिद्ध होने से श्रुति के तात्पर्य से अभिप्रेत है। इस कारण उसे आकस्मिक कहना युक्त नहीं। 'गुहां प्रविष्टवात्मानौ' में भी यही दिखाया गया है। 'द्वा सुपर्णा' में ईश्वर और क्षेत्रज्ञ को कहा गया है।

इस पूर्ण युक्ति का कुछ भी ओर-छोर पता नहीं चलता। संशय यह था कि 'द्वा सुपर्णा' मन्त्र में लिखे जीवात्मा और परमात्मा दो कहे गये हैं। स्वामीजी कहते हैं कि क्योंकि जीव विवक्षित नहीं। विवक्षित का अर्थ है कि जीव को पृथक् वताने का मतलव नहीं है। वताया तो है। यह कैसे पता चले कि जो कहा गया, वह मतलव नहीं। तो फिर कहा ही किसलिये गया है ?

आप उदाहरण देते हैं कि ब्रह्मसूत्र (१-२-१२) में भी तो गुहा में दो का होना बताया गया है और वहाँ भी दो से मतलब नहीं। यह कैसे ? वहाँ क्यों विवक्षित नहीं और यहाँ क्यों विवक्षित नहीं ? स्वामीजी अपने मन से ही कहतेजाते हैं अथवा इस विवक्षित न होने के लिये कोई युक्ति है या प्रमाण है ?

आप यह कह सकते हैं कि मुण्डक उपनिषद में 'द्वा सुपर्णा' से जीव की पृथकता विवक्षित नहीं। यह हम ऊपर वता चुके हैं कि मुण्डकोपनिषद् के आम्रभ में ही ऋपि ने वताया है कि ब्रह्मा जो सृष्टि का रचने वाला और पालन करने वाला है, देवताओं में प्रमुख है।

हमने वहाँ वताया है कि अन्य देवता कौन हैं। यह सूर्य, वरुण इत्यादि नहीं हो सकते। कारण यह है कि ब्रह्मा उनको तो उत्पन्न करने वाला है। वहाँ शब्द है 'ब्रह्म देवानां प्रथमः सम्वभूव, विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता।'

अतः ब्रह्मा (परमात्मा) के अतिरिक्त देवता—जीवात्मा और प्रकृति ही हो सकते हैं।

अतः मुण्डकोपनिषद् में भी यह नहीं कि जीव विवक्षित ही नहीं। परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति तीनों विवक्षित हैं।

अतः हमारा यह कहना है कि स्वामीजी ने इस (ब्र० सू० १-३-७) का भाष्य भी अशुद्ध किया है।

और स्थिति तथा भोग सामग्री से प्रकरणानुसार अर्थ समझने चाहियें। जगत् की (द्यु, भू आदि की) स्थिति परमात्मा में है और अन्न अर्थात् कार्य-जगत् का भोग जीव के लिये है। यही बात अगले सूत्र में लिखी है।

भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात् ।।८।।

भूमा+सम्प्रसादात्+अधि+उपदेशात् ।

आश्रय (परमात्मा) समीप स्थित (जीवात्मा) से ऊपर उपदेश किये जाने से (पृथक् है) ।

परमात्मा को इस पाद में आयतन (आश्रय स्थान) कहा है। अतः यह भूमा है। जैसे कि भूमि आश्रय-स्थान है वैसे ही परमात्मा है।

सम्प्रसादात् (सम्+प्रसादात्) समान स्थित। जीवात्मा से ही अभिप्राय है। ऊपर कहे अनुसार ये पृथक्-पृथक् हैं।

पूर्व (ब्र० सू० १-३-७) में स्थिति अर्थात् जिसमें सब-कुछ स्थित है और जो भोग-सामग्री (कार्य-जगत्) है, में अन्तर का वर्णन है। वर्तमान सूत्र (ब्र० सू० १-३-८) में भूमा (आश्रय) अर्थात् परमात्मा और सम्प्रसाद (जीवात्मा) में अन्तर की ओर संकेत है।

स्वामी शंकराचार्य ने भूमा का अर्थ वर्णन करने के लिये छान्दोग्य उपनिषद् (७-२३, २४) का उद्धरण दिया है। अर्थात् इस उपनिषद् के इस स्थल पर भूमा परमात्मा को ही माना है। अतः सूत्र में भी भूमा से परमात्मा का अर्थ लेना चाहिये।

उपनिषद् इस प्रकार है—

यो वै भूमा तत्सुखम्··· (छा० ७-२३)

निश्चय ही जो भूमा है, वह सुख है। इसके आगे कहा है। '**नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखम्**।' अल्प (छोटे) अर्थात् प्रकृति में सुख नहीं। परमात्मा में ही सुख है। आगे लिखा है—

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति···(छा० ७-२४)

जहाँ (भूमा में) पहुँचकर कोई दूसरा दिखायी नहीं देता। कुछ दूसरा सुनायी नहीं देता, किसी दूसरे को जानता नहीं—इत्यादि।

यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्।··· (छा० ७-२४)

निश्चय ही जो भूमा है, वह अमृत है और जो अल्प है वह मरणीय है। अभिप्राय यह कि भूमा के अर्थ इस उपनिषद् में परमात्मा से किये हैं। यह सब ठीक हैं। अर्थात् यहाँ सूत्रार्थ समझाने के लिये उपनिषद् से अर्थ लिये हैं। सूत्र १-२-१ में आप कह चुके हैं कि अस्पष्ट उपनिषद् वाक्यों को स्पष्ट करने के लिये सूत्र लिखे गये हैं। आपने लिखा है—

तन्निर्णयाय द्वितीयतृतीयौ पादावारभ्येते ।

उसका निर्णय करने के लिए दूसरे, तीसरे पाद को आरम्भ किया जाता है। अभिप्राय यह है कि उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र परस्पर एक-दूसरे को स्पष्ट करते

हैं। इसका अभिप्राय यह है कि इन दोनों को स्पष्ट करने के लिये तीसरे का आश्रय लेना चाहिये।

हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि ब्रह्मसूत्रों के भाष्य की यह शैली नहीं। ब्रह्मसूत्र उपनिषदादि ग्रन्थों के अर्थों को स्पष्ट करने के लिये नहीं लिखे। न ही उपदिषदादि ग्रन्थ अस्पष्ट सूत्रों को स्पष्ट करने के लिये कहे गये हैं।

ब्रह्मसूत्र युक्ति से सिद्धान्तों का निर्णय करते हैं। यदि उपनिषद् में भी वह प्रतिपादित हो तो यह एक पृथक् बात है। ये सिद्धान्त की सत्यता का प्रमाण हैं, न कि सूत्र अथवा उपनिषद् की सत्यता का।

स्वामी शंकराचार्य ने इस सूत्र का भाष्य करते हुए पूरा बल लगा दिया है। भूमा शब्द के अर्थ समझाने में, परन्तु सूत्र के दूसरे शब्द सम्प्रसादात् को भूल ही गये हैं। अर्थात् उनकी दृष्टि में सूत्र की व्याख्या गौण हो गयी है और उपनिषद् का उल्लेख मुख्य हो गया है।

हम ब्रह्मसूत्रों की व्याख्या लिख रहे हैं। अतः हमारे लिये पूर्ण सूत्र का अर्थ प्रस्तुत करना आवश्यक है।

भूमा अर्थात् परमात्मा और सम्प्रसादात् उसी से प्रसन्न किया जाने वाला जीवात्मा। इन दोनों के सम्बन्ध में ऊपर वर्णन किये के अनुसार मानना चाहिये।

अर्थात् दोनों पृथक्-पृथक् हैं।

परमात्मा कार्य जगत् से पृथक् है (ब्र० सू० १-३-७)। परमात्मा जीवात्मा से पृथक् है (१-३-८)।

यह कैसे पता चलता है कि कार्य जगत्, जीवात्मा और परमात्मा पृथक्-पृथक् हैं? यह अगले सूत्र में बता दिया है।

धर्मोपपत्तेश्च ॥९॥

धर्मोपपत्तेः+च।

और धर्मों के उपपन्न (उपस्थित) होने से।

'और' शब्द का प्रयोग इस कारण है कि भेद तो ऊपर भी बताया है और यहाँ कहा गया है धर्मों की उपस्थिति से पता चलता है।

दोनों के धर्मों में क्या अन्तर है? यह ऊपर (पूर्व में) वर्णन कर चुके हैं। ब्रह्मसूत्र प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद में यह व्याख्या सहित बता आये हैं।

यहाँ स्थिति और भूमा शब्दों से परमात्मा के धर्मों का वर्णन किया है और जीवात्मा और द्यू, भू इत्यादि भूमा नहीं हैं।

महान तो परमात्मा ही है। अतः वह भूमा है। सबका आश्रय परमात्मा ही है; अतः वह भूमा है। जीवात्मा और प्रकृति सबका आश्रय नहीं। इसका आश्रय भी परमात्मा ही है।

और भी कहा है—

अक्षरमम्बरान्तधृतेः ॥१०॥

अक्षरम्+अम्बरान्त+धृतेः।

अक्षर जो आकाश के अन्त तक धारण करने वाला है (वह परमात्मा है। वही सब का आश्रय है।)

अक्षर तो परमात्मा के अतिरिक्त भी है, परन्तु वे आकाशान्त तक धारण नहीं करते। वे अल्प होने से आकाशान्त तक नहीं पहुँच पाते।

परमात्मा ही अक्षर है; ऐसा इसका अर्थ नहीं। अम्बरान्त धारण करने वाला अक्षर परमात्मा ही है। दूसरे अक्षर अम्बरान्त धृतेः नहीं हैं।

यह हम उपनिषद् के प्रमाण (श्वेताश्वतर १-९ तथा ४-५) से बता चुके हैं कि अक्षर तीन हैं, परन्तु यहाँ उस अक्षर का उल्लेख है जो अम्बरान्त है। धृति अर्थात् धारण करने से परमात्मा के धर्म का वर्णन है।

इसी में परमात्मा का एक अन्य धर्म बता दिया है।

सा च प्रशासनात् ॥११॥

सा+च+प्रशासनात्।

और वह प्रशासनकर्ता होने से (परमात्मा कहलाता है।)

अम्बरान्त धारण करता है और जो कुछ भी उसमें है, उस पर शासन करता है। नियन्त्रण रखता है। यह भी परमात्मा का धर्म है।)

अन्यभावव्यावृत्तेश्च ॥१२॥

अन्य + भाव + व्यावृत्तेः + च ।

और दूसरे भावों के (पृथक्) व्यवहार से ।

दूसरे भावों का अर्थ है दूसरे अक्षर । व्यावृत्ति का अभिप्राय है पृथक् व्यवहार अर्थात् भिन्न व्यवहार से अर्थात् भिन्न धर्म वालों से । दूसरे अक्षर हैं जीवात्मा और प्रधान । इनके धर्म उस अक्षर के जो 'व्योमान्त' घृति और 'प्रशासनात्' से स्मरण किया गया है, भिन्न हैं ।

यहाँ सूत्र (१-३-१०, ११) में परमात्मा के धर्म बताये हैं । ये धर्म हैं अम्बरान्त धारण करने वाला, अम्बरान्त प्रशासन करने वाला और ब्रह्मसूत्र में लिख दिया है कि अन्य भाव (परमात्मा से दूसरे) विपरीत धर्म वाले हैं ।

इन सूत्रों में श्री स्वामी शंकराचार्यजी ने अपनी विलक्षणता प्रकट की है । वह लिखते हैं—

अन्यभावव्यावृत्तेश्च कारणाद्ब्रह्मैवाक्षरशब्दवाच्यम् । तस्यैवाम्बरान्तधृतिः कर्म नान्यस्य कस्यचित् । किमिदमन्यभावव्यावृत्तेरिति ? अन्यस्य भावोऽन्यभावः, तस्माद्व्यावृत्तिरन्यभावव्यावृत्तिरितितस्याः । एतदुक्तं भवति—यदन्यद्ब्रह्मणोऽक्षरशब्दवाच्यमिहाशङ्क्यते···।

अर्थात्—अन्य भाव व्यावृत्ति रूप कारण से भी ब्रह्म ही अक्षर शब्द-वाचक है । वह ही आकाशान्त धारण करता है । किसी अन्य का यह कर्म नहीं । वह अन्य भाव व्यावृत्ति क्या है ? अन्य का अन्य भाव (धर्म) है । इससे व्यावृत्ति अन्य भाव की उसकी व्यावृत्ति है । यह कहा जाता है कि ब्रह्म से अन्य अक्षर तो अक्षर वर्ण ही हैं । यह शंका है ।

इसका भावार्थ यह है कि अक्षर केवल (ब्रह्म) परमात्मा ही है । किसी दूसरे का यह धर्म नहीं । परमात्मा के अतिरिक्त केवल वर्ण अक्षर हैं ।

हम स्वामीजी के भाष्य में ब्रह्म के अर्थ परमात्मा करते चले आ रहे हैं । यद्यपि ब्रह्म परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति भी हो सकते हैं । स्वामीजी भी ब्रह्म को परमात्मा का सूचक ही मानते हैं । अतः हमने यह भाव बताया है कि स्वामी जी परमात्मा के अतिरिक्त कोई दूसरा अक्षर नहीं मानते ।

इस शंका के आगे स्वामीजी यह कहते हैं—

···तद्भावादिदमम्बरान्तविधारणमक्षरं व्यावर्तयति श्रुतिः—'तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृश्रुतं श्रोत्रमतं मन्त्रविज्ञातं विज्ञातृ' (बृ ३-८-११) इति । तत्रादृष्टत्वादिव्यपदेशः प्रधानस्यापि संभवति, द्रष्टृत्वादिव्यपदेशस्तु न संभवति; अचेतनत्वात् । तथा 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृनान्यदतोऽस्ति श्रोतृ नान्यदतोऽस्ति मन्तृ नान्यदतोऽस्ति विज्ञातृ' इत्यात्मभेदप्रतिषेधात् न शारीरस्याप्युपाधिमतोऽक्षर-

शब्दवाच्यत्वम्; 'अचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनः' (बृ० ३-८-८) इति चोपाधिमत्ता-प्रतिषेधात्। नहि निरुपाधिकः शारीरो नाम भवति। तस्मात्परमेव ब्रह्माक्षर-मिति निश्चयः ॥

अर्थात्—इस भाव से यह अम्बरान्त धारण करने वाला अक्षर व्यावर्तं (अभिप्रेत) है। यह श्रुति है, 'हे गार्गी, यह अक्षर दृष्टि नहीं, द्रष्टा है। श्रुति नहीं, श्रोता है। मनन नहीं, मन्ता है। अविज्ञात होकर विज्ञाता है' इत्यादि। (बृ० ३-८-१२) वहाँ अदृष्टत्व व्यपदेश प्रधान में भी सम्भव है, परन्तु दृष्टत्वादि व्यपदेश इसमें सम्भव नहीं। क्योंकि वह अचेतन है। इसी प्रकार 'नान्यदतोऽस्ति' द्रष्टा कोई दूसरा नहीं, कोई भिन्न श्रोता नहीं, कोई भिन्न मन्ता नहीं, विज्ञाता नहीं। यह श्रुति है। आत्मा से भिन्न वस्तु का प्रतिषेध करती है। इसीलिये उपाधि युक्त शरीरी भी अक्षर शब्द वाचक नहीं। 'अचक्षुष्क'''वह चक्षु रहित, श्रोत्र रहित, वाणी रहित तथा मन रहित है।' इस प्रकार श्रुति ने उपाधिमत्ता का प्रतिषेध किया है। उपाधि के विना शरीरी नाम सम्भव नहीं। इससे पर-ब्रह्म ही अक्षर शब्द से सिद्ध होता है।

इस लम्वे उद्धरण का अर्थ यह है कि केवल ब्रह्म ही अक्षर है, प्रधान और जीवत्मा अक्षर नहीं। इसमें प्रमाण है बृ० उ० ३-८-११ और बृ० उ० ३-८-८।

स्वामीजी ने यह वात गलत लिखी है। आइये, पहले उस उपनिषद् का अर्थ देखें, जो स्वामीजी ने उद्धृत किया है।

आपने बृहदारण्यक उपनिषद् के उद्धरण तो केवल ३-८-८ और ३-८-११ ही दिये हैं, परन्तु हमारे विचार में उनके अर्थों को समझने के लिये तीसरे अध्याय के पूर्ण आठवें ब्राह्मण को ही समझना ठीक होगा।

तदनन्तर वाचन्कवी (गार्गी) ने कहा, हे भगवन्तो (पूज्य ब्राह्मणो)! अब मैं इन (याज्ञवल्क्य) से दो प्रश्न पूछती हूँ। याज्ञवल्क्य ने कहा, 'पूछो गार्गी।'

गार्गी ने पूछा, 'जो वस्तु द्यु-लोक से ऊपर है, जो पृथिवी के नीचे है और जो इन दोनों के बीच है। जिसको भूत, वर्तमान और भविष्य कहते हैं, वह किससे ओत-प्रोत है? (बृ० उ० ३-८-१, २, ३)।

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया, 'हे गार्गी! जो द्यु-लोक से ऊपर है, पृथिवी से नीचे है और जो इनके बीच में है, वह आकाशे तदोतं च प्रोतं चेति (बृ० उ० ३-८-४), वह आकाश में ओत-प्रोत है।

इसमें ध्यान रखने योग्य वात यह है कि वह आकाश नहीं, वह आकाश में ओत-प्रोत है। अर्थात् आकाश से भिन्न है। यही बात हमने वेदान्त दर्शन (१-१-२२) के भाष्य में कही है। वह परमात्मा है।

—१६

इस उत्तर से प्रसन्न हो गार्गी ने ऋषि को नमस्कार किया। अर्थात् वह सन्तुष्ट हो गयी। अब उसने दूसरा प्रश्न किया।

दूसरे प्रश्न और पहले प्रश्न के शब्द सर्वथा एक समान हैं। शब्द हैं—

सा होवाच यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य दिवो यदवाक्पृथिव्या यदन्तरा द्यावा-पृथिवी इमे यद् भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते कस्मिंस्तदोतं च प्रोतं चेति ।।

(बृ० उ० ३-८-३,६)

इससे प्रश्न उत्पन्न होता है कि गार्गी ने इसे दूसरा प्रश्न क्यों कहा ? वह इसलिये कि आकाश किसी का लिंग है। यद्यपि वस्तु और उसका लिंग पृथक्-पृथक् होते हैं, तथापि एक होने से ही दूसरा होता है। अतः लिंग से वस्तु का ज्ञान होता है और उसका अर्थ लिया जाता है।

कुछ ऐसे ही यहाँ प्रतीत होता है। गार्गी का प्रथम प्रश्न से अभिप्राय यह था कि द्यु-लोक से ऊपर और पृथिवी से नीचे तथा दोनों के भीतर क्या है ? जब याज्ञवल्क्य ने कहा कि वह आकाश में ओत-प्रोत है तो उसने इस उत्तर को गलत तो नहीं कहा। हाँ, उसने प्रश्न कर दिया कि वह वस्तु बताइये कि जो आकाश में ओत-प्रोत है ?

अतः प्रश्न के उत्तर में याज्ञवल्क्य ने थोड़ा अन्तर करके कह दिया है। पहले प्रश्न का उत्तर मन्त्र ४ में है और दूसरे का उत्तर मन्त्र ७ में है।

दोनों का समान अंश इस प्रकार है—

स होवाच यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदवाक्पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद् भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षत··· (बृ० उ०—३-८-४, ७)

इस समान पाठ का अर्थ है—

उसने (याज्ञवल्क्य ने) कहा, 'हे गार्गी ! जो द्यू-लोक से ऊपर है और जो पृथिवी से नीचे है तथा जो दोनों के बीच में है और जो भूत, वर्तमान तथा भविष्य कहा जाता है···

आगे दोनों उत्तरों में अन्तर है। प्रथम प्रश्न के उत्तर में ऋषि ने कहा है—

'आकाशे तदोतं च प्रोतं चेति'। यह कहा जाता है कि वह आकाश में ओत-प्रोत है (बृ० उ० ३-८-४)।

और दूसरे प्रश्न के उत्तर में कहा है—

'आकाश एव तदोतं च प्रोतं चेति। कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति।' वह आकाश ही है जो ओत-प्रोत है, परन्तु आकाश किसमें ओत-प्रोत है ?

(बृ० उ० ३-८-७)

अर्थात्—गार्गी के पहले प्रश्न को ही पुनः दूसरे प्रश्न के समय कहते सुन कह दिया कि उसके पूछने का अभिप्राय यह है कि आकाश किसमें ओत-प्रोत है ?

याज्ञवल्क्य का यह प्रश्न वास्तव में गार्गी के प्रथम प्रश्न को ही दोहराने का अभिप्राय बताने के लिए था। उसका उत्तर देते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं और इसी का उद्धरण श्री स्वामी शंकरचार्यजी ने अपने शंकर भाष्य (वे० द० १-३-१२) में दिया है।

पूर्णउद्धरण इस प्रकार है—

स होवाचैतद्वैतदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखममात्रमनन्तरमबाह्यं न तदश्नाति किंचन न तदश्नाति कश्चन। (बृ० उ० ३-८-८)

इसका अर्थ इस प्रकार है—

उसने (याज्ञवल्क्य ने) कहा, 'हे गार्गी! वह निश्चय अक्षर है। ऐसा ब्राह्मण लोग कहते हैं। वह अस्थूल, अनणु (न मोटा, न पतला) है। अह्रस्व, अदीर्घ (न छोटा न बड़ा) है। न लाल है, न द्रव है, न छाया है, न तम है, न वायु है, न आकाश है, न सङ्ग है, न रस है, न गन्ध है, न तेज है, न कान है, न वाणी है, न मन है, न तेज है, न प्राण है, न मुख है, न (उसमें) भाप मात्र है, न भीतर है, न बाहर है। वह कुछ भी नहीं खाता। वह किसी से नहीं खाया जाता।

इस उक्त उद्धरण से यह सिद्ध नहीं हुआ कि केवल परमात्मा ही अक्षर है। श्री शंकराचार्य अपने भाष्य में, जिसका एक अंश हमने ऊपर उद्धृत किया है, कहते हैं—

'तस्मात्परमेव ब्रह्माक्षरमिति निश्चयः'।

इससे निश्चय अक्षर परम ब्रह्म ही है।

ऐसा उपनिषद् के उक्त उद्धरण से सिद्ध नहीं होता।

इसी प्रकार एक उद्धरण आपने ३-८-११ का दिया है। वह इस प्रकार है—

तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृश्रुतं श्रोत्रमतं मन्त्रविज्ञातं विज्ञातृ नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ, नान्यदतोऽस्ति मन्तृ, नान्यदतोऽस्ति विज्ञात्रेतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चेति।

(बृ० उ० ३-८-११)

वह अक्षर स्वयं दृष्टि का विषय नहीं, किन्तु द्रष्टा है। श्रवण का विषय नहीं, किन्तु श्रोता है। मनन का विषय नहीं, किन्तु मन्ता है। स्वयं अज्ञात रह कर दूसरों को जानने वाला है। इससे अन्य द्रष्टा नहीं, कोई श्रोता नहीं, कोई मनन करने वाला नहीं, अन्य विज्ञाता नहीं। निश्चय इसे ही अक्षर कहते हैं। इसी में आकाश ओत-प्रोत है।

(उक्त बृहदारण्यक में परम ब्रह्म शब्द का प्रयोग किया गया है। हम

तो श्वेताश्वतर उपनिषद (श्वे० १-६-७) के कथनानुसार परम ब्रह्म में तीनों परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति को लेते हैं और इनके अक्षर मानने से हमें तो कोई विशेष बात प्रतीत नहीं होती, परन्तु स्वामीजी ब्रह्म एवं परम ब्रह्म को परमात्मा ही मानते हैं। उनके अर्थ लगाने से भी तो स्वामीजी का यह कथन इन उद्धरणों में नहीं मिलता कि परमात्मा के अतिरिक्त अक्षर कोई नहीं।

जहाँ यह लिखा है कि परमात्मा से अन्य कोई द्रष्टा, श्रोता, मन्ता एवं विज्ञाता नहीं, वहाँ हम बता चुके हैं कि आँखों में देखने, कानों में सुनने, मन में मनन करने तथा बुद्धि में जानने की शक्ति परमात्मा की है। इस पर भी आँख कान मन इत्यादि तो हैं और इस शक्ति को दिशा, काल और विधि से प्रयोग करने वाला तो परमात्मा से भिन्न है। यदि इसको भी परमात्मा ही समझ लेंगे तो बात कुछ इस प्रकार बन जायेगी कि बाँहों में शक्ति परमात्मा की मान कर बाँहों से चोरी, डाका, हत्या करने वाला भी परमात्मा मानना पड़ेगा तथा बुरे और भले काम करने वाला भी परमात्मा ही मानना पड़ेगा। अतः परमात्मा के अतिरिक्त एक द्रष्टा भी है। क्या देखा जाय और क्या न देखा जाय, यह परमात्मा के अतिरिक्त किसी अन्य का काम है।

हमने मोटर गाड़ी, पैट्रोल और ड्राइवर का उदाहरण देकर बात स्पष्ट की है। पैट्रोल तो दुकानदार का है, उसके अतिरिक्त अन्य किसी का नहीं, परन्तु उस पैट्रोल से मोटर गाड़ी किसी वेश्या के घर को भी ले जायी जा सकती है और देवता के मन्दिर को भी ले जायी जा सकती है। यह कह देने से कि सब मोटरों में पैट्रोल इण्डियन आयल कम्पनी का है, यह सिद्ध नहीं हो जाता कि मोटर चलाकर ले जाने वाली भी यही कम्पनी है। ले जाने वाला ड्राइवर है और वह गाड़ी किसी भी दिशा में ले जाने में स्वतन्त्र है।

अतः 'अक्षरमम्बरान्त धृतेः' का अर्थ है कि अक्षर जो आकाश के अंत तक धारण करने वाला है, वह परमात्मा है। इसी प्रकार 'सा च प्रशासनात्' का अर्थ है कि वह परमात्मा ही अम्बरान्त तक शासन करता है और 'अन्यभाव-व्यावृत्तेश्त' का अर्थ है कि अन्य अक्षर भिन्न व्यवहार रखने वाले हैं। न तो वे अम्बरान्त तक धारण करने वाले हैं और न ही वे शासन करने वाले हैं।

विस्मय करने की बात यह हैं कि आचार्य उदयवीर शास्त्री जी ने इसी सूत्र (ब्र० सू० १-३-१२) के भाष्य में यह लिख दिया है—

'बृहदारण्यक के उक्त प्रसंग में अक्षर वर्णन के अवसर पर ब्रह्म से भिन्न समस्त तत्त्वों की व्यावृत्ति की गयी है। अर्थात् उन्हें अक्षर-स्वरूप से अलग हटा दिया है।'

हमारा मत है कि श्री आचार्यजी ने उपनिषद् वाक्य को समझा नहीं।

शंकर की परिपाटी का अनुकरण करते हुए वे ब्रह्म के सदा परमात्मा ही

के अर्थ लेते हैं। वास्तविकता यह है कि ब्रह्म, परमात्मा, जीवात्मा तथा प्रकृति किसी के लिए भी प्रयोग किया जा सकता है। अतः इसका अर्थ करते समय सावधानी से काम लेना चाहिये। साथ ही उक्त बृहदारण्यक उपनिषद् के उद्धरण में यह अर्थ नहीं निकलता कि परमात्मा के अतिरिक्त कोई अक्षर है ही नहीं। वहाँ स्पष्ट शब्द है 'स होवाचैतद्वै तदक्षरं' (३-८-८)।

वह निश्चय से कहा गया है कि वह अक्षर है। इसमें यह अर्थ नहीं बनते कि उसके अतिरिक्त कोई अक्षर नहीं है।

इसी प्रकार (३-८-११) में कहा है। 'तद्वा एतद् अक्षरं गार्गि।' इन वाक्यों में किसी अन्य के अक्षर होने का विरोध नहीं है।

ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्सः ॥१३॥

ईक्षति कर्म + व्यपदेशात् + सः।

ईक्षति कर्म के बतलाये जाने से वह है।

परमात्मा अम्बरान्त धारण करने वाला, प्रशासन करने वाला और इस सूत्र के अनुसार ईक्षति कर्म करने वाला है। ये सब परमात्मा के गुण बताये हैं।

ईक्षण क्रिया की व्याख्या हम ब्र० सू० १-१-५ के भाष्य में कर चुके हैं। यहाँ इसका पुनः उल्लेख करने का अभिप्राय यह है कि यहाँ परमात्मा और प्रकृति के धर्मों में अन्तर का वर्णन हो रहा है। प्रकृति में ईक्षण क्रिया नहीं होती।

पुनः स्मरणार्थ इतना कह देना ठीक रहेगा कि दिशा और काल का निश्चय ही ईक्षण है (कर्म की दिशा, स्थान और काल निश्चय करना) यही आत्मतत्त्व का लक्षण है। परमात्मा और जीवात्मा में यह गुण सांझा है। अन्तर केवल यह है कि जहाँ परमात्मा के कार्य ब्रह्माण्ड में चलते हैं, वहाँ जीवात्मा का कार्य-क्षेत्र केवल प्राणी का शरीर है।

स्वामी शंकराचार्य ने इस सूत्र की उपादेयता प्रकट करने के लिए प्रश्नोपनिषद् में कुछ अंशों में संशय अथवा संदिग्धता दिखायी है।

हमारा यह विचार है कि यहाँ भी सूत्रों के भाष्य को बोझिल बनाने के लिये ही ऐसा संशय उत्पन्न किया गया है और प्रमाण दे दिये गये हैं। वास्तव में सूत्र सर्वथा सरल और स्वतः स्पष्ट हैं। उपनिषद् के उद्धरण असंगत हैं, परन्तु स्पष्ट अर्थ वाले हैं।

उदाहरण के रूप में स्वामी शंकराचार्यजी इस सूत्र के भाष्य का आरम्भ इस प्रकार करते हैं—

'एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारस्तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति' इति प्रकृत्य श्रूयते—'यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत' (प्र० ५-२, ५) इति।

किमस्मिन्वाक्ये परं ब्रह्माभिध्यातव्यमुपदिश्यते आहोस्विदपरमिति ऐतनैवायतनेन परमपरं वैकतरमन्वेतीति प्रकृत्वात्संशयः। तत्रापरमिदं ब्रह्मेति प्राप्तम्। कस्मात्?—

इसका अर्थ इस प्रकार है—'एतद्वै सत्यकाम' यह जो उकार है वही निश्चय से पर और अपर ब्रह्म है—विद्वान लोग इसमें ध्यान लगा उस एक को प्राप्त हो जाते हैं—'यः पुनरेतम्—' ऐसा (प्रश्न० ५-२, ५ में) कहा है।

इसमें स्वामी जी कहते हैं कि सन्देह होता है।

क्या इस वाक्य में परब्रह्म ध्यातव्य (ध्यान करने योग्य) माना है अथवा यह अमर है? स्वाभाविक संशय है कि यह आश्रय है अथवा अमर है? वहाँ परम ब्रह्म की प्राप्ति से अभिप्राय है। कैसे?—

अभिप्राय यह है कि उक्त उपनिषद् वाक्यों में परब्रह्म अथवा अपर ब्रह्म की उपासना का उल्लेख है। यह स्वभाविक संशय उत्पन्न होता है।

अब देखना चाहिये कि क्या उक्त उपनिषद् वाक्यों से यह संशय उत्पन्न होता भी है अथवा नहीं और साथ ही उक्त सूत्र के अर्थों से इन उपनिषद् वाक्यों की किसी प्रकार की संगति है भी अथवा नहीं?

प्रश्नोपनिषद् (५-२) इस प्रकार है—

तस्मै स होवाच। एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः। तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति॥ (प्रश्न ५-२)

अर्थ है—उसको वह बोला। हे सत्यकाम! पर और अपर ब्रह्म ओंकार ही है। इसलिए विद्वान् इस आश्रय से (किसी) एक को पा लेता है।

तनिक दूसरे उद्धरण को भी देख लें। यह (प्रश्नो० ५-५) इस प्रकार है—

यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायेत, स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः। यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत, एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकम् स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते। तदेतौ श्लोकौ भवतः॥ (प्रश्नो० ५-५)

पुनः कहते हैं—जो त्रिमात्रा युक्त ओं अक्षर द्वारा परम पुरुष की उपासना (ध्यान) करता है, वह तेजोमय सूर्य में सम्पन्न हो जाता है। जैसे साँप कैंचुली से विमुक्त हो जाता है, वैसे ही वह पुरुष पापों से मुक्त हो जाता है। उसे सामवेद के गान के साथ ब्रह्म-लोक में ले जाया जाता है। वह उस उच्च

जीवन में भी उच्च स्थिति में पहुँच परम पुरुष का साक्षात्कार करता है। इस विषय में आगे दो श्लोक कहे हैं।

उपनिषद् वाक्य तो सर्वथा स्पष्ट हैं परन्तु स्वामी शंकराचार्यजी को घबराहट हुई है (५-२ में) परा और अपरा ब्रह्म का उल्लेख देखकर।

निस्सन्देह ब्रह्म तीन हैं। अपरा ब्रह्म प्रकृति है और परा जीवात्मा तथा परमात्मा है।

यह रहस्य श्री स्वामीजी महाराज को पता नहीं चला। संशय तो यह है कि किसकी उपासना की जाये? परन्तु उपनिषद् में स्पष्ट लिखा है कि 'परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः' कि ओंकार से पर और अपर ब्रह्म दोनों का पता चलता है और विद्वान् लोग इसी (ओंकार) के आश्रय पर अथवा अपर में किसी एक ब्रह्म को पा लेते हैं। प्रकृति को भी पाया जा सकता है जैसे आजकल के वैज्ञानिक पा रहे हैं।

उपनिषद्कार ने अपने भाव को सर्वथा स्पष्ट करने के लिये कहा है कि ओं शब्द में तीन मात्रा हैं। मात्रा के अर्थ हैं मूल तत्त्व। पर और अपर ब्रह्म का उल्लेख किया है, परन्तु परब्रह्म दो हैं। परमात्मा और जीवात्मा। अतः ओं शब्द के जप से पर और अपर दोनों जाने जा सकते हैं। इसका अभिप्राय उपनिषद्कार ने स्पष्ट कर दिया कि ओंकार के जप में तीन मूल तत्त्व हैं। एक अपर और दो पर अर्थात् एक प्रकृति और दो अन्य हैं। जीवात्मा तथा परमात्मा। ओं के जप से किसी एक की प्राप्ति अर्थात् ज्ञान होता है।

आगे चलकर बताया है कि जो अपरा का ध्यान करता है वह इस पृथिवी पर (मर्त्य लोक में) ही रहता है। जो दूसरे स्तर अर्थात् जीवात्मा के स्तर पर ध्यान लगाता है, वह अन्तरिक्ष में पहुँच पाता है। यहाँ अन्तरिक्ष का अर्थ 'मनसि सम्पद्यते' मन की एकाग्रता पाता है। और तीनों मात्राओं में ध्यान लगाने वाला अर्थात् प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा में ध्यान लगाने वाला वहाँ पहुँचता है, जिसका प्रश्नो० ५-५ में वर्णन किया है।

उपनिषद् तो स्पष्ट है और स्वामीजी ने कह दिया कि संशय युक्त है और फिर कह दिया कि सूत्र (ब्र० सू० १-३-१३) इसको स्पष्ट करने के लिये लिखे हैं।

सूत्र है 'ईक्षति कर्म' के बताने से (परमात्मा के धर्म का ज्ञान होता है)। पूर्व के सूत्रों के साथ इसी प्रकार इस सूत्र की संगति बैठती है। उपनिषद् के वाक्य और सूत्र में परस्पर किसी प्रकार का सामंजस्य नहीं है।

यह कहा जाता है कि ब्रह्मसूत्र बहुत कठिनाई से समझ में आते हैं। यह तो ठीक है, परन्तु असंगत उपनिषदों के वाक्यों ने तो उनको और भी दुरूह बना दिया है।

दर्शन शास्त्र जगत् की वैज्ञानिक व्याख्या कर रहे हैं और स्वामीजी तथा उनकी परिपाटी के भाष्यकार लगे हैं पूजा-पाठ तथा मोक्ष और पाप-पुण्य की बातें करने ।

यह ठीक है कि परम साध्य, मोक्ष प्राप्ति है; परन्तु ब्रह्मसूत्र तो ब्रह्म (त्रिविधं ब्रह्म) को समझाने के लिये लिखे गये हैं । भाष्यकारों ने अनावश्यक असम्बद्ध विषय को बीच में लाने का यत्न किया है । वह विषय अपने स्थान पर आवश्यक होता हुआ भी यहाँ पर असम्बद्ध है ।

दहर उत्तरेभ्यः ॥१४॥

दहर+उत्तरेभ्यः ।

आगे कहे हुए वर्णनों से 'दहर' होने के कारण ।

दहर का शाब्दिक अर्थ है 'सूक्ष्म' । परन्तु पारिभाषिक अर्थ है पर । अर्थात् आत्म-तत्त्व । एक जीवात्मा और दूसरे परमात्मा ।

परमात्मा के धर्मों का वर्णन हो रहा है । वह परमात्मा जो अन्तरिक्ष में सूर्य, चन्द्रादि ग्रहों को तथा नक्षत्रों को धारण किये हुए है अथवा जो ब्रह्माण्ड में शासन करता है । अभिप्राय यह कि ब्रह्माण्ड में सबको नियन्त्रण में रखता है तथा जो ईक्षति कर्म करता है ।

अब भी परमात्मा का ही वर्णन चल रहा है और इस सूत्र में कहा है कि आगे सूक्ष्म स्थान पर रहने वाले का वर्णन है । सूक्ष्म स्थान है हृदय की गुहा में जहाँ दोनों आत्म-तत्त्व साथ-साथ निवास करते हैं ।

'दहर' शब्द उस सूक्ष्म स्थान के लिये प्रयुक्त हुआ है जो हृदय देश में है। सूक्ष्म देश अवकाश (रिक्त स्थान) को कहते हैं और अवकाश को परमात्मा का लिंग माना है (ब्र० सू० १-१-२२) । अतः दहर शब्द से परमात्मा का ही अभिप्राय है । ऐसा कहा जाता है ।

दहर शब्द का परमात्मा के लिये छान्दोग्य उपनिषद् ८-१-१, ३, ५ में प्रयोग किया गया है ।

उत्तरेभ्यः का अर्थ है कि आगे कहे हुए वर्णन से । अतः यह देखना चाहिये कि सूत्रकार आगे किस आत्म-तत्त्व का वर्णन करता है । हमारा मत है कि सूत्रकार दहर से परमात्मा का अभिप्राय लेता है अथवा जीवात्मा का, यह उपनिषद् की साक्षी से निर्णय नहीं हो सकता । स्वतन्त्र रूप से देखना चाहिए कि आगे के सूत्रों में किस आत्म-तत्त्व का वर्णन है ।

अन्य भाष्यकार तो सूत्रों के अर्थ लगाने में उपनिषद् को ही साक्षी मानते हैं। स्वामी शंकराचार्य वेद (ऋक्, यजु, साम तथा अथर्व) को भी गौण प्रमाण मानते हैं। वह उपनिषद् को ही वेदान्त वाक्य मानते हैं। साथ ही श्री स्वामीजी और अन्य भाष्यकार यह मानते हैं कि कहीं-कहीं उपनिषद् वाक्य अस्पष्ट होने से संशय उत्पन्न करते हैं और वह कहते हैं कि सूत्र उन संशयों का निवारण करते हैं।

हमने इस बात का खण्डन किया है। इस सूत्र के भाष्य में जो उद्धरण (छान्दो० ८-१-१) दिया है, वह संदिग्ध नहीं। उसमें तो स्पष्ट लिखा है—

ब्रह्मपुरी में सूक्ष्म कमल रूपी ग्रह है। उसमें आकाश के भीतर जो दहर है, उसकी खोज करनी चाहिये। (किसको किसकी खोज करनी चाहिए ? निस्सन्देह जीवात्मा को परमात्मा की) (छान्दो० ८-१-१)।

इसी प्रकार इसी उपनिषद् (८-१-६) में वर्णन है कि—

...तद्य इहात्मानमननुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवत्यथ...

अर्थात्—जो इस आत्मा (दहर) को और सत्य कामनाओं को बिना जाने मर जाता है; उसकी सब लोकों में यथेच्छ गति नहीं होती।

इस प्रकार इस उपनिषद् में तो दहर स्पष्ट रूप में परमात्मा के लिये आया है। यह लिखा है कि जो जीवात्मा इसको जाने बिना शरीर छोड़ जाता है; उसकी कामनाएँ अपूर्ण रह जाती हैं। स्पष्ट है कि जानने वाला ज्ञेय से भिन्न है।

परन्तु इस सूत्र में दहर का अर्थ (उत्तरेभ्यः) आगे वर्णन से ही पता चलेगा।

गतिशब्दाभ्यां तथाहि दृष्टं लिंग च ॥१५॥

गतिशब्दाभ्यां+तथाहि+दृष्टं+लिंग+च।

और वाकादि इन्द्रियों की गति से ही दिखाई देता है लिंग (परमात्मा का) दहर का।

गति का अभिप्राय है कि शरीर के अंग-प्रत्यंग का हिलना-डोलना। शब्द का अभिप्राय है वाक्। यह प्रथा है कि एक इन्द्रिय के उल्लेख से सब इन्द्रियों का उल्लेख माना जाता है। अतः शब्द से पाँचों कर्मेन्द्रियों का वर्णन है।

तथाहि का अभिप्राय है जिससे। दृष्टं से अभिप्राय है दिखाई देता है।

लिंग=चिह्न ।

यह हम ऊपर बता आये हैं कि शरीर में गति और कर्म की शक्ति परमात्मा की है । जीवात्मा उस गति की दिशा, काल और स्थान निश्चय करता है । हमने मोटर में पैट्रोल और चालक का उदाहरण देकर अपना आशय वर्णन किया था ।

यहाँ भी यही वर्णन किया है । शरीर में गति और कर्मेन्द्रियों की कर्म शक्ति उससे है, जो दहर है । यहाँ हमने शरीर की बात क्यों कही है ? यह इस कारण कि परमात्मा के शरीर की गुहा में उपस्थित होने के कारण प्रकट होने वाले धर्मों का उल्लेख कर रहे हैं ।

जीवात्मा शरीर की शक्तियों एवं गतियों का स्रोत नहीं माना जाता । यह तो ईश्वर ही है । ईश्वर ही पूर्ण ब्रह्माण्ड में गतियों का करने वाला स्वीकार किया गया है, परन्तु यहाँ केवल शरीर के साथ सम्बन्ध है । इसी कारण शब्द (वाक्) कर्मेन्द्रिय का और इससे पाँचों कर्मेन्द्रियों का वर्णन है ।

इस सूत्र से यह स्पष्ट है कि इससे पूर्व सूत्र में दहर से परमात्मा का ही वर्णन है । उपनिषद् में भी ऐसा ही वर्णन है ।

धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः ॥१६॥

धृतेः+च+महिम्नः+अस्य+अस्मिन्+उपलब्धेः ।

और अस्य=इसकी । अस्मिन्=इस (शरीर) में । धृतेः=धारण करने की (पालन-पोषण करने की) । महिम्नः=महिमा के । उपलब्धेः=पाये जाने से ।

अभिप्राय यह कि हृदयाकाश में रहते हुए दहर परमात्मा का महान् कार्य इस शरीर में पालन-पोषण ही है । यही दिखायी देता है ।

यहाँ इस सूत्र में और इससे पहले सूत्र में अन्य भाष्यकारों ने गति, शब्द और इसमें धृति को ब्रह्माण्ड और अन्तरिक्ष में होने वाली घटनाओं से जोड़ा है । यह ठीक है कि परमात्मा वहाँ भी गति इत्यादि का कर्त्ता है, परन्तु उन गतियों का उल्लेख दहर के साथ करना विषयान्तर होगा ।

साथ ही इस सूत्र में भी स्पष्ट 'अस्मिन्' शब्द आया है । इसका अन्य कुछ अर्थ ही नहीं । यहाँ शरीर का ही वर्णन कर रहे हैं ।

अतः हमने गति शब्द का अर्थ शरीर सम्बन्धी क्रियाओं से ही किया है और धृति अर्थात् धारण करने की क्रिया का सम्बन्ध भी शरीर से ही जोड़ा है ।

विषयान्तर बात सत्य होते हुए भी करणीय नहीं कही जा सकती।

शरीर का पालन-पोषण जीवात्मा नहीं करता। वह कर सकता भी नहीं। अनेकों उदाहरण दिये जा सकते हैं कि जीवात्मा शरीर छोड़ना नहीं चाहता, परन्तु ईश्वरीय शक्ति की प्रतिकूलता के कारण शरीर रहने योग्य नहीं रहता।

यह ठीक है कि जीवन और जीवन में उपलब्धियाँ कर्मफल से होती हैं और कर्म करने की स्वतन्त्रता जीवात्मा को है, परन्तु कर्म करने के उपरान्त फल भोगने में वह स्वतन्त्रता का प्रयोग नहीं कर सकता। वह परतन्त्र ही होता है।

उदाहरण से बात स्पष्ट हो जाती है। एक मनुष्य मद्यपान करे अथवा न करे, इसमें वह स्वतन्त्र है। परन्तु मद्यपान के चिरकाल तक प्रयोग से हृदय की दौर्बल्यता एवं रुग्णता को रोकने की स्वतन्त्रता उसमें नहीं। जब रोग हो जाता है तो उससे होने वाला कष्ट होगा ही।

अभिप्राय यह कि शरीर का संचालन, भरण-पोषण तो जीवात्मा से किसी अन्य के हाथ में है। जीवात्मा उस संचालन इत्यादि को कब, कहाँ और किस प्रकार प्रयोग करे, इसमें स्वतन्त्र है।

प्रसिद्धेश्च ॥१७॥

प्रसिद्धेः+च। और (प्रसिद्धि के कारण भी)।

उक्त सूत्र में दिये गये उदाहरणों को नित्य देखने से यही बात स्पष्ट है कि शरीर में कर्म करने की शक्ति, पालन-पोषण करने की शक्ति, जीवात्मा के अतिरिक्त किसी की है, ऐसा शास्त्र ग्रन्थों में भी लिखा है।

जीवात्मा तो न जन्म लेता है, न मरता है। न बीमार होता है, न छोटा-बड़ा होता है। जो कुछ होता है, शरीर को ही होता है। शरीर जड़ है; अतः इसमें जो गति इत्यादि देखी जाती है अथवा परिवर्तन इत्यादि दिखाई देते हैं, वे किसी चेतन शक्ति द्वारा ही सम्पन्न होते हैं। वह चेतन शक्ति जीवात्मा न होने से परमात्मा ही हो सकती है। परमात्मा भी दहर स्थान में उपस्थित होने से दहर ही है। अतः प्रसिद्ध यह है कि मनुष्य शरीर में शक्ति परमात्मा की है।

इतरपरामर्शात्स इति चेन्नासंभवात् ॥१८॥

इतरपरामर्शात् + स + इति चेत् + न + असम्भवात् ।

इस सूत्र का अर्थ करने में इति चेत् + न + असम्भवात् ही कुँजी है। इसका दो प्रकार से अर्थ किया जा सकता है। एक है यदि कहो तो (ठीक) नहीं, असम्भव होने से। दूसरे प्रकार से अर्थ यह है कि यदि यह कहो तो यह (न असम्भवात्) अर्थात् असम्भव न होने से। न असम्भवात् का अर्थ इकट्ठा किया है। क्या ? सम्भव होने से।

यदि पहला अर्थ लिया जाये तो सूत्र का भावार्थ इस प्रकार बनता है—

वह (परमात्मा की शक्ति का कार्य होता है) दूसरे के परामर्श से। यदि यह कहो कि नहीं तो असम्भव होने से है। अर्थात् यह मानना असम्भव है कि शरीर में कार्य इतर के परामर्श से नहीं होता।

दूसरे ढंग से अर्थ करने पर भावार्थ इस प्रकार बनता है। परमात्मा (की शक्तियों का प्रयोग) दूसरे के परामर्श से है। यह कहो तो सम्भव है।

दोनों भावार्थ समान अर्थ वाले हैं।

इसका अभिप्राय यह है कि दहर स्थान में दो आत्म-तत्त्व हैं। यह सूत्र (ब्र० सू० १-२-११) में स्पष्ट किया जा चुका है। जीवात्मा शरीर में कार्य की दिशा, स्थान और काल निश्चय करता है। इसे निर्णय करना कहते हैं। यह कहा जा सकता है कि जीवात्मा कार्य के काल, स्थान और दिशा का निर्णय करता है।

परमात्मा की सामर्थ्य से ही शरीर कार्य करता है। परन्तु क्या जीवात्मा उस सामर्थ्य का प्रयोग करने में दिशा, स्थान और ढंग का निर्णय भी परमात्मा की सम्मति से करता है ? सूत्रकार कहता है कि यदि यह कहो कि करता है तो ऐसा करना असम्भव होने से है।

असम्भव इस कारण है कि जीवात्मा की स्वतन्त्रता और उसके अपने कर्मफल के भोग करने की बात नहीं हो सकेगी। यदि जीवात्मा कर्म की दिशा, स्थान और ढंग भी परमात्मा के निर्णय से करता है तो उस कर्म के फल का अधिकारी भी परमात्मा ही होगा। यह संभव नहीं।

इस सूत्र में मनुष्य शरीर में जीवात्मा और परमात्मा का परस्पर सम्बन्ध वर्णन है। सम्बन्ध यह है कि जीवात्मा परमात्मा की शक्ति का प्रयोग करता है।

शक्ति तो परमात्मा की है। यदि इस शक्ति का दुरुपयोग भी परमात्मा की करनी से माना जाये, तो इस संसार में जो भी पाप होता है, वह परमात्मा की करनी से मानना पड़ जायेगा। इसी कारण इस सूत्र की आवश्यकता है। सूत्र बताता है कि शरीर में परमात्मा की शक्ति का प्रयोग जीवात्मा अपनी सम्मति से करता है।

श्री स्वामी शंकराचार्यजी अपने पूर्वग्रहों से ग्रसित जीवात्मा नाम की किसी पृथक् सत्ता को मानते नहीं। अतः जहाँ भी जीवात्मा का उल्लेख आता है, वहाँ विषयान्तर बात कर देते हैं। यही बात उन्होंने यहाँ की है।

वृत्तान्त हो रहा है दहर स्थान में उपस्थित परमात्मा का। पूर्व सूत्रों में यह बताया है। वाकादि इन्द्रियों में गति दहर स्थित परमात्मा से होती है। अतः यह प्रश्न स्वाभाविक ही है कि परमात्मा की शक्ति से इन्द्रियों की क्रियाओं में दिशा, स्थान और काल का निर्णय भी परमात्मा करता है क्या? इसके लिए इस सूत्र की आवश्यकता है। सूत्रकार कहता है (इतर परामर्शात्) इतर के परामर्श से होता है। यह असम्भव नहीं है।

श्री स्वामी शंकराचार्य यहाँ असम्बद्ध बात ले आये हैं कि सम्प्रसाद की अवस्था में परमात्मा जीव को परामर्श करता है। हमारा यह मत है कि सूत्रार्थ सर्वथा सरल है। इतर (जीवात्मा) के परामर्श से (परमात्मा की शक्ति का प्रयोग होता है)। सूत्र में शब्द है परामर्श। इसके अर्थ मोनियर अपने शब्द कोष में करता है—**Referring or pointing to, reflection or consideration, judgement.**

यहाँ इतर (जीवात्मा) को लिखा है। परमात्मा की सामर्थ्य के विषय में लिखा है।

श्री उदयवीर शास्त्रीजी ने भी लगभग वैसे ही अर्थ किये हैं। वे भी असम्बद्ध हैं। यहाँ सम्प्रसाद की अवस्था का उल्लेख नहीं। न ही सुषुप्ति की अवस्था का वर्णन है।

उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु ॥१६॥

उत्तरात्+चेत्+आविर्भूतस्वरूपः+तु।

उत्तरात्=अगले से (परमात्मा से)। चेत्=यदि। आविर्भूत=प्रत्यक्ष हुए। स्वरूपः=स्वरूप वाले। तु=तो।

यदि परमात्मा से प्रत्यक्ष हुए स्वरूप वाला कहो तो (न असम्भवात्) असम्भव नहीं है। अर्थात् यह सम्भव है। यहाँ यह पूर्व सूत्र की पुनरावृत्ति है। तु शब्द से इसका संकेत मिलता है। क्या सम्भव है? कार्य जीवात्मा के परामर्श से हो। परामर्श के अर्थ हम पूर्व सूत्र के भाष्य में लिख आए हैं।

सूत्र का भावार्थ यह बनता है। जीवात्मा को जब परमात्मा का साक्षात्कार हो जाता है तब भी इसका कार्य जीवात्मा के परामर्श से होता है?

सूत्रकार का कहना है कि यह सम्भव है।

साक्षात्कार में जीवात्मा मुक्त हो जाता है। मुक्त जीवात्मा क्या करते हैं ? यह दर्शन शास्त्र के चतुर्थ अध्याय में लिखा है। कम से कम वह आनन्द को प्राप्त होता है। इसमें भी वह आनन्द का भोग स्वेच्छा से करता है अथवा परमात्मा ही उसका निर्णय करता है ? सूत्रकार का मत है कि स्वेच्छा से ही आनन्द का भोग करता है। परमात्मा का इसमें आदेश नहीं।

पूर्व सूत्र में हम लिख आये हैं कि शरीर में स्थित जीवात्मा भी कार्य की दिशा, काल और विधि स्वयं निर्णय करता है और इस सूत्र में लिखा है कि साक्षात्कार हो जाने पर भी वह जो कुछ भी करता है, स्वेच्छा से करता है।

यथार्थ बात यह है कि जीवात्मा दोनों अवस्थाओं में स्वतन्त्र है। शरीर में स्थित अवस्था में भी और मोक्षावस्थाओं में भी।

यह इस प्रकार है जैसे कि कोई शिष्य गुरु से पढ़कर ज्ञानवान् हो जाता है और गुरु की भाँति धर्मों वाला हो जाता है। इस पर भी वह गुरु नहीं हो जाता। यदि वह गुरु के धर्मों का पालन करता है तो स्वेच्छा से करता है, आदेश से नहीं। उस समय भी वह अपने किये का स्वयं उत्तरदायी है।

सूत्रार्थ स्पष्ट है—

(दहर गुहा में स्थित) अगला (परमात्मा) प्रत्यक्ष हुए स्वरूप से भी अर्थात् जीवात्मा की मोक्षावस्था में भी परामर्शदाता होना आवश्यक नहीं।

जीवात्मा अपने कर्मों में स्वतन्त्रत है और अपने कर्मों के फल को भोगता है।

अन्यार्थश्च परामर्शः ॥२०॥

अन्यार्थः + च + परामर्शः।

अन्यार्थः = दूसरे के लिए। च = और। परामर्शः = निर्णय करने के लिए।

अन्य कौन हैं ? निस्सन्देह जीवात्मा से प्रयोजन है। वर्णन है परमात्मा की शक्ति का।

ऊपर हम बता चुके हैं कि दहर स्थान में परमात्मा और जीवात्मा दो विद्यमान हैं। एक जो अम्बरान्त तक धारण और शासन करता है। दूसरा अणु मात्र है और शरीर में कार्य करता है। यह भी बताया है कि प्राणी में यह शक्ति किसी दूसरे के प्रयोग के लिए है और, उसकी सम्मति से काम में लायी जाती है। वह दूसरा भी दहर में ही रहता है।

अर्थात् शरीर में परमात्मा की शक्ति जीवात्मा के प्रयोग के लिए है और उसके द्वारा ही इसके प्रयोग की दिशा, काल और स्थिति का निर्णय होता है।

अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम् ।।२१।।

अल्प श्रुतेः+इति+चेत्+तत्+उक्तम् ।

(चेत इति) यदि यह कहो कि (अल्पश्रुतेः) यह छोटे स्थान में कहा गया है (तो यह छोटा है) (तत्) इस विषय में (उक्तम्) ऊपर कह दिया गया है ।

यह ऊपर (ब्र० सू० १-३-१०) कहा गया है कि आकाश के अन्त तक यह धारण किये हुए है। अतः उसका उल्लेख इस छोटे स्थान में भी होना अयुक्तिसंगत नहीं ।

वह सर्वव्यापक होने से इस हृदय की गुहा में भी है। यहाँ इसकी शक्ति वही है जो ब्रह्माण्ड में कार्य कर रही है । जीवात्मा का निवास-स्थान भी यही है। अतः जीवात्मा परमात्मा की उस शक्ति का प्रयोग कर शरीर का संचालन करता है और इससे कर्म करता है । अतः इस अल्प स्थान में भी परमात्मा के होने से परमात्मा में किसी प्रकार का छोटापन नहीं आ जाता। जो सर्वव्यापक है, वह छोटे-बड़े सब स्थानों पर है ।

अनुकृतेस्तस्य च ।।२२।।

अनुकृतेः+तस्य+च ।

और उसका अनुकरण करने से ।

उस अल्प स्थान में होने वाले का अनुकरण करने से । कौन अनुकरण करे ? उस अल्प स्थान में जो उसके पास है । कैसे अनुकरण करे ? उपासना कर उसके गुणों की स्तुति करने से ।

सूत्र (१-३-१४) से परमात्मा का दहर स्थान में होने पर प्राणी में कार्य का वर्णन हो रहा है । उसी सूत्र में कहा गया है कि आगे के वर्णन से। और अगले सूत्र (१-३-१५) में वर्णन किया है कि उस परमात्मा से, जो दहर स्थान पर है, शरीर में गति और कर्मेन्द्रियों के कार्य होते दिखाई देते हैं।

फिर (१-३-१६ में) कहा है कि उसी परमात्मा की महिमा (कृपा) से शरीर का पालन-पोषण होता है। और (१-३-१७ में) कहा है कि यह प्रसिद्ध (सर्वविदित) है कि ईश्वर की कृपा से ही सब कार्य होते हैं। तदनन्तर (१-३-१८ में) कह दिया है कि यह दूसरे का परामर्श है। यदि यह कहो तो असम्भव नहीं। अर्थात् परमात्मा शक्ति तो देता है, परन्तु शक्ति के प्रयोग का परामर्श नहीं देता। आगे १-३-१९ में कहा है कि दूसरे को जब प्रत्यक्ष होता है तो भी यह असम्भव नहीं। यह स्वतः ही कार्य करता है। आगे १-३-२० में कहा है कि यह शक्ति का प्रयोग दूसरे के परामर्श के लिए है। १-३-२१ में लिखा है कि छोटे स्थान में होने से वह छोटा नहीं हो गया।

और इस सूत्र में लिखा है कि उसका जो दहर में उपस्थित है उसका अनुकरण करने से। अर्थात् परमात्मा का अनुकरण करने से लक्ष्य (मोक्ष) की प्राप्ति होती है।

अपि च स्मर्यते ॥२३॥

च + स्मर्यते + अपि।

और (स्मर्यते) ऐसा ही स्मरण भी किया जाता है (श्रुतियों में)।

अनुकरण करने से मोक्ष प्राप्त होता है और स्मरण करने से भी।

अनुकरण करना तो कर्म है और कर्म का फल होता है। वह फल मोक्ष है। परन्तु प्रश्न यह है कि स्मरण करने से क्या होगा? स्मरण करना तो किसी प्रकार से कर्म नहीं।

ऐसा वेद और उपनिषदों में लिखा है कि स्मरण करने से परमात्मा की उपलब्धि होती है, परन्तु क्यों और किस प्रकार स्मरण करने से कल्याण होता है? यह प्रश्न बना रहता है।

नास्तिक कहते हैं कि परमात्मा क्या अपनी प्रशंसा अथवा खुशामद कराना पसन्द करता है जो वह बार-बार पुकार करनेवाले के कष्ट निवारण कर देता है?

वैदिक मीमांसा यह नहीं। दर्शन शास्त्रकार का भी यह अभिप्राय नहीं।

इसमें समझने की बातें दो हैं। क्या स्मरण करना चाहिए और उस स्मरण करने से कर्मों पर क्या प्रभाव पड़ता है?

स्मरण तो परमात्मा को ही करना चाहिए, परन्तु परमात्मा तो गुण स्वरूप है, ज्ञान स्वरूप है, सुकृत कर्म करने वाला है। अतः परमात्मा का जब

उसके गुणों सहित स्मरण किया जाता है तो उपासक के मन पर उसके गुणों का प्रभाव होता है। उसके मन पर उन गुणों के संस्कार बैठने लगते हैं। उन संस्कारों से वह स्वभाव से ही वैसे गुण अपने में धारण करने लगता है।

परमात्मा दयालू है, सब का हित करता है, पश्चात्ताप करने वाले को क्षमा कर देता है। इन गुणों का बार-बार स्मरण करने से मनुष्य स्वयं भी वैसे ही गुण वाला हो जाता है। इससे उसका कल्याण होता है।

स्मरण करने से कल्याण होता है, यह शास्त्र का विधान भी है। भगवद्गीता में इस प्रकार लिखा है—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥

(भ० गी० ८-१३)

इसका अर्थ है—ब्रह्म का, जो एक ओ३म् अक्षर से प्रकट किया जाता है, उच्चारण करते हुए तथा स्मरण करते हुए जो शरीर का त्याग करता है वह परम गति को प्राप्त होता है।

ऐसे अन्य प्रमाण भी हैं। इनमें युक्ति वही है जो हमने ऊपर लिखी है। परमात्मा के गुणानुवाद करने से वैसे गुणों के संस्कार मन पर बैठने से मनुष्य के कर्म भी वैसे ही हो जाते हैं। इससे उसका कल्याण होता है।

इसी प्रकार परमात्मा के अन्य नामों को स्मरण करने का प्रयोजन है; परन्तु यहाँ यह समझ लेना चाहिये कि कुछ लोगों ने परमात्मा के ऐसे गुण कल्पित कर लिये हैं जो वास्तव में हैं नहीं। उन गुणों के स्मरण करने से कुछ लाभ होगा अथवा नहीं? हमारा विचार है कि नहीं होगा। कदाचित् हानि ही होगी।

उदाहरण के रूप में 'कृष्ण बाँसुरी के बजैया, मधुवन के रवैया' ऐसा गाते हुए लोग समझते हैं कि वे परमात्मा का स्मरण कर रहे हैं। ये परमात्मा के गुण नहीं हैं, अतः इन गुणों के संस्कार मन पर अंकित होने से मनुष्य संगीताचार्य हो जाये तो हो जाये, परन्तु वह ईश्वर के दर्शन कर मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता।

वेद में इस प्रकार आया है—

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्त ँ शरीरम्।
ओ३म् क्रतो स्मर। क्लिबे स्मर। कृत ँ स्मर।

(यजु० ४०-१५)

इस मन्त्र का अभिप्राय है कि वायु, अग्नि इस जगत् में अमृत (परमात्मा) के लक्षण हैं। शरीर तो भस्म हो जाता है। यह आत्मा का लक्षण नहीं। अतः हे! (ओ३म् क्रतो स्मर) कर्म करने वाले ओ३म् (परमात्मा) को स्मरण कर

—१७

(विलवे) पूर्ण सामर्थ्य से (उसको) स्मरण कर (कृत ँ स्मर) अपने कर्मों को भी स्मरण कर।

इसी प्रकार परमात्मा दयावान् है। इससे जब कोई तुम्हारे एक गाल पर चपत लगाये तो दया कर दूसरा गाल उसके आगे कर दो। यह परमात्मा का स्मरण करना नहीं। इससे परमात्मा के न्यायकारी होने का प्रतिवाद हो जायेगा। इस प्रकार गुण, जो परमात्मा के हैं ही नहीं, उनका स्मरण करने से जीव का कल्याण सम्भव नहीं।

यहाँ स्मरण करने का अभिप्राय है जो परमात्मा के गुण, कर्म और स्वभाव माने गये हैं, उनको स्मरण करना।

स्मरण करने पर अनुकरण भी होता ही है और इससे जीव का परम कल्याण अर्थात् मोक्ष-प्राप्ति होती है।

शब्दादेव प्रमितः ॥२४॥

शव्दात्+एव+प्रमितः।

शब्द (वेद) से ही प्रमाणित है।

वे सब बातें जो ऊपर इस पाद में अभी तक कही हैं, वेदों में भी वर्णित हैं।

यह सूत्र हमारे इस कथन का ही प्रमाण है कि ब्रह्मसूत्र स्वतः युक्ति से सिद्धान्तों का निश्चय करते हैं और दर्शनाचार्य वेदानुयायी होने से कहते हैं कि ऐसा वेदों में भी वर्णन किया गया है।

मोटी-मोटी बातें, जो इस पाद में अभी तक कही हैं, उनका उल्लेख हम यहाँ कर देते हैं।

(१) अपने कथनानुसार द्यूलोक, भूलोक इत्यादि का आश्रय स्थान परमात्मा है।

वेद प्रमाण है—

विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि।
यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः ॥

(ऋ० १-१५४-१)

अर्थ है—जो परमेश्वर सब पार्थिव (सूर्य चन्द्रादि) लोकों को अपने बल से बनाता है, जो तीन प्रकार से चक्रमण करता हुआ सम्पूर्ण जगत् को धारण करता है तथा संचालन करता है और जो बहुतों से गाया जाता है, उस परमात्मा

का मैं वर्णन करूँ।

(२) मुक्त आत्माएँ उसी में उपगमन करती हैं—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥
(मुण्डको० ३-२-८)

अर्थात्—जैसे प्रवाहमान नदी, समुद्र में पहुँच कर नाम, रूप त्याग कर समुद्र में लीन हो जाती है, वैसे ही ज्ञानी मनुष्य नाम रूप से रहित होकर अत्यन्त उत्तम और दिव्य परमेश्वर को प्राप्त होते हैं।

उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरं च।
अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः॥
(श्वे० १-७)

इसके अर्थ (१-१-२) के भाष्य में देख लें।

(३) ऊपर जो कहा है कि द्यूलोक और भूलोक परमेश्वर के आश्रय हैं और मुक्त जीव भी उसी के आश्रय हैं तो यह केवल अनुमान ही नहीं, वरन् प्रत्यक्ष भी है।

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि स विवेश॥
(यजु० ३२-११)

इसके अर्थ (१-१-१६) के भाष्य में देख लें।

यह प्रत्यक्ष ही है।

(४) प्राणियों का आश्रय भी परमात्मा ही है। यजु० ३२-११ में ही प्रमाण उपस्थित है।

(५) तीन अक्षर तत्त्व हैं। (ऋ० १-१६४-२०) तीनों में भेद स्पष्ट है।

(६) जहाँ जिसका प्रकरण हो, वहीं उसका अर्थ लेना चाहिये।

(७) स्थिति और भोग के विचार से जीवात्मा की सिद्धि है।

(८) परमात्मा जीवात्मा पृथक्-पृथक् हैं।

(९) धर्मों के उपस्थित होने से परमात्मा और जीवात्मा पृथक्-पृथक् हैं।
(ऋ० १-१६४-२०) (श्वेता० १-६)

(१०) आकाश के अन्त तक धारण करने वाला परमात्मा है।

ईशावास्यमिदꣳ सर्वं······(ईशा० १)

(११) वह सब पर शासन करता है।

सा विश्वायुः सा विश्वकर्मा सा विश्वधायाः।
इन्द्रस्य त्वा भागꣳ सोमेनातनच्मि विष्णो हव्यꣳ रक्ष॥
(यजु० १-४)

वह विश्व की आयु है, वह विश्व का रचने वाला है, वह विश्व का पालन-पोषण करने वाला है। तुम्हारे शासन से आनन्द का विस्तार होता है। वह परमात्मा सबकी रक्षा करता है।

(१२) अन्य अक्षर हैं भिन्न व्यवहार वाला।

(भगवद्गीता १३-२१, २२)

इनमें प्रकृति, पुरुष और परमात्मा तीन भिन्न-भिन्न अक्षर माने हैं।

(१३) कर्म का काल, दिशा और स्थान निश्चय करने वाले को इक्षित गुण रखने वाला माना जाता है। (भ० गी० ८-१७, १९)

सृष्टि की रचना कब होती है और प्रलय कब होती है ?

(१४) दहर परमात्मा जो आत्मा के साथ हृदय स्थल पर गुहा में रहता है। (छा० ८-१-१) (कठो० १-३-१)

(१५) शरीर में गति आदि कर्म परमात्मा के करने से होते हैं।

(बृ० उ० ३-७ पूर्ण ब्राह्मण)

(१६) उस दहर स्थित परमात्मा से शरीर धारण हो रहा है।

(ऋ० १०-१२१-१)

(१७) प्रसिद्ध है कि परमात्मा शरीर को चालू रखता है।

(यजु० ३-३७)

(१८) शरीर कार्य जीवात्मा के परामर्श से चलते हैं। यह प्रत्यक्ष है

(ऋ० ७-६६-१६, १७) (कठो० १-३-३, ४)

(१९) शरीर में परमात्मा की शक्ति को स्वरूप जीवात्मा देता है।

(कठो० १-३-५, ६, ७, ८, ९, १०, ११)

(२०) कर्म करने में जीवात्मा स्वतन्त्र है। जीवात्मा के कर्म परमात्मा की शक्ति को ही दिशा इत्यादि देते हैं। (कठो० १-४-३)

(२१) दहर स्थित परमात्मा ही सर्वव्यापक परमात्मा है।

(कठो० १-३-१२)

वही परमात्मा जो हृदय की गुहा में है, सब भूतों में है :

(२२) परमात्मा का अनुकरण करने से (ब्रह्म की प्राप्ति)।

(भ० गी० ९-१४, १५)

परमात्मा के कीर्ति-गान और उपासना से मोक्ष की प्राप्ति होती है। उपासना का अर्थ है समीप बैठ गुणों के स्मरण करने से गुणों का अनुकरण होता है।

(२३) स्मरण करने से अनुकरण होता है। (भ० गी० ८-१४, १५)

अब पुनः सूत्रों का भाष्य प्रारम्भ करते हैं।

हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् ॥२५॥

हृदि + अपेक्षया + तु + मनुष्याधिकारत्वात्

हृदय में अपेक्षा से ही मनुष्य पर अधिकार से।

हृदय का अभिप्राय है दहर स्थान। वह सूक्ष्म स्थान जहाँ आत्मा-परमात्मा साथ-सीथ रहते हैं। अपेक्षा का अभिप्राय है इस पर देखने से। अधिकारत्वात्—अधिकार से।

अतः इस सूत्र का अर्थ है कि हृदय स्थान पर रहता हुआ परमात्मा अपेक्षा से अर्थात् निगरानी रखने से मनुष्य पर अधिकार प्राप्त कर लेता है और इस अधिकार से कर्म करने की सामर्थ्य इसमें देता है।

यहाँ मनुष्य शब्द का प्रयोग हुआ है। इससे आत्मा, बुद्धि, मन और इन्द्रियों के समूह से अभिप्राय है। इस समूह पर ही दहर की अपेक्षा से अधिकार है।

इस सूत्र का अर्थ जीवात्मा पर भी हो सकता है। तब यह अर्थ बनेंगे कि जीवात्मा हृदय में रहता हुआ इस पर निरीक्षण रखने से पूर्ण मनुष्य शरीर पर अधिकार रखता है।

हमारे मत से जीवात्मा और परमात्मा दोनों से ही यहाँ अभिप्राय लेना चाहिये। दोनों साथ-साथ रहते हैं।

कुछ अन्य अर्थ भी किये गए हैं। उदाहरण के रूप में श्री उदयवीर शास्त्री ने इसके अर्थ इस प्रकार किये हैं।

'(हृदि) हृदय में (अपेक्षया) अपेक्षा से (तु) तो (मनुष्याधिकारत्वात्) मनुष्यमात्र का अधिकार होने से। परमात्मा का अंगुष्ठ मात्र रूप से शास्त्रीय वर्णन हृदय में जीवात्मा द्वारा उसके साक्षात्कार होने की अपेक्षा से है। स्वतन्त्र रूप से नहीं; क्योंकि शास्त्र वर्णित साक्षात्कार में मनुष्यमात्र का अधिकार है।'

हमें इन अर्थों में कुछ अधिक खींचा-तानी प्रतीत हुई है। यह बात तो ठीक है कि शास्त्र मनुष्य ही पढ़ और समझ सकते हैं, अन्य प्राणी नहीं। परन्तु सूत्र के यह अर्थ हैं अथवा नहीं, यह बात विचारणीय है।

शब्द (अपेक्षया) अपेक्षा से किसी प्रकार उक्त अर्थों में ठीक नहीं बैठते।

हृदय में देख-रेख करने से अथवा ध्यान से देखने से इसका सम्बन्ध (मनुष्याधिकारत्वात्) मनुष्य के अधिकार से किस प्रकार बैठेगा? विचार करने का विषय है।

इसका अर्थ केवल यही बैठता है कि हृदय में जो कोई भी है, वह हृदय में इधर-उधर देख-रेख करने से मनुष्य शरीर पर अधिकार प्राप्त कर लेता है और फिर उस अधिकार से वह अपना लक्ष्य प्राप्त कर करता है। मनुष्य

शरीर पर अधिकार से लक्ष्य प्राप्ति यही हो सकती है कि परमात्मा द्वारा प्रस्तुत की गई सामर्थ्य का प्रयोग किया जा सके।

प्रथम अर्थ जो हमने दिये हैं, उससे दूसरे अर्थ अधिक उपयुक्त प्रतीत होते हैं। जीवात्मा और परमात्मा दोनों के अर्थ लेने से एक के दूसरे की सामर्थ्य के प्रयोग करने से दोनों के सहयोग का अभिप्राय है।

श्री स्वामी शंकराचार्य और अन्य भाष्यकार भी सूत्र संख्या २४ और २५ में विलक्षण अर्थ करते हैं, जिसका सूत्र से किसी प्रकार का सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता।

स्वामी शंकराचार्य ब्र० सू० १-३-२४ का अर्थ इस प्रकार करते हैं—

(प्रमितः) 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो' इस प्रमितवाक्य प्रतिपाद्य पुरुष परमात्मा ही है (शब्दादेव) क्योंकि ईशानो 'भूतभव्यस्य'। इस श्रुति में ईशान शब्द है।

यहाँ प्रमितः के अर्थ अंगुष्ठमात्र माने हैं। वास्तव में प्रमितः के अर्थ हैं, वह जिसकी लम्बाई-चौड़ाई नाप ली गई है। इसके अर्थ सीमित भी हो सकते हैं, परन्तु वह अंगुष्ठ समान हैं, यह सिद्ध नहीं होता।

प्रमितः का अर्थ यह भी है कि जो प्रमाणित होता है अर्थात् जिसका नाप-तोल कर परीक्षण हो चुका हो। इसी को प्रमाणित हुआ माना जाता है।

अतः सूत्र 'शब्दादेव प्रमितः' का अर्थ हमने किया है (शब्दात्) शब्द प्रमाण से (एव) भी (प्रमितः) सिद्ध होता है।

जब इस सूत्र में अंगुष्ठ प्रमाण का कहीं उल्लेख नहीं तो अगले सूत्र में भी इसका उल्लेख नहीं मानना चाहिये।

श्री स्वामी ब्रह्म मुनिजी सत्य को पा गये प्रतीत होते हैं। वे इस सूत्र के अर्थ इस प्रकार करते हैं।

शब्दादेव प्रमितः—(प्रमितः—शब्दात्—एव) हृदय देश से प्रमित अर्थात् मान को प्राप्त हुआ—लक्षित हुआ, सम्यक् जाना हुआ परमात्मा शब्द-प्रमाण से भी सिद्ध होता है।

श्री स्वामी ब्रह्म मुनिजी ने प्रमितः के अर्थ तो ठीक कर दिये। इसमें अंगुष्ठ शब्द को नहीं लाये। इस पर भी व्यर्थ में हृदय गुहा के प्रमाण को ले आये हैं। शब्द-प्रमाण से केवल यह ही नहीं सिद्ध होता कि परमात्मा इस गुहा में है, वरन् यह भी सिद्ध होता है कि वह आकाश के अन्त तक है। इस कारण इस सूत्र में हमारा मत ही ठीक प्रतीत होता है। वह यह है—

शब्द प्रमाण से भी प्रमाणित है। उक्त सब सूत्र प्रमाणित हैं।

इसी के अनुरूप ही अगले सूत्र का अर्थ लेना चाहिये। उसमें भी अंगुष्ठ

समान लाने की आवश्यकता नहीं। यह तो स्पष्ट ही है कि हृदय-स्थल में अंगुष्ठ बराबर कोई रिक्त स्थान नहीं है। जब रिक्त स्थान नहीं तो उसे गुहा किस प्रकार कहा जायेगा ? दहर के अर्थ भी अंगुष्ठ समान नहीं। इसका अर्थ सूक्ष्म, अति सूक्ष्म है। अतः प्रस्तुत सूत्र (ब्र० सू०—१-३-२५) का अर्थ वही ठीक है जो हमने ऊपर किये हैं। अंगुष्ठ इत्यादि का उल्लेख इसमें नहीं। मनुष्य (शरीर, मन और आत्मा) पर अधिकार प्राप्त होने से परमात्मा इसमें सामर्थ्य प्रदान करता है और जीवात्मा इस सामर्थ्य को दिशा देता है।

तदुपर्यपि बादरायणः संभवात् ॥२६॥

तदुपरि+अपि+बादरायणः सम्भवात्।

तदुपरि=तत्—उपरि उस ओर जो कुछ ऊपर वर्णन किया गया है, उसके अतिरिक्त (बादरायणः अपि) बादरायण भी कहता है (सम्भवात्) सम्भव होने से।

इसका अभिप्राय यह है कि बादरायण ऋषि भी यह कहते हैं कि यह असम्भव नहीं। क्या असम्भव नहीं ? यह कि जो परमात्मा आकाश के अन्त तक व्यापक है, वही हृदय की गुहा में भी है।

इस सूत्र में विवाद खड़ा कर दिया गया है। तदुपरि (तत् उपरि) वाक्य के अर्थों पर। हमने इस वाक्य का अर्थ किया है कि जो कुछ ऊपर के सूत्रों में युक्तियाँ तथा प्रमाण दिये हैं, उनसे भी अधिक बादरायण ऋषि कहते हैं कि यह सम्भव हो सकता है; जो सर्वत्र व्यापक है, वही गुहा में भी है।

श्री स्वामी शंकराचार्य जी यह मानते हैं कि पूर्व सूत्र (१-३-२५) में यह माना है कि मनुष्य को शास्त्र समझने के अधिकार से उसे पता चलता है कि हृदय देश में परमात्मा है। हमने इसका अर्थ किया है—मनुष्य के शरीर, मन, बुद्धि पर अधिकार से गुहा में स्थित परमात्मा से (मनुष्य की) क्रियायें चलती हैं। जीवात्मा तो उन क्रियाओं को दिशा देती है, जीव क्रिया की सामर्थ्य का निर्माणकर्त्ता नहीं है।

मनुष्य शास्त्र को समझता है अथवा नहीं समझता, इसका प्रश्न नहीं। इसी प्रकार 'तदुपरि' के अर्थ मनुष्य से ऊपर देवतागण नहीं। ऊपर जो कुछ कहा है, उससे अतिरिक्त भी बादरायण ऐसा मानते हैं। कारण यह कि यह सम्भव प्रतीत होता है।

यहाँ बादरायण ऋषि का नाम ऐसे आया है कि जैसे वह ब्रह्मसूत्रों के

लिखने वाले से कोई पृथक् व्यक्ति हैं। यह सम्भव भी है और नहीं भी। दोनों प्रकार से लिखा जा सकता है। लेखक किसी दूसरे को साक्षी रूप से उपस्थित कर सकता है और वह अपनी किसी बात को बलपूर्वक कहने के लिए अपने नाम का उल्लेख भी कर सकता है। अतः यह विवादास्पद बात नहीं। अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है कि इन सूत्रों के लेखक बादरायण ऋषि हैं अथवा नहीं? इस सूत्र से पक्ष-विपक्ष में कुछ नहीं कहा जा सकता।

श्री स्वामी शंकराचार्यजी हृदय की गुहा में परमात्मा को अंगुष्ठ समान मानते हैं। इसमें प्रमाण दिये हैं। सूत्र संख्या २४ के भाष्य में श्री स्वामी शंकराचार्यजी लिखते हैं—

'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति' इति श्रूयते। तथा 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः। ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्व एतद्वै तत्' (का० २-१-१३) इति च। तत्र योऽयमङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः श्रूयते, स किं विज्ञानात्मा, किंवा परमात्मेति संशयः।

इसका अर्थ है—अंगुष्ठ मात्र पुरुष मध्य आत्मा में ठहरा है। ऐसा सुना जाता है। और अंगुष्ठ मात्र पुरुष ज्योति के समान धूम रहित है। वह भूत-भविष्य का शासक है। वह आज है, वह ही आगे भी रहेगा। (कठो० २-१-१३) वहाँ जो यह अंगुष्ठ मात्र पुरुष सुना जाता है, वह क्या विज्ञानात्मा-जीवात्मा है अथवा परमात्मा है? यह संशय है।

यह संशय है कि हृदय की गुहा में जो अंगुष्ठ मात्र है, वह परमात्मा है अथवा जीवात्मा है? यह संशय तो ठीक है, परन्तु इस संशय से उक्त सूत्र (१-३-२४) का सम्बन्ध क्या है? वहाँ सूत्र में तो है 'शब्दात्—इव—प्रमितः' इस सूत्र का अर्थ हम ऊपर कर आये हैं।

अब तनिक स्वामीजी के मन के संशय के विषय में भी देखना चाहिये कि श्रुति (कठो० २-१-१३) में कहीं संशय के लिए स्थान है।

कठोपनिषद् २-१-१२ तथा १३ में अंगुष्ठ मात्र शब्द आता है। अंगुष्ठ मात्र का अर्थ अँगूठे के समान मात्रा वाला नहीं। इसका अर्थ अंगुष्ठ मात्र में रहने वाला है।

यदि अंगुष्ठ मात्र का अर्थ अँगूठे के समान भी समझा जाये तो भी किसके अँगूठे के, यह कहीं वर्णन नहीं किया। अतः हम इसको सूक्ष्म स्वरूप का पर्याय शब्द ही मानते हैं।

कुछ भी हो, इन श्रुतियों में यहाँ जीवात्मा तथा परमात्मा में संशय नहीं किया जा सकता। स्पष्ट शब्दों में यह उक्त उपनिषद् में परमात्मा के लिये ही प्रयोग हुआ है। उक्त दोनों मन्त्रों के अन्त में और इस पूर्ण वल्ली (कठो० २-१-३) के कई मन्त्रों के अन्त में शब्द है एतद्वैतत्—यह ही वह है। अर्थात् यह

परमात्मा ही है।

हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि कठोपनिषद् में यह वल्ली परमात्मा परक ही है और वहाँ उल्लेख है कि शरीर के पूर्ण अंगों में प्रतिष्ठित वह परमात्मा ही है।

जब यह ज्ञात हो जाये कि इन सूत्रों का विषय वह नहीं जो कठोपनिषद् के उक्त उद्धरणों में है, तो सूत्रार्थ स्पष्ट हो जाते हैं। यह तो सूत्रों को उपनिषद् वाक्यों से बाँध रखने के कारण ही सूत्रार्थों में भ्रम उत्पन्न होता है। उनकी खींचातानी कर उपनिषद् के अनुकूल बनाने का यत्न किया जा रहा है।

अतः इस सूत्र का भाव यह है कि उक्त युक्तियों और प्रमाणों के अतिरिक्त भी महर्षि बादरायण का कहना है कि दहर में वही परमात्मा है, जो आकाशान्त पर्यन्त है। यह विचार असम्भव नहीं है।

यह असम्भव इस कारण नहीं कि परमात्मा सर्वव्यापक है; अतः उसका दहर में विद्यमान होना असम्भव नहीं है।

विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् ॥२७॥

विरोधः+कर्मणि+इति+चेत्+न+अनेक प्रतिपत्तेः+दर्शनात्।

कर्म में विरोध होता है यदि (यह कहो) तो (यह ठीक) नहीं (कारण यह) कि अनेक प्रतिपत्तियाँ दिखायी देती हैं।

भिन्न-भिन्न भाष्यकारों ने इसके कई प्रकार से विलक्षण भाष्य किये हैं। हम अपने पूर्व सूत्रों के भाष्यों के अनुरूप ही इसका भाष्य करते हैं।

वह यह कि प्राणी के शरीर में कर्म करने की शक्ति परमात्मा की ही है, परन्तु प्राणी के कर्मों में विरोध होता है। यदि यह कहें कि इस विरोध से कर्म करने की शक्ति परमात्मा की नहीं तो सूत्रकार कहता है कि यह कहना ठीक नहीं। कारण यह कि अनेक हैं, जो कर्मों को दिशा देने वाले हैं। अर्थात् अनेक जीवात्मा कर्मों को दिशा देने वाले हैं। शब्द हैं (अनेक प्रतिपत्तेः दर्शनात्) अभिप्राय है कि अनेक प्रतिपत्तियाँ दिखाई देने से।

प्रतिपत्ति के अर्थ हैं शक्तियों के प्रभाव से। ये शक्तियाँ जीवात्माओं की हैं। साथ ही शरीर में मन एवं बुद्धि के प्रभाव भी विद्यमान हैं।

उदाहरणस्वरूप हाथ खाद्य पदार्थों को उठाकर मुख में डालने के लिये है, परन्तु हाथ कौन-सा पदार्थ उठाकर मुख में डाले अथवा कौन-सा न डाले,

यह मन और बुद्धि के प्रभाव से पता चलता है। मन में खाद्य-पदार्थों के रूप, रस, गंध के संस्कार रहते हैं। बुद्धि उन दिखायी देने वाले गुणों को परखती है और फिर आत्मा आदेश देती है और तब हाथ खाद्य-पदार्थ को उठाता है अथवा नहीं उठाता।

अतः कर्म में विरोध होने से शरीर में शक्ति रूप परमात्मा के अतिरिक्त किसी अन्य के मानने में कारण नहीं। विरोध भिन्न-भिन्न शक्तियों के प्रभाव के कारण होता दिखायी देता है।

देखिये, श्री स्वामी शंकराचार्यजी इस विरोध और प्रतिपत्ति के विषय में क्या लिखते हैं! वह इसी सूत्र के भाष्य का इस प्रकार आरम्भ करते हैं—

स्यादेतत्, यदि विग्रहवत्त्वाद्यभ्युपगमेन देवादीनां विद्यास्वधिकारो वर्ण्येत। विग्रहवत्त्वादृत्विगादिवदिन्द्रादीनामपि स्वरूपसंनिधानेन। कर्माङ्गभावोऽभ्युपगम्येत्। तदा च विरोधः कर्मणि स्यात्। नहीन्द्रादीनां स्वरूपसंनिधानेन यागेऽङ्गभावो दृश्यते। नच संभवति; बहुषु यागेषु युगपदेकस्येन्द्रस्य स्वरूपसंनिधानतानुपपत्तेरिति चेत्, नायमस्ति विरोधः। कस्मात्? अनेकप्रतिपत्तेः।

ऐसा यदि हो तो शरीरधारी स्वीकार कर देवताओं आदि का विद्याओं में अधिकार कहा जाये तो शरीर वाला होने से ऋत्विक आदि के समान इन्द्रादि का भी स्वरूप संनिधान के कर्म में अंग भाव स्वीकार करना पड़ेगा। तब तो कर्म में विरोध होगा। कहो कि योग में स्वरूप-सान्निध्य से इन्द्रादि का अंग भाग देखने में नहीं आता और सम्भव भी नहीं है; क्योंकि बहुत योगों में एक ही समय में एक ही इन्द्र की स्वरूप से उपस्थिति अनुपपन्न है। ऐसा यदि कहो तो विरोध नहीं, क्योंकि अनेक प्रतिपत्ति है…।

कहीं किसी सूत्र में स्वामी शंकराचार्यजी यह कह आये हैं कि मनुष्य को शास्त्र में अधिकार है तथा देवता को भी है। अतः अब वह लिख रहे हैं कि देवता का शरीर मान लिया जाये तो अंग भी मानने पड़ेंगे। अंग मानेंगे तो कर्म में विरोध भी होगा। आप आगे कहते हैं कि देवता के अंग नहीं, अतः कर्म में विरोध भी नहीं।

अब पाठक देख लें कि सूत्र के अर्थ और इस व्याख्या में कहाँ मेल है? कर्म में विरोध तो है। यह तो सूत्रकार भी मानता है। देवता और मनुष्य का विवाद नहीं। जिस बात की ओर संकेत है, वह यह है कि ईश्वरीय शक्ति तो एक है; फिर भिन्न-भिन्न काम क्यों हैं?

देवताओं में जो कर्म एक बार चल गया तो फिर चल गया। वही चलता रहता है। उदाहरण के रूप में सूर्योदय लाखों वर्षों से पूर्व से हो रहा है तो होता रहेगा। वह कभी भी पूर्व से पश्चिम में नहीं हो सकता। अतः देवताओं

के कर्म में विरोध नहीं है। चन्द्र तथा अन्य तारागणों एवं नक्षत्रों की गति भी स्थिर है।

अतः सूत्र में कर्म-विरोध की वात देवताओं के सन्दर्भ में नहीं कही। यह प्राणी के हृदय की गुहा में स्थित परमात्मा के प्राणी के शरीरों में निर्मित्त कर्मों की वात है।

उदाहरण के रूप में एक मनुष्य नित्यप्रातः भ्रमण के लिये जाता है। वह नित्य एक ही ओर जायेगा, ऐसा निश्चय नहीं। वह भ्रमण की दिशा तथा स्थान बदल सकता है। साथ ही एक प्राणी पूर्व को भ्रमण करने जाता है तो दूसरा पश्चिम को जाता है। एक प्राणी प्रातः भ्रमण को जाता है और दूसरा सायं भ्रमण के लिये निकलता है। भ्रमण करने की शक्ति सबमें परमात्मा की है, परन्तु उस शक्ति पर प्रतिपत्ति भिन्न-भिन्न जीवात्माओं की तथा उनकी बुद्धि अथवा मन की है। इस कारण कर्म में भेद दिखायी देता है।

स्वामीजी का पूर्ण भाष्य ही असंगत है।

शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥२८॥

शब्द+इति+चेत्+न+अतः+प्रभवात्+प्रत्यक्ष+अनुमानाभ्याम्।

शब्द प्रमाण से यह यदि (मानो) तो नहीं। (अतः) उससे (प्रभवात्) सृष्टि उत्पत्ति से, प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों से (पता चलता है)।

यदि शब्द प्रमाण से यह मानो कि परमात्मा के कर्मों में विरोध है, तो यह बात गलत है। अर्थात् वेदादि शास्त्रों में कहीं नहीं लिखा। इसलिये प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण से सृष्टि उत्पत्ति के सिद्ध हो जाने से।

इस सूत्र के दो भाग हैं। एक में तो यह लिखा है कि उक्त सूत्र (१-३-२७) में जो (विरोधः कर्मणि इति) लिखा है; अर्थात् कर्मों में विरोध है, लिखा है कि ऐसा वेदादि शास्त्रों में भी नहीं है।

सूत्र संख्या २७ में तो बताया है कि जो विरोध दिखाई देता है, वह भिन्न-भिन्न जीवात्माओं और उनके मन और बुद्धि के कर्म पर भिन्न-भिन्न प्रभाव होने के कारण है। सूत्र संख्या २८ में यह वताया है कि यह विरोध वेदादि शास्त्रों में भी नहीं है।

सूत्र का दूसरा भाग है—'अतः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्।' अतः का अभिप्राय है कि पूर्व कथन से यह परिणाम निकलता है कि सृष्टि की उत्पत्ति उससे ही हुई है, प्राणी का शरीर भी उसी से उत्पन्न हुआ है, यह बात प्रत्यक्ष

और अनुमान प्रमाण से सिद्ध होती है। इस (सिद्ध होने) से भी यह परिणाम निकलता है कि ईश्वरीय कर्मों में विरोध नहीं है। जब सब-कुछ ईश्वर से बना है तो उसके कर्मों में विरोध नहीं हो सकता। यह कहना कि वेदादि शास्त्रों में विरोध दिखायी देता है, गलत है।

अन्य भाष्यकारों ने इस सूत्र के भाष्य में भी विलक्षणता की है। हमारा अर्थों में विरोध सूत्र १-३-१५ से ही आरम्भ हुआ है। हमने उस सूत्र का अर्थ किया है कि गति और इन्द्रियों के कर्म परमात्मा के लिंग (चिह्न) के रूप में दिखायी देते हैं।

इस सूत्र से पहले 'दहर' में परमात्मा की विद्यमानता का उल्लेख है। दहर है हृदय में सूक्ष्म स्थान, जहाँ जीवात्मा शरीर में रहता हुआ परमात्मा का साक्षात्कार कर सकता है। इस सूत्र के सन्दर्भ में प्राणी के शरीर में ईश्वर के लिंगों का वर्णन आ गया है। इन लिंगों का ही इस (१-३-१५) में वर्णन किया है। शरीर में कार्य शक्ति परमात्मा की है। इतना बताने के उपरान्त कई प्रकार के संशय उत्पन्न हुए और उन संशयों का निवारण सूत्रकार ने किया है।

एक संशय यह है कि यदि शरीर में कर्म की शक्ति परमात्मा की है तो फिर जीवात्मा क्या करता है?

सूत्रकार ने इसका निवारण सूत्र १-३-१८ में बताया है कि शरीर में कार्य दूसरे के परामर्श से होता है।

इसी प्रकार सूत्र १-३-२० में यह बता दिया है कि यह परामर्श परमात्मा के लिए अर्थात् उसकी शक्ति को दिशा देने के लिये है।

इसी प्रकार सूत्र संख्या १-३-२५ में सूत्र संख्या १५ की गूँज चली आ रही है। हृदय में रहता हुआ परमात्मा एवं जीवात्मा मनुष्य के शरीर मन, और बुद्धि पर अधिकार रखता है।

पुनः सूत्र संख्या १-३-२६ तदुपरि के अर्थ श्री स्वामीजी ने देवता कर दिया है। देवता चेतन जीवात्मा की भाँति प्राणी नहीं हैं जिनको मनुष्य की भाँति कर्मों को दिशा देने का अधिकार हो। इस सूत्र में देवता मानने से (मनुष्याधिकारत्वात्) अर्थ भी पूर्वापर से विलक्षण करना पड़ेगा।

इस प्रकार एक स्थान पर जीवात्मा के सिद्ध होने के भय से स्वामीजी ने अर्थ बिगाड़े हैं तो फिर बिगड़ते ही चले गये हैं। यहाँ एक बात और समझ लेनी चाहिए कि सूत्रों का बटवारा अधिकरणों में करने की प्रथा भी स्वामीजी की है। ब्रह्मसूत्रों के रचयिता की यह योजना नहीं। इसके कारण भी कई सूत्रों के अर्थों में अनर्थ हुए हैं।

सूत्र प्रायः स्वतन्त्र रूप से अर्थ देते हैं। इनका परस्पर भावात्मक

सम्बन्ध तो है, परन्तु वह सम्बन्ध उससे भिन्न भी हो सकता है, जो श्री स्वामीजी ने बताया है।

अत एव च नित्यत्वम् ॥२९॥

अतएव + च + नित्यत्वम्।

और इसलिए कि उसमें नित्यता (अनादित्व, अक्षरत्व) है। परमात्मा में नित्यता है; इस कारण उसके कर्मों में विरोध नहीं। ईश्वर का नित्य होना भी कर्मों में विरोध न होने का प्रमाण है। विरोधी कर्म करने वाला नित्य नहीं हो सकता। यही युक्ति कहती है। जीवात्मा के कामों में विरोध उसकी बुद्धि के कारण है। बुद्धि अनित्य है।

समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात्स्मृतेश्च ॥३०॥

समान + नाम + रूपत्वात् + च + आवृत्तौ + अपि + अविरोधः + दर्शनात् + च + स्मृतः।

समान नाम तथा रूप वाली सर्ग सर्ग पर, बार-बार वैसी ही सृष्टि होने से अविरोध ही दिखाई देता है तथा स्मृति में भी ऐसा ही उल्लेख है।

बार-बार सर्ग उत्पत्ति में समान नाम और रूप के पदार्थ उत्पन्न होते हैं। द्यूलोक का निरीक्षण करने से चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र एवं ग्रहों का ज्ञान प्राप्त करने से यही पता चलता है कि सर्ग सर्ग के पुनः-पुनः आरम्भ होने में समान नाम, रूप के पदार्थ उत्पन्न होते हैं। अतः परमात्मा की नित्यता सिद्ध होती है और उस नित्य पदार्थ के कर्मों में विरोध नहीं होता।

मनुस्मृति में (मनु० १-२८) यही बात वर्णन की गई है।

महाभारत (१२-१३२-२४, २५, २६ और २७ गोरखपुर संस्करण) में भी ऐसा ही लिखा है।

मध्वादिष्वसंभवादनधिकारं जैमिनिः ॥३१॥

मध्वादिषु+असम्भवात्+अनधिकारं+जैमिनिः।

मध्वादिषु का अभिप्राय है कि मधु छन्दादि वेद द्रष्टा ऋषियों में किसी अनधिकारी का होना असम्भव है। ऐसा जैमिनि का मत है।

इसका अभिप्राय यह है कि वेद के मन्त्र-द्रष्टा ऋषियों में अनधिकारी नहीं थे।

यह वेद द्रष्टा कौन हैं? वेदों को सृष्टि पर लाने वाले कौन थे? ये प्रश्न उपस्थित होते हैं। यह वेदों में ही लिखा है कि अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा ने वेद इस सृष्टि को दिये। ऋषियों ने वे वेद श्रवण किये और मन्त्रों द्वारा उच्चारण कर दिये। वे ऋषि मन्त्र-द्रष्टा हैं। महर्षि जैमिनिजी का कहना है कि इन मन्त्र-द्रष्टाओं में अनधिकारी नहीं थे।

अनधिकारी कैसे मन्त्रों को सुनने से वंचित किये गए? सुनते तो होंगे परन्तु समझने से अवश्य वंचित हुए प्रतीत होते हैं।

इस सूत्र में विवाद यह खड़ा किया गया है कि ये अनधिकारी कौन हैं?

श्री स्वामी शंकराचार्यजी अनधिकारी के विषय में इस प्रकार लिखते हैं—

इह देवादीनामपि ब्रह्मविद्यायामस्त्यधिकार इति यत्प्रतिज्ञातं तत्पर्यावर्त्यते। देवादीनामनधिकारं जैमिनिराचार्यो मन्यते। कस्मात्? मध्वादिष्वसंभवात्। ब्रह्मविद्यामधिकाराभ्युपगमे हि विद्यात्वाविशेषान्मध्वादिविद्यास्वप्यधिकारोऽभ्युपगम्येत। न चैवं संभवति। कथम्? 'असौ वा आदित्यो देवमधु' (छा० ३-१-१) इत्यत्र मनुष्या आदित्यं मध्वाध्यासेनोपासीरन्।

इसका अभिप्राय यह है कि यह जो प्रतिज्ञा की गयी है कि यहाँ ब्रह्म-विद्या में देवादि का अधिकार है, उस पर आक्षेप करते हैं। जैमिनि आचार्य का मत है कि देवादि का ब्रह्म विद्या में अधिकार नहीं है। क्योंकि मधु आदि में उनका अधिकार सम्भव नहीं है। ब्रह्म विद्या में उनका अधिकार स्वीकार करने पर विद्यात्व दोनों में समान होने के कारण मधु आदि विद्या में उनका अधिकार मानना पड़ेगा। परन्तु ऐसा सम्भव नहीं, क्योंकि असौ वा आदित्यो (छा० ३-१-१) इसमें मधु के अध्यास से आदित्य की मनुष्य उपासना करें……।

हमारा यह दृढ़ मत है कि इस भाष्य का सूत्रार्थ के साथ किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं।

सूत्र में तो यह लिखा है कि जैमिनि ऋषि के अनुसार मध्वादि में अनधिकारी का होना सम्भव नहीं।

अनधिकारी देवता ही हैं। यह कहाँ से आ गया? साथ ही जैमिनि का कथन सूत्रकार बादरायण ऋषि का विरोध करता है। ऐसा कहाँ लिखा है?

छा० ३-१-१ भी देखा जाये तो देवताओं के अधिकारी-अनधिकारी होने की बात का पता चल जायेगा।

यह इस प्रकार है—

असौ वा आदित्यो देवमधु। तस्य द्यौरेव तिरश्चीनवꣳशोऽन्तरिक्षमपूपो मरीचयः पुत्राः॥

यह उपनिषद् वाक्य उपासना के विषय में है ही नहीं। सूर्य की किरणें जब तिरछी चलती हैं तो अन्तरिक्ष में मरीचि किरणें उत्पन्न होती हैं। इन्हीं मरीचि किरणों से भूमि पर मरीचिका (miraj) उत्पन्न होती हैं। इस उपनिषद् के इस खण्ड के अगले मन्त्रों को देखें तो पता चलेगा कि इस उपनिषद् में मधु का अर्थ मध्वादि ऋषि बनता ही नहीं। मधु का अर्थ सुखकारक है।

आदित्य की किरणें सुखकारक, पौष्टिक इत्यादि गुणों से युक्त हैं, परन्तु जब तिरछी चलती हैं तो ये मरीचि किरणों को उत्पन्न करती हैं। अतः भ्रम उत्पन्न कर देती हैं।

इसके आगे (छा० ३-१-२ में) लिखा है कि प्रातः के समय जो किरणें आदित्य से आती हैं, वे मधु नाड़ियाँ हैं। अर्थात् मनुष्य के स्नायुमण्डल (nervous system) को सुख और पुष्टि देती हैं।

हम पहले भी कह चुके हैं कि स्वामी शंकराचार्यजी दर्शनशास्त्र एवं उपनिषदों को समझे ही नहीं और व्यर्थ में वह पाठकों के लिये बोझा छोड़ गये हैं।

इस सूत्र का निश्चय अर्थ यह है कि जैमिनि ऋषि भी कहते हैं कि वेद का प्रमाण देने में संकोच नहीं, क्योंकि मध्वादि वेद मन्त्रों को समझकर प्रकट करने वालों में अनधिकारियों का हस्तक्षेप नहीं है।

इस सूत्र के और वेद मन्त्रों के विषय में इस आश्वासन की आवश्यकता इस कारण अनुभव हुई कि इससे पहले सूत्र में यह लिखा है कि प्रति सर्ग के आरम्भ में सब पदार्थ और वेद भी वैसे ही प्रकट होते हैं, जैसे कि पहले सर्ग में थे। वेदों की रचना ऋषियों के द्वारा हुई है। सूत्रकार का कहना है कि इस समय जो वेद मन्त्र मध्वादि ने कहे हैं, वे ठीक हैं। क्योंकि उनमें अनधिकारी का हस्तक्षेप नहीं है।

अनधिकारी का अर्थ कुछ भाष्यकारों ने शूद्र किया है। उनका कहना है कि शूद्रों को वेद विद्या में अधिकार नहीं।

शूद्र यदि गुणवाचक भी मान लिया जाये जो पढ़ा-लिखा नहीं और जो सेवा-कार्य ही करता है तब भी यह अर्थ मिथ्या है। वेद इसके विरुद्ध है।

वेद में एक मन्त्र है—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः ।
ब्रह्मराजन्याभ्या ँ शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च ।
प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासमयं मे कामः
समृध्यतामुप मादो नमतु । (यजु० २६-२)

इसका भाव है कि जैसे परमात्मा वेद की कल्याणमयी वाणी सब उत्पन्न हुओं को जिनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भी सम्मिलित हैं, अपने और पराये सबके लिये देता है; इसी प्रकार विद्वान् को दान-दक्षिणा देने वाला इस लोक में प्रिय हो । सबकी कामनाएँ पूर्ण हों, सब प्रयोजन सबको प्राप्त हों ।

इस मन्त्र की विद्यमानता में अनधिकारी से शूद्र का प्रयोजन नहीं है ।

सूत्रकार का अर्थ केवल यह है कि सर्ग के आरम्भ में जिन ऋषियों ने देवताओं से लेकर मन्त्र उच्चारण किये, उनमें कोई अनधिकारी अयोग्य नहीं था, सब ऋषि पद के योग्य थे ।

ज्योतिषि भावाच्च ॥३२॥

ज्योतिषि+भावात्+च ।

और ज्योति में होने से ।

ज्योति के अर्थ यजुर्वेद के आठवें अध्याय के ३६वें मन्त्र से लिये जाते हैं । इस मन्त्र से इसके अर्थ क्यों लिये जाते हैं, इसका कोई कारण नहीं बताया । हमारे विचार में यह स्वामी शंकराचार्य की प्रकृति ही है कि सूत्र के किसी शब्द को उपनिषादादि के मन्त्रों में वही शब्द ढूंढा गया और फिर सूत्र के अथवा उपनिषद् के अर्थ को तोड़-मरोड़ कर सामञ्जस्य बैठा लिया गया ।

सूत्र का अर्थ है कि ज्योति में होने से । भाष्यकारों ने ज्योति के सीधे अर्थ प्रकाश (ज्ञान) न लेकर भाग-दौड़ कर वेद अथवा उपनिषद् में इस शब्द को ढूंढ निकाला है और उसमें ज्योति शब्द देखकर अर्थ लगाने आरम्भ कर दिये हैं । यह दर्शनशास्त्र के अभिप्राय जानने का ढंग ठीक नहीं ।

स्वामी शंकराचार्यजी ने ज्योति के अर्थ आदित्यादि देवता गण किये हैं और कहा है कि जैमिनि ऋषि का मत है कि देवताओं का वेद विद्या में अधिकार नहीं ।

सूव तो केवलमात्र इतना है कि ज्योति में होने से । इसके अतिरिक्त पूर्वापर के साथ सम्बन्ध रखते हुए अर्थ लगाने चाहिएं । इससे पूर्व सूत्र का अर्थ है मध्वादि में अनधिकार का हस्तक्षेप असम्भव है । ऐसा जैमिनि का मत है ।

सूत्र है 'ज्योति में होने से।'

दोनों सूत्रों को एक साथ पढ़ने से यह स्पष्ट हो जायेगा कि अनधिकारी का मन्त्रों को ग्रहण करने में अधिकार नहीं। (क्योंकि) उनको वेद मन्त्रों का ज्ञान न होने से।

यहाँ ज्योति का अर्थ ज्ञान है। सर्ग के आरम्भ की बात हो रही है। देवतागण (अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिर) वेद को इस लोक में भेज रहे थे और ऋषिगण उनको समझकर उनका उच्चारण कर रहे थे। अनपढ़ मूर्ख लोग वेद समझने वाले ऋषियों में नहीं थे। क्योंकि वेद ज्ञान का भण्डार है और मन्त्रों में ज्योति (ज्ञान) होने से ज्ञानी ही समझ सकते थे।

इस विषय में वेद मन्त्र भी हैं—

यद्वाग् वदन्त्यविचेतनानि राष्ट्री देवानां निषसाद मन्द्रा।
चतस्र ऊर्जं दुदुहे पयांसि क्व स्विदस्याः परमं जगाम॥
देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति।
सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु॥

(ऋ० ८-१००-१०, ११)

इनके अर्थ हैं—

(यद्वाग) जो वाणी (वदन्त्यविचेतनानि) अत्यन्त गूढ़ तत्त्वों को कहने वाली (राष्ट्री देवानां) देवताओं की वाणी है, (निषसाद मन्द्रा) विराजती है सुखकारक है, (चतस्र) चारों दिशाओं में फैलती रहती है, (ऊर्जं दुदुहे) शक्ति दुही जाती है (पयांसि) मेघ की भाँति प्राप्त होती है, (क्व स्विदस्याः) यह कहाँ रहती है, (परमं) परमात्मा में।

दूसरे मन्त्र का अर्थ है—

(देवीं वाचम्) देवताओं की वाणी (जनयन्त देवांस्तां विश्वरूपाः) विद्वानों द्वारा प्रकट की जाती है लोक के रूप में, तब (पशवो वदन्ति) विद्वान् लोग इसे बोलते हैं (सा नो मन्द्रेषमूर्जं) वह अपने सुखरूप ऊर्जा से (दुहाना) दुही जाती है (धेनुः) गाय की भाँति (वाक्) वह वाणी (अस्मान्) हमें (सुष्टुतैतु) भली भाँति प्राप्त हो।

अभिप्राय यह कि परमात्मा का ज्ञान मध्यस्थानी देवताओं द्वारा शक्ति की भाँति तरंगों में चारों ओर बिखेरा जा रहा है और उस देवताओं की वाणी को (पशवः) द्रष्टा लोग, ऋषिगण उसे गाय के दूध की भाँति दोहन कर मनुष्य के कल्याण के लिये देते हैं।

देवताओं की वाणी में ज्ञान-विज्ञान भरा रहता है और उसको ऋषि लोग ही समझ सकते हैं। अनधिकारी अर्थात् अज्ञानी को वह पता नहीं चलती।

—१८

भावं तु बादरायणोऽस्ति हि ॥३३॥

भावं+तु+बादरायणः+अस्ति+हि ।

होने को तो बादरायण है । अभिप्राय यह है कि होने को तो बादरायण (मानता) है ।

क्या होने को मानता है ? ज्ञान में होने को । पूर्व सूत्रानुसार वेद ज्ञानमय है । उसे समझने के लिए अधिकारी (वेदानुसार पशवः अर्थात् द्रष्टा) होना आवश्यक है ।

इस सूत्र में 'तु' शब्द से प्रायः भाष्यकार ऐसा मानते हैं कि बादरायण जैमिनि के मत का विरोध कर रहा है । वास्तव में ऐसा नहीं है ।

सूत्र संख्या १-३-३२ और १-३-३३ परस्पर विरोधी भाव प्रकट नहीं कर रहे ।

स्वामी शंकराचार्यजी इन सूत्रों को देवताओं और मानवों में विरोध बताने वाले मानते हैं । स्वामी ब्रह्म मुनिजी अनधिकारी का अर्थ शूद्र करते हैं । इस प्रकार इन सूत्रों से भारी भ्रम फैलाया गया है । इस भ्रम का आरम्भ दो स्थानों से हुआ है । एक सूत्र १-३-२६ से और दूसरे १-३-३१ से । सूत्र संख्या १-३-२६ में शब्द है 'तदुपर्यपि ।' इसके अर्थों में भ्रम उत्पन्न किया गया है । स्वामी शंकराचार्य 'तदुपर्यपि' के अर्थ करते हैं तत्—उपरि—अपि । तत् का अर्थ करते हैं मनुष्य से । उपरि से श्रेष्ठ अर्थात् देवता और अपि के अर्थ भी ।

तत् के अर्थ हैं वह अर्थात् जो पहले वर्णित है । पहले सूत्र में 'मनुष्याधिकारत्वात्' वाक्य आये हैं । स्वामीजी के अनुसार इसका अभिप्राय है मनुष्य अधिकृत । अर्थात् मनुष्य अधिकारी है । यह अर्थ इस वाक्य के बनते नहीं । पूर्ण सूत्र को पढ़ने से अर्थ बनते हैं कि मनुष्य पर अधिकार होने से ।

सूत्रार्थ हम ऊपर लिख आये हैं—

हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् ।

हृदय में रहते हुए अपेक्षा से, अर्थात् मनुष्य पर अधिकार से । अभिप्राय यह है कि हृदय में रहते हुए परमात्मा एवं जीवात्मा मनुष्य के कर्मों पर अधिकार रखते हैं । परमात्मा मनुष्य के अंग-प्रत्यंग में सामर्थ्य प्रदान करता है और जीवात्मा उस सामर्थ्य को स्थान, दिशा तथा काल प्रदान करता है । अभिप्राय यह कि सामर्थ्य कब तथा किस प्रकार से प्रयोग हो, इसका निश्चय जीवात्मा करता है ।

मनुष्य को वेद पढ़ने का अधिकार है, ऐसा स्वामी शंकराचार्यजी के भाष्य का अर्थ है । इस अर्थ से अगले सूत्र में 'तदुपर्यपि' के अर्थ कर दिये हैं कि मनुष्य से ऊपर देवताओं का भी वेदों में अधिकार है ।

इन सूत्रों में वेद पढ़े अथवा कौन पढ़े का अभिप्राय नहीं । इसी प्रकार

सूत्र संख्या १-३-३१ 'मध्वादिष्वसंभवादनधिकारं जैमिनिः' में है।

शब्द 'अनधिकारं' से देवताओं का प्रसंग जोड़ दिया है कि जैमिनि ऋषि देवताओं को वेद में अनधिकारी मानते हैं।

हमारा उनसे मतभेद है। ये सूत्र (१-३-३१ तथा १-३-३३) परस्पर विरोधी नहीं?

हम अगले दो पृष्ठों में एक तालिका दे रहे हैं, जिनमें सूत्र १-३-२४ से १-३-३३ तक स्वामी शंकराचार्य के, श्री उदयवीर शास्त्री के और अपने अर्थ तुलनात्मक भाव में उपस्थित किये गये हैं। इस तालिका से यह ज्ञान हो सकेगा कि किसके अर्थों में परस्पर सूत्रों में तथा ग्रन्थ के उद्देश्य से सामञ्जस्य बनता है।

शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात्सूच्यते हि ।।३४।।

शुक्+अस्य+तद्+अनादर+श्रवणात्+तत्+आद्रवणात्+सूच्यते +हि।

तद्=उनसे। अनादर श्रवणात्=अनादरयुक्त वाक्य सुनने से। शुक्= शोक। अस्य=इसको। तद्=उसके। आद्रवणात्=दौड़ आने से। हि=निश्चय पूर्वक। सूच्यते=सूचित होता है।

उनसे, अनादर सुनने से, का अभिप्राय है कि अनाधिकारियों अर्थात् अज्ञानियों से वेद के विषय तथा ब्रह्म विद्या में अनादर युक्त बात सुनने से उनके (इनके) दौड़ आने से निश्चय शोक सूचित होता है।

इस सबका अभिप्राय यह है कि जब अनधिकारी अर्थात् अज्ञानी वेद तथा ब्रह्म के प्रति अनादर का भाव प्रकट करते हैं तो वेद अर्थात् ब्रह्म-ज्ञान उनसे भाग जाता है। यह शोक से कहा जाता है।

अज्ञानी ज्ञान की बात का अनादर करें तो ज्ञान उनसे भाग जाता है। यही बात ब्रह्मविद्या के विषय में कही जाती है।

इस सूत्र के अर्थ श्री स्वामी शंकराचार्य इस प्रकार करते हैं। जब ऊपर के सूत्रों में उन्होंने मनुष्य को वेद तथा ब्रह्म विद्या का अधिकारी बताया तो केवल ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य के लिये ही बताया है। शूद्र के लिये यहाँ कह दिया है कि यह उसके लिए नहीं।

हम आरम्भ से ही कह रहे हैं कि वेद में अधिकार के विषय में मनुष्य, देवता, शूद्र, ब्राह्मण, क्षत्रियों को यहाँ व्यर्थ में घसीट कर ले आये हैं। सूत्र के सरल अर्थ तो यह ही हैं कि ब्रह्म विद्या अज्ञानियों, जो इसका अनादर करते हैं,

सूत्र	स्वामी शंकराचार्यजी के अर्थ	श्री उदयवीरजी के अर्थ	हमारे अर्थ
(२४) शब्दादेव प्रमितः	अंगुष्ठ मात्र शास्त्रानुसार परमात्मा ही है ।	शब्द से (शास्त्रानुसार) व्यापक ब्रह्म परिमित रूप में प्रतिपादित है ।	शब्द (वेद वाक्य) से भी प्रमाणित है कि दहर में परमात्मा ही है ।
(२५) हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् ।	शास्त्र में मनुष्य अधिकृत है । हृदय की अपेक्षा मनुष्य में अंगुष्ठ मात्र कहा गया है ।	हृदय में अपेक्षा से तो मनुष्य मात्र का अधिकार होने से ।	हृदय (दहर) में अपेक्षा रखने से मनुष्य पर अधिकार से ।
(२६) तदुपर्यपि बादरायणः सम्भवात् ।	मनुष्य से श्रेष्ठ देवादि भी । ऐसा बादरायण का मत है ।	इससे ऊपर भी बादरायण आचार्य सम्भव समझते हैं ।	जो कुछ ऊपर वर्णन किया गया है, उससे ऊपर (अतिरिक्त) बादरायण भी संभव समझते हैं ।
(२७) विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् ।	इन्द्रादि देवताओं का यदि शरीर माना जाये तो कर्म में विरोध हो जायेगा । ऐसा यदि कहो तो युक्त नहीं । क्योंकि युग-पत् एक को ही अनेक शरीरों की प्राप्ति होती है । ऐसे देखने से ।	कर्म में विरोध यदि कहो तो नहीं । अनेक प्रतिपत्ति सिद्ध शक्ति के देखे जाने से ।	कर्मों में विरोध होता है । यदि कहो तो नहीं । क्योंकि अनेक प्रतिपत्तियों (हस्तक्षेपों) के दिखाई देने से ।
(२८) शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ।	उक्त विरोध वेद वाक्य में होगा । ऐसा यदि कहो तो युक्त नहीं । क्योंकि उत्पत्ति इस बात का प्रत्यक्ष (श्रुति) अनुमान स्मृति-सिद्ध है ।	यह (कर्मों में विरोध) यदि वेद में कहो तो नहीं । उससे उत्पन्न होने से प्रत्यक्ष और अनुमान से ।	शब्द प्रमाण से यदि (मानो) तो नहीं । अतः प्रभव (सृष्टि की उत्पत्ति) से प्रत्यक्ष और अनुमान से पता चलता है ।

(२९) अत एव च नित्यत्वम् ।	वेद के नित्य होने से देवादि समस्त जगत् उत्पन्न होने से ।	इस कारण से और नित्यता। इस कारण से ही वेद की नित्यता है।	और इसलिये कि उससे नित्यत्व अनादित्व (अमरत्व) है ।
(३०) समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात्स्मृतेश्च ।	सृष्टि प्रलय की आवृत्ति होने पर भी शब्द और अर्थ सम्बन्ध में अनित्यता का विरोध नहीं; क्योंकि उत्तर कल्प में नाम रूप पूर्व कल्प के समान है । स्मृति में दिखाई देने से ।	समान नाम तथा रूप होने से, आकृति में भी विरोध नहीं, श्रुति और स्मृति से ।	सर्ग सर्ग पर बार-बार गुण तथा रूप समान होने से अविरोध ही दिखाई देता है । स्मृति में भी देखा जाता है ।
(३१) मध्वादिष्वसंभवादनधिकारं जैमिनिः ।	(असौ वा आदित्यो देवमधु) इत्यादि उपासनाओं में (देवादि) का अधिकार असम्भव होने से । जैमिनि आचार्य का मत है ।	मधु आदि में सम्भव न होने से अधिकार न होने को जैमिनी आचार्य कहता है ।	मधु आदि (वेद द्रष्टा ऋषियों) में अनधिकारी नहीं थे । यह जैमिनी का मत है ।
(३२) ज्योतिषि भावाच्च ।	दृश्यमान ज्योति-मण्डल में आदित्य शब्द का प्रयोग । और प्रत्यक्ष होने से (देवादि का) ब्रह्म विद्या में अधिकार नहीं ।	ज्योति में होने से भी (ब्रह्म विद्या) में मनुष्य मात्र का अधिकार प्रतीत नहीं होता ।	ज्योति (ज्ञान) में होने से । (अधिकारी अज्ञानी नहीं थे)।
(३३) भावं तु बादरायणोऽस्ति हि ।	बादरायण का (विपरीत) मत है कि (देवताओं का शरीर होने से ब्रह्म विद्या में अधिकार, निश्चय से है) ।	होने को तो बादरायण है; क्योंकि बादरायण मनुष्यमात्र मानता है ।	होने को तो बादरायण भी मानता है । (वेद के ज्ञानमय होने को और उसमें अनधिकारी के अधिकार न होने को) ।

से भाग जाती है। यह उनकी समझ में आती ही नहीं।

ब्रह्म विद्या क्या है? यह हम कई बार ऊपर भी बता चुके हैं कि ब्रह्म परमात्मा, जीवात्मा और मूल प्रकृति को कहते हैं। इन तीनों के ज्ञान का नाम ब्रह्म विद्या है। ब्रह्मसूत्रों में तीनों के विषय में ज्ञान दिया है। यह ब्रह्म विद्या वेदादि शास्त्रों में है। अतः ब्रह्म विद्या और वेद पर्यायवाचक शब्द हैं।

क्षत्रियत्वगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात् ॥३५॥

क्षत्रियत्व+गतेः+च+उत्तरत्र+चैत्ररथे+न+लिङ्गात्।

च उत्तरत्र=और आगे यह है कि। क्षत्रियत्व=क्षात्र धर्म में। गतेः =व्यवहार से। चैत्ररथे=सुन्दरता में होने के। लिङ्गात्=लक्षणों से। न= नहीं।

इस सूत्र में उपमा दी है कि क्षत्रिय किसी सुन्दर रथ में होने के चिह्न से नहीं जाना जाता, वरन् क्षात्र धर्म में व्यवहार रखने से जाना जाता है। इसी प्रकार ब्रह्म विद्या अथवा वेद के जानने से ही कोई ज्ञानी माना जा सकता है; न कि वेद पाठ करने से।

वेद पाठ और सुन्दर रथ में सवारी करने की तुलना की गयी है।

संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च ॥३६॥

संस्कार+परामर्शात्+तद्+अभाव+अभिलापात्+च।

च=और। संस्कारपरामर्शात्=संस्कारों की सम्मति से। अभाव=न होने के। अभिलापात्=कथन करने से।

अज्ञानी क्यों ब्रह्म विद्या के विषय में अनादर युक्त व्यवहार करते हैं? सूत्रकार कहता है कि उनमें अच्छे संस्कारों का अभाव होता है।

ब्रह्म विद्या के प्रति अच्छे व्यवहार के लिए कैसे संस्कार होने चाहियें? वे संस्कार ऐसे होने चाहियें, जिससे कि जिज्ञासा और विवेक की भावना उत्पन्न हो। यह हम ऊपर बता आये हैं कि बिना विवेक के कोई मनुष्य किसी भी सद्-ज्ञान में उन्नति नहीं कर सकता। विवेक का अभिप्राय है पूर्वग्रहों से मुक्ति।

तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः ॥३७॥

तद्+अभाव+निर्धारणे+च+प्रवृत्तेः।

उस (श्रेष्ठ संस्कारों के) अभाव का निश्चय और प्रवृत्ति अर्थात् स्वभाव से है। यह जाना जा सकता है कि ब्रह्म विद्या में कौन अधिकारी है और कौन अनधिकारी? प्रवृत्ति से अर्थात् स्वभाव से। स्वभाव संस्कारजन्य होते हैं। संस्कारों से जिसके विवेक उत्पन्न हो गया, वह ब्रह्म विद्या के जानने का अधिकारी है।

श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्स्मृतेश्च ॥३८॥

श्रवण+अध्ययन+अर्थ+प्रतिषेधात्+स्मृतेः+च।

अभिप्राय यह कि श्रवण, अध्ययन और स्मृतिशास्त्र का विरोध करने से अच्छे संस्कार (जिज्ञासा और विवेक) उत्पन्न नहीं हो सकते।

जो व्यक्ति किसी की बात सुनता नहीं, शास्त्राध्ययन नहीं करता, शास्त्र के यथार्थ अर्थों का विरोध करता है और स्मृतिशास्त्र का विरोध करता है, वह अज्ञानी ही रहता है। वह ब्रह्म विद्या का अधिकारी नहीं।

भगवद्गीता में तो इस प्रकार लिखा है—

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥
(भ० गी० १८-६७)

तुम्हें यह ज्ञान तपरहित, भक्तिरहित, सुनने की इच्छा से रहित और परमात्मा की निन्दा करने वाले को नहीं कहना चाहिये।

और सूत्रकार कहता है कि ऐसे व्यक्ति से ज्ञान भाग जाता है अर्थात् उनको ज्ञान हो ही नहीं सकता।

प्राणः कम्पनात् ॥३९॥

कम्पन उत्पन्न करने से (परमात्मा को) प्राण कहा जाता है।

परमात्मा के बिना कम्पन नहीं होता। कम्पन का गति से भेद समझ लेना चाहिये। कम्पन उस गति को कहते हैं, जोकि एक केन्द्र-बिन्दु के चारों ओर होवे और बार-बार होवे। गति तो एक ही दिशा में चलते जाने को कहते हैं। जगत् में और ब्रह्माण्ड में गति नहीं देखी जाती। कम्पन (vibration) ही देखा जाता है। सब नक्षत्रादि जो एक ही दिशा में चलते हुए प्रतीत होते हैं, वे एक केन्द्र के चारों ओर बार-बार चक्कर काटते हैं। इसी को कम्पन कहते हैं।

ज्योतिर्दर्शनात् ॥४०॥

ज्योतिः+दर्शनात्।

प्रकाश अथवा ज्ञान के देखने से परमात्मा की सिद्धि होती है।

आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ॥४१॥

आकाशः+अर्थान्तरत्व+आदि+व्यपदेशात्।

आकाश जब दूसरे अर्थों (ईक्षणादि में उपदेश किया जाये) तब परमात्मा का वाचक है।

आकाश पंचभौतिक भी है। अन्य भी कई अर्थों में आकाश आता है। इन अर्थों से भिन्न आकाश जो है, वह केवल परमात्मा का वाचक है।

सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ॥४२॥

सुषुप्ति+उत्क्रान्त्योः+भेदेन।

सुषुप्ति और उत्क्रान्ति (जागृत) अवस्था में भेद होने से यह (जीवात्मा) वह परमात्मा नहीं, जो प्राण, आकाश एवं ज्योति से स्मरण किया जाता है।

इस सूत्र का अर्थ है कि ऊपर जिसका प्राण, ज्योति और आकाश स्वरूप बताया है, उसमें सुषुप्ति और जागना नहीं होता। जिसमें यह है, वह भिन्न है। वह परमात्मा नहीं।

पत्यादिशब्देभ्यः ॥४३॥

पति+आदि+शब्देभ्यः।

उक्त भेद जो सुषुप्ति और जागृत अवस्था वाले जीवात्मा से परमात्मा में है, उसे शास्त्रों में प्रकट करने के लिये परमात्मा को पति आदि शब्दों से प्रकट किया जाता है।

प्रथम अध्याय के दूसरे और तीसरे पाद में परमात्मा की जीवात्मा और प्रकृति से भिन्नता सिद्ध की गई है।

चतुर्थ पाद

आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीर-रूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च ॥१॥

आनुमानिकम् + अपि + एकेषाम् + इति + चेत् + न + शरीररूपक + विन्यस्तगृहीतेः + दर्शयति ।

आनुमानिकम्=अनुमान के ढंग से। अपि=भी । एकेषाम्=कुछ एक के मत से। इति=यह कार्य जगत् है। (जगत् का मूल कारण जड़ है) चेत् न= यदि ऐसा कहो तो ठीक नहीं। शरीर रूपक=शरीर के उदाहरण में। विन्यस्त=दृष्टान्त से। गृहीतेः=स्वीकार करने से । दर्शयति=प्रतिपादित होता है ।

इसका अभिप्राय है कि कुछ एक नास्तिक जो परमात्मा के अस्तित्व को नहीं मानते, वे अनुमान के बल पर यह सिद्ध करने का यत्न करते हैं कि यह जगत् अपने स्वभाव से ही बनता-बिगड़ता है। सूत्रकार कहते हैं कि ऐसा नहीं। शरीर के रूपक में यह दर्शाया जा चुका है कि शरीर स्वयमेव कार्य नहीं करता।

शरीर से आत्मा के निकल जाने से शरीर हिलता-डुलता नहीं। न ही उसमें भोज्य पदार्थों को खाकर पचाने की शक्ति रहती है।

कुछ भाष्यकार शरीर रूपक का अर्थ कठोपनिषद् में (आत्मानं रथिनं— कठो० ३-३-४) रथ और आत्मा की ओर संकेत समझते हैं। हमारे विचार में यह भी ठीक नहीं। 'शरीर रूपक विन्यस्त' का अर्थ है शरीर के रूप में प्रकृति के वृत्तान्त का दृष्टान्त लेने से यही (दर्शयति) प्रकट होता है।

अधिकांश भाष्यकारों का यह स्वभाव हो गया है कि वेदान्त दर्शन का भाष्य करते हुए अकारण उपनिषद् के उद्धरण देने लगते हैं। ऐसा श्री शंकराचार्यजी की परिपाटी का अनुकरण करने के कारण है। दर्शनशास्त्र को समझने के लिये स्वतन्त्र रूप से विचार करना ही ठीक होगा।

शरीर के रूप का दृष्टान्त हमने ऊपर वर्णन किया है। शरीर में से

आत्मा के निकल जाने पर इसकी स्वाभाविक क्रियायें नहीं रहतीं। सबसे आवश्यक क्रिया है अन्न को ग्रहण कर, उसको पचाकर शरीर का अंग बनाना। यह प्राणी के मरने पर शरीर नहीं कर सकता। अतः सूत्रकार का कहना है कि प्रकृति बिना चेतन की सहायता के कार्य नहीं कर सकती।

अनुमानिकम् का अर्थ है अनुमान प्रमाण वाले 'एकेषाम्' कुछ एक, सब नहीं। कुछ अनुमान लगाने वाले। एक अनुमान तो सूत्रकार ने ही ग्रन्थ के आरम्भ (जन्माद्यस्य यतः) में लगाया है। इसी कारण 'एकेषाम्' लिखा है। सर्वेषाम् नहीं लिखा।

जो लोग अनुमान से यह सिद्ध करना चाहते हैं कि जगत् का रचनेवाला कोई नहीं। जगत् स्वयमेव स्वभाव से ही बना है। उनके अनुमान में दोष बताने के लिए ही सूत्रकार ने शरीर का उदाहरण दिया है। शरीर स्वतः स्वभाव से ही कार्य नहीं करता। यदि करता होता तो घटनावश मृत्यु होने पर वह कार्य करता रहता। यहाँ वृद्धावस्था में मृत्यु होने की बात नहीं। एकाएक किसी घटनावश मृत्यु में तो देखा जाता है कि प्राणान्त होने पर शरीर में कार्य करने का स्वभाव नहीं रहता।

श्री स्वामी शंकराचार्य ने यहाँ व्यर्थ में सांख्यशास्त्र को रगड़ने का यत्न किया है। महर्षि कपिल ने तो सांख्य-दर्शन में स्पष्ट लिखा है 'स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता'। (सां० द० ३-५६)

श्री उदयवीरजी आनुमानिकम के विषय में इस प्रकार लिखते हैं। सूत्र में 'आनुमानिकम्' पद का अर्थ है, अनुमान द्वारा, विस्तारपूर्वक प्रतिपादित किया गया तत्त्व। यहाँ अनुमान का अर्थ तर्क, युक्ति अथवा केवल प्रतिज्ञा आदि पञ्चावयव वाक्य-समूह अभिप्रेत नहीं है; क्योंकि जहाँ अध्यात्मशास्त्र में उस तत्त्व का प्रतिपादन है, वहाँ पञ्चावयव आदि का कोई निर्देश नहीं।—इसलिये अनुमान पद का यहाँ अर्थ है—'ऋषियों द्वारा किया गया स्मरण अथवा मनन।'

हमारा यह कहना है कि उक्त अनुमान की विवेचना अयुक्त है। अनुमान जिसकी व्याख्या सांख्य अथवा न्याय-दर्शन में की गई है, उससे ही यहाँ अभिप्राय है ि वितण्डावाद से नहीं।

इस पर भी कुछ लोग अनुमान से यह सिद्ध करने का यत्न करते हैं कि जगत् स्वयमेव स्वभाव से बनता-बिगड़ता है। सूत्रकार कहता है कि कीट, पतंगा इत्यादि प्राणी का भी शरीर स्वतः बन नहीं सकता। भला जगत् की बात कैसे कहते हो?

यदि यह कहो कि जगत्—स्वतः ही बनता-बिगड़ता है तो यह ठीक नहीं।

स्वामी शंकराचार्य तो शरीर के सूक्ष्म रूप को ही अव्यक्त मानने लगे हैं। यह सब धींगा-मस्ती है। स्वामीजी ने व्यर्थ में व्यक्त-अव्यक्त की बात बीच

में ला खड़ी की है। आपने उपनिषद् के वाक्य 'आत्मानं रथिनं—(कठो० ३-३-५) में शरीर को कल्पित वस्तु बता दिया है। अर्थात् उनके द्वारा शास्त्र के अर्थों का अनर्थ हो गया है।

सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात् ॥२॥

सूक्ष्मं+तु+तद्+अर्हत्वात् ॥

वह सूक्ष्म ही है। उसकी योग्यता के कारण से।

जगत् का उपादान कारण सूक्ष्म है। यह उसकी जगत्-रचना में योग्यता से पता चलता है। कार्य जगत् से कारण जगत् सदा सूक्ष्म होगा; यदि यह मानें कि यह कार्य जगत् किसी से बना है तो जिससे बना है वह कार्य जगत् से सूक्ष्म मानना ही पड़ेगा।

प्रथम सूत्र में यह बताया है कि कुछ एक लोग अनुमान लगाते हुए कहते हैं कि कारण प्रकृति स्वतः कार्य जगत् में निर्माण हुई है, परन्तु यह अनुमान अशुद्ध है; क्योंकि मनुष्य के मरने पर शरीर में क्रिया-शक्ति नहीं रहती। अतः चेतन (परमात्मा) इसको निर्माण करता है।

अब इस सूत्र में बताया है कि शरीर का मूल (प्रकृति) सूक्ष्म है। इस कारण इसमें योग्यता है कि स्थूल निर्माण हो सके।

श्री स्वामी शंकराचार्य सूक्ष्म से अभिप्राय अव्यक्त का लेते हैं। आप इस सूत्र की व्याख्या में लिखते हैं।

सूक्ष्मं त्विह कारणात्मना शरीरं विवक्ष्यते; सूक्ष्मस्याव्यक्तशब्दार्हत्वात्। यद्यपि स्थूलमिदं शरीरं न स्वयमव्यक्तशब्दमर्हति, तथापि तस्य त्वारम्भकं भूत-सूक्ष्ममव्यक्तशब्दमर्हति। प्रकृतिशब्दश्च विकारे द्रष्टः। यथा 'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' (ऋ० स० ९-४६-४) इति।

अर्थात्—यहाँ सूक्ष्म तो कारणात्मा से शरीर विवक्षित हैं। सूक्ष्म के अव्यक्त शब्द के योग्य से है। यद्यपि यह स्थूल शरीर स्वयं अव्यक्त शब्द के योग्य नहीं, तो भी उसका आरम्भ सूक्ष्म शब्द के योग्य है और प्रकृति शब्द विकार प्रतीत होता है यथा 'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' (ऋ० ९-४६-४)।

इस सूत्र का भाष्य ठीक करते-करते स्वामीजी ने अपनी ओर से असम्बद्ध बात साथ लिख दी है।

यह तो ठीक है कि सूक्ष्म और अव्यक्त एक हैं। शरीर (कार्य जगत्) का आरम्भ सूक्ष्म है। यहाँ तक तो ठीक सूत्र के अनुसार ही था, परन्तु प्रकृति

विकार ही दिखाई देती है। यह कहाँ से आ गया और फिर ऋग्वेद का प्रमाण दे दिया है, जिसका अर्थ यह नहीं बनता। देखिये, ऋग्वेद का मंत्र (९-४६-४) इस प्रकार है—

आ धावता सुहस्त्यः शुक्रा गृम्णीत मन्थिना।
गोभिः श्रीणीत मत्सरम्॥

(आ धावता) आगे बढ़ो (सुहस्त्यः) सिद्धहस्त पुरुषो अर्थात् कुशल लोगों (मन्थिना) (विरोधियों का) मन्थन अर्थात् मर्दन करने के लिए (शुक्रा गृम्णीत) बल को ग्रहण करने के लिए (गोभिः) गाय के दूध की (मत्सरम्) भलाई (श्रीणीत) सेवन करो।

यहाँ प्रकृति विकार है, कैसे पता चला?

पुनः श्री स्वामीजी बृहदारण्यक उपनिषद् का एक उद्धरण देते हैं (१-४-७), परन्तु उससे भी प्रकृति-विकार सिद्ध नहीं होता, वरंच प्रकृति से कार्य जगत् विकार है।

उपनिषद् इस प्रकार है—

तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतासौ नामाऽयमिदंरूप इति। तदिदमप्येतर्हि नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतेऽसौ नामाऽयमिदंरूप इति। (बृ० उ० १-४-७)

इसका अर्थ है—

(तत्—इदं) सो यह (कार्य जगत्) 'तर्ह्यव्याकृतम् आसीत्' पहले अव्यक्त था। (तत् नाम रूपाभ्याम् इव) उससे नाम रूप वाला (व्याक्रियत) व्यक्त बना। (तदिदम्) वह यह (अपि तर्हि) अभी भी (नामरूपाभ्याम इव) नाम रूप ही (व्यक्त) है, अमुक नाम और अमुक रूप वाला है। इस प्रकार—

इस उद्धरण में भी प्रकृति-विकार है, यह नहीं लिखा है। यह लिखा है कि यह कार्य जगत् अव्यक्त से बना है। वर्तमान नाम रूप वाला व्यक्त उसी अव्यक्त से है।

वह अव्यक्त ही कार्य जगत् का उपादान कारण है। हमारा यह कहना है कि श्री स्वामी शंकराचार्यजी अपने पूर्व मिथ्या मत से प्रेरित सूत्रों के एवं वेद उपनिषद् के भी अर्थ विकृत कर रहे हैं।

तदधीनत्वादर्थवत् ॥३॥

तद्+अधीनत्वात्+अर्थवत् ।

तद्=उसके अर्थात् सूक्ष्म (मूल प्रकृति) के। अधीनत्वात्=अधीन होने से। अर्थवत्=अर्थ युक्त (फलयुक्त) है (कार्य जगत्)।

मूल प्रकृति के अधीन का अभिप्राय है आश्रय। अर्थात् मूल प्रकृति से ही बनता है कार्य जगत् और कार्य जगत् भोग सामग्री उपस्थित करता है। इसी कारण इसको फलवत् अर्थात् पेड़ के फल की भाँति प्रयोग की वस्तु कहा है।

यहाँ वेदान्त दर्शन में लिखा है कि कार्य जगत् मूल प्रकृति के आश्रय है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि जगत् रचना में ईश्वर का हाथ स्वीकार नहीं किया। मूल प्रकृति उपादान कारण ही है।

ज्ञेयत्वावचनाच्च ॥४॥

ज्ञेयत्व+अवचनात्+च ।

च=और भी। ज्ञेयत्व=जानने के योग्य है। अवचनात्=न कहे जाने से भी। अर्थात् इसका स्वरूप नहीं कहा गया।

साधारण रूप में परमात्मा को ज्ञेय (जानने के योग्य) माना है। जैसे गीता (१३-१७) में लिखा है (ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्) परमात्मा ज्ञान-स्वरूप है, जानने के योग्य है और जाना जा सकता है।

इसी प्रकार अनेक स्थानों पर परमात्मा को 'ज्ञेय' माना है। यहाँ सूत्र-कार कहता है कि प्रकृति मूल में अज्ञेय है। जब प्रकृति के साथ अज्ञेय शब्द आता है तो इसका अभिप्राय न जानने योग्य नहीं, वरंच इन्द्रियों से न जानी जा सकने योग्य है। (मनु० १-५)

इस सूत्र को श्री स्वामी शंकराचार्य क्या समझे हैं, वह भी जानना उप-युक्त होगा। इस सूत्र के भाष्य में वे लिखते हैं—

ज्ञेयत्वेन च सांख्यैः प्रधानं स्मर्यते गुणपुरुषान्तरज्ञानात्कैवल्यमिति वदद्भिः। न हि गुणस्वरूपमज्ञात्वा गुणेभ्यः पुरुषस्यान्तरं शक्यं ज्ञातुमिति। क्वचिच्च विभूतिविशेषप्राप्तये प्रधानं ज्ञेयमिति स्मरन्ति। न चेदमिहाव्यक्तं ज्ञेय-त्वेनोच्यते। पदमात्रं ह्यव्यक्तशब्दः। नेहाव्यक्तं ज्ञातव्यमुपासितव्यं चेति वाक्य-मस्ति। न चानुपदिष्टपदार्थज्ञानं पुरुषार्थमिति शक्यं प्रतिपत्तुम्। तस्मादपि नाव्यक्तशब्देन प्रधानमभिधीयते। अस्माकं तु रथरूपकक्लृप्तशरीराद्यनुसरणेन विष्णोरेव परमं पदं दर्शयितुमयमुपन्यास इत्यनवद्यम्।

अर्थात्—ज्ञेयत्व से सांख्य के मानने वाले गुणों (सत्त्वादि) और पुरुष में अन्तर के ज्ञान से मोक्ष-प्राप्ति की बात कहते हैं। गुणों के स्वरूप को जाने बिना पुरुष और गुणों का अन्तर जाना जा सकता है। क्योंकि विभूति विशेष की प्राप्ति के लिए प्रधान को जानना चाहिये, ऐसा मानते हैं। यह ठीक नहीं। यहाँ यह अव्यक्त ज्ञेयत्व नहीं कहा जा रहा। यहाँ अव्यक्त शब्द एक पाद मात्र है। यह अव्यक्त ज्ञातव्य है अथवा उपासना योग्य है। ऐसा कोई वाक्य नहीं। उपदिष्ट पदार्थ का ज्ञान पुरुषार्थ है, यह सिद्ध नहीं किया जा सकता। श्रुति में अव्यक्त से प्रधान का अभिप्राय नहीं। हमारा मत है कि रथ रूप से कल्पित शरीरादि का विष्णु का ही परम पद दिखलाने से यह उपन्यास (कथन) है, यह दोष नहीं।

सांख्य वाले क्या समझते हैं अथवा क्या नहीं समझते, यह प्रश्न नहीं। प्रश्न यह है कि प्रकृति कोई पदार्थ है अथवा नहीं ? यदि है तो यह जानने योग्य है। पदार्थ जानने योग्य होता है। उसका ज्ञान मनुष्य को लाभ देगा ही। यहाँ इसे जानने से मोक्ष प्राप्त होता है अथवा नहीं होता, यह भी विचारणीय नहीं। इसमें यजुर्वेद, ४०-१०, ११, १२, १३ और १४ पठनीय है।

परन्तु सूत्रार्थ से स्वामीजी का उक्त कथन सर्वथा असम्बद्ध है। सूत्रार्थ तो यह है। और (इसका स्वस्थ) न कहे जाने योग्य होने पर भी (यह) जानने योग्य है। कार्य जगत् इन्द्रियों से जाने एवं कहे जाने योग्य है, परन्तु प्रकृति कहे जाने योग्य नहीं। इस पर भी जानने योग्य है।

वदतीत चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात ॥५॥

वदति+इति+चेत्+न+प्राज्ञः+हि+प्रकरणात्।

वदति=कहता है। इति=यह। चेत्=यदि कहो। न=तो नहीं। प्राज्ञः=ज्ञानवान्। हि=क्योंकि। प्रकरणात्=प्रकरण से।

क्योंकि ज्ञानवान् कहता है कि यदि इसे (ज्ञेय) कहो तो यह ठीक नहीं। यह प्रकरण से (स्पष्ट है)।

ज्ञानवान् का अर्थ है ब्रह्म को जानने वाला। वह प्रकृति को प्रकरण से अर्थात् कार्य जगत् की तुलना में अज्ञेय कहता है। हम अज्ञेय से अभिप्राय लेते हैं इन्द्रियों से न जाना जाने योग्य। कार्य जगत् इन्द्रियों से जाना जाता है।

एक बात यहाँ स्मरण रखनी चाहिये कि ज्ञान के उल्लेख से ही मुक्ति प्राप्ति का उल्लेख आ गया, ऐसा ठीक नहीं। ब्रह्म सूत्र ज्ञान प्राप्ति के लिये है,

परन्तु ज्ञान प्राप्ति से कैवल्यावस्था प्राप्त होगी ही, आवश्यक नहीं। इस कारण ज्ञातव्य तो सब कुछ है। जड़ प्रकृति भी, जीवात्मा भी और परमात्मा भी। मोक्ष किस प्रकार प्राप्त होगा ? इसके लिये योग-दर्शन का अध्ययय कर योग का अभ्यास करना होगा।

त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च ॥६॥

त्रयाणाम्+एव+च+एवम्+उपन्यासः+प्रश्नः+च।

च=और। त्रयाणाँ=तीनों का। एव=ही। एवम्=इस प्रकार। उपन्यास=वर्णन है। च प्रश्नः=और प्रश्न। (इसके अनुसार ही बनता है।

इस प्रकार तीनों का ही वर्णन है और प्रश्न अर्थात् विवेचना इसके अनुसार ही होती है। तीन हैं परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति।

ये तीन क्या हैं ? तीन की व्याख्या में विचित्र कल्पना के घोड़े दौड़ाये गये हैं। पहले स्वामी शंकराचार्यजी की कल्पना की परीक्षा करनी चाहिये। श्री स्वामीजी यहाँ तीन से अग्नि, जीव और परमात्मा को मानते हैं। आप लिखते हैं—

इतश्च न प्रधानस्याव्यक्तशब्दवाच्यत्वं ज्ञेयत्वं वा। यस्मात्त्रयाणामेव पदार्थानामग्निजीवपरमात्मनामस्मिन्ग्रन्थे कठवल्लीषु वरप्रदानसामर्थ्याद्वक्तव्यतयोपन्यासो दृश्यते। तद्विषय एव च प्रश्नः। नातोऽन्यस्य प्रश्न उपन्यासो वाऽस्ति। तत्र तावत् 'स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि तं श्रद्दधानाय मह्यम्' (कठो० १-१-१३) इत्यग्निविषयः प्रश्नः।

इसका अर्थ इस प्रकार है—इस कारण प्रधान अव्यक्त शब्द वाच्य अथवा ज्ञेय नहीं; क्योंकि वर प्रदान सामर्थ्य से कठवल्ली ग्रन्थ में अग्नि, जीव और परमात्मा तीन पदार्थों का ही वर्णन देखा जाता है। उस विषय में ही प्रश्न है। इससे अन्य के विषय में न प्रश्न है न उपन्यास (वर्णन) है। वहाँ इस प्रकार है (कठो० १-१-१३) स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो (तुम स्वर्ग को साधन रूप अग्नि को जानते हो। हे मर्त्य, उसे मुझ श्रद्धालु, को कहिये।) यह अग्नि के विषय में उसे बतायें।

पूर्व इसके कि स्वामीजी के वक्तव्य का सूत्र से सम्बन्ध की जाँच-पड़ताल करें, हम उपनिषद् वाक्य (कठो० १-१-१३) के विषय में भी लिख दें तो ठीक होगा। कठो० १-१-१३ इस प्रकार है—

स त्वमग्निꣳ स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि त्वꣳ श्रद्दधानाय मह्यम्।
स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त एतद् द्वितीयेन वृणे वरेण॥

इसका अर्थ है कि हे यमराज ! यह तुम स्वर्ग साधक अग्नि को जानते हो। वह तुम, मुझ श्रद्धावान् को बताओ। स्वर्ग के जन, जिस प्रकार आनन्द भोगते हैं, वह भी कहो। वह दूसरे वर से मैं भोगता हूँ।

अब देखिये कि इस उपनिषद् मन्त्र का और श्री स्वामीजी के कथन का सूत्र के साथ क्या सम्बन्ध है ?

सूत्र में लिखा है कि तीनों का ही इस प्रकार वर्णन है। यही प्रश्न है।

क्या जहाँ-जहाँ भी जिस किसी पुस्तक में प्रश्न शब्द आयेगा, उसका कठोपनिषद् में वर्णित नचिकेता-यम सम्वाद से अभिप्राय होगा ? देखना यह चाहिये कि यह ब्रह्मसूत्र है। इसमें ब्रह्म का वर्णन होगा।

हम बता चुके हैं कि उपनिषद् वाक्य से ही ब्रह्म तीन प्रकार का है। (श्वे० १-९,१२)। निश्चय इस सूत्र में 'त्रयाणां' का अर्थ उन तीनों प्रकार के ब्रह्म से है। अग्नि ब्रह्म नहीं है। कठोपनिषद् में भी अग्नि ब्रह्म तक पहुँचने का साधन वर्णन किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि श्री स्वामी शंकराचार्यजी का आशय यह है कि कहीं प्रधान (प्रकृति) का नाम इन तीनों में न आ जाये। इस कारण नचिकेता-यम का प्रसंग का यहाँ ला खड़ा किया है। अग्नि का कहीं वर्णन यहाँ सूत्रों में नहीं हो रहा।

पूर्व सूत्र में था कि जहाँ प्रकृति को ज्ञेय नहीं लिखा, वहाँ प्रकरण न होने के कारण है। अतः जब सूत्रकार महर्षि ने यह कहा कि तीनों का उल्लेख है तो तीनों अव्यक्तों का वर्णन है प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा।

इसी प्रकार श्री उदयवीर शास्त्रीजी ने भी श्री स्वामी शंकराचार्यजी का ही अनुकरण किया प्रतीत होता है। वह भी कठोपनिषद् का आश्रय ले इस सूत्रकार का अभिप्राय समझने लगे हैं।

यहाँ तीन का उल्लेख है और तीन का उल्लेख तो सूत्रों के आगे-पीछे का वर्णन करेंगे। वर्णन आ रहा है प्रकृति का, तो अग्नि कहाँ से आई ? हमारा विचारित मत है कि यहाँ 'त्रयाणां' से प्रकृति, जीव और परमात्मा का वर्णन है। कठोपनिषद् में वर्णित नचिकेता के प्रश्नों से, इस सूत्र का सम्बन्ध नहीं। साथ ही नचिकेता ने तीन के विषय में नहीं पूछा। तो उस उद्धरण का सूत्र के साथ सम्बन्ध कैसे बना ?

परन्तु 'प्रश्न है' का क्या अभिप्राय है ? निःसन्देह इसका अभिप्राय है कि पूर्वोक्त सूत्र में जो कहा है कि (प्रकृति) ज्ञेय नहीं तो प्रश्न यह है कि तीन का वर्णन किसलिए है ?

महद्वच्च ।।७।।

महत्+वत्+च ।

महत् सूक्ष्म तत्त्व की भाँति प्रकृति भी सूक्ष्म तत्त्व है । जैसे महत् से कार्य जगत् बना है, वैसे ही प्रधान से कार्य-जगत् बना है ।

सांख्य का सिद्धान्त है कि आदि प्रकृति त्रिगुणात्मक है । अर्थात् प्रकृति का प्रत्येक परमाणु तीन गुण रखता है । वे तीन गुण हैं आकर्षक, विकर्षक और तटस्थ । ये तीनों गुण एक-दूसरे पर प्रभाव डालते हुए प्रत्येक परमाणु में साम्यावस्था बनाये रखते हैं ।

सर्गारम्भ में परमात्मा इन तीनों गुणों की प्रभाव-दिशा बाहर की ओर कर देता है । तब इनके प्रभाव परस्पर सन्तुलित न रहकर पड़ोस के परमाणुओं पर प्रभाव डालने लगते हैं । अतएव परमाणुओं के आकर्षण, विकर्षण प्रभाव परमाणुओं में संयोग उत्पन्न कर देते हैं । इस प्रक्रिया में प्रारम्भिक अवस्था महत् कहलाती है ।

श्री स्वामी शंकराचार्यजी कहते हैं कि सांख्य-दर्शन में जो महत् प्रकृति के एक रूप के लिए प्रयोग हुआ है, उस महत् का अभिप्राय यहाँ नहीं । उनका कहना है कि महत् शब्द श्रुति में महान् का वाचक है ।

हमारा यह कहना है कि महत् महान् का पर्यायवाचक है, परन्तु जब पारिभाषिक अर्थों में प्रयुक्त होता है तो महत् का अर्थ प्रकृति के प्रथम विकार को ही कहते हैं ।

प्रश्न यह कि यहाँ महत् महान् अर्थों में है अथवा सांख्य वाले अर्थों में ?

क्योंकि प्रकृति का उल्लेख किया जा रहा है, इस कारण महत् प्रकृति के प्रथम विकार के अर्थ में ही है ।

स्वामीजी का यह कहना तो ठीक है कि जगत् स्वतः नहीं बनता । इसके बनाने वाला परमात्मा है, परन्तु जिस पदार्थ का यह बना है वह भी अनादि है और उसे प्रधान कहते हैं ।

यह उपनिषद् वाक्य से भी सिद्ध है । श्वेताश्वतर १-९, १२ में इसका स्पष्ट उल्लेख है ।

वहाँ लिखा है कि एक ज्ञानवान्, दूसरा अज्ञ और तीसरा भोगार्थ पदार्थ, तीनों अजन्मा हैं । अर्थात् वे अक्षर हैं ।

श्वेताश्वतर ४-५ में लिखा है कि लोहित शुक्ल कृष्ण (तीन) गुणों वाली प्रकृति अजन्मा है । एक जीवात्मा अजन्मा है । इस प्रकार प्रकृति को अजन्मा लिखा है । जो पैदा नहीं हुई, वह नष्ट भी नहीं होती । अतः प्रकृति अक्षर है । अव्यक्त ही अक्षर हो सकता है ।

स्वामीजी असंगत अर्थों वाले उदाहरण देते हैं।

अतः स्वामीजी प्रधान को अक्षर-तत्त्व अस्वीकार कर सूत्रकार के आशय को गलत बता रहे हैं।

सूत्रकार का आशय है कि महत् की भाँति प्रकृति भी कार्य-जगत् का स्रोत है। महत् की उपमा इस कारण दी है; क्योंकि प्रकृति महत् में परिवर्तित हुए विना कार्य-जगत् में परिवर्तित नहीं हो सकती। महत् का उल्लेख कई उपनिषदों में आया है।

चमसवदविशेषात् ॥८॥

चमस+वत्+अविशेषात्।

चमस—यज्ञ में आहुति डालने वाली कलछी, जो एक ओर से खुली और दूसरी ओर से वन्द होती है। चमस की भाँति सामान्य अर्थों में।

चमस के कहीं विशेष अर्थ भी हो सकते हैं, परन्तु यहाँ इस सूत्र में अविशेष अर्थात् सामान्य अर्थों में ही लिया है।

इस सूत्र का अभिप्राय है कि जैसे कलछी का एक ओर मुख होता है और दूसरी ओर से बन्द होती है, वैसे ही महत् की सृष्टि होती है। अर्थात् वह एक ओर से वन्द होती है और दूसरी ओर से खुली।

यह महत् के स्वरूप का वर्णन है। अनन्त ब्रह्माण्ड में सृष्टि रचना के समय ब्रह्माण्ड के एक कोने में प्रकृति में विक्षोभ उत्पन्न होता है और उससे महत् बनता है। वह चमस की भाँति रूप वाला होता है।

ब्रह्मसूत्र के जिन भाष्यकारों को विना उपनिषद् का वाक्य दिये अर्थ समझाने की सामर्थ्य नहीं, उन्होंने 'चमस' शब्द को बृहदारण्यक उपनिषद् (२-२-३) में ढूंढ निकाला है। वहां वाक्य है—

अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः इतीवं तच्छिर···।

अर्थात्—नीचे छिद्र ऊपर मूल वाला पात्र जैसे मनुष्य की खोपड़ी है। यह तो चमस के अर्थ बताये हैं, परन्तु सूत्र में इस चमस का क्या अभिप्राय है, इसको भाष्यकार सर्वथा असंगत प्रमाणों से वर्णन करते हैं।

भाष्यकारों ने (श्वेताश्वतर ४-५) से अर्थ समझाने का यत्न किया है, परन्तु उस मन्त्र के अर्थ का चमस से कैसे संगति बैठती है, कोई नहीं बता सका।

हमारा यह मत है कि सूत्रार्थ स्पष्ट करने के लिये उपनिषद् ठीक

साधन नहीं हैं। सूत्रकार ने सूत्र उपनिषद् वाक्यों को समझाने के लिये नहीं लिखे। ये सूत्र तो कुछ सत्य बातों को स्पष्ट करने के लिये लिखे गये हैं। उपनिषद् में वह है अथवा नहीं, यह गौण बात है।

हमारा यह भी मत है कि सूत्रों को सरल भाषा में ज्यों-के-त्यों स्वीकार करने से पूर्ण ग्रन्थ अर्थयुक्त समझ में आने लगेगा।

अतः सामान्य अर्थों में चमस की भाँति महत् का रूप है। यह है इस सूत्र का अर्थ।

ज्योतिरुपक्रमा तु तथा ह्यधीयत एके ॥६॥

ज्योतिः+उपक्रमा+तु+तथा हि+अधीयते+एके।

तु=निश्चय ही। ज्योतिः उपक्रमा=ज्योति ही आरम्भ है। तथाहि=जैसे कि। अधीयत=पढ़ते हैं (समझते हैं)। एके=कई एक।

कुछ लोग कहते हैं कि प्रकृति से महत् और उसके उपरान्त क्रम से ज्योतिरूप अर्थात् प्रकाशमान् हो जाता है। तदनन्तर कार्य-जगत् बनता है। यह ज्योतिस्वरूप हिरण्यगर्भ कहलाता है। यह स्वर्ण की भाँति ज्योतिस्वरूप होता है।

स्वामी शंकराचार्य प्रधान (प्रकृति) के अस्तित्व को नहीं मानते। अतः वह इन सूत्रों के अर्थ असंगत करने लगे हैं। स्वामीजी ज्योति का अर्थ परमात्मा लेते हैं। आप लिखते हैं—

परमेश्वराद्युत्पन्ना ज्योतिःप्रमुखा तेजोबन्नलक्षणा चतुर्विधस्य भूतग्रामस्य प्रकृतिभूतेयमजा प्रतिपत्तव्या। तुशब्दोऽवधारणार्थः भूतत्रयलक्षणैवेयमजा विज्ञेया न गुणत्रयलक्षणा। कस्मात्? तथा ह्येके शाखिनस्तेजोबन्नानां परमेश्वरादुत्पत्तिमान्नाय तेषामेव रोहितादिरूपतामामनन्ति…'यदग्ने रोहितं रूपं तेज सस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य' इति;—

परमेश्वर से उत्पन्न हुआ है तेज, जो तेज जल और अन्न रूप है। इससे चार प्रकार की प्राणियों की सृष्टि करने वाली (जरायुज, अण्डज, स्वेट्ज तथा उद्भिज्) यही अजा है। तु शब्द अवधारण (निश्चय) रूप में प्रयुक्त हुआ है। यह भूतत्रय अजा लक्षण वाले हैं, गुण त्रय नहीं। किसलिये? इस कारण कि यह एक से तेज जल, अन्न की उत्पत्ति कहकर 'अग्निरोहितरूप' में है।

श्री स्वामीजी ने सांख्य द्वारा वर्णित त्रिगुणात्मक प्रकृति को स्वीकार नहीं किया, परन्तु छान्दोग्य उपनिषद् में (६-४-१ से ७ तक) कहे अनुसार यह

कहते हैं कि ये अग्नि, जल और अन्न हैं और क्योंकि ये परमात्मा से उत्पन्न हुए हैं, जो अजन्मा है, अतः ये भी अजन्मा लिखे हैं।

इसमें दो भ्रान्तियाँ हैं। एक भ्रान्ति तो यह कि तीन का जहाँ भी उल्लेख है, वे अग्नि, जल और अन्न ही होंगे और कुछ नहीं हो सकते। दूसरी भ्रान्ति यह है कि ईश्वर अजन्मा होने से उससे बनी वस्तु भी अजन्मा होनी चाहिये।

दोनों भ्रान्तियों से श्री स्वामीजी में युक्ति की शिथिलता का ज्ञान होता है।

कोई पदार्थ अजन्मा इस कारण नहीं हो सकता; क्योंकि उसके बनाने वाला अजन्मा है। चाहे तो अग्नि, जल, अन्न परमात्मा से बने स्वीकार करें अथवा चाहे परमात्मा का स्वरूप ही समझें, ये एक समय में उत्पन्न होते हैं। जो जिस रूप में उत्पन्न होता है अथवा बनता है, वह उस रूप में अनादि तथा अजन्मा नहीं कहा जा सकता। उस रूप में वह समाप्त भी होगा।

सांख्य की युक्ति अकाट्य है कि जो जिस रूप अथवा अवस्था में आता है तो उस रूप में वह जन्म लेता है और वह रूप अक्षर नहीं हो सकता।

अतः स्वामीजी के कथनानुसार परमात्मा अजन्मा हो, परन्तु जब तेज, जल और अन्य रूप प्रकट होते हैं तो वे विलीन भी होंगे। वे रूप अजन्मा नहीं और अक्षर नहीं।

अतः अग्नि, जल और अन्न न अजन्मा हैं और न अनादि हैं।

प्रथम भ्रम यह है कि श्वेताश्वतर उपनिषद् में 'लोहित शुक्ल कृष्ण' अग्नि, जल और अन्न हैं, ये त्रिगुणात्मक गुण नहीं, इसका प्रमाण क्या है?

आप छान्दोग्योपनिषद् का उद्धरण देते हैं। उस उपनिषद् में रोहित रूप तेज कहा है। शुक्ल को अपाः कहा और कृष्ण को अन्न कहा है।

श्वेताश्वतर (४-५) में भी लोहित शुक्ल और कृष्ण वर्ण वाले अजा के कहे हैं, परन्तु अग्नि को तो तेज कहा है और इसको रोहित अथवा लोहित माना है, परन्तु अपाः का अर्थ जल नहीं और अन्न भी सामान्य अर्थ वाला अन्न नहीं।

अपाः प्रकृति के विकारों में प्रथम रूप है। इसी को सांख्य ने महत् कहा है। इसे परमात्मा प्रकृति से उत्पन्न करता है।

मनुस्मृति में परमात्मा के इस कार्य को इस प्रकार लिखा है—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥
ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्।
महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः॥
योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातन।
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ॥

सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
अप एव ससर्जाऽऽदौ तासु बीजमवासृजत् ॥
तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् ।
तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥

(मनु० १-५, ६, ७, ८ और ९)

इसमें सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है। इससे स्वामी शंकराचार्यजी की भ्रान्तियों पर प्रकाश पड़ता है।

इन श्लोकों के अर्थ हैं—

इदं—यह कार्य-जगत् आदि में (रचना से पूर्व) अन्धकारमय, अप्रज्ञात, अलक्षणम्, अप्रतर्क्य, अविज्ञेय, सब ओर से सोया हुआ था। तब स्वयम्भू भगवान् अव्यक्त, इस दृश्य महाभूतादि सृष्टि के पदार्थ को बनाने की सामर्थ्य वाले प्रकट हुए।

वह भगवान् अतीन्द्रिय, सूक्ष्म स्वरूप, अव्यक्त, सूक्ष्म, नित्य सब भूतों को अपने में रखने वाले स्वयं प्रकट हुए।

उसने अनेक प्रकार की प्रजाओं को उत्पन्न करने की इच्छा से चिन्तन किया और सबसे पहले अपाः की सृष्टि की और उसमें शक्ति रूप बीज डाला।

इस बीज डालने के उपरान्त सहस्रों सूर्यों के समान प्रकाश वाला (स्वर्ण के समान) अण्डा हो गया। उसमें सब लोकों के पितामहः ब्रह्मा उत्पन्न हुए।

यहाँ प्रकृति को तमोमय, अप्रज्ञात आदि लक्षणों वाली बताया है। इसमें परमात्मा प्रकट हुआ। तब वह अपना कार्य करने लगा। यह परमात्मा भी अतीन्द्रिय, अव्यक्त, नित्य और सामर्थ्यवान् था। उसने विभिन्न प्रजाओं को उत्पन्न करने के लिये पहले अपाः को उत्पन्न किया; तदनन्तर उसमें शक्ति रूपी बीज डाला तो सहस्रों सूर्यों के समान प्रकाशमान् प्रभायुक्त अण्डा बन गया। उसमें सब लोकों के पितामह उत्पन्न हुए।

इसमें सूत्र और उपनिषद् को समझाने के लिये यह जानने की बात है कि प्रकृति से पहले अपाः बना, बाद में ज्योतिर्मय अण्डा बना और तब लोक-लोकान्तर बने।

यह अपाः सांख्य की परिभाषा में महत् ही है। वहाँ लिखा है—

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेर्महान्······

(सांख्य १-६१)

सत्त्व, रजस् और तमस् की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है और प्रकृति से महान् बना।···

बाद में अन्य पदार्थ बने। मनुस्मृति में लिखा है कि सबसे पहले अपाः बना। अतः महत् ही अपाः है। ये पर्यायवाचक शब्द हैं। इसी प्रकार सत्त्व,

रजस् और तमस् भिन्न हैं और अपाः तेज तथा अन्न भिन्न हैं। यह नहीं कि सत्त्व, रजस् और तमस् के स्थानापन्न अपाः तेज और अन्न हैं।

यह सत्य है कि वैदिक दर्शनशास्त्र एक दूसरे के पूरक हैं। इसी कारण किसी का भी ठीक-ठीक अर्थ करने के लिये सबका ज्ञान होना आवश्यक है। स्वामी शंकराचार्यजी तो सांख्य को दूषित मानते थे। इसी कारण वह ब्रह्मसूत्रों को भी ठीक प्रकार नहीं समझ सके।

छान्दोग्योपनिषद् में तेज अपाः और अन्न महत् से उत्पन्न होने वाले अहंकार हैं और ऐसा ही सांख्य में लिखा है। तेज से अभिप्राय तेजस् अहंकार, अपाः से वैकारी (सात्त्विक) अहंकार हैं और अन्न से भूतादि अहंकार हैं। इनसे ही पंच महाभूत, इन्द्रियाँ और तन्मात्रा बनी हैं और फिर इनसे नक्षत्रादि बने हैं।

अब छान्दोग्योपनिषद् का पाठ पढ़ा जाये तो पता चलेगा कि हमारा कथन ठीक है और श्री स्वामी शंकराचार्यजी भूल कर गये हैं।

छान्दोग्य उपनिषद् इस प्रकार है—

यदग्ने रोहितँ रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागादग्नेरग्नित्व वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥

(छा० ६-४-१)

अर्थ है—जो अग्नि का रोहित रूप है, वह तेज रूप है। जो शुक्ल है, वह अपाः है। जो कृष्ण है, वह अन्न है। अग्नि से अग्नित्व जाता रहा। (वाचारम्भणं विकारो नामधेयं) इसका विकार नाम कहा जाता है। ये तीन रूप ही सत्य हैं।

इसका अभिप्राय यह है कि अग्नि तेजस् अहंकार, अपाः—शुक्ल वर्ण वैकारी अहंकार और अन्न—कृष्ण वर्ण भूतादि अहंकार विकारों में जब विस्तार पाते हैं तो अग्नि का अग्नित्व नहीं रहता।

हम मानते हैं कि तेजस् अहंकार 'electron' का वैकारी अहंकार 'neutron' का और भूतादि अहंकार 'proton' का नाम है। जब ये मिलकर एक अणु (atom) बनाते हैं तो तेजस् का तेज शान्त हो जाता है अर्थात् साम्यावस्था (normality) हो जाती है।

सांख्य के अनुसार जब सहस्रों सूर्यों के समान तेज (अग्नि उत्पन्न) हुआ तो तीन अहंकार बने और उन अहंकारों से भूतादि बने। तब अग्नि का अग्नित्व (अर्थात् जो ज्योति था, वह) जाता रहा।

हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि सूत्र का अर्थ है कि कुछ एक आचार्यों के विचार से उपक्रम अर्थात् आरम्भ में ज्योति थी।

यहाँ यही अभिप्राय है कि महत् के उपरान्त जब परमात्मा ने इसमें बीज डाला, तब इसमें प्रथम ज्योतिः सहस्रों सूर्यों के तुल्य प्रकाश उत्पन्न हुआ।

यहाँ ज्योतिः के अर्थ परमात्मा नहीं। हाँ, परमात्मा के बीज डालने से ज्योति उत्पन्न हुई। ज्योति से अभिप्राय प्रकाश है।]

कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः ॥१०॥

कल्पनोपदेशात्+च+मध्वादिवत्+अविरोधः।

ज्योति उपक्रम में थी, यह (ब्र० सू० १-४-९ में) कहा है। यह कैसे पता चला? और अब वह अग्नि कहाँ गयी? ये प्रश्न स्वाभाविक थे। सूत्रकार इसका उत्तर देता है कि हमको यह बात कल्पना करने से पता चली है। जैसे मधु आदि की कल्पना कर ली जाती है।

कल्पना का आधार होता है। किसी न किसी प्रकार की समानता देख कर ही कल्पना की जाती है। महत् में बीज डालने पर सहस्रों सूर्यों के समान ज्योतिः तो हिरण्यगर्भ (nebulae) में देखने में आती है। उस ज्योतिः की कल्पना है। जैसे वाणी में मिठास को मधु कह दिया जाता है। वाणी को धेनु कह दिया जाता है।

इसी प्रकार ज्योतिः की कल्पना की गई है। जैसे मिठास से मधु की कल्पना की जाती है। ऐसी कल्पना करने में विरोध नहीं।

न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च ॥११॥

न+संख्योपसंग्रहात्+अपि+नानाभावात्+अतिरेकात्+च।

गिनती अधिक होने से भी नहीं और अनेक भावों से भी नहीं और अतिरेक—अतिरिक्त से भी नहीं। क्योंकि प्रकृति (जिससे ये अनेकानेक रूप नाम वाली वस्तु बनी है,) वह एक ही है। प्रकृति अनेक नहीं।

श्वेताश्वतर उपनिषद् (४-५, ६, ७) में इसे बहुत स्पष्टतया वर्णन किया है। अधिकांश भाष्यकारों ने, श्री स्वामी शंकराचार्यजी ने भी उक्त सूत्रों के भाष्य में इस मन्त्र का उल्लेख किया है, परन्तु क्योंकि स्वामीजी प्रकृति को अनादि और अक्षर नहीं मानते, इस कारण इस उपनिषद् को और उक्त सूत्रों को भी विकृत करने का यत्न किया है।

एक बात तो हम ऊपर लिख आये हैं कि श्वेताश्वतर (४-५) के लोहित

शुक्ल कृष्ण को छांदोग्य० ६-४-१ के रोहित शुक्ल कृष्ण से संगति मिलाने का यत्न किया है। वहाँ रोहित, शुक्ल, कृष्ण, अग्नि से उत्पन्न हुए बताये हैं। यहाँ ऐसा नहीं।

श्वेताश्वतर में इस प्रकार वर्णन है—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥
द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥
(श्वे० ४-५, ६, ७)

यहाँ लिखा है कि अजा ही लोहित शुक्ल कृष्ण है। अर्थात् वह त्रिगुणात्मक है। यहाँ इनका अग्नि से उत्पन्न होना नहीं लिखा। अतः बृहदारण्यक (६-४-१) में रोहित शुक्ल कृष्ण और श्वेताश्वतर (४-५) का लोहित, शुक्ल कृष्ण पर्यायवाचक नहीं। नामों में समानता तो इसी कारण है; जैसे कारण से रजस् प्रधान अहंकार को तेजस् अहंकार माना है। सात्त्विक प्रधान अहंकार को सात्त्विक (वैकारी) अहंकार माना है और तमस् प्रधान अहंकार को तामसी (भूतादि) अहंकार माना है।

प्रकृति के साथ ही 'द्वा सुपर्णा' मन्त्र का कहा जाना और 'समानं वृक्षे' इत्यादि वाला मन्त्र यही प्रकट करता है कि प्रकृति और उसमें के सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों का वर्णन है, अहंकारों का नहीं।

यही भाव इस सूत्र में लिखा है कि गिनती अधिक होने से और उनके अनेक व्यवहार होने पर भी वह अनेक नहीं, वह एक ही है।

इस सूत्र में 'न' शब्द किसके लिये आया है, इसको जानने से सूत्रार्थ सिद्ध होता है। हमने यह लिखा है कि कार्य-जगत् ने नाना व्यवहार के और अनेक संख्या में होने पर भी यह नहीं। अर्थात् प्रकृति अनेक नहीं।

श्री स्वामी शंकराचार्यजी अर्थ करते हैं कि प्रकृति है ही नहीं। आप लिखते हैं—

एवं परिहृतेऽप्यजामन्त्रे पुनरन्यस्मान्मन्त्रात्सांख्यः प्रत्यवतिष्ठते। 'यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः। तमेव मन्य आत्मानं विद्वान्ब्रह्मामृतोऽमृतम्' (बृ० ४-४-१७) इति।

इसका अर्थ यह है—इस प्रकार अजा मन्त्र में सांख्याभिमत प्रधानादि परिहार होने पर भी अन्य मन्त्र के आधार पर सांख्य पुनः पूर्व पक्ष करता है। उत्तर पक्ष (स्वामीजी के मत से बृहदारण्यक उपनिषद् ४-४-१७) उपस्थित

करता है। इसमें आत्मा को ही अमृत ब्रह्म माना है।

इसका अभिप्राय यह है कि श्वेताश्वतर (४-५) में जो लिखा है कि प्रकृति एक है और उसकी अनेक प्रजायें हैं। यह पूर्व पक्ष है और एक दूसरे मन्त्र में इससे विपरीत लिखा है।

वह दूसरा पक्ष (बृ० ४-४-१७) इस प्रकार है—

यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः।
तमेव मन्य आत्मानं विद्वान्ब्रह्मामृतोऽमृतम्॥

(बृ० ४-४-१७)

इसका अर्थ है—जिसमें पच्चीस गण और आकाश प्रतिष्ठित हैं, उसको आत्मा मानता हूँ और मैं अमृत-आत्मा उसे अमृत-ब्रह्म जानता हूँ।

इसमें यह नहीं लिखा कि पच्चीस गण अमृत-आत्मा से उत्पन्न हुए हैं। एक सर्वव्यापक अमृत-आत्मा में पच्चीस गण स्थापित हैं और जानने वाला भी अमृत-आत्मा है।

पच्चीस गणों का स्रोत यहाँ नहीं लिखा। यह भी नहीं लिखा कि वे स्रोत नहीं। न ही यह लिखा है कि जिसमें पच्चीस प्रतिष्ठित हैं, वे ही पच्चीस हैं। वास्तविक बात सांख्य-दर्शन में लिखी है कि पच्चीस गण हैं। प्रकृति से उत्पन्न चौवीस गण और पच्चीसवां जीवात्मा; ये सब परमात्मा में प्रतिष्ठित हैं और परमात्मा तथा देखने वाला जीवात्मा दोनों ही ब्रह्म अमृत हैं। अनादि अव्यक्त होने से जीवात्मा भी ब्रह्म ही है। (देखो सांख्य १-६१)।

अतएव स्वामीजी ने अपनी भ्रान्त मान्यताओं को सिद्ध करने के लिये उपनिषद् ग्रन्थों के अर्थों को वहुत विकृत किया है। एतदर्थ ब्रह्मसूत्रों के भी मनमाने अर्थ लगाये हैं।

हमारा विचारित मत है कि इस सूत्र का अर्थ वही है जो हमने लिखा है। अर्थात् अनेक नाम, रूप वाले और व्यवहार वाले पदार्थ होने पर भी प्रकृति जिससे वे बने हैं; एक है, अनेक नहीं।

प्राणादयो वाक्यशेषात् ॥१२॥

प्राणादयः+वाक्य शेषात्।

प्राणादि (समझ लो) शेष वाक्य से। अभिप्राय यह कि उक्त सूत्र में जो शब्द 'अतिरेकात्' है। उसका अर्थ है 'अतिरिक्त'।

नाना व्यवहार वाले और नाना नाम रूप वाले से और अतिरिक्त से।

अर्थात् प्राणशक्ति से भी यही पता चलता है कि प्रकृति एक है। प्राण से प्रकृति के अनेक रूप एवं नाम बने हैं। प्राण परमात्मा की शक्ति है। इस (१-४,११) सूत्र में अतिरिक्त से अभिप्राय है कि प्राणादि से निर्मित रूपादि। सूत्र में अतिरिक्त से प्राणादि समझ लो।

प्राण है शक्ति, जिससे प्राणी की इन्द्रियाँ और शरीर काम करते हैं। हमने यह ऊपर भलीभाँति सिद्ध किया है कि इन इन्द्रियों में और शरीर के अन्य अंगों में शक्ति परमात्मा की ही है। वही प्राण है। इसी प्रकार द्युलोक में गतिमान पदार्थों की गति परमात्मा की शक्ति से होती है। यही प्राण है।

अतः जब कार्य-जगत् के नाना पदार्थ और उनके नाना प्रकार के व्यवहारों का वर्णन किया तो अतिरिक्त शब्द से क्या अर्थ है ? यह इस सूत्र में बताया है कि प्राणादि है।

अर्थात् शक्ति भी भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रकट होती है, परन्तु प्रकृति एक ही है।

ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने ।।१३।।

ज्योतिषा + एकेषाम् + असति + अन्ने।

ज्योतिषा = ज्योति से ही। असति = होने पर। अन्ने = अन्न में। एकेषाम् = कई एक के मत से।

इसका अर्थ है कि कई एक के मत से अन्न में भी ज्योति अर्थात् शक्ति (परमात्मा की शक्ति) द्वारा होती है।

क्या होती है ? प्राण की शक्ति अर्थात् निर्माण की शक्ति।

यहाँ यह समझ लेना चाहिये कि ब्रह्मसूत्र (१-४-११) में जो यह लिखा है कि अनेक रूप होने से भी नहीं। अर्थात् वह अनेक नहीं। इसमें हमने 'प्रकृति' क्यों लिया है, परमात्मा क्यों नहीं लिया ?

अनेक नाम रूप वाले पदार्थ होने से भी वह अनेक नहीं। यहाँ प्रकृति लेने में कारण है कि पूर्ण पाद ही प्रकृति के विषय में चल रहा है। इस पाद में यह हम ऊपर कह आये हैं।

(१) अनुमान से कुछ लोग कहते हैं कि वह (कार्य-जगत्) स्वयं ही है। यह गलत है; क्योंकि शरीर उदाहरण से (प्रकृति) स्वयं नहीं है।

(२) प्रकृति सूक्ष्म है ! इस कारण वह व्यक्त मानी जाती है।

(३) इस (प्रकृति) के अधीनता में होने से वह (कार्य-जगत्) अर्थवत्

है। अर्थ का अभिप्राय भोग के योग्य है।

(४) प्रकृति ज्ञेय नहीं अर्थात् इन्द्रियों से नहीं जानी जा सकती।

(५) ज्ञेय प्राज्ञः है और अज्ञेय अचेतन है, ऐसा नहीं।

अर्थात् प्रकृति अज्ञेय इस कारण है कि यह इन्द्रियों से नहीं जानी जा सकती। इसमें चेतन, अचेतन के कारण नहीं। यह प्रकरण से कह रहे हैं।

(६) तीन का ही वर्णन है और प्रश्न है। जड़, प्रकृति, जीवात्मा और अधिष्ठाता परमात्मा। परमात्मा और जीवात्मा दो चेतन हैं। तीन का वर्णन है।

(७) कार्य-जगत् बनता है महत् की भाँति।

(८) ब्रह्माण्ड में महत् बनता है तो यह चमस की भाँति एक ओर से बन्द और एक ओर से खुला होता है।

(९) उपक्रम में (कार्य-जगत् के आरम्भ में) ज्योति होती है।

(१०) हिरण्यगर्भ (nebulae) देखे गये हैं और उनसे कल्पना की गई है कि अपने जगत् का आरम्भ भी वैसा ही ज्योतिर्मय रहा है।

(११) कार्य-जगत् में पदार्थों की अनेकता पर भी (प्रकृति) अनेक नहीं। सव सूत्र एक साथ पढ़ने से यहाँ अनेक नहीं का अर्थ प्रकृति ही है।

(१२) परन्तु 'अतिरेकात् च' और दूसरे में भी यही है। अर्थात् प्राण के कारण विविधता होने पर भी प्रकृति एक ही है।

यहाँ एक होने की तुलना करने के लिये परमात्मा और प्राण का उदाहरण दिया है।

(१३) इसमें लिखा है कि परमात्मा की शक्ति ही अन्न में है। अन्न खाने से प्राणी में शक्ति (प्राण) प्रकट होती है। यहाँ भी यह परमात्मा की देन ही है।

वैसे तो प्रकृति के सब रूप परमात्मा ही बनाता है।

कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः ॥१४॥

कारणत्वेन+च+आकाशादिषु+यथा+व्यपदिष्टोक्ते।

कारणत्वेन=कारण होने से। च=और। आकाशादिषु=आकाशादि के विषय में। यथा=जैसे। व्यपदिष्टो=कहे गये के अनुसार। उक्तेः=कहा जाने से।

प्रकृति कार्य-जगत् का कारण है। इस विचार से यह भी आकाशादि

(पंच महाभूत) के जगत् के नाना पदार्थों का कारण होने की भाँति जैसे कहा गया, वैसा ही यहाँ कहा गया है। अर्थात् प्रकृति आकाशादि का कारण कहा गया है। सूत्रकार कहता है कि वैसा ही वह भी कह रहे हैं कि प्रकृति इन सब का कारण है।

आकाशादि (आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी) पंच महाभूत जगत् के अनेकानेक पदार्थों का कारण (स्रोत) हैं। इसी प्रकार प्रकृति पूर्ण कार्य-जगत् का कारण है।

यहाँ स्वामी शंकराचार्य का मत लिख दें तो ठीक रहेगा। यह मानते हैं कि आकाशादि पंच महाभूत परमात्मा द्वारा बनाये गए हैं। इसी प्रकार पूर्ण कार्य-जगत् भी परमात्मा द्वारा बनाया गया है।

स्वामीजी की इस बात से मतभेद नहीं। मतभेद तो यह है कि कुम्हार घड़े को बनाता है तो मिट्टी से बनाता है। यह नहीं देखा जाता कि वह मिट्टी भी बनाता है। इसी प्रकार किसी वस्तु के बनने में दो कारण होते हैं और दोनों स्वतन्त्र रूप में रहते हुए पदार्थ का निर्माण करते हैं। एक निमित्त कारण कहलाता है और एक उपादान कारण। यही बात हम जगत् के उत्पादन में मानते हैं। जब घड़े के बनाने में कुम्हार का उल्लेख आता है तो मिट्टी के होने का विरोध नहीं होता। फिर जब उपनिषद् में (श्वेताश्वतर १-९, १२ तथा ४-५, ३) प्रकृति को अजन्मा (अनादि) कहा गया है तो उसको अस्वीकार करने में कोई कारण नहीं।

यहाँ एक बात और समझने की है। आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी पंच महाभूतों वाला आकाश वह नहीं, जो परमात्मा का प्रतीक माना जाता है।

ब्रह्मसूत्र (१-१-२२) में लिखा है कि उस (परमात्मा) का लिंग आकाश है। उस सूत्र की विवेचना में हमने भलीभाँति बताया है कि वहाँ आकाश का अभिप्राय अवकाश (space) से है। अवकाश अनन्त, असीम है और उसमें व्यापक परमात्मा भी असीम है। अतः वह आकाश जो पंच-भौतिक है, परमात्मा का लिंग आकाश नहीं।

संस्कृत भाषा में यौगिक अर्थ वाले शब्द होने के कारण अनेक शब्द ऐसे हैं जो अनेकार्थवाचक हैं। आकाश भी वैसा ही शब्द है।

समाकर्षात् ॥१५॥

सम + आकर्षात् ।

समान आकर्षण से ।

समान आकर्षण से होता है जगत् का विघटन । प्रकृति के प्रत्येक कण में तीन गुण (सत्त्व, रजस्, तमस्) साम्यावस्था में रहते हैं । इन गुणों में आकर्षण, विकर्षण पाया जाता है । अतः जब ये गुण साम्यावस्था (balanced state) में होते हैं तब प्रशान्त अविज्ञेय प्रकृति होती है ।

सांख्य का कथन है—

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृति ।

प्रकृति में गुणों का समाकर्षण होता है । जगत्-रचना के समय यह समाकर्षण भंग होता है तो प्रथम स्थिति ऐसी उत्पन्न होती है । जब प्रकृति के एक परमाणु में गुणों का आकर्षण सम नहीं रहता ।

यह कैसे असमता को प्राप्त होता है ? यह इस प्रकार है कि प्रलय अवस्था-में परमाणु के भीतर के गुण परस्पर विरोधी होने से भीतर ही एक-दूसरे को विलीन कर रहे होते हैं, परन्तु सर्ग-रचना के समय ईश्वर की यदृच्छा से गुणों का आकर्षण एक-दूसरे पर न रहकर वाह्याभिमुख हो जाता है और वे परस्पर भीतर ही एक-दूसरे को विलीन करने की अपेक्षा पड़ोस के परमाणुओं के विरोधी गुणों पर प्रभाव डालने लगते हैं ।

परिणाम यह होता है कि दो-दो और अधिक परमाणु परस्पर आकर्षित होने से उनमें संयोग एवं समन्वय होने लगता है ।

इससे प्रथम विकार जो उत्पन्न होता है, वह महत् कहलाता है । द्वयणुक, त्रयणुक इत्यादि वनते हैं । इन संयोगों में कुछ संयोग सत्त्व प्रधान हो जाते हैं । कुछ रजस् प्रधान और कुछ तमस् प्रधान होते हैं । सत्त्व प्रधान संयोग सात्त्विक (वैकारी) अहंकार कहाते हैं । रजोगुण प्रधान संयोग को रजस् (तेजस्) अहंकार कहते हैं और तमस् गुण प्रधान संयोग को तमस् (भूतादि) अहंकार कहते हैं । यह स्थिति अहंकार कहलाती है ।

अहंकारों के फिर परस्पर संयोग होते हैं । वैकारी अहंकार और तेजस् अहंकार के संयोग से मन और इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं और तेजस् तथा भूतादि अहंकार के संयोग से पंच महाभूत वनते हैं ।

अहंकारों से तन्मात्रायें भी उत्पन्न होती हैं । ये तरंगों की भाँति हैं । ये सूक्ष्म महाभूतों से स्थूल महाभूत वनाती हैं और कुछ अन्य कार्य भी करती हैं ।

जो सृष्टि के इस क्रम को जानता है, वह इस सूत्र का अर्थ लगा सकता है ।

इस सूत्र का अर्थ है कि प्रकृति की मूल अवस्था 'समाकर्षात्' होती है।

इसी को प्रशान्त, अतीन्द्रिय एवं अविज्ञेय कहा है।

जगद्वाचित्वात ॥१६॥

जगत् + वाचित्वात्।

जगत् का वाचक होने से।

इसका अभिप्राय है कि गतिशील अर्थ है जगत् का। गतिशील होने से ही यह कार्य-प्रपंच जगत् कहलाता है।

समाकर्षात् से तो प्रकृति का स्वरूप प्रशान्त होता है और जब आकर्षण-विकर्षण परमाणु के भीतर ही परस्पर विलीन न रहकर बाहर के परमाणुओं में विरोधी गुणों का आकर्षण करने लगते हैं तो गति उत्पन्न होती है। इन गतियों का नाम ही जगत् है।

पूर्ण जगत् में गति ही हो रही है। जिस क्षण यह गति रुकेगी, जगत् विनष्ट हो जायेगा और प्रलय का समय आ जायेगा। गति का आरम्भ दो अथवा अधिक परमाणुओं के विपरीत गुणों के परस्पर आकर्षण-विकर्षण से होता है। परमाणुओं से अणु और अणुओं से द्वयणुक बनते हैं। तब द्वयणुकों से और अधिक अणु आकर्षित होते हैं। इससे गति उत्पन्न होती है।

ऐसा भी कई एक का मत है कि इसी आकर्षण-विकर्षण से 'रसायनिक ऐटम' की सृष्टि होती है। इसमें भी घन विद्युत् वाले प्रोटोन के चारों ओर ऋण विद्युत् वाले इलैक्ट्रोन परस्पर आकर्षण से ही घूमते हैं। एक रसायनिक ऐटम में न्यूट्रोन भी होते हैं। यही भूतादि अहंकार हैं। भूतादि अहंकार तो परमाणु का भार बनाते हैं और इलैक्ट्रोन, प्रोटोन ऐटमों के संयोग पैदा कर पंच महाभूत की सृष्टि करते हैं। ये अन्न भी कहलाते हैं। तन्मात्रा अहंकारों से अर्थात् वैकारी, तेजस् और भूतादि अहंकारों से उत्पन्न होती है और उनसे पाँच प्रकार के कार्य होते हैं। 'ऐटम' का दार्शनिक नाम परिमण्डल है।

(१) 'ऐटम' अन्तर्गत आकर्षण जिससे 'ऐटम' संगठित रहता है।

(२) रसायनिक शक्ति जिससे संयुक्त पदार्थ बनते हैं तथा जिससे दो अथवा अधिक ऐटम मिलकर एक 'मॉलिक्यूल' बनता है।

(३) संशक्ति (adhesion) जिससे किसी पदार्थ के छोटे-मोटे टुकड़े जुड़कर बड़े बनते हैं।

(४) चुम्बकीय आकर्षण (magnetic power)।

(५) भू-आकर्षण (gravity)।

जगत् की सब गतियाँ इन्हीं तन्मात्राओं से उत्पन्न होती हैं। इन गतियों से ही जगत् शब्द सार्थक होता है।

क्योंकि प्रथम प्रकृति के परमाणुओं में गुणों के समाकर्षण को हटाकर गुणों का मुख बाहर को कर दूसरे परमाणुओं के विपरीत गुणों में आकर्षण उत्पन्न करने से ही यह गति उत्पन्न हुई है और यह परमात्मा की यदृच्छा से होता है। इस कारण परमात्मा को ही सृष्टि का रचने वाला मानना चाहिये।

जीवमुख्यप्राणलिंगान्नेति चेत्तद्व्याख्यातम् ॥१७॥

जीवमुख्यप्राणलिंगात्+न+इति+चेत्+तत्+व्याख्यातम्।

मुख्य प्राण के लिंग (लक्षण) से प्राणी नहीं है। क्या नहीं है? उक्त समाकर्षण को भंग करने वाला और गति उत्पन्न कर जगत् की सृष्टि करने वाला। यदि कहो कि ऐसा है तो इसका वर्णन ऊपर (ब्र० सू० १-१-३१ में) किया जा चुका है।

अर्थात् प्राणी की करनी से जगत् की रचना नहीं। यद्यपि प्राण (हिलने-डोलने की शक्ति) तो उसमें भी है।

इसके लिये सूत्र (१-१-३१) की विवेचना पढ़ लीजिए।

अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके १८

अन्यार्थम्+तु+जैमिनिः+प्रश्न+व्याख्यानाभ्याम्+अपि+च+एवम्+एके।

जैमिनि आचार्य और कई अन्य के वचन से प्रश्न और व्याख्यान से। यह किसी दूसरे के लिए है। ऐसा भी कुछ लोग कहते हैं।

अभिप्राय यह कि जैमिनि और कुछ एक अन्य आचार्य यह कहते हैं कि (प्रश्न और व्याख्यान से) विचार विनिमय से यह प्रकट होता है कि उक्त सूत्र में और सूत्र १-१-३१ में वर्णित प्राणी का मुख्य प्राण-लिंग किसी अन्य के लिए है। अर्थात् जीवात्मा के लिये है।

किस दूसरे के लिये हैं? जीवात्मा के लिये। अभिप्राय यह कि प्राण-लिंग

है परमात्मा का। लिंग का अर्थ है संकेत। प्राणी में प्राण परमात्मा का ही संकेत करता है।

अभिप्राय यह है कि प्रकृति से जगत् की रचना में अर्थात् प्रकृति के परमाणुओं में गति उत्पन्न करने में तो ईश्वर की शक्ति का संकेत मिलता ही है। इसी प्रकार प्राणी के मुख्य लिंग प्राण में भी परमात्मा का संकेत है। यह दूसरे अर्थात् जीवात्मा के लिए है। प्राण का अर्थ गति अथवा प्रयत्न करने वाली शक्ति है।

जगत् में तो परमात्मा की शक्ति किसी विशेष के लिये नहीं, परन्तु प्राणी में यह जीवात्मा के लिये है। यह जैमिनि और कई एक ऋषियों का मत है।

वाक्यान्वयात् ॥१९॥

वाक्य+अन्वयात्।

वाक्य का अभिप्राय है वेद वाक्य। अन्वयात् का अर्थ है सामञ्जस्य। अभिप्राय है उचित अर्थ लगाने से।

वेद-वाक्यों के अनुशीलन से क्या पता चलता है? यह पता चलता है कि जगत् में गति और प्राणी में गति परमात्मा का लिंग है।

वेद वाक्य उस परमात्मा को इस प्रकार वर्णन करते हैं—

> आतिष्ठन्तं परि विश्वे अभूषञ्छ्रियो वसानश्चरति स्वरोचिः।
> महत्तद्वृष्णो असुरस्य नामाऽऽविश्वरूपो अमृतानि तस्थौ॥
> (ऋ० ३-३८-४)

(आतिष्ठन्तं परि विश्वे अभूषन्) विश्व में विराजमान होने से भूषित करती है; (श्रियः वसानः चरति स्वरोचिः) जैसे सूर्य की किरणें चलती हुईं; (महत् तत् वृष्णः असुरस्य नाम) उस महान् (परमात्मा) (असुर) विघ्न-बाधाओं को झुकाने के लिए (विश्वरूपः) विश्व के रूपों को अर्थात् विश्व के नक्षत्रादि को; (अमृतानि तस्थौ) अमृत में ठहराता है।

इसका अभिप्राय यह है कि जैसे सूर्य की किरणें पूर्ण विश्व में फैलकर चलती हुई प्रकाश करती हैं, वैसे ही परमात्मा की शक्ति विश्व की सब वस्तुओं में विरोधी शक्तियों का दमन करती है।

और भी कहा है—

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समाश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥
(श्वे० ६-८)

उस परमात्मा के कार्य और साधन कार्य करने के लिये नहीं। इस पर भी उसके कार्य हो रहे हैं। उसके समान अथवा उससे अधिक कोई वल वाला दिखाई नहीं देता और न ही सुना जाता है। उससे अधिक विविध प्रकार एवं अधिक स्वाभाविक शक्ति और ज्ञान किसी अन्य का नहीं है।

प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः ॥२०॥

प्रतिज्ञासिद्धेः+लिङ्गम्+आश्मरथ्यः ।

प्रतिज्ञा की सिद्धि में चिह्न है। ऐसा आश्मरथ्य ऋषि का कहना है। प्रतिज्ञा के अभिप्राय में ही यहाँ मतभेद हो गया है।

प्रतिज्ञा के अर्थ हैं किसी काम करने अथवा किसी बात के जानने में निश्चय करना।

श्री आप्टे अपने शब्द कोष में इसके अर्थ लिखते हैं—

admission, acknowledgement, a vow, a solemn declaration, इत्यादि ।

यहाँ प्रतिज्ञा का अर्थ किसी बात को स्वीकार करने अथवा निश्चय करने से है। भिन्न-भिन्न आचार्यों ने इसके भिन्न-भिन्न अर्थ लिये हैं।

उदाहरण के रूप में श्री स्वामी शंकर ने इसके अर्थ किये हैं—

'आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' यह प्रतिज्ञा है अपने ज्ञान से इस सब (जगत्) का ज्ञान हो जाता है। यह प्रतिज्ञा है अर्थात् स्वीकारोक्ति है।

प्रतिज्ञा के यह अर्थ करने से सूत्र का अर्थ बनता है कि इस बात के सिद्ध होने से चिह्न है अर्थात् संकेत है कि जीवात्मा भी परमात्मा ही है। अब प्रश्न होता है कि इसका इस सूत्र के पूर्वापर से सम्बन्ध बैठता है अथवा नहीं ?

ऊपर यह लिखा जा चुका है कि मनुष्य में मुख्य प्राण चिह्न है परमात्मा का और अगले सूत्र में लिखा है कि यह परमात्मा की शक्ति किसी दूसरे (जीवात्मा) के लिये है। इन सूत्रों के प्रकाश में प्रतिज्ञा यह नहीं हो सकती कि अपने ज्ञान से सब जगत् का ज्ञान हो जाता है; वरंच निश्चय बात यह हो जाती है कि जीवात्मा परमात्मा से अन्य है और इस बात को भली भाँति सिद्ध कर लेने से ही परमात्मा की भी सिद्धि का संकेत मिलता है। यह इस प्रकार कि जीवात्मा

का प्राण उसका अपना नहीं है। यह किसी दूसरे (परमात्मा) का दिया हुआ है।

श्री आचार्य उदयवीर शास्त्री इस प्रतिज्ञा का अभिप्राय इस प्रकार समझते हैं। वे लिखते हैं—

"(प्रतिज्ञासिद्धं) प्रतिज्ञा सिद्धि का (लिङ्गम्) चिह्न है।..."

आश्मरथ्य आचार्य का विचार है कि उस प्रसंग में जीव विषय का कथन प्रतिज्ञा सिद्धि का लक्षण है।

आगे चलकर आप लिखते हैं—

'गत सूत्र की व्याख्या में सूत्रकार के आशय के अनुसार इसका समाधान किया कि जीवात्मा का शरीर प्रवेश स्वतन्त्रता से ईक्षण पूर्वक नहीं होता। यह जीवों के कर्मानुरूप परब्रह्म की व्यवस्थानुसार होता है। यह परमात्मा का औपचारिक प्रवेश उसकी व्यवस्थानुसार जीवात्मा प्रवेश का द्योतक है। इसलिए यहाँ शरीरान्तः (शरीर में) प्रवेश को जीवात्मा का लिंग मानने की आवश्यकता नहीं।'

बात तो ठीक है, परन्तु यह पूर्व के सूत्र अथवा वर्तमान सूत्रों में कहीं नहीं कहा गया। यह असंगत भाव उपनिषद् के प्रमाणों के अनुसार हो तो हो, परन्तु सूत्रों से इस सिद्धान्त का दूर का भी सम्बन्ध नहीं।

स्वामी ब्रह्ममुनिजी प्रतिज्ञा का अभिप्राय इस प्रकार सिद्ध करते हैं—

(प्रतिज्ञा सिद्धेः—लिङ्गम्) 'आत्मा वा रे द्रष्टव्यः' इस वचन में परमात्मा का लिंग-द्योतन है प्रतिज्ञा की सिद्धि से, वहाँ यह प्रतिज्ञा है 'आत्मानि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितम्' (बृहद्० ४-५-६) अर्थात् आत्मा के श्रवण, मनन, निदिध्यासन और साक्षात् कर लेने पर यह सब जगत् जाना जाता है।

इस प्रकार मुनिजी कहते हैं कि परमात्मा के जान लेने से पूर्ण जगत् जाना जा सकता है। यह प्रतिज्ञा है।

हमारा यही कहना है कि इनका पूर्व के सूत्रों से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं।

सूत्र १-४-१९ में तो यह कहा है कि उक्त (१-४-१७, १८) में कही बात वेद-वाक्यों में भी है। अतः इस सूत्र में प्रतिज्ञा वही है जो सूत्र (१-४-१७, १८) में वर्णन की गई है।

इन सूत्रों में यह कहा है—

मनुष्य में मुख्य प्राण के संकेत से यह पता चलता है कि वह प्राण भी परमात्मा की शक्ति का ही लिंग है। यदि ऐसा नहीं मानते तो सूत्र १-१-३१ में देख लो। वहाँ वर्णन किया है।

इससे अगले सूत्र में लिखा है कि यह (प्राण) जो परमात्मा का लिंग है, यह दूसरे (जीवात्मा) के लिये है। ऐसा जैमिनि और अन्य भी कई एक मानते हैं।

अतः इस सूत्र में यही विचार उपस्थित है कि ईश्वर की शक्ति किसी दूसरे के लिये है। इसी से यह सिद्ध होता है कि यह शक्ति (प्राण) परमात्मा की है। ऐसा आश्मरथ्य आचार्य का मत है कि परमात्मा की शक्ति जीवात्मा के लिए है। यह ही निश्चय है, यही प्रतिज्ञा है।

उत्क्रमिष्यत एवं भावादित्यौडुलोमिः ॥२१॥

उत्क्रमिष्यतः+एवं भावात्+इति+औडुलोमिः।

इति औडुलोमिः=यह औडुलोमि ऋषि का मत है। उत्क्रमिष्यतः=ऊपर उठता हुआ है। एवं भावात्=ऐसा होने से।

ऊपर उठते हुए अर्थात् जीवात्मा के मोक्ष की ओर जाने की प्रक्रिया में ऐसा होने से। कैसा होने से क्या? ईश्वरीय प्राण के सहायक होने से ही मोक्ष की सिद्धि है।

इसमें ईश्वरीय प्राण किसी दूसरे के लिये है, इसकी व्याख्या की है। यह जीवात्मा की क्या सहायता करता है? यही लिखा है। लिखा है कि जीवात्मा के मोक्ष-प्राप्ति में सहायता करता है।

इससे यह बात स्पष्ट होती है कि शरीर में दी गई ईश्वरीय शक्ति का प्रयोग कर जीवात्मा मोक्ष की सिद्धि कर सकता है।

अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः ॥२२॥

अवस्थितेः+इति+काशकृत्सनः।

इति काशकृत्सनः—यह काश कृत्स्न ऋषि का कहना है कि उत्क्रमण करने में जीव परमात्मा के प्राण से सहायता लेता है। यह इस बात से भी सिद्ध होता है कि अवस्थितेः—ईश्वर में अवस्थित होने से। पूर्ण संसार परमात्मा में स्थित है। इस कारण जीवात्मायें भी उसी परमात्मा में स्थित हैं। अतः जीवात्मा उत्क्रमण करते समय परमात्मा की प्राण शक्ति से सहायता पाता है। निकृष्ट योनियों से उत्कृष्ट योनियों में जाते समय भी मोक्ष तक पहुँचने में

ईश्वर ही सहायक है।

इस स्थान पर विचारणीय बात यह है कि सब जीव ही क्या उत्क्रमण करते हैं ? ऐसा नहीं। जो ईश्वरीय शक्ति का प्रयोग उत्क्रमण के लिये करते हैं, वे ही उत्क्रमण करते हैं। कुछ लोग उच्च योनियों से नीचे की योनियों में जाने के लिये भी संलग्न हैं। इस कारण ईश्वर की शक्ति के प्रयोग की दिशा तो जीवात्मा के ईक्षण पर है। इसी में उसकी स्वतन्त्रता है।

एक प्रश्न यहाँ और उत्पन्न होता है कि मनुष्य में मन और बुद्धि तो कर्म से मिलते हैं। बिना मन और बुद्धि के मनुष्य उत्क्रमण अथवा अपक्रमण नहीं कर सकता। कारण यह कि ईश्वरीय शक्ति का प्रयोग इन्हीं से सम्पन्न होता है तो जीवात्मा की स्वतन्त्रता किस प्रकार सिद्ध की जा सकती है ? जीव तो मन और बुद्धि के अधीन ही होता है।

यदि यह मानें कि जीवात्मा मन और बुद्धि के बिना मनन एवं निश्चय कर ही नहीं सकता तो सत्य ही जीवात्मा को स्वतन्त्र नहीं माना जा सकता। परन्तु ऐसा माना है कि मन और बुद्धि तो केवल करण हैं और इन करणों को प्रयोग करने वाला जीव ही है।

यह कहा है कि—

एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः। स परेऽक्षारआत्मनि संप्रतिष्ठते ॥

(प्रश्न० ४-९)

यह (जीव) ही देखने वाला, स्पर्श करने वाला, सुनने वाला, सूँघने वाला, रस लेने वाला, मनन करने वाला, निश्चय करने वाला और कार्य करने वाला है। इन्द्रियाँ नहीं। यह विज्ञानात्मा आत्मा है। वह परम अक्षर परमात्मा में प्रतिष्ठित अर्थात् स्थित है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि आत्मा ही देखने, सुनने, मनन करने इत्यादि की शक्ति रखता है। अतः यह मन और इन्द्रियाँ नहीं, वरंच आत्मा ही है जो कार्य करता है। वह ईश्वरीय शक्ति (प्राण) का उपयोग अथवा दुरुपयोग करता हुआ उत्क्रमण करता है अथवा अपक्रमण करता है।

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ॥२३॥

प्रकृतिः+च+प्रतिज्ञा।दृष्टान्त+अनुपरोधात्।

और प्रकृति (बांधती है अर्थात् उत्क्रमण करने नहीं देती) प्रतिज्ञा तथा

दृष्टान्त अर्थात् शास्त्र ज्ञान की बाधा न होने से ।

प्रतिज्ञा उत्क्रमण करने का निश्चय अर्थात् संकल्प और ज्ञान प्रकृति के बाँधने के कर्म में बाधक होते हैं । बाधा न हो तो प्रकृति मनुष्य को भोगों में लिप्त रखती है ।

जीवात्मा संकल्प और ज्ञान के आश्रय संसार से अलिप्त हो उत्क्रमण करता है । अन्यथा अपक्रमण करता है ।

अतः सूत्रार्थ यह है कि संकल्प एवं ज्ञान के विरोध न करने पर जीव संसार में बँधा रहता है और उत्क्रमण नहीं कर सकता । दूसरे शब्दों में जीव के उत्क्रमण (ऊपर उठने) के लिये दृढ़ संकल्प और ज्ञान आश्वयक है ।

हमारा मत है कि इस सूत्र में लिखा है, "प्रकृति अपने गुणों से मनुष्य को बाँधती है ।" जैसा कि गीता में लिखा है—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥

(भ० गी० १३-२१)

अर्थात्—जीवात्मा प्रकृति में स्थित प्रकृति से उत्पन्न गुणों के कारण पदार्थों को भोगता है और गुणों का संग ही इसी जीवात्मा को अच्छी-बुरी योनियों में जन्म लेने में कारण है ।

और इस बन्धन से मुक्ति कब होती है ? वह भी गीता में लिखा है—

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥

(भ० गी० १३-२३)

जो इस प्रकार पुरुष (जीवात्मा) को और प्रकृति को गुणों सहित जानता है, वह वर्तमान में विचरता हुआ भी पुनः जन्म नहीं पाता ।

अर्थात् प्रकृति अपने गुणों से जीवात्मा को बाँधती है और जो शास्त्र-ज्ञान से दिशा पा यत्न करता है, वह उत्क्रमण करता है ।

इस पूर्ण बात को सूत्रकार ने ऊपर संक्षेप में कहा है कि यत्न से तथा शास्त्र-ज्ञान से मनुष्य प्रकृति से नहीं बँधता ।

परन्तु विस्मय इस बात का है कि उक्त सब-कुछ जानकर भी श्री शंकराचार्य सूत्रार्थ में हेर-फेर कर गये हैं ।

वह उक्त परिणामों से उलट परिणाम निकालने का यत्न कर गये हैं । वह इस सूत्र के भाष्य में पहले पूर्व पक्ष लिखते हैं । पूर्व पक्ष में वह लिखते हैं कि जगत्-रचना में दो कारण हैं । प्रकृति उपादान कारण और परमात्मा निमित्त कारण । स्वामीजी का पूर्व पक्ष हमने नहीं लिखा । कारण यह कि हमारा भी पक्ष यही है । हमने देखना यह है कि स्वामीजी इस पूर्व पक्ष का

खण्डन किस प्रकार करते हैं ?

आप लिखते हैं—

एवं प्राप्ते ब्रूमः—प्रकृतिश्चोपादानकारणं च ब्रह्माभ्युपगन्तव्यं निमित्त-कारणं च। न केवलं निमित्तकारणमेव। कस्मात् ? प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्। एवं प्रतिज्ञादृष्टान्तौ श्रौतौ नोपरुध्येते। प्रतिज्ञातावत्—'उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्।' (छा० ६-१-२)

इसका अर्थ है—ऐसा (पूर्व पक्ष) प्राप्त होने पर हम कहते हैं। प्रकृति उपादान कारण और उसके ऊपर ब्रह्म निमित्त कारण मानना चाहिये। केवल निमित्त कारण ही नहीं, क्योंकि प्रतिज्ञा और दृष्टान्त का अनुपरोध है। दोनों प्रकार का कारण ब्रह्म को मानने से श्रुति प्रतिपादित प्रतिज्ञा और दृष्टान्त बाधित नहीं होते। इस प्रकार प्रतिज्ञा है—'क्या तूने गुरु से यह उपदेश पूछा है ? जिससे अश्रुत श्रुत हो जाता है, अमत मत हो जाता है और अविज्ञात ज्ञात हो जाता है।' (छा० ६-१-२)

इसके आगे आप युक्ति करते हैं।

तत्र चैकेन विज्ञातेन सर्वमन्यदविज्ञातमपि विज्ञातं भवतीति प्रतीयते। तच्चोपादानकारणविज्ञाने सर्वविज्ञानं संभवत्युपादानकारणाव्यतिरेकात्कार्यस्य। निमित्तिकारणाव्यतिरेकस्तु कार्यस्य नास्ति; लोके तक्षणः प्रासादव्यतिरेकदर्शनात्। दृष्टान्तोऽपि—'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इत्युपादानकारणगोचर एवाम्नायते। तथा 'एकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातं स्यात्' (छा० ६-१-४, ५, ६) इति च।

अर्थात्—उसमें ऐसा दिखाई देता है कि एक के विज्ञात होने से अन्य सब अविज्ञात् भी विज्ञात हो जाते हैं। इससे उपादान कारण के विशेष ज्ञान से सब विशेष ज्ञान सम्भव है; क्योंकि कार्य उपादान कारण से अभिन्न होता है और निमित्त कारण से कार्य अभिन्न नहीं होता। लोक में भी बढ़ई भवन से भिन्न दिखाई देखने में आता है, परन्तु दृष्टान्त है—छा० ६-१-४, ५ और ६। इसकी हम आगे व्याख्या करेंगे।

स्वामीजी के उक्त सूत्र के भाष्य में से इतना बड़ा उद्धरण देने का प्रयोजन यह है कि दिखाया जाये कि स्वामीजी ने अपने सिद्धान्त की पूर्ण भित्ति को जिस आधार पर खड़ा किया है, वह कितना थोथा है ?

देखिये, स्वामीजी ने पहले पूर्व पक्ष में यह लिखा है कि जगत् का निमित्त कारण परमात्मा है और उपादान कारण प्रकृति है। अब वह इसका उत्तर इस प्रकार देते हैं कि परमात्मा को उपादान कारण का भी निमित्त कारण माना जाये। वह प्रकृति का भी निमित्त कारण है। ब्रह्म को दोनों मान लेना

चाहिये।

इसमें वह छान्दो० ६-१-२ का उद्धरण देते हैं।

इसलिए ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण और निमित्त कारण दोनों मान लेना चाहिये; क्योंकि छान्दो० ६-१-२ में लिखा है।

आइये, देखें ६-१-२ में क्या लिखा है ? इसके साथ ही हम छान्दो० ६-१-३, ४, ५ और ६) भी लिख रहे हैं। एक तो उक्त उद्धरण श्री स्वामीजी अपनी थोथी युक्ति में देते हैं और दूसरे उपनिषद् के पूर्ण प्रसंग के जाने बिना अर्थ लगा रहे हैं।

उपनिषद् मन्त्र इस प्रकार है—

स ह द्वादशवर्ष उपेत्य चतुर्विं शतिवर्षः सर्वान्वेदानधीत्य महामना अनूचानमानी स्तब्ध एयाय। तं ह पितोवाच—श्वेतकेतो यन्नु सोम्येदं महामना अनूचानमानी स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्यः ॥२॥

येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति। कथं नु भगवः स आदेशो भवतीति ॥३॥

यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात्।
वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ॥४॥
यथा सोम्यैकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातं स्यात्।
वाचारम्भणं विकारो नामधेयं लोहमित्येव सत्यम् ॥५॥

यथा सोम्यैकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसं विज्ञातं स्यात्। वाचारम्भणं विकारो नामधेयं कृष्णायसमित्येव सत्यम्। एवं सोम्य स आदेशो भवतीति ॥६॥

अब इस उपनिषद् का अर्थ देखिये।

वह श्वेतकेतु बारह वर्ष गुरु के पास रहकर जब चौबीस वर्ष का हुआ तो सारे वेद पढ़कर, बड़ा मनस्वी, अपने-आपको वेदज्ञ मानने वाला और हठी बनकर अपने पिता के पास आया। उसको उसके पिता ने कहा—

'क्या तूने अपने आचार्य से यह पूछा था कि किससे न सुना हुआ सुना हुआ हो जाता है, न जाना हुआ जाना हुआ हो जाता है और अमत मत हो जाता है ?'

लड़के ने कहा, 'भगवन् ! वह आदेश क्या होता है ?'

'हे सौम्य ! जैसे एक मिट्टी के ढेले को जान लेने से सब मिट्टी के पदार्थ जान लिये जाते हैं। जैसे एक सुवर्ण पिण्ड के समझ लेने से सभी सुवर्ण से बने पदार्थों में सुवर्ण का ज्ञान हो जाता है। इनमें विकार केवल कहने मात्र का है। इसी प्रकार यह है।'

श्वेतकेतु ने कहा, 'यह मैंने नहीं सुना। मेरे पढ़ाने वाले ने निश्चय ही

यह नहीं बताया। (छान्दो० ६-१-२, ३, ४, ५, ६, ७)

तब आरुणि ने कहा, 'यह जगत् पहले सत् ही था। केवल अकेला सत्। कुछ एक का मत है कि अभाव से भाव हो गया। यह कैसे हो सकता है? अभाव से भाव नहीं हो सकता। इस कारण जगत्-रचना से पूर्व भाव था। कुछ था। वह एक था।' (छान्दो० ६-२-१)

इसका अर्थ यह है कि स्वर्ण को जान लेने से स्वर्णकार उससे भाँति-भाँति के भूषण बना लेता है। कुम्हार मिट्टी को जानकर उससे अनेक प्रकार के मिट्टी के बर्तन बना लेता है। यही सोने की भाँति जगत् का पूर्व सत् था। उससे ही सब जगत् के पदार्थ बने हैं।

इसी प्रकार यह पूर्ण जगत् बनाने वाले ने एक पदार्थ से सब भिन्न-भिन्न नाम रूप वाले पदार्थ बनाये हैं।

इतने वाक्य से तो यह सिद्ध नहीं होता कि जगत् का उपादान कारण नहीं है। केवल यह पता चलता है कि जगत् के सब पदार्थों का एक ही उपादान कारण है। आगे के मन्त्रों में लिखा है—

तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति। तत्तेजोऽसृजत। तत्तेज ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तदपोऽसृजत। तस्माद्यत्र क्व च शोचति स्वेदते वा पुरुषस्तेजस एव तदध्यापो जायन्ते। (छान्दो० ६-२-३)

ता आप ऐक्षन्त बह्व्यः स्याम प्रजायेमहीति ता अन्नमसृजन्त। तस्माद्यत्र क्व च वर्षति तदेव भूयिष्ठमन्नं भवत्यद्भ्य एव तदध्यन्नाद्यं जायते। (छान्दो० ६-२-४)

इसका अर्थ इस प्रकार बनता है—

(तत् ऐक्षत् बहुःस्याम् प्रजायेयेति) उस समय परमात्मा ने ईक्षण किया कि मैं बहुत प्रजा उत्पन्न करूँ। तब उसने अन्न का सृजन किया। अतः जहाँ कहीं वर्षा होती है, बहुत अन्न होता है। जल से ही अन्न होता है।

इन मन्त्रों का अर्थ इस प्रकार करने से तो यह सिद्ध होता है कि उपादान कारण जो ऊपर बताया है कि पूर्ण जगत् का कारण एक ही है, उसने बहुत प्रजायें उत्पन्न करने के लिये ईक्षण किया।

इन्हीं मन्त्रों का यह भी अर्थ किया जाता है कि वह मूल प्रधान ने ही ईक्षण किया और वह ही परमात्मा का रूप है, परन्तु वह अन्य उपनिषद् वाक्यों के विपरीत जाता है। ईक्षण करने वाला तो चेतन तत्त्व ही है और अपाः तेज अन्न इत्यादि जिनके ईक्षण करने की बात आरुणि ने कही कि वे जड़ पदार्थ कैसे ईक्षण करने वाले माने जा सकते हैं? अभिप्राय स्पष्ट है कि उस जगत्-रचना से मूल भाव से परमात्मा ने सृष्टि रचना का ईक्षण किया।

परन्तु हमारी मुख्य आपत्ति तो शंकर भाष्य पर यह है कि उनकी इस

सब व्याख्या में सूत्र की व्याख्या कहाँ है ? उससे इसकी कहाँ संगत बैठती है ? सूत्र में तो शब्द स्पष्ट है।

प्रकृतिः च—और प्रकृति (बाँधती है।)

प्रतिज्ञा दृष्टान्त अनुपरोधात्—जब संकल्प और शास्त्र ज्ञान-बाधक नहीं होते।

इनका उक्त सब दृष्टान्तों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं।

अभिध्योपदेशाच्च ॥२४॥

अभिध्या + उपदेशात् + च।

अभिध्या = संकल्प। उपदेशात् = उपदेश से। और प्रश्न उत्पन्न होता है कि संकल्प किसका ?

हमारा मत यह है कि उसका, जो सूत्र १-४-२१ के अनुसार उत्क्रमिष्यत अर्थात् ऊंची योनियों को जाता है। इस प्रकार यहाँ उसके संकल्प से अभिप्राय है। सूत्र (१-४-२३) के अनुसार प्रकृति के बन्धन से प्रतिज्ञा और दृष्टान्त से छूटता है।

अर्थात् यहाँ भी अभिध्या—संकल्प जीवात्मा का ही है। उपदेश से अर्थात् शास्त्र ज्ञान से यह संकल्प बनता है। उत्क्रमण का संकल्प वेदान्त के उपदेश से निर्माण होता है।

साक्षाच्चोभयाम्नानात् ॥२५॥

साक्षात् + च + उभय + आम्नानात्।

और साक्षात् अर्थात् दोनों प्रकार के प्रत्यक्ष से आमनान (पठन-पाठन) से।

पूर्व सूत्र (१-४-२४) में लिखा है कि उपदेश से संकल्प उत्क्रमण का बनता है। यहाँ लिखा है—और साक्षात् से भी अर्थात् दोनों के साथ-साथ ज्ञान से संकल्प सुदृढ़ होता है।

साक्षात् के दो अर्थ लिये जा सकते हैं। इतर योनियों में प्राणी के कष्ट देखने से जीवात्मा संकल्प करता है उत्क्रमण करने का। कुत्ते, बिल्ली इत्यादि का विवशता का जीवन देखकर मनुष्य अपक्रमण करने से डरता है। यह एक प्रकार

का साक्षात् है । दूसरे प्रकार का साक्षात् है स्वाध्याय तथा योग, ध्यान, धारणा, समाधि द्वारा ।

दोनों के साक्षात् का अभिप्राय यह भी है कि हृदय की गुहा में जीवात्मा और परमात्मा का साक्षात् होने से भी उत्क्रमण होता है ।

आत्मकृतेः परिणामात् ॥२६॥

आत्म+कृतेः+परिणामात् ।

आत्म=आत्मा । कृतेः=कर्मों के । परिणामात्—परिणाम से ।

यह उत्क्रमण अथवा अपक्रमण जीवात्मा के कर्मों के परिणाम अर्थात् कर्म-फल से होता है ।

योनिश्च हि गीयते ॥२७॥

योनि=उद्गम स्थान । च=और । हि=क्योंकि । गीयते=वर्णन किया गया है ।

और क्योंकि परमात्मा इस (जगत्) का योनि स्थान कहा गया है; इस कारण 'जन्माद्यस्य यतः' सिद्ध होता है ।

यहाँ यह समझ लेना चाहिये कि योनि कहने से वहाँ पर बनने वाला पदार्थ और उस पदार्थ का मूल स्रोत योनि से पृथक् होता है । योनि उद्गम स्थान है । उद्गम होने वाला पदार्थ भिन्न तत्त्वों से बनता है । यह बात स्पष्ट है कि योनि केवल मात्र स्थान का प्रतीक है । बनने वाले पदार्थ का मूल योनि से भिन्न है । इसी प्रकार बनाने की शक्ति भी स्थान से भिन्न है ।

जगत्-रचना में योनि स्थान तो आकाश है । मूल पदार्थ प्रकृति अर्थात् प्रधान है और रचना की शक्ति रखने वाला परमात्मा है ।

ऊपर आकाश को परमात्मा का लक्षण लिखा जा चुका है । यह इस कारण कि आकाश (space) परमात्मा से व्याप्त है । अतः जहाँ-जहाँ आकाश है, वहाँ परमात्मा का होना भी निश्चय है ।

जैसे अग्नि का लक्षण धुआँ है । जहाँ धुआँ है, वहां अग्नि को भी मानना होता है । इसी प्रकार परमात्मा और आकाश पर्यायवाचक हो गये हैं ।

आम्नान् के अर्थ हैं पठन-पाठन द्वारा स्मरण रखना। विलियम मोनियर इसके अर्थ इस प्रकार लिखते हैं। आम्नान्—to utter, mention to cite, to commit to memory, handed down in sacred text.

एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः ॥२८॥

एतेन+सर्वे+व्याख्याता व्याख्याताः।

इससे सबमें व्याख्या सहित व्याख्या किये गए (समझने चाहियें)। व्याख्या से व्याख्या किये गए का अर्थ है वेदादि शास्त्रों में व्याख्या सहित वर्णन किये गए समझ लो।

यहाँ सूत्रवत् वर्णन किया गया है। व्याख्या वेदादि शास्त्रों में मिलती है। यह वैसा ही कथन है जैसा कि ब्र० सू० १-१-१५ में भी आया है। (मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते) अर्थात् वेद मन्त्र के पदों में ऐसा कहा गया है।

सर्वे का अर्थ है सब प्रामाणिक शास्त्रों में।

यहाँ ब्रह्मसूत्रों के प्रथम अध्याय की समाप्ति होती है। अतः हम अपना मत पुनः लिख देना चाहते हैं।

(१) ब्रह्म शब्द का प्रयोग केवल परमेश्वर के लिये ही नहीं किया गया। इन सूत्रों में जहाँ-जहाँ ब्रह्म का प्रयोग हुआ है; विशेषतः ग्रन्थ के नाम में, वहाँ जगत् के तीन मूल पदार्थों से अभिप्राय है। परमात्मा, प्रधान और जीवात्मा गण। अन्य शास्त्रों में भी इस शब्द का प्रयोग तीनों मूल पदार्थों, दोनों अथवा किसी एक के लिये भी हुआ है। अतः अर्थ करने में सावधानी बरतनी चाहिये।

सत् के अर्थ इस ग्रन्थ में अथवा वेदादि शास्त्रों में भी केवल 'होने' के अर्थों में आया है। अर्थात् जो अनादि है और जो अक्षर है, वह 'सत्' है।

चित् से अभिप्राय चेतन से है। चेतन पदार्थ का गुण ईक्षण करना है। ईक्षण से अभिप्राय कार्य का काल, स्थान और विधि निश्चय करना। जो ऐसा करने की सामर्थ्य रखता है, वह ईक्षण करने योग्य माना जाता है और वह चेतन है।

परमात्मा और जीवात्मा सत् भी हैं और चेतन भी हैं। परमात्मा सत् एवं

चित् के अतिरिक्त आनन्दस्वरूप भी है। इसी कारण परमात्मा को सच्चिदानंद भी कहते हैं।

जीवात्मा आनन्दमय नहीं, परन्तु यह आनन्द की खोज में रहता है। विशेष प्रयत्न और परिस्थितियों में यह भी आनन्द का उपभोग करने के योग्य हो जाता है।

प्रकृति जिसे प्रधान भी कहा है, यह भी सत् है अर्थात् अनादि और अनन्त है। परन्तु यह न तो चित् है और न ही आनन्दमय है। इसमें ईक्षण नहीं है। यह किसी भी अवस्था में आनन्दमय नहीं हो सकती। कारण यह कि इसमें चैतन्यता न होने से इसके लिये आनन्द तथा आनन्दमय अवस्थाएँ समान हैं। यह परिणामी है। अर्थात् इसमें विकार उत्पन्न होते हैं और वे विकार विनष्ट होते हैं। इस पर भी मूल पदार्थ अनादि और अक्षर है।

अतएव हमारा मत है कि ब्रह्मसूत्र-ग्रन्थ ब्रह्म अर्थात् परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति तीनों का ज्ञान कराने वाला है। केवल परमात्मा का नहीं।

हम यह मानते हैं कि ब्रह्मसूत्रों में जिस सत्य का निरूपण किया गया है, वह वेदादि शास्त्रों में भी मिलता है। परन्तु उसी सत्य की सिद्धि ब्रह्मसूत्रों में युक्ति का आश्रय लेकर की गयी है। इसी कारण इसे मीमांसा (philosophy) का ग्रन्थ कहा गया है।

हम युक्ति को वर्जित (taboo) नहीं करते, परन्तु युक्ति बुद्धि का विषय है और बुद्धि एक करणमात्र है। इस करण को जितना निर्मल, सजग और तीव्र बनाया जायेगा, उतनी ही अधिक स्पष्टता से सत्य के दर्शन होते हैं।

इस बुद्धि को निर्मल करने के लिये ही कुछ पूर्व-कर्म स्वीकार किये गए हैं। ये हैं यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार और विवेक।

ये वे साधन चतुष्टय नहीं, जिनकी आवश्यकता ब्रह्म में लीन होने के लिये आवश्यक समझी गयी है। इनमें कम से कम मुमुक्षत्व सम्मिलित नहीं। मुमुक्षत्व तो ज्ञान के उपरान्त उत्पन्न होता है। ज्ञान प्राप्ति के लिये वे सब साधन चाहिएँ, जिनसे बुद्धि निर्मल हो। शेष ज्ञान प्राप्त होने के उपरान्त होता है।

द्वितीय अध्याय

द्वितीय अध्याय में वर्णित विषय का संक्षेप

सूत्रकार यह बताने के लिए कि उसका मत वैदिक शास्त्रों का ही मत है, एक विशेष बात का स्पष्टीकरण करता है। वह यह कि यदि किसी शास्त्र में किसी विषय का वर्णन न हो तो इसका यह अर्थ नहीं हो सकता कि वह शास्त्र उस विषय का विरोध करता है। 'अनवकाश' अर्थात् किसी विषय अथवा पदार्थ का उल्लेख न होने से यह अर्थ नहीं निकलता कि वह शास्त्र उस विषय का विरोध कर रहा है अथवा उस पदार्थ के अस्तित्व को नहीं मानता।

इस प्रकार सूत्रकार ने उन शास्त्रों की सफ़ाई प्रस्तुत कर दी जिनमें जीवात्मा और प्रकृति का उल्लेख नहीं है। जीवात्मा और प्रकृति का उल्लेख कई उपनिषदों में नहीं है।

योग क्रियाओं में कैवल्यावस्था प्राप्त करने के लिए मनुष्य द्वारा किये जाने वाले प्रयास का वर्णन है। इसमें परमात्मा के सहयोग का वर्णन नहीं। इस कारण यह कहना ठीक नहीं कि योग की सिद्धि में परमात्मा का कुछ हाथ है ही नहीं। विषयान्तर होने से ऐसा वहाँ नहीं लिखा।

प्रकृति के जो गुण सांख्य-दर्शन में वर्णन किये हैं, वे कार्य-जगत् में भी उपस्थित हैं। इससे कार्य-जगत् का कारण प्रकृति को मानना ही होगा। कार्य-जगत् में प्रकृति जैसे गुण होने से ऐसा समझ में आता है।

कार्य-जगत् में भिन्न-भिन्न पदार्थों की गतियाँ कुछ ऐसी प्रतीत होती हैं जैसे कि नाट्यकार रंगमंच पर नाटक करते हैं; परन्तु कराने वाला सूत्रधार भी होना चाहिए। वह परमात्मा है।

प्रश्न उत्पन्न हुआ है कि जगत् जिसमें के पदार्थ नाटक करते प्रतीत होते हैं, वह प्रलयकाल में कहाँ होता है? उस समय तो कुछ भी दिखाई नहीं देता। शास्त्र में भी लिखा है कि अन्धकार शून्य-समान ही सब कुछ होता है। यदि वह प्रकृति है तो कार्य-जगत् वैसा न होने से प्रकृति से नहीं बना।

सूत्रकार इस प्रश्न का उत्तर देता है कि अव्यक्त से व्यक्त बनने में अयुक्ति-संगत बात नहीं। यदि अव्यक्त से व्यक्त होने को अयुक्तिसंगत मानते हो तो शून्य से जगत् का भाव कैसे युक्तिसंगत हो सकता है? अर्थात् नास्तिक जो अभाव से भाव मानते हैं, वह यह नहीं कह सकते कि अव्यक्त से व्यक्त कैसे हो गया?

अब सूत्रकार उक्त आधार रहित युक्ति करने वालों को एक सिद्धान्त की बात बताता है। वह कहता है कि युक्ति निराधार नहीं हो सकती। अर्थात् जब युक्ति करनी होती है तब वैसी अनुभव में आयी बात की ओर संकेत करना होता है। यदि संकेत की हुई बात ठीक है तो युक्ति भी सत्य होगी।[1]

हम नित्य देखते हैं कि जो पैदा होता है वह मरता भी है। अतः पैदा हुए प्राणी को देख उसके मरने की युक्ति करना सत्य है। कोई कहे कि देवदत्त का पुत्र मरा था तो यह असत्य नहीं हो सकता। यह सत्य है। प्रतिष्ठित युक्ति को अनुमान कहते हैं। यह सत्य की खोज में एक प्रमाण माना जाता है।

इस सूत्र का उल्लेख करने का कारण यह है कि शंका करने वाले ने निरा-धार युक्ति उपस्थित की थी। उसकी अपनी युक्ति से उसका अपना मत ही मिथ्या सिद्ध हो जाता है। अव्यक्त से व्यक्त, शून्य से जगत् की रचना की अपेक्षा अधिक सत्य है। अतः विद्वत् जनों से अस्वीकृत बातें अस्वीकृत ही होनी चाहिएँ। विद्वान् लोग ठीक प्रकार से युक्ति कर अनुमान लगाते हैं।

जो परमात्मा को नहीं मानते और जड़ जगत् को ही सब-कुछ मानते हैं, वे यह युक्ति करते हैं कि अन्न जड़ है। अन्न खाने से शरीर बनता है। वह चेतन है, तो यह सिद्ध हो गया है कि चेतन शरीर भी जड़ है। कारण यह कि शरीर अचेतन अन्न से बना है। सूत्रकार इसमें लौकिक उदाहरण देता है। एक भवन का स्वामी भवन की मरम्मत कराता है। मरम्मत में पदार्थ अचेतन लगते हैं। भवन मरम्मत हो जाने से स्वामी को सुख मिलता है, परन्तु बनता भवन है। यही बात शरीर की है। अन्न से शरीर बनता है, परन्तु शरीर का स्वामी सुख भोगता है। अतः जैसे भवन का स्वामी भवन में लगने वाले चूने, सीमेंट से भिन्न है, वैसे ही जीवात्मा शरीर-निर्माण करने वाले अन्न से भिन्न है।

कारण से ही कार्य होता है और मूल गुण, कारण के, कार्य में देखे जाते हैं। उक्त सब युक्तियों से यह सिद्ध किया गया है कि प्रकृति के मूल गुणों को रखने वाला जगत् का उपादान कारण प्रकृति है। उसे प्रकृति अथवा प्रधान का नाम दिया है। वह कारण सदा उपस्थित रहने वाला होना चाहिए। अतः प्रकृति का एक गुण है कि यह 'सत्' है, अनादि है और अक्षर है। इसे अजन्मा कहा जाता है।

जगत् सत् नहीं। जहाँ कहीं इसे सत् कहा जाता है वहाँ केवल तुलनात्मक

1. ब्रह्मसूत्र २-१-११

भाव में ही कहा जा सकता है। जगत् का एक धर्म है कि यह व्यक्त है। यह बना है। जो बनता है वह बिगड़ता भी है। अतः जगत् बनता और बिगड़ता है। इससे इसके मूल कारण 'प्रकृति' में व्यक्त होने का गुण नहीं। यह अव्यक्त है। बनती नहीं। अनादि है।

यह जगत् ऐसे ही बना है जैसे कि सूत से कपड़ा बनता है। सूत के मूल गुण कपड़े में रहते हैं। प्रकृति के परमाणुओं से जगत् के अनेकानेक पदार्थ बनते हैं।

प्राणी का शरीर भी प्रकृति का बना है। इसमें इन्द्रियाँ इत्यादि ऐसे ही गुँथी हुई हैं जैसे कि सूत कपड़े में होता है। इन्द्रियाँ भी तो प्रकृति के परमाणुओं से बनी होती हैं।

कुछ लोग मानते है कि प्रकृति के अतिरिक्त चेतना इस जगत् में कार्य कर रही है। वह एक ही है जो भिन्न-भिन्न कार्य करती है। सूत्रकार का कहना है कि चेतना एक प्रकार की नहीं है। वह दो प्रकार की है। यदि प्राणियों में चेतन तत्त्व भी वही मान लेंगे जो जगत् में है, तो दोष यह होगा कि प्राणी तो अच्छे-बुरे कर्म सब करता है। तो वह चेतन तत्त्व जो पूर्ण जगत् का निर्माता, भर्ता और प्रलयकर्ता है, वह बुरे कर्म करने वाला भी मानना पड़ेगा। इस कारण सूत्रकार का कहना है कि प्राणी में चेतन तत्त्व भिन्न है। यह वह नहीं जो जगत् का संचालन करता है। अर्थात् जीवात्मा परमात्मा से भिन्न है।

पत्थर इत्यादि जड़ हैं। इनमें गति चेतन के करने से होती है, परन्तु इनकी गति और प्राणी की गति में अन्तर है। यह एक दिशा में गति और कभी विपरीत गति भी करता है। अर्थात् जीवात्मा प्राणी में गति करने वाला जगत् में गति करने वाले परमात्मा से भिन्न है।

जीवात्मा बिना साधनों के कार्य नहीं कर सकता। इसे उपकरण चाहिए। जैसे कुम्हार को बर्तन बनाने के लिए चक्का, डण्डा इत्यादि चाहिए। परन्तु परमात्मा को जगत् बनाने के लिए उपकरण दिखायी नहीं देते। चन्द्र, सूर्य, पृथिवी बनाने के लिए उपकरण नहीं हैं। अतः परमात्मा और जीवात्मा में अन्तर है।

जो जगत् का उपादान कारण परमात्मा को मानते हैं उनसे सूत्रकार पूछता है कि पूर्ण परमात्मा ही जगत् में परिवर्तित हो जाता है अथवा केवल कुछ भाग? यदि तो मानो कि पूर्ण परमात्मा जगत् में बदल जाता है तो परमात्मा के गुणों वाली वस्तु ब्रह्माण्ड में नहीं रहेगी और यदि कहो कि कुछ परिवर्तित होता है और कुछ नहीं होता तो परिवर्तित होने वाले और न परिवर्तित होने वाले में सीमा बन जाएगी। एक के दो भाग हो गये न। अर्थात् परमात्मा सावयव हो जायेगा। अतः सूत्रकार का मत है कि जगत् का उपादान कारण परमात्मा नहीं।

यह प्रकृति है।

परमात्मा जड़ प्रकृति से जगत् की रचना करता है। वह विचित्र प्रकार की शक्तियों का स्वामी है।

परमात्मा सर्वव्यापक होने से बिना करणों के रचना करता है। इसका सम्पर्क प्रकृति के प्रत्येक परमाणु से होने के कारण वह बिना करणों के रचना कर सकता है और वह सब कुछ देखता है और जानता है।

परमात्मा की शक्ति से इन्द्रियाँ कार्य करती हैं। जगत् की रचना भी वही करता है। यह सब कुछ विशेष प्रयोजन से हो रहा है, परन्तु जगत् रचना लीलावत् होती है। स्वाभाविक रूप में ही हो रही है। परमात्मा का सम्बन्ध प्रकृति और जीवात्माओं से स्वाभाविक है। इसी से यह रचना होती है।

जीवात्माओं के भोग के लिए जगत् रचना होती है। परमात्मा का जीवात्माओं से सम्बन्ध के कारण ही रचना होती है। परमात्मा भोग नहीं करता, अतः यह भोग-सामग्री जीवों के लिए है; परमात्मा के लिए नहीं।

कार्य-जगत् जो प्रत्यक्ष है उसमें तीनों मूल पदार्थों के गुणों के उपस्थित होने से तीनों की सिद्धि है।

लोग मूल प्रकृति से ही जगत् की रचना हुई मानते हैं। इसमें किसी चेतन के सहयोग को नहीं मानते। सूत्रकार कहता है कि यह युक्ति से भी सिद्ध नहीं होता तथा न प्रकृति के गुणों से और न ही प्रकृति की प्रवृत्ति अर्थात् स्वभाव से जगत्-रचना होती देखी जाती है।

प्रकृति का एक गुण है कि यह जड़ है और जड़ पदार्थ न तो स्वयं हिल सकते हैं और यदि हिल रहे होते हैं तो स्वयं ठहर नहीं सकते। प्रकृति का कोई भी कण खड़ा है तो खड़ा ही रहता है, चल रहा है तो उसी गति और दिशा में चलता रह सकता है, जिसमें यह चल रहा है; जब तक इस पर किसी दूसरे का प्रभाव न पड़े। (यह गतियों में न्यूटन का प्रथम नियम है।) अतः केवल प्रकृति से जगत् की रचना नहीं मानी जा सकती। बिना किसी के हिलाये एक तिनका भी नहीं हिलता।

साथ ही बिना किसी प्रयोजन के कुछ होता नहीं। इस कारण प्रकृति स्वयं जगत्-रचना नहीं कर सकती। कोई चेतन-शक्ति रचना करने वाली होनी चाहिए और किसी अन्य चेतन के लिए रचना होनी चाहिए।

कभी अन्धा और लँगड़ा सहयोग से चल सकते हैं और चुम्बक से जड़ पदार्थ हिल पड़ते हैं, परन्तु सूत्रकार का कहना है कि जगत्-रचना ऐसे नहीं हो सकती। उक्त दोनों उदाहरणों में भी चेतन तत्त्व के बिना कार्य नहीं हो सकता। अन्धे और लँगड़े के सहयोग में भी चेतना तो है ही। चुम्बक में भी चेतन का सहयोग रहता है। बिना चेतन के प्रयत्न के लोह-कण चुम्बक के क्षेत्र में आ ही

—२१

नहीं सकता; साथ ही दिशा में परिवर्तन नहीं हो सकता।

जगत्-रचना होती है प्रकृति के परमाणुओं से। परमाणुओं में गुण रहते हैं। ये परमाणु के अंग हैं। अतः इन अंगों के हेर-फेर से सृष्टि-रचना होती है। यह हेर-फेर करने वाली कोई ज्ञानवान् चेतन शक्ति है। यह परमात्मा है।

परन्तु परमात्मा सृष्टि का उपादान कारण नहीं। प्रकृति के मूल गुण तो सृष्टि में हैं, परन्तु परमात्मा के मूल गुण : ज्ञानवान् होना, शक्तिमान् होना इत्यादि सृष्टि में नहीं हैं।

परमाणुओं में सत्त्व, रजस् और तमस् के आकर्षण-विकर्षण से ह्रस्व-दीर्घ परिमण्डल बनते हैं, परन्तु प्राणी की रचना इतने मात्र मे नहीं होती।

प्राणी अर्थात् चेतन शरीर की रचना, जब परिमण्डल एक ओर से तथा जीवात्मा दूसरी ओर से आकर सम्पर्क में आते हैं, तो होती है।

पांचभौतिक प्रकृति में जीवात्मा के सम्पर्क होने पर प्राणी की रचना होती है।

पांचभौतिक पदार्थ बनते हैं परिमण्डलों के संयोग-वियोग से। इस संयोग-वियोग में परिमण्डलों का कुछ भी हेतु नहीं। हेतु है जीवात्मा के लिए भोग प्राप्त कराना।

जब परिमण्डलों के संयोग-वियोग से पदार्थ बनते हैं, तो कुछ विनष्ट होते है, कुछ बनते हैं। विनष्ट होने वालों से ही दूसरे बनते हैं। विनष्ट होने वाले में दोष उत्पन्न होता है तो दूसरा बनता है।

यह कार्य-जगत् अभाव से नहीं बना। इसका कारण जड़ प्रकृति है और उससे जगत् बना है। बनाने वाला चेतन इसका निमित्त कारण है।

सूत्रकार ने जगत् को स्वप्नादिवत् नहीं माना। इसमें वह युक्ति देता है कि कार्य-जगत् में वैधर्म्य होने से। अनेक प्रकार के धर्म हैं कार्य जगत् के। स्वप्न में पदार्थों के वैधर्म्य नहीं होते।

जड़ जगत् में कार्य परमात्मा से होता है। जगत् में कार्य होता देखकर परमात्मा की उपलब्धि होती है। अर्थात् परमात्मा की सिद्धि होती है। जगत् क्षणिक है। अर्थात् अल्पकाल में बनता-बिगड़ता है। यहाँ अल्पकाल ब्रह्माण्ड के अनादि काल की तुलना में कहा गया है। वास्तव में ब्रह्म दिन और रात्रि सौर वर्ष की तुलना में बहुत बड़ा है। यह दिन अथवा रात प्रत्येक ४,६४,००,००,००० (चार अरब चौंसठ करोड़) वर्ष का है।

कार्य-जगत् एक ही तत्त्वों से नहीं बना। इसमें तीन तत्त्वों का संयोग है। परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति। यदि यह मानें कि कार्य-जगत् एक ही तत्त्व से बना है तो उस तत्त्व की सम्पूर्णता सिद्ध हो जायेगी।

जगत् विकारयुक्त है अर्थात् परिणामी है। परिणाम में अनेक प्रकार

की वस्तुएँ बनती हैं। इस पर भी उनके बनने में विरोध नहीं। उन सबमें प्रकृति के एक मूल गुण की समानता है। वह गुण है जड़त्व का।

परन्तु परमात्मा को ही जगत् में परिवर्तित मानने से परमात्मा के दो रूप मानने पड़ेंगे। एक नित्य और दूसरा अनित्य। जगत् के पदार्थ अनित्य हैं।

परमात्मा जगत् का पति भी नहीं। इसका जगत् से पति-पत्नी का सम्बन्ध भी नहीं।

भोक्ता का सम्बन्ध भी नहीं है। परमात्मा जगत् का भोग नहीं करता। जगत् परमात्मा का निवास-स्थान भी नहीं। परमात्मा की इन्द्रियाँ भी नहीं। परमात्मा अन्त वाला और असर्वज्ञ भी नहीं। यह अनादि, अनन्त है और सर्वज्ञ है। परमात्मा की उत्पत्ति भी असम्भव है। यह अयुक्तियुक्त है।

परमात्मा बिना साधनों के जगत् की रचना करता है। विशेष ज्ञान होने से इसको करणों की आवश्यकता नहीं।

इस प्रकार कई प्रकार की युक्तियों से सूत्रकार ने परमात्मा, प्रकृति और जीवात्मा के स्वरूप का वर्णन किया है।

इतना वर्णन कर सूत्रकार इस अध्याय में आगे सिद्धान्त में दोष निकालने वालों का उत्तर देता है।

सबसे पहले आकाश के विषय में ही लिखा है। किसी ने आपत्ति की है कि वेदों में आकाश का कथन नहीं। सूत्रकार कहता है कि है।

इस पर आक्षेप करने वाला कहता है कि वह वर्णन गौण है। वहाँ परमात्मा को आकाश कहा है।

सूत्रकार का कहना है कि गौण नहीं है। आकाश और परमात्मा का कथन साथ-साथ आने से दोनों में कोई भी गौण नहीं। दोनों का कथन है। इस कारण इस प्रतिज्ञा की कि वेदों में आकाश शब्द का कथन है, हानि नहीं हुई। आकाश का परमात्मा के साथ सम्बन्ध वर्णन किया है। यह परमात्मा के लक्षण के रूप में है। लक्षण भी तो कुछ होता है। वह न होने के समान नहीं।

कई स्थानों पर आकाश की उत्पत्ति लिखी है। वहाँ उस आकाश की नहीं, जो परमात्मा का लिंग है। उत्पत्ति उस आकाश की है जो पांचभौतिक है।

पांचभौतिक आकाश अहंकारों से बनता है। पंच महाभूतों में यह सबसे पहले बनता है। तदनन्तर इससे मातरिश्वा बनता है। मातरिश्वा उस वायु को कहते हैं जिससे पांचभौतिक अग्नि उत्पन्न होती है और पांचभौतिक अग्नि से पांचभौतिक जल और जल से पृथ्वी बनती है।

ये सब प्रकृति के परिणाम हैं और प्रकृति की सत्ता हैं। अर्थात् शून्य से ही इस जगत् की उत्पत्ति नहीं होती। कारण यह कि शून्य से कुछ अस्तित्व

वाली वस्तु बन नहीं सकती।

इस प्रकार सृष्टि क्रम है—प्रकृति→महत्→अहंकार→पंच महाभूत→प्राणी। और विपर्यय (विपरीत कार्य) अर्थात् प्रलय कार्य इससे उलट क्रम पर चलता है। प्राणी→पंच महाभूत→अहंकार→महत्→प्रकृति।

रचना और प्रलय दोनों के क्रम से इसके करने वाले निमित्त कारण का ज्ञान होता है। उक्त सृष्टि-क्रम में पंच महाभूतों से प्राणी की सृष्टि लिखी है। यह सृष्टि पंच महाभूतों के क्रम में नहीं। यह मन और बुद्धि के पंच भूतों के संयोग से होती है। मन और बुद्धि महत् का अंश हैं और ये अविशेष कहलाते हैं।

प्राणी जगत् में पंच महाभूत, मन और बुद्धि से शरीर-निर्माण होता है, परन्तु यह शरीर प्राणी में गौण है। मुख्य है जीवात्मा, जो शरीर के जन्म-मरण से पृथक् रहता है। जन्म और मरण शरीर का होता है। जीवात्मा का अविनाशी होना शास्त्र से भी प्रमाणित है। आत्मा चेतन है। चेतन के मुख्य लक्षण—कार्य का ढंग, दिशा और काल निश्चय करना—जीवात्मा में पाये जाते हैं।

मरण-जन्म से शरीर में से जीवात्मा का जाना और आना ही प्रकट होता है। यह आना और जाना दो प्रकार का है—उत्क्रमण और निम्नक्रमण। अर्थात् निम्न योनियों से उच्च योनियों में जाना अथवा उच्च योनियों से निम्न योनियों में जाना आत्मा के उत्क्रमण और निम्नक्रमण के साथ ही सम्बन्ध रखता है। शरीर तो मरण के समय विनष्ट हो जाता है।

उत्क्रमण अथवा निम्नक्रमण का सम्बन्ध जीवात्मा से है। यह न तो शरीर से सम्बन्ध रखता है और न ही परमात्मा से। जीवात्मा अणु मात्र है और परमात्मा विभु अर्थात् सर्वव्यापक है। इस कारण भी गति अगति का सम्बन्ध जीवात्मा से ही है। जीवात्मा का अणु मात्र होना शास्त्र में लिखा है। साथ ही यह चेतन है।

यह अणु मात्र होने पर भी पूर्ण शरीर में कार्य करता है। जैसे चन्दन की गन्ध उस पूर्ण आगार में फैल जाती है, जिसके एक कोने में चन्दन की लकड़ी रखी हो। इसी प्रकार इसकी शक्ति का प्रसार उस पूर्ण शरीर में होता है, जिसमें यह उपस्थित हो।

जीवात्मा हृदय की गुहा में स्थित है और इसकी शक्ति का प्रसार शरीर में इन्द्रियों द्वारा होता है। ऐसे ही जैसे लोक में राजा अपने कर्मचारियों द्वारा राज्य करता है।

जीवात्मा और परमात्मा में समानता चेतना की है। इस पर भी दोनों में भेद है। प्रथम भेद तो यह है कि एक अणु मात्र है और दूसरा विभु है। एक को अपने से बाहर कार्य करने के लिए इन्द्रियों की आवश्यकता रहती है और दूसरे को इनकी आवश्यकता नहीं रहती। वह स्वतः ही सर्वत्र व्यापक है।

शरीर में रहते हुए ही जीवात्मा के अस्तित्व का पता चलता है। जीवात्मा सदा शरीर सहित रहता है। केवल ब्रह्म रात्रि के समय इसका सम्बन्ध स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर से छूटता है। तब यह सक्रिय नहीं रहता। तब इसकी सुषुप्ति अवस्था कही जाती है।

मोक्षावस्था में इन्द्रियाँ और शरीर न रहने पर भी यह चेतन रहता है। इसकी कार्य करने में स्वतन्त्रता रहती है। ब्रह्मरात्रि की अवस्था में भी इसका चेतन गुण साथ रहता है; यद्यपि वह प्रकट नहीं होता।

यह ऐसे ही है जैसे कि पुरुषत्व तो बालक और वृद्ध में भी रहता है; यद्यपि इसका प्रकटीकरण नहीं हो सकता।

इस प्रकार जीवात्मा में अनुभव करने की सामर्थ्य तो रहती है; यद्यपि इसकी अभिव्यक्ति (प्रकट होना) विशेष अवस्था में ही होती है। साथ ही जीवात्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है। इसको मिले करण (उपादान) इसकी इच्छानुसार कार्य करते हैं। शरीर में इसके उपादान हैं इन्द्रियाँ (ज्ञानेन्द्रियाँ एवं कर्मेन्द्रियाँ)। ये करण जीवात्मा की इच्छा के अनुसार ही कार्य करती हैं, परन्तु इसके कर्मों का फल इसकी इच्छा के अधीन नहीं। कर्म से फल की उपलब्धियों में इच्छा का नियम नहीं चलता।

कभी जीवात्मा के कार्य अधूरे रह जाते हैं; यद्यपि उसकी इच्छा इनको पूर्ण करने की होती है। इसके करणों (बाह्य एवं आभ्यान्तरिक इन्द्रियों) की सामर्थ्य सीमित है। कभी इच्छायें सामर्थ्य से अधिक हो जाती हैं। साथ ही कर्म की उपलब्धि (कर्मफल) जीवात्मा के अधीन नहीं।

समाधि के अभाव के कारण भी इच्छाएँ पूर्ण नहीं होतीं। समाधि से अभिप्राय है बुद्धि को लक्षित विषय पर केन्द्रित कर सकना। जब बुद्धि को विषय पर केन्द्रित न किया जा सके तो सफलता नहीं मिलती।

करण सामर्थ्यवान् होते हुए भी कभी जीवात्मा काम नहीं करता। जैसे बढ़ई के हथियार सब ठीक होने पर काम करें अथवा न करें, यह बढ़ई के अधीन है।

कर्म करने में स्वतंत्र होते हुए भी वह कर्म की शक्ति के लिए परमात्मा के आश्रय है। प्राण परमात्मा की देन है और उनसे ही जीवात्मा कार्य करता है। इसी प्रकार परमात्मा जीवात्मा के सब कार्यों पर देख-रेख रखता है और उनका फल देता है।

कुछ एक आचार्य जीवात्मा को परमात्मा का अंश मानते हैं। सूत्रकार कहता है कि 'दाशकित्वादि' जैसा सम्बन्ध है। अर्थात् माता-पिता का पुत्र के साथ जैसा सम्बन्ध है।

जीवात्मा परमात्मा का ऐसा ही अंश है जैसे मन्त्र में वर्ण है।

दोनों सम्बन्ध जिनका सूत्रकार ने वर्णन किया है, बाह्य सम्बन्ध ही हैं। माता-पिता और पुत्र का सम्बन्ध शरीर का है, जीवात्मा का नहीं। इसी प्रकार परमात्मा और जीवात्मा का सम्बन्ध है।

मन्त्र और वर्ण में भी केवल मन्त्र के आकार-विस्तार का सम्बन्ध है, मन्त्र के भाव का नहीं। अतः जीवात्मा परमात्मा का वास्तविक अंश नहीं। केवल बाहरी शरीर और जगत् के पदार्थों का ही सम्बन्ध है।

जीवात्मा परमात्मा का ऐसा अंश नहीं जैसे कि गुड़ का टुकड़ा, गुड़ की भेली का अंश होता है। यह ऐसा ही अंश है जैसे कि पुत्र, माता-पिता का अंश होता है।

परमात्मा प्रकाशादि की भाँति नहीं। प्रकाशादि का अभिप्राय अग्नि आदि पंच महाभूत है। ये निर्मित पदार्थ हैं। परमात्मा निर्मित नहीं। साथ ही प्रकाश दूसरों को प्रकाशित करता है और परमात्मा सर्वव्यापक होने से स्वयं ही सबके सम्पर्क में है। अतः यह प्रकाश की भाँति नहीं। जीवात्मा का शरीर से सम्बन्ध तो एक ज्योति की भाँति हो सकता है, परमात्मा का नहीं।

जीवात्मा में ऐसे वृद्धि नहीं होती जैसी कि देह से देहों की वृद्धि होती है। इस कारण एक जीवात्मा के कर्म फल का उत्तराधिकारी कोई अन्य जीवधारी नहीं हो सकता।

जीवात्मा आभास मात्र ही नहीं। आभास में तो एक का दोष सब प्रतिबिम्बों में दिखायी देना चाहिये। जीवात्मा में सांकर्य (अदला-बदली) भी नहीं हो सकता।

जीवात्मा के कर्म-फलों में भी सांकर्य नहीं होता। जिसके कर्म हैं उसको ही फल मिलता है। यह नही कि करे कोई और भरे कोई दूसरा।

राग-द्वेषादि में भी जीवात्मा का परमात्मा से भेद है। यह परमात्मा का अंश नहीं है। यदि यह कहें कि राग-द्वेषादि शरीर (चित्त) के कारण हैं तो यह ठीक नहीं। कारण यह कि चित्त (मन, बुद्धि और अहंकार) जड़ होने से भीतर रहने वाले जीवात्मा से कार्य करते हैं। बिना जीवात्मा के ये कार्य नहीं कर सकते।

शरीर कार्य करता है प्राण से। प्राण गौण नहीं। अर्थात् यह प्रकृति (शरीर) अथवा जीवात्मा का गौण अंग नहीं। यह इनसे उत्पन्न नहीं होता। वेद में वर्णन किया गया है कि जगत्-रचना से पूर्व भी यह उपस्थित था। अतः यह गौण नहीं। प्राण से ही वाकादि इन्द्रियाँ कार्य करती हैं। शरीर की सात गतियों में यह कार्य करता है। इस गति विशेष के कारण प्राण सात माने गये हैं। मूलतः प्राण एक ही है। कार्य विशेष से इसको सात माना है।

इन सात प्राणों में वह शक्ति सम्मिलित नहीं जिससे कि हाथ-पाँव और

शरीर के अन्य अंग संगठित हैं। उदाहरण के रूप में शरीर की पेशियों का माँस भी तो किसी शक्ति से गठित है। प्राण वह शक्ति नहीं।

प्राण अति सूक्ष्म होते हैं। सात प्राणों में एक श्रेष्ठ अथवा मुख्य प्राण कहलाता है। यह रक्त संचालन यन्त्र और अन्य अनैच्छिक गति करने वाले अंगों को गति प्रदान करता है।

वायु भी शरीर का भीतर से नियमन करने के लिए है, परन्तु वह प्राण नहीं। शरीर की पेशियाँ वायु से नियमन होती हैं। प्राण उससे भिन्न है। प्राण मुख और चक्षु आदि इन्द्रियों में कार्य करते हैं।

श्रेष्ठ प्राण तो ऐसे हैं कि उनके बिना शरीर नहीं रह सकता, परन्तु अन्य छः प्राणों के न रहने से भी शरीर रह सकता है। छः प्राणों में पाँच तो ज्ञाने-न्द्रियों में कार्य करते हैं। इनका कार्य मन की भाँति होता है। ये सब प्राण अणु-वत् हैं अर्थात् अति सूक्ष्म हैं। इनके टिकने के स्थान स्थूल इन्द्रियाँ हैं।

वेद में प्राण का स्वामी परमात्मा माना है। शरीर में इन्द्रियाँ इससे काम करती हैं। परमात्मा नित्य है, अतः प्राण भी नित्य है।

इन्द्रियों वाला प्राण और श्रेष्ठ प्राण भिन्न हैं। इनमें भेद है। श्रेष्ठ प्राणों की विलक्षणता यह है कि इसका विषय (भोग) कुछ नहीं। इसी से यह थकता नहीं। यह चलता रहता है।

शरीर में प्राण अन्न से बनते हैं। अन्न से शरीर भी बनता है। अतः प्राण भी विशेषों में कहलाते हैं।

संक्षेप में मुख्य रूप में प्राणी का वर्णन इस अध्याय में किया गया है। शरीर, जीवात्मा, प्राण एवं वायु, सब इस अध्याय के अन्तर्गत आ गये हैं।

प्रथम पाद

स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोप्रसङ्गात् ।।१।।

स्मृति + अनवकाश + दोषप्रसङ्गः + इति + चेत् + न + अन्य + स्मृति + अनवकाश + दोष + प्रसङ्गात् ।

अवकाश का अर्थ है दिखाई देना अथवा प्रकट होना। अतः अनवकाश का अर्थ है कि न प्रकट होना अथवा न दिखाई देना।

इस प्रकार स्मृतियों में किसी बात के न दिखायी देने के दोष का प्रसंग है। यदि यह कहो तो (सूत्रकार कहता है) कि यह दोष नहीं। (कारण यह) कि दूसरी स्मृतियों में (दूसरी बात के) दिखायी न देने के दोष से।

स्मृति ग्रन्थ श्रुति ग्रन्थों से भिन्न हैं। वास्तव में श्रुति वेद (जो अपौरुषेय हैं) का नाम है और स्मृति ग्रन्थ उनको कहते हैं जो मनुष्यों ने लिखे हैं और लोगों को स्मरण कराने के लिये जिनको ग्रन्थों का आकार दिया गया है।

सूत्रकार कहता है कि मनुष्य-कृत ग्रन्थों में कहीं-कहीं किसी विषय के दिखायी न देने से ग्रन्थ में दोष प्रतीत होने लगता है। वास्तव में यह दोष नहीं है। कारण यह है कि किसी स्मृति में पहली स्मृति के विषय का उल्लेख नहीं होता। इससे यह दोष नहीं, वरन् अपने-अपने विषय का उनमें प्रतिपादन किया गया है और दूसरे का वर्णन वहाँ नहीं है।

सूत्रकार ने यह बात सामान्य रूप में लिखी है। जब किसी पुस्तक में किसी विषय का वर्णन न हो तो यह मत समझो कि वह ग्रन्थ दोषपूर्ण है। किसी दूसरे ग्रन्थ में पहले ग्रन्थ का विषय न होने से।

अर्थात् किसी ग्रन्थ में किसी वस्तु पर कोई कथन न होने से यह नहीं माना जा सकता कि वह ग्रन्थ उस वस्तु को स्वीकार ही नहीं करता।

कुछ उपनिषदादि ग्रन्थों में परमात्मा का उल्लेख है और लिखा है कि सब जगत् का कर्त्ता परमात्मा है। वहाँ प्रकृति एवं जीवात्मा का उल्लेख नहीं। अतः यह मान लेना भूल होगी कि उपनिषद् में जीवात्मा और प्रकृति का खण्डन

किया गया है और न ही यह कहा जा सकता है कि वह स्मृति दोषपूर्ण है।

सूत्रकार ने किसी ग्रन्थ विशेष को दोषपूर्ण नहीं लिखा। एक सामान्य कथन ही दिया है, परन्तु स्वामी शंकराचार्य तथा कुछ अन्य ग्रन्थकारों ने कपिल मुनि का उल्लेख कर दिया है। कपिल के सांख्य दर्शन में तो अनवकाश दोष है नहीं। वहाँ प्रकृति और पुरुष का उल्लेख है। सांख्य जीवात्मा को भी मानता है और परमात्मा को भी। हाँ, कई उपनिषदों में यह 'कथित' दोष आता है।

उदाहरण के रूप में माण्डूक्य उपनिषद् है। वहाँ लिखा है—

ओमित्येतदक्षरमिदँ सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वमोंकार एव। यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव॥१॥

यह जो अक्षर है, यह सब ओ३म् है। उसका इस उपनिषद् में व्याख्यान किया है। भूत, वर्तमान और भविष्य सब ओंकार ही है जो कुछ अन्य, तीनों कालों से ऊपर है, वह भी ओंकार ही है।

इस उपनिषद् में केवल परमात्मा का ही वर्णन है। इस पर भी यह दोषयुक्त नहीं। अन्य स्थानों पर परमात्मा का उल्लेख नहीं भी आता।

परन्तु शंकराचार्य इस सूत्र का अर्थ अन्य प्रकार से करते हैं। वह कहते हैं—

स्मृति (ग्रन्थों) में किसी विषय का प्रसंग न होने से दोष है। दोष यह कि उस विषय का अन्य ग्रन्थों में होना दोष हो जायेगा। सूत्रकार कहता है कि यह ठीक नहीं अर्थ तो वही हैं जो हमने किये हैं।

इस प्रकार शंकराचार्यजी इस सूत्र का अर्थ करते हैं। अर्थात् वह इस सूत्र में एक पूर्व पक्ष उपस्थित कर सूत्रकार की ओर से उसे ग़लत बता रहे हैं। इसी प्रसंग में वह कपिल मुनि की आलोचना कर रहे हैं।

इस सूत्र पर भाष्य करते हुए आप लिखते हैं—

कपिलप्रभृतीनां चार्षं ज्ञानमप्रतिहतं स्मर्यते। श्रुतिश्च भवति—'ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत्' (श्वे० ५-२) इति। तस्मान्नैषां मतमयथार्थं शक्यं संभावयितुम्। तर्कावष्टम्भेन चैतेऽर्थं प्रतिष्ठापयन्ति। तस्मादपि स्मृतिबलेन वेदान्ता व्याख्येया इति पुनराक्षेपः।

अर्थात्—कपिलादि का ज्ञान आर्ष और अप्रतिहत है। ऐसा स्मरण किया जाता है। श्रुति है—ऋषिं प्रसूतं—(श्वे० ५-२) ऐसा है। इसलिये उनके मत को अयथार्थ कहना सम्भव नहीं हो सकता। वह तर्क के बल से अर्थ का स्थापन करते हैं। इस पर भी स्मृति के वल से वेदान्तों (उपनिषदों) की व्याख्या करनी चाहिये। इस पर आक्षेप (आपत्ति) है।

किसको आपत्ति है? शंकराचार्य का मत है कि सूत्रकार को आपत्ति है।

वास्तव में यह उक्त वाक्य अयथार्थ है। प्रथम तो कपिल मुनि के वचन में अनवकाश नहीं। वह पूर्ण है। द्वितीय यह कि सूत्रकार ने अनवकाश पर आपत्ति नहीं की। अनवकाश को दोष कहने पर आपत्ति की है।

इसी कारण हमने सूत्रार्थ इस प्रकार किये हैं कि अनवकाश होने का दोष कहो तो नहीं। अन्य स्मृतियों में भी अनवकाश होना दोष का प्रसंग हो जायेगा। अर्थात् दोष मानना पड़ेगा।

यदि यह मान भी लिया जाये कि कपिल मुनि के सांख्यदर्शन में परमात्मा के वर्णन का अनवकाश है तो भी यह दोष नहीं; क्योंकि ऐसा अन्य स्मृति में दूसरे विषय पर पाया जायेगा।

अब देखेंगे कि स्वामी शंकराचार्य ने उक्त पूर्व पक्ष का क्या उत्तर दिया है। शंकराचार्यजी का कहना है कि यह सूत्र में है। कपिल के ग्रन्थ में अनवकाश है। शंकराचार्यजी ने अपने मन से उठाये इस संशय का इस प्रकार समाधान किया है—

तस्य समाधिः—नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गादिति। यदि स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गेनेश्वरकारणवाद आक्षिप्येत, एवमप्यन्या ईश्वरकारणवादिन्यः स्मृतयोऽनवकाशाः प्रसज्येरन्।

दूसरी स्मृतियों में अनवकाश दोष प्रसंग हो जायेगा। यदि स्मृति में अनवकाश से ईश्वर के कारण होने पर ही आक्षेप किया जाये तो ईश्वर को कारण मानने वाली स्मृतियों में अनवकाश दोष प्रसक्त हो जायेगा।

बात यह है कि कथित पूर्व पक्ष में कपिल मुनि के सांख्यदर्शन में परमात्मा का उल्लेख न होने पर उसे अनवकाश दोष से युक्त माना गया था। इसी से स्वामीजी ने उक्त लँगड़ी युक्ति उपस्थित कर दी है। कपिल को वह क्षमा नहीं कर सकते। कारण यह कि कपिल मुनि ने प्रकृति को उपादान कारण स्वीकार किया है। इस कारण सूत्र के अर्थ बिगाड़कर कपिल मुनि की उन्होंने आलोचना की है।

देखिये, कहाँ लँगड़ी युक्ति की है।

सूत्र में लिखा है कि यदि किसी स्मृति में अनवकाश हो। अनवकाश का अर्थ हम ऊपर लिख आये हैं।

अवकाश का अर्थ मोनियर अपने कोष में इस प्रकार लिखता है—

to be visable, be menifest.

अतः अनवकाश का अर्थ है दिखायी न देना। इसका अर्थ विरोध होना नहीं है, परन्तु स्वामीजी कहते हैं कि जब अनवकाश से ईश्वर के कारणत्व का विरोध होने लगे तो अनवकाश दोषपूर्ण है।

हमारा यह कहना है कि जहाँ किसी बात का विरोध हो तो वह अनवकाश में लिया ही नहीं जा सकता।

क्योंकि कपिल की आलोचना करनी थी, इस कारण सूत्र के अनवकाश का अर्थ ही विकृत कर दिया है।

यह बात प्रसिद्ध है कि कपिल मुनि ईश्वर को जगत् का कारण मानते हैं। कपिल सांख्यदर्शन में लिखते हैं--

स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता ।। (सां० ३-५६)

यह भी—

ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा। (सां० ३-५७)

इन सूत्रों की उपस्थिति में कपिल को ईश्वर न मानने वाला कहना अज्ञानता का सूचक ही है। साथ ही सांख्यदर्शन में अनवकाश नहीं।

यह तो मानना पड़ेगा कि जहाँ दो पुस्तकों में परस्पर विरोधी कथन हो तो दोनों ठीक नहीं हो सकते, परन्तु अनवकाश के अर्थ विरोध नहीं।

हमने माण्डूक्य उपनिषद् के पूर्वोक्त मन्त्र का उल्लेख किया है, परन्तु वहाँ विरोध नहीं है। उसी उपनिषद् में प्रकृति का भी उल्लेख हैं।

माण्डूक्य उपनिषद् में अनवकाश तो है, परन्तु यह दोष नहीं। कारण यह कि इसमें परमात्मा के विषय पर ही लिखा है। प्रधान (प्रकृति) और जीवात्मा का वहाँ उल्लेख नहीं। किसी आध्यात्म की पुस्तक में गणित की बात न होनी स्वाभाविक ही है।

इतरेषां चानुपलब्धेः ॥२॥

इतरेषाम्+च+अनुपलब्धेः।

और अन्यों के उपलब्ध न होने से।

वही उदाहरण जो हमने माण्डूक्य उपनिषद् के प्रथम सूत्र के भाष्य में दिया है, यहाँ पर लिया जा सकता है। उसमें हमने लिखा है कि परमात्मा का स्मरण ओंकार शब्द से कहा है। उसमें ब्रह्म का उल्लेख है।

उसमें जीवात्मा तथा प्रकृति का स्पष्ट उल्लेख नहीं, अर्थात् यहाँ अनवकाश है।

यही बात इस सूत्र में लिखी है कि परमात्मा के अतिरिक्त किसी अन्य का जगत्-रचना में उपलब्ध (सहयोग) न लिखे होने से अनवकाश है, परन्तु दोष नहीं। कारण यह कि जीवात्मा का विरोध नहीं।

शंकराचार्यजी ने यहाँ भी अपनी अयुक्त अप्रमाणित बात लिख दी है। आप इस सूत्र के भाष्य में भी सांख्य की रट लगा रहे हैं।

आप लिखते हैं—

प्रधानादितराणि यानि प्रधानपरिणामत्वेन स्मृतौ कल्पितानि महदादीनि न तानि वेदे लोके पोपलभ्यन्ते। भूतेन्द्रियाणि तावल्लोकवेदप्रसिद्धत्वाच्छक्यन्ते स्मर्तुम्। अलोकवेदप्रसिद्धत्वात्तु महदादीनां षष्ठस्येवेन्द्रियार्थस्य न स्मृतिरवकल्पते। यदपि क्वचित्तत्परमिव श्रवणमवभासते, तदप्यतत्परं व्याख्यातम् 'आनुमानिकमप्येकेषाम्' (ब्र० १-४-१) इत्यत्र।

अर्थ है—

प्रधान से अन्य अर्थात् प्रधान के परिणाम रूप से, स्मृतियों (सांख्य) में कल्पित किये महदादि, लोकशास्त्रों तथा वेद में उपलब्ध नहीं होते। भूत और इन्द्रियाँ स्मृतियों में प्रसिद्ध (प्रतिपादित) हो सकती हैं। लोकशास्त्रों और वेद में अप्रसिद्ध (न प्रतिपादित) होने से महदादि प्रधान के परिणाम छठवें इन्द्रिय के विषयों के समान सम्भव नहीं। यद्यपि कहीं-कहीं (परम् इव) महत् भी (श्रवणाभवभासते) श्रवण अर्थात् श्रुति में दिखायी देते हैं। उसका भी सूत्र (नानुमानक) (ब्र० सू०—१-४-१) के अनुसार व्याख्या करने से ऐसा नहीं।

इसका अभिप्राय यह है कि सांख्य में प्रधान और उसके परिणाम महदादि लिखे हैं। वे वेदों में और लोकशास्त्रों में नहीं लिखे। इस कारण उनकी कल्पना करनी ठीक नहीं।

साथ ही यह भी लिख दिया है कि कुछ एक स्मृतियों में महद् का आभास होता है, परन्तु ब्रह्मसूत्र नानुमानक (१-४-१) के अनुसार यह नहीं।

इस पूर्ण कथन में दोष यह है कि सांख्य में वर्णित प्रधान और उसके परिणाम महदादि वेद और अन्य शास्त्रों से प्रतिपादित हैं। यह ठीक है कि जो प्रकृति का प्रथम परिणाम महद् लिखा है, उसका नाम कुछ अन्य शास्त्रों में आपः लिखा है, परन्तु आपः अथवा महत् प्रकृति का प्रथम परिणाम माना गया है।

देखिए, महद् का उल्लेख भगवद्गीता में आया है। वहाँ पर लिखा है—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥

(भ० गी० १४-३)

इसका अर्थ यह है कि महान् (महत्) को योनि बनाकर उसमें परमात्मा गर्भ धारण करता है। उससे सब भूत उत्पन्न होते हैं।

यह महत् प्रकृति का प्रथम रूप ही है। उसी से भूत और इन्द्रियाँ बनती हैं। यही बात सांख्य में लिखी है और इसका उल्लेख गीता में वैसा ही

दिया है।

महत् का उल्लेख महाभारत में भी आया है। वहाँ लिखा है—

अव्यक्तमाहुः प्रकृतिं परां प्रकृतिवादिनः।
तस्मान्महत् समुत्पन्नं द्वितीयं राजसत्तम॥
अहङ्कारस्तु महतस्तृतीयमिति नः श्रुतम्।
पञ्चभूतान्यहंकारादाहुः सांख्यात्मदर्शिनः॥
एताः प्रकृतयश्चाष्टौ विकाराश्चापि षोडश।
पञ्च चैव विशेषा वै तथा पञ्चेन्द्रियाणि च॥

(महा भा० शा० ३०६-२७, २८, २९)

प्रकृतिवादी अर्थात् प्रकृति का ज्ञान रखने वाले प्रकृति को अव्यक्त कहते हैं। उससे महत् उत्पन्न होता है। यह दूसरा तत्त्व है। महत् से अहंकार तीसरा तत्त्व उत्पन्न हुआ। उनसे पंच महाभूत उत्पन्न हुए और पांच तन्मात्रा उत्पन्न हुईं। यह आठ तत्त्व प्रकृति के हैं। इनके सोलह विकार हैं। इनमें पांच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ तत्त्व विशेष हैं।

महत् का आपः के नाम से मनुस्मृति में भी उल्लेख है। वहाँ पर लिखा है—

सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
अप एव ससर्जाऽऽदो तासु बीजमवासृजत्॥ (मनु० १-८)

परमात्मा ने अपने शरीर से विविध प्रकार की प्रजायें उत्पन्न करने के लिये ध्यान लगाकर पहले आपः का सृजन किया।

शरीर का अभिप्राय प्रकृति से है अन्यथा परमात्मा और उसके शरीर को एक कैसे मान लेंगे?

आपः ही महत् के नाम से स्मरण किया गया है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में भी जगत्-रचना में प्रथम वस्तु को आपः ही माना है।

आपो वा अर्कस्तद्यदपां शर आसीत्तत्समहन्यत।

(बृ० उ० १-२-२)

इसका अर्थ है (प्रकृति का) सत्त्व ही आपः बना, तदनन्तर इसका शर (घन) भाग पृथिवी हो गया।

वेदों में आपः तथा महत् शब्द अनेक स्थानों पर आया है। उदाहरण के रूप में एक मन्त्र है—

त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोतीतीदं विश्वं भुवनं समेति।
यमस्य माता पर्युह्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश॥

(ऋ० १०-१७-१)

अर्थ है—(त्वष्टा) सर्वशक्तिमान् परमात्मा (दुहित्रे) प्रकृति में (वहतुं कृणोति) धारण करता है (विश्वं भुवनं समेति) बनाता है विश्व के भुवनों (नक्षत्रों तथा ग्रहों) को। (यमस्य महो माता) जिससे महत् माता (पर्युह्य-माना) सब प्रकार से धारण की हुई (जाया) जन्म देने वाली (विवस्वतो ननाश) सूर्यों को निर्माण करती है।

आपः के विषय में भी एक मन्त्र है—

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन।
महे रणाय चक्षसे। (ऋ० १०-९-१)

आपः स्थित होता है। (मयो भुवस्ता) जलों की भांति (न) स्वयं परमात्मा (ऊर्जे) शक्ति से (दधातन) धारण करता है (महे रणाय) महान् कार्य के लिए (चक्षसे) ज्ञान के लिए।

परमात्मा आपः में जो जलों (liquids) की भाँति तरल है, शक्ति से ज्ञान के साथ जगत् का निर्माण करता है।

अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनमें प्रकृति और उसके परिणामी पदार्थों के उत्पन्न होने का वृत्तान्त लोकशास्त्रों में और वेदों में मिलता है।

शंकराचार्य ने कैसे कह दिया कि सांख्य का प्रकृतिवाद वेदों में तथा लोकशास्त्रों में नहीं है? यह कहना ही पड़ेगा कि स्वामीजी न तो सांख्य के ज्ञाता थे और न ही वेदों के। अन्यथा इतनी बड़ी मिथ्या बात न कह सकते।

अतः इस सूत्र का अर्थ है—

परमात्मा के अतिरिक्त अन्यों के किसी शास्त्र में दिखाई न देने से अर्थात् अनवकाश होने से दोष नहीं। अन्य का अभिप्राय जीवात्मा और प्रकृति दोनों से है।

एतेन योगः प्रत्युक्तः ॥३॥

एतेन + योगः + प्रत्युक्तः।

इससे योग के विषय में उत्तर हो गया।

इससे का अभिप्राय है कि जो कुछ ऊपर के सूत्र में कहा गया है वह योग में समझो। ऊपर के सूत्र में कहा गया है कि कुछ अन्य के उपलब्ध न होने से। हमने इसका अभिप्राय यह बताया है कि परमात्मा के अतिरिक्त कुछ अन्य भी है और जहाँ उनका वर्णन उपलब्ध नहीं, वह अनवकाश है और यह दोष नहीं।

इसके कहे जाने से योग विषयक का उत्तर मिल जाता है। योग का क्या अभिप्राय है ? स्वामी शंकराचार्य तथा आचार्य उदयवीर शास्त्री योगः से योग दर्शन का अभिप्राय लेते हैं। आचार्य ब्रह्म मुनि योगः से योग-क्रिया का अर्थ लेते हैं।

हमारे विचार में यहाँ अभिप्राय योगदर्शन से नहीं है। पूर्व सूत्र में सांख्यदर्शन का उल्लेख नहीं। वहाँ स्वामी शंकराचार्य ने अपने पूर्वाग्रहों से प्रेरित कपिल मुनि की निन्दा करने के लिये सांख्यदर्शन को ला खड़ा किया है। हमने बताया है कि जो दोष स्वामी शंकराचार्य ने सांख्य में वर्णन किया है, वह दोष उसमें है ही नहीं। सांख्य में ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया। अतः सांख्य में ईश्वर के विषय में अनवकाश नहीं और दोष-गुण का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

यहाँ प्रश्न यह है कि क्या योगदर्शन में परमात्मा की बात का अनवकाश है ? योगदर्शन के पढ़ने वाले जानते हैं कि नहीं है। योग दर्शन का प्रवक्ता परमात्मा के अस्तित्व को मानता है। स्वामी शंकराचार्य का यह कहना कि—

एतेन सांख्यस्मृतिप्रत्याख्यानेन, योगस्मृतिरपि प्रत्याख्याता द्रष्टव्येत्यतिदिशति। तत्रापि श्रुतिविरोधेन प्रधानं स्वतन्त्रमेव कारणं, महदादीनि च कार्याण्यलोकवेदप्रसिद्धानि कल्प्यन्ते।

इसका अर्थ है —इससे सांख्यस्मृति का खण्डन करने से योगस्मृति का भी खण्डन हो गया है। द्रष्टव्य स्पष्ट दिखायी देता है। श्रुति के विरोध में प्रधान को स्वतन्त्र कारण माना है और महदादि कार्यों का लोकशास्त्रों में और वेदशास्त्रों में अप्रसिद्ध करने की कल्पना की गयी है।

सांख्य के विषय में हमारा प्रत्युत्तर ऊपर दिया जा चुका है। वही उत्तर योग दर्शन के विषय में है। इस विषय में ब्रह्ममुनिजी के ब्रह्मसूत्र भाष्य से उद्धरण दे दिया जाये तो अधिक ठीक होगा। श्री ब्रह्ममुनिजी इसी सूत्र के भाष्य में लिखते हैं—

'इस सूत्र पर शंकर भाष्य असंगत है; क्योंकि उन्होंने इस सूत्र पर योग-दर्शन का खण्डन किया है कि योग दर्शन में जगत् का कारण प्रकृति मानने का भी प्रत्युत्तर अर्थात् खण्डन या निषेध जानना चाहिये। परन्तु योग दर्शन में कहीं भी ऐसा सूत्र नहीं जिसमें जगत् का कारण प्रकृति प्रतिपादित हो। तब योग प्रतिपादित प्रकृति का जगत् कारण होना खण्डित या निराकृत हो गया। इसका अवसर ही नहीं है। और भी शंकर भाष्य से सूत्र की व्यर्थता का दोष भी आता है। जबकि 'स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग'''।' पूर्वोक्त इस सूत्र में प्रकृति नाम अव्यक्त का जगत् कारण होना प्रतिषिद्ध कर दिया, तब उसका सांख्य प्रतिपादित प्रकृति हो या योग प्रतिपादित प्रकृति हो, वह सब ही प्रतिपादित

हो गया। पुनः पृथक्-पृथक् सूत्र की रचना की आवश्यकता नहीं है।'

योग-दर्शन में सृष्टि-रचना का प्रसंग तो है नहीं, वहाँ योग से सिद्धि प्राप्त करने के ढंग का वर्णन है और उस ढंग में परमात्मा का वर्णन आया है। जैसे वहाँ पर सूत्र है—

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥ (योग० १-२३)

अर्थात्—ईश्वर में ध्यान लगाने से भी समाधि की सिद्धि हो सकती है। और भी कहा है—

तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि क्रिया योगः। (योग० २-१)

योग की क्रिया में तप, स्वाध्याय और ईश्वर में विश्वास आवश्यक है। इस कारण योग-दर्शन में परमात्मा का अनवकाश नहीं। अतः दोष का प्रश्न ही नहीं उठता।

अतः इस सूत्र में योगः से योग सूत्रों का अभिप्राय नहीं। हमारा यह मत है कि यहाँ योगः से योग क्रियाओं का उल्लेख है। जहाँ पहले सूत्र (२-१-१, २) में पुस्तक अथवा प्रकरण का अभिप्राय है, वहाँ इस (२-१-३) में योग-क्रिया का उल्लेख है। योगक्रियाओं को कैवल्यावस्था प्राप्त करने का साधन माना जाता है। अतः यदि कोई कहे कि योगक्रिया के उल्लेख में परमात्मा का अनवकाश है तो इसका उत्तर भी उक्त सूत्र में हो गया है, ऐसा समझना चाहिये। अभिप्राय यह कि वह अनवकाश किसी दोष का सूचक नहीं। कारण यह कि वहाँ परमात्मा का खण्डन नहीं।

पतञ्जलि के योगसूत्र में तो ईश्वर प्रणिधान को योग का विशेष अंग माना है। इस कारण यह सूत्र योग-दर्शन के विषय में नहीं। यहाँ भी परमात्मा पर विश्वास का खण्डन नहीं।

जगत्-रचना में जीवात्मा और प्रकृति का उल्लेख सूत्रकार प्रथम अध्याय में कर चुका है। इस द्वितीय अध्याय के प्रथम तीन सूत्रों में सूत्रकार का कहना है कि किसी ग्रन्थ अथवा क्रिया में यदि प्रकृति अथवा जीवात्मा का उल्लेख न हो अर्थात् उनका उल्लेख दिखायी न दे तो यह दोष नहीं। कारण यह कि दूसरी स्मृतियों में जहाँ उनका उल्लेख है और परमात्मा का उल्लेख नहीं तो वहाँ भी अनवकाश दोष नहीं मानना चाहिए।

अब आगे प्रकृति और जीवात्मा का स्पष्ट वर्णन आ गया है।

न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात् ॥४॥

न+विलक्षणत्वात्+अस्य+तथात्वं+च+शब्दात् ।

न विलक्षण होने से इसका वैसा ही होना है और शास्त्र (प्रमाण) से (भी सिद्ध है) ।

ऊपर जो सूत्र (२-१-२) में 'इतरेषां' लिखा है अर्थात् कुछ अन्यों की बात लिखी है, वे अन्य हैं। कारण यह कि उनसे विलक्षण गुण इस (जगत्) में नहीं है, अर्थात् समान गुण हैं। इतर पदार्थों के समान गुण इस जगत् में होने से वे इस जगत् का कारण भी हैं, ऐसा शब्द प्रमाण से भी स्पष्ट होता है।

युक्ति यह है कि कार्य में कारण के गुण होते हैं। प्रकृति जड़ है और जगत् के पदार्थ भी जड़ हैं। जड़त्व में समानता है। जड़त्व का अर्थ है अविचलता। यह अविचलता कार्य-जगत् के पदार्थों में देखी जाती है। इस जड़त्व अर्थात् अविचलता को वैज्ञानिक भाषा में स्थायित्व (inertia) कहते हैं। यह अपना स्थान तथा रूप स्वयं बदल नहीं सकता। इसको बदलने के लिये किसी चेतन शक्ति की आवश्यकता होती है।

आचार्य उदयवीरजी ने इस सूत्र को पूर्व पक्ष का कथन समझा है। हम ऐसा नहीं मानते। इसमें स्पष्ट बात लिखी है कि प्रकृति के गुण कार्य-जगत् में मिलते हैं, इस कारण प्रकृति कारण है और जगत् कार्य है। शब्द प्रमाण से भी ऐसा ही प्रकट होता है।

इस सूत्र का एक दूसरे प्रकार से भी अर्थ किया जाता है। इस अर्थ में 'न' को विलक्षणत्वात् के साथ लगाने के स्थान 'अस्य' के साथ लगा दिया है।

इसका अन्वय इस प्रकार बन जाता है।

विलक्षणत्वात् न अस्य तथात्वं।

अर्थात्—विलक्षण होने से जगत् का वैसा होना नहीं।

अर्थात्—जगत् जड़ है और यह परमात्मा से, जो चेतन है, विलक्षण है। अतः इसका उपादान कारण परमात्मा नहीं।

यह अर्थ श्री स्वामी शंकराचार्य ने किये हैं, परन्तु उन्होंने अपने पास से यह अर्थ लगा दिया है कि इस (जगत्) का उपादान और निमित्त कारण दोनों ब्रह्म हैं। यह बात सूत्र में न तो लिखी है और न ही इसका कहीं संकेत मिलता है।

स्वामीजी लिखते हैं—

यदुक्तं चेतनं ब्रह्म जगतः कारणं प्रकृतिरिति तन्नोपपद्यते; कस्मात्? विलक्षणत्वादस्य विकारस्य प्रकृत्याः। इदं हि ब्रह्मकार्यत्वेनाभिप्रेयमाणं जगत् ब्रह्मविलक्षणमचेतनमशुद्धं च दृश्यते।

अर्थात्—जो यह कहा गया है कि चेतन ब्रह्म जगत् का कारण—प्रकृति है, यह उपपद्य (सिद्ध) नहीं होता (युक्ति से सिद्ध नहीं होता)। क्योंकि यह प्रकृति से विलक्षण है। यह जगत् ब्रह्म कार्य रूप से माना हुआ ब्रह्म से विलक्षण, अचेत और अशुद्ध देखा जाता है।

स्वामीजी की मिथ्या दृष्टि को दर्शाने के लिए इतना उद्धरण ही पर्याप्त है।

इसमें मिथ्यात्व यह है कि इस जगत् को चेतन माना है। लिखा है—'चेतनं ब्रह्म जगतः' यह ब्रह्म जगत् चेतन है। जगत् चेतन नहीं। चेतन के लक्षण ऊपर ईक्षण करना कह आये हैं। (सूत्र १-१-५)

ईक्षण करना चेतना के लक्षण हैं। ईक्षण के शाब्दिक अर्थ हैं किसी की देख-भाल करना, परन्तु किसी क्रिया (जगत् रचना) की देख-भाल का अर्थ है क्रिया को आरम्भ करने वाला, उसके स्थान तथा दिशा का निश्चय करने वाला। अतः हमने ईक्षण से चेतन के उस गुण को माना है जिससे चेतन यह निश्चय करता है कि कोई कर्म कब, कहाँ और कैसे आरम्भ हो, चले अथवा अन्त हो। किसी क्रिया के आरम्भ, चलन और अन्त में काल, दिशा और स्थान निश्चय करने का गुण ईक्षण कहलाता है। इस विषय को हमने अधिक व्याख्या से सूत्र १-१-५ के भाष्य में लिखा है।

अब देखना यह है कि जगत् में ईक्षण करने की शक्ति है क्या? क्या जगत् स्वयं में अपने बनने का काल, स्थान और दिशा निश्चय करता है। जगत्, किस प्रकार चले, यह क्या स्वयं निश्चय करता है? यह अनुभव की बात है और शास्त्र भी इसमें प्रमाण है कि यह गुण जगत् में नहीं है। अतः 'चेतनं ब्रह्म जगतः' का वाक्य मिथ्या दृष्टि का सूचक है।

इसमें अयुक्तता यह है कि ब्रह्म के गुणों से विलक्षण गुण जगत् में पाये जाते हैं। इस कारण जगत् का उपादान कारण ब्रह्म नहीं हो सकता।

स्वामीजी गुणों के विलक्षण होने को, उपादान कारण होने में युक्ति मानते हैं।

अर्थात् सोने से बनने वाले भूषण में सोने से विलक्षण गुण हो सकते हैं। घड़े के गुण मिट्टी से विलक्षण हो सकते हैं। जगत् में ऐसा दिखायी नहीं देता।

भगवान् जाने किस बात से शंकर के अनुयायी शंकर को मीमांसक (logician) मानते हैं। इस सूत्र के भाष्य में स्वामीजी ने अपने को युक्ति करने के अयोग्य होने का ही प्रमाण दिया है।

यथा पूर्व इस सूत्र में भी कपिल और सांख्य की निन्दा अकारण कर दी है।

इस सूत्र का स्पष्ट अर्थ है—(न विलक्षणत्वात्) विलक्षण न होने से (अस्य) इस जगत् का (तथात्वं) वैसे होना (सिद्ध है)।

प्रकृति से जगत् के गुण विलक्षण नहीं, इस कारण जगत् का उपादान कारण प्रकृति है। यही इस सूत्र के अर्थ बनते हैं।

अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ।।५।।

अभिमानिव्यपदेशः + तु + विशेषानुगतिभ्याम् ।

अभिमानिव्यपदेशः = अभिनय अलंकार के रूप में कहे जाने से। तु = परन्तु। विशेषानुगतिभ्याम् = विशेष अनुगतियों से।

इस सूत्र में प्रथम समझने योग्य शब्द है—अभिमानी। अभिनय के रूप में कार्य करने से किसी भी पदार्थ में उसकी अभिमानी शक्ति कही जाती है। यह शक्ति तो परमात्मा की ही है। कार्य-जगत् में प्रत्येक पदार्थ परमात्मा रूपी प्राण से ही कार्य करता है। प्राण से अभिप्राय यह है कि ईश्वरीय शक्ति तो एक ही है, परन्तु प्रत्येक पदार्थ में भिन्न-भिन्न ढंग से वह शक्ति कार्य करती है। अतः प्रत्येक पदार्थ में सब स्थान वाली शक्ति उस अंग के अनुरूप कार्य करती है।

अभिनय नाटक करने को भी कहते हैं। एक ही मनुष्य भिन्न-भिन्न वेशों में मंच पर आता है तो अपने रूप के अनुकूल अभिनय करता है। यही अभिनय अलंकार है। ईश्वर की शक्ति भिन्न-भिन्न कार्य-जगत् के पदार्थों में कार्य करती है और उस पदार्थ के अनुरूप हो उसका कार्य होता है। सामान्य भाषा में कहा जाता है कि उस पदार्थ में उसका अभिमानी देवता कार्य करता है। वास्तव में ईश्वरीय शक्ति ही काम करती है, परन्तु अभिनय करने वाले की भाँति पदार्थ के अनुरूप कार्य करती है; इस कारण वह अभिमानी कहलाती है।

यह अभिमानी शक्ति प्रत्येक पदार्थ में विशेष रूप में कार्य करती है उसकी अनुगतियों के अनुसार। अभिप्राय यह कि सूर्य, चन्द्र, तारागण, पृथिवी और पृथिवी पर के अनेकानेक पदार्थ ईश्वरीय शक्ति से नियन्त्रित अपने-अपने ढंग से कार्य करते हैं।

अतः सूत्र का अर्थ बनता है—अभिनय अलंकार के रूप में कार्य-जगत् के पदार्थ, जो एक ही प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं और एक ही शक्ति से संचालित हैं, अपने-अपने कार्यानुसार भिन्न-भिन्न (विशेष) गतियों में चलते हैं।

दृश्यते तु ॥६॥

दृश्यते+तु।

किन्तु देखे जाने से (भी)।

'तु' शब्द पहले सूत्र २-१-५ में भी आया है। अतः यह सूत्र भी २-१-४ से व्यावृत्ति भेद (विपरीत भाव) दिखाने के लिये है। कार्य-जगत् प्रकृति से विलक्षण न होने से वैसा ही है, अर्थात् जड़ है और इन दोनों सूत्रों में प्रकृति और जड़ कार्य-जगत् में समानता होने पर भी भिन्नता का वर्णन किया गया है।

सूत्र २-१-५ में विलक्षणता यह बतायी है कि जड़ प्रकृति के पदार्थ नाटक-मंच पर अभिनय की भाँति भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं। इस जगत्-नाटक का सूत्रधार एक ही है और उसी के सूत्रों से बँधे हुए जगत् के पदार्थ भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं। सूत्र २-१-६ में यह कहा है कि देखने में भी जगत् के पदार्थ भिन्न-भिन्न दिखायी देते हैं।

जैसे जगत् के पदार्थ भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं, परन्तु वे तो नाटक मात्र हैं। उनसे अभिनय कराने वाला एक परमात्मा है। वे देखने में अनेक रूप और नाम वाले हैं, परन्तु वे एक ही अव्यक्त पदार्थ (प्रधान) से बने हुए हैं।

असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् ॥७॥

असत्+इति+चेत्+न+प्रतिषेधमात्रत्वात्।

इति=यह। असत्=शून्य (से है)। चेत्=यदि कहो तो। न=नहीं। प्रतिषेधमात्र से (ऐसा कहा जाता है)।

यह जगत् शून्य से उत्पन्न हुआ है। यह कहना ठीक नहीं। प्रतिषेध मात्र से ऐसा कहा जाता है।

प्रतिषेध का अर्थ है कि भेद बताने के विचार से। यह जगत् तो इन्द्रियों से अनुभव किया जाता है और इसका कारण मूल प्रकृति इतनी सूक्ष्म है कि उसे असत् (शून्य) कहा जाये तो यह दोनों में बहुत बड़ा अन्तर बताने के लिए ही है। वास्तव में जगत् का मूल कारण शून्य नहीं है।

इस अन्तर का अनुमान लगाना हो तो सूर्य से पृथिवी और पृथिवी से उस भवन का अन्तर, जिसमें मनुष्य रहता है और मनुष्य से अन्न के एक दाने की तुलना तथा एक अन्न के दाने की तुलना उसमें के अणु और उसके अन्तर्गत

इलैक्ट्रोन, प्रोटोन से करके अनुमान लगायें तो सूर्य और प्रकृति के परमाणु में अन्तर का विचार करते हुए बुद्धि चकराने लगती है।

सूर्य हमारे सौर-जगत् में सबसे वड़ी वस्तु है, परन्तु ब्रह्माण्ड में तो सूर्य से भी बहुत बड़ी-बड़ी वस्तुएँ हैं।

इस कारण कभी कोई लेखक कार्य-जगत् के पदार्थों से प्रकृति की सूक्ष्मता को प्रकट करने के लिए प्रतिषेध मात्र के लिये मूल को असत् कह दे तो कह दे। वास्तव में मूल असत् नहीं है। यह ठीक नहीं कि जगत् का मूल कारण असत् है। असत् से सत् कैसे हो गया?

इससे सूत्रकार यह सिद्ध करना चाहता है कि कार्य-जगत् जड़ होने से, परमात्मा नहीं है। कार्य-जगत् जड़ है। जगत् जड़ प्रकृति से ही बना है। यह भी सूत्रकार ने कहा है कि यह शून्य से भी उत्पन्न नहीं हुआ। कारण असत् से सत् नहीं हो सकता।

जहाँ कहीं कहा भी जाता है कि यह शून्य से उत्पन्न हो गया है, वहाँ इसे प्रतिषेध मात्र मानना चाहिये। तुलना करने के विचार से समझना चाहिये।

अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गादसमञ्जसम् ॥८॥

अपीतौ+तत्+प्रसङ्गात्+असमञ्जसम्।

अपीतौ=प्रलय काल में। तत् वत्=उसकी भाँति। प्रसङ्गात्=प्रसंग से। असमञ्जसम्=अनियमित अथवा अयुक्तिसंगत (है)।

यह पूर्व पक्ष है। प्रलयकाल में यह जगत् नहीं रहता और यह कहा जाता है कि अव्यक्त प्रकृति कारण रूप में रह जाती हैं। उसके अव्यक्त, अदृश्य, अनीन्द्रिय होने से कार्य-जगत् से भिन्नता है। अर्थात् कार्य-जगत् के लक्षण मूल प्रकृति में नहीं होते। इससे अव्यक्त प्रकृति कार्य-जगत् का उपादान कारण नहीं हो सकती।

सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादि प्रलय-काल में कहीं नहीं दिखायी देते। इस कारण प्रकृति इनका मूल कारण नहीं है। कर्म के लक्षण मूल पदार्थ में होने ही चाहिएँ।

यह संशय प्रायः कुछ विचारक उपस्थित करते हैं।

अतः पूर्व पक्ष इस प्रकार है। प्रलय काल में (प्रकृति) उसकी (कार्य-जगत् की) सी ही होनी चाहिए। यह ही कार्य-कारण का सम्बन्ध है। यह है नहीं। इस कारण प्रकृति जगत् का मूल कारण नहीं हो सकती।

इस संशय का समाधान सूत्रकार अगले सूत्र में करता है।

न तु दृष्टान्तभावात् ॥९॥

न+तु+दृष्टान्त भावात्।

पूर्व सूत्र के 'असमंजस' की पुनरावृत्ति इस सूत्र में लेनी चाहिए। कारण यह कि यहाँ उक्त सूत्र के संशय का समाधान है।

संशय यह था कि प्रलय काल में (प्रकृति) ऐसी (कार्य-जगत् सी) नहीं होती ; इस कारण प्रकृति इस जगत् का कारण नहीं हो सकती। इस असम्भव होने अर्थात् अयुक्तिसंगत होने के लिए 'असमंजस' शब्द का प्रयोग किया है।

इस सूत्र में लिखा है कि यह असमंजस (अयुक्तिसंगत बात) नहीं है। कारण यह है कि ऐसे दृष्टान्त हैं जिनमें हम देखते हैं कि कार्य के लक्षण कारण में दिखायी नहीं देते।

बीज से वृक्ष बनता है। यदि कोई व्यक्ति बीज में वृक्ष देखना चाहे तो दिखाई नहीं देता। यद्यपि यह प्रत्यक्ष है कि बीज से वृक्ष बना है। अंडे से मुर्गी उत्पन्न हुई है। दोनों के रंग-रूप में अन्तर है। इसी प्रकार अनेकों उदाहरण दिये जा सकते हैं।

यह कार्य और कारण में अन्तर उनके दृष्टिगत रूप में होता है। उस पदार्थ के मौलिक गुणों में नहीं, जो कारण में भी होते हैं और कार्य में भी होते हैं।

बीज और वृक्ष में मौलिक पदार्थ है जीवित कोषिका। यह बीज में भी है और वृक्ष में भी है। अण्डे में भी है और मुर्गी में भी है। अन्तर है बाहरी रूप में।

इसी प्रकार प्रलयकाल की प्रकृति त्रिगुणात्मक परमाणुओं से बनी है। कार्य-जगत् का प्रत्येक पदार्थ भी त्रिगुणात्मक परमाणुओं से बना है। अतः कार्य-कारण का सम्बन्ध तो है ; परन्तु वह सम्बन्ध रूप का नहीं, उसमें मूल पदार्थ का है। कारण से कार्य बनता है तो कारण पदार्थ ज्यों का त्यों रहता हुआ भी रूपों में अन्तर पड़ जाता है।

सूत्रकार इस विषय पर आगे भी लिखता है।

स्वपक्षदोषाच्च ॥१०॥

स्वपक्ष+दोषात्+च ।

और अपने पक्ष में भी दोष होने से ।

अपना पक्ष । किसका पक्ष ? जिसने संशय उपस्थित किया है। यह संशय उनकी ओर से उपस्थित किया जाता है जो शून्य (असत्) से भाव (सत्) की उत्पत्ति मानते हैं । वे कहते हैं कि कार्य-कारण का सम्बन्ध 'असमंजस' है ।

इनके अपने पक्ष में दोष यह है कि शून्य और कार्य-जगत् में भी तो असमंजस है । शून्य और भाव भी तो परस्पर नहीं मिलते ।

शंकराचार्य प्रकृति के अस्तित्व को मानते नहीं और इस (द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद) के १ से १० सूत्रों तक प्रकृति का ही उल्लेख आया है । इस कारण स्वामी शंकराचार्यजी ने सूत्रार्थों में वहुत अधिक गड़वड़ी की है और प्रकृति को सर्वथा वीच में से निकाल देने का यत्न किया है ।

पहले तो स्वामी शंकराचार्य ने सांख्यदर्शन के प्रणेता कपिल मुनि की निन्दा कर पाठकों को भ्रम में डालने का यत्न किया है ।

कपिल तो सांख्य में परमात्मा के अस्तित्व को मानता है। परमात्मा को जगत् का रचने वाला और इसका पालन-पोषण करने वाला मानता है । अतः सांख्य और कपिल को वीच में ला खड़ा करना ठीक नहीं था ।

अव सातवें से दसवें सूत्रों में सर्वथा विलक्षण अर्थ किये हैं। उदाहरण के रूप में सातवें सूत्र में अर्थ तो ठीक किया कि यह कहना ठीक नहीं कि जगत् असन् से बना है। असत् से सत् नहीं होता, परन्तु वह सत् क्या था जो जगत् के पहले था ? उसे शंकराचार्य अपनी सम्मति में ब्रह्म (परमात्मा) मानते हैं।

आप इसी ब्रह्म सूत्र (२-१-७ के) भाष्य में लिखते हैं ।

यदि चेतनं शुद्धं शब्दादिहीनं च ब्रह्म तद्विपरीतस्याचेतनस्याशुद्धस्य शब्दादिमतश्च कार्यस्य कारणमिष्येय, असत्तर्हिकार्यं प्रागुत्पत्तेरिति प्रसज्येत। अनिष्टं चैतत्सत्कार्यवादिनस्तवेति चेत्—नैष दोषः, प्रतिषेधमात्रत्वात् ।

अर्थात्—यदि चेतन, शुद्ध, शब्दादि से रहित ब्रह्म अपने से विपरीत, अचेतन, अशुद्ध शब्दादि युक्त जगत् समान कार्य का कारण माना जाये तो उत्पत्ति के पूर्व यह कार्य असत् प्रसक्त होगा । इस प्रकार सत्कार्यवादी के लिए यह अनिष्ट होगा । ऐसा कहो तो यह दोष नहीं है; क्योंकि प्रतिषेध मात्र है ।

हमने इस सूत्र के अर्थ किये हैं कि मूल कारण को असत् केवल प्रतिषेध भाव से कहा जाता है । अर्थात् प्रकृति अति सूक्ष्म, अदृश्य और तपोभूत होने से वर्तमान कार्य-जगत् से सर्वथा विलक्षण दिखाई देती है। इस कारण अभाव (शून्य) कह दी जाती है। यह तुलना मात्र से ही कहा है। हमने प्रतिषेध का

अर्थ तुलना किया है।

इस सूत्र में असत् के स्थान पर क्या था, इसका उल्लेख नहीं। स्वामी जी ने इसे ब्रह्म (परमात्मा) माना है और कहा है कि यदि ब्रह्म को कारण नहीं मानेंगे तो सत्कार्य करने वालों का अनिष्ट हो जायेगा। अर्थात् वह मुक्त होकर कहाँ जायेंगे ?

कितनी निकृष्ट युक्ति की है, यह प्रकट करने के लिए कि यदि असत् के स्थान पर ब्रह्म (परमात्मा) न माना तो अनिष्ट हो जायेगा।

वास्तव में इस अध्याय का आरम्भ ही ऐसा किया गया हैं जिससे जगत् का मूल कारण प्रकृति जैसे लक्षण वाला पदार्थ सिद्ध होता है। प्रथम सूत्र में लिखा है कि यदि किसी मनुष्य कृत ग्रंथ में किसी विषय का अनवकाश हो तो वह ग्रंथ का दोष नहीं। इस ग्रंथ की वात किसी दूसरे ग्रंथ में अनवकाश हो सकती है।

स्पष्ट संकेत कुछ उपनिषद् ग्रंथों की ओर है। वहाँ परमात्मा का वर्णन करते-करते प्रकृति जीवात्मा का वर्णन नहीं किया गया।

दूसरे सूत्र में लिखा है कि अनेक अनवकाश वाले ग्रंथों में इतर पदार्थों का उल्लेख नहीं। फिर तीसरे सूत्र में लिखा है कि ऐसे ही योग में (योग प्रक्रिया में) भी इसका उल्लेख नहीं। चतुर्थ सूत्र में लिखा है कि कार्य-जगत् और प्रकृति में विलक्षणता नहीं। अतः कारण-कार्य का सम्बन्ध है।

पांचवें सूत्र में प्राकृतिक पदार्थों में कार्य ऐसे ही होता है जैसे कि नाटक मंच पर नाट्यकार कार्य करता है। सबमें कर्म करने वाला सूत्रधार परमात्मा है, परन्तु कार्य अभिनय की भाँति है। छठा सूत्र है कि ये पदार्थ अभिनय करते हुए दिखाई भी देते हैं।

इस प्रकार इस पाद का आरम्भ ही ऐसा किया गया है कि प्रकृति की ओर संकेत स्पष्ट है। अन्यथा 'इतरेषां' दूसरे सूत्र में बहुवचन न होता।

इसी प्रकार सूत्र संख्या ७ में भी असत् तो केवल प्रतिषेध मात्र (तुलना के विचार से) माना है, परन्तु असत् के मूल में प्रकृति, जीवात्मा तथा परमात्मा थे। अर्थात् ब्रह्म था। ब्रह्म से केवल परमात्मा की ओर संकेत नहीं। यदि यह कहा जाय कि यहाँ सत् से अभिप्राय केवल प्रकृति से है तो वह भी ठीक है; क्योंकि कार्य-जगत् का एक मूल स्रोत वह भी है।

इस पर असत् मानने वाले आपत्ति करते हैं कि कार्य-जगत् का रूपादि कारण प्रकृति में दिखाई नहीं देता; इस कारण यह कारण नहीं है।

सूत्रकार समाधान करता है कि यह कोई युक्ति नहीं। यह इसलिए कि यह कारण-कार्य का सम्बन्ध रूपादि में नहीं होता, वरन् पदार्थ के मूल गुणों में होता है। ऐसे उदाहरण मिलते हैं जहाँ कारण और कार्य में रूपादि का सम्बन्ध

नहीं। जैसे बीज और वृक्ष।

संशय करने वाले स्वयं इस आपत्ति का उत्तर नहीं दे सकते कि जब शून्य से चराचर जगत् बन सकता है तो एक प्रकृति से अनेकों रूप-रंग की वस्तुएँ क्यों नहीं बन सकतीं ?

तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयमिति चेदेवमप्यविमोक्षप्रसङ्गः ॥११॥

तर्क + अप्रतिष्ठानात् + अपि + अन्यथा + अनुमेयं + इति + चेत् + एवम् + अपि + अविर्मोक्ष प्रसङ्गः।

तर्क = युक्ति। अप्रतिष्ठानात् = अप्रतिष्ठित होने से। अपि = भी। अन्यथा = अन्य प्रकार से। अनुमेयं = अनुमान से सिद्ध की जाने वाली बात। चेत् इति = यदि यह कहो। एवम् अपि = ऐसा होने पर भी। अविर्मोक्ष प्रसङ्गः = मोक्ष न होने का प्रसंग आ जाएगा।

युक्ति के अप्रतिष्ठित होने से, अर्थात् युक्ति के निराधार होने से दूसरे ढंग से भी (युक्ति) हो सकती है। यदि यह है तो अनुमेय की विनिर्मुक्ति अर्थात् अनुमेय की सिद्धि भी नहीं हो सकेगी।

युक्ति अर्थात् अनुमान प्रमाण की शर्त यह है कि वह भली-भाँति आधार युक्त हो। अनुमान सदा किसी आधार पर होता है। जैसे धुआँ देखकर अग्नि का अनुमान लगाया जाता है। इसमें आधार यह है कि इस युक्ति करने से पहले अग्नि और धुएँ का सम्बन्ध सिद्ध हो चुका है। धुआँ अग्नि से होता है। कोई कहे कि धुआँ देख कर वृक्षों का अनुमान होता है तो यह अप्रतिष्ठित युक्ति होगी। इसी प्रकार कोई कहे कि राम का पुत्र अनन्त काल तक जीवित रहेगा तो यह भी अप्रतिष्ठित युक्ति होगी। पुत्र तो जन्म से होता है और जन्म लेने वाली वस्तु मर्त्य होती है। अतः राम का पुत्र अनन्त काल तक जीवित रहा, अप्रतिष्ठित युक्ति है। अप्रतिष्ठित का अभिप्राय है जिसकी किसी पूर्व अनुभव से प्रतिष्ठा न हुई हो। वृक्षों से धुआँ होता नहीं देखा जाता। जब तक वृक्ष काट कर सुखा कर जलाया न जाये, धुआँ नहीं होता। इसी प्रकार सूत्रकार कहता है कि अप्रतिष्ठित तर्क से तो दूसरे प्रकार से भी युक्ति की जा सकती है। यदि ऐसा करोगे तो जो सिद्ध होने योग्य बात है, वह भी अनिर्मुक्त अर्थात् असिद्ध ही रह जायेगी।

आधाररहित युक्ति को कल्पना कहते हैं। आधारयुक्त युक्ति को

अनुमान प्रमाण कहते हैं। हम अनुमान के लक्षण 'जन्माद्यस्य यतः' (१-१-२) के भाष्य में दे आये हैं। अतः हम आधारयुक्त युक्ति को अनुमान प्रमाण मानते हैं। निराधार तर्क को वितण्डा भी कहते हैं।

निराधार युक्ति यदि करोगे तो कोई दूसरा वैसी ही निराधार अन्य युक्ति कर देगा। अतः निराधार युक्ति नहीं करनी चाहिए। यदि ऐसा करेंगे तो सिद्ध होने वाली बात भी अनिर्मुक्त अर्थात् असिद्ध रह जायेगी।

अन्य भाष्यकारों ने इस सूत्र के अर्थ कुछ भिन्न किये हैं। उदाहरण के रूप में श्री शंकराचार्य इस प्रकार लिखते हैं—

इतश्च नागमगम्येऽर्थे केवलेन तर्केण प्रत्यवस्थातव्यम्। यस्मान्निरागमाः पुरुषोत्प्रेक्षामात्रनिबन्धनास्तर्का अप्रतिष्ठिता भवन्ति, उत्प्रेक्षाया निरंकुशत्वात्। तथा हि कैश्चिदभियुक्तैर्यत्नेनोत्प्रेक्षितास्तर्का अभियुक्ततरैरन्यैराभास्यमाना दृश्यन्ते। तैरप्युत्प्रेक्षिताः सन्तस्ततोऽन्यैराभास्यन्त इति न प्रतिष्ठितत्वं तर्काणां शक्यमाश्रयितुम्, पुरुषमतिवैरूप्यात्। अथ कस्यचित्प्रसिद्धमाहात्म्यस्य कपिलस्य चान्यस्य वा संमतस्तर्कः प्रतिष्ठित इत्याश्रीयेत, एवमप्यप्रतिष्ठितत्वमेव, प्रसिद्धमाहात्म्यानुमतानामपि तीर्थकराणां कपिलकणभुक्प्रभृतीनां परस्परविप्रतिपत्तिदर्शनात्। अथोच्येतान्यथा वयमनुमास्यामहे यथा नाप्रतिष्ठादोषो भविष्यति। नहि प्रतिष्ठितस्तर्क एव नास्तीति शक्यते वक्तुम्।

अर्थात्—इसलिए आगम गम्य (व्यवहारिक शास्त्र) के अर्थ करने में केवल तर्क से प्रत्यावस्था (विरोध) करना ठीक नहीं। क्योंकि आगम (व्यवहार शास्त्र) और केवल पुरुष कल्पनामूलक तर्क प्रतिष्ठित नहीं होते। कल्पना निरंकुश होती है। जैसे कुछ से यत्नपूर्वक कल्पित तर्क दूसरों से आभास मात्र दिखाये जाते हैं। उनसे भी कल्पित तर्क दूसरों से आभास से सिद्ध हो जाते हैं। अतएव तर्क का आश्रय ग्रहण नहीं करना चाहिए। कारण यह कि पुरुषों की बुद्धियाँ विलक्षण होती हैं। यदि किसी प्रसिद्ध कपिल महात्मा द्वारा अथवा किसी अन्य महात्मा द्वारा प्रतिष्ठित बात है तो वह पूर्वोक्त दोष से अप्रतिष्ठित ही है। इस पर भी प्रतिष्ठित अनुमान भी कपिल कणाद इत्यादि जैसे शास्त्र-प्रणेता में भी परस्पर विरोध दिखाई देता है। यह कहा जाए कि हम दूसरे ढंग से अनुमान करें जिससे अप्रतिष्ठित दोष न आये तो प्रतिष्ठित तर्क हो ही नहीं सकता।

इस लम्बे उद्धरण को देने के दो कारण हैं। एक यह कि श्री स्वामी जी और उनका अन्धानुकरण करने वाले अन्य भाष्यकारों ने कल्पना, युक्ति और अनुमान के अर्थों को ग़लत-मलत कर दिया है।

हम युक्ति को एक सामान्य बात समझते हैं। जब युक्ति आधार सहित हो तो उसे अनुमान कहते हैं। कल्पना युक्तियुक्त भी हो सकती है और

युक्तिरहित भी।

हमारा यह मत है कि भारतवर्ष में एक समय शंकराचार्य जैसे भ्रान्त मस्तिष्क वालों का वोलबाला रहा है और उन्होंने केवल युक्ति को प्रमाण मान उसका खण्डन किया था। उसी समय से भारतवर्ष की उन्नित अवरुद्ध हुई है। युक्ति आधारयुक्त हो, तव ही प्रमाण होती है।

महाभारत काल में भारत की धार्मिक और सांस्कृतिक प्रतिष्ठा सार्वभौमिक थी। तत्कालीन ज्ञान-विज्ञान में भारत सर्वोत्कृष्ट था। पीछे भर्तृहरि जैसे व्यक्ति तार्किक् माने गए और तर्क करना दूषित माना गया।

भर्तृहरि ने ही यह प्रसिद्ध वाक्य कहा है—

"यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते ॥"

अर्थात्—कुशल अनुमाता लोग बड़े प्रयत्न से जिस अर्थ को तर्क से सिद्ध करते हैं, उसी अर्थ को अन्य अनुमाता तार्किक अपने अनुमान तर्कों द्वारा अन्यथा ही सिद्ध कर देते हैं।

भर्तृहरि का काल महाभारत युद्ध से चार पाँच सौ वर्ष उपरान्त माना जाता है और यह कहा जा सकता है कि उस समय उक्त तर्कहीन बात देश के विद्वानों को ठीक प्रतीत होने लगी थी और तव से देश का ह्रास आरम्भ हुआ।

तदुपरान्त वाम-मार्ग, बौद्ध, जैन, वैष्णव और अद्वैतवाद पनपे और वह समय आया कि पूर्ण समाज तर्कहीन अर्थात् बुद्धिविहीन हो गया।

बावर के काल में यहां तोपें आयीं और अकबर तथा औरंगज़ेव के काल तक राजपूत राजा तोपें नहीं बनवा सके।

आज यूरोपियन विज्ञान की उन्नति का आधार ही दो बातें हैं प्रत्यक्ष और युक्ति। वर्तमान युग की पूर्ण वैज्ञानिक और तकनीकी उन्नति प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण के आधार पर हो रही है। हिंन्दू समाज में अभी भी कोल्हू के बैल हैं जो बुद्धि के प्रयोग को दूषित घोषित करते हैं।

यह एक उक्त वर्णित कारण है, जिससे हमने स्वामी शंकराचार्य का उक्त उद्धरण दिया है और दूसरा कारण यह है कि स्वामी शंकराचार्य ने कपिल मुनि और कणाद को परस्पर विरोधी बताया है। हम बता चुके हैं कि छहों वैदिक दर्शनशास्त्र परस्पर विरोधी नहीं हैं। वे अपने-अपने विषय का वर्णन करते हुए एक ही ध्येय पर पहुँचते हैं। वह ध्येय है मूल कारण वा ज्ञान। ये तीन हैं। परमात्मा, प्रकृति और जीवात्मा। ये तीनों सत् हैं, अव्यक्त हैं और अक्षर हैं। इनमें परमात्मा निमित्त कारण है, प्रकृति उपादान कारण है और जीवात्मा भोक्ता है।

इस भाष्य का विषय सांख्य और वैशेषिक की व्याख्या नहीं। हम वेदान्त दर्शन का वर्णन कर रहे हैं। अतः इसमें भी तीनों मूल तत्त्वों का प्रतिपादन सिद्ध होता है। दूसरी बात जो वैदिक दर्शनशास्त्रों में सिद्ध है, वह है कार्य-जगत् का ज्ञान। इसे दूषित नहीं माना गया। जगत् में रहने को भी वर्जित नहीं किया गया। हम यही बात वेदान्त दर्शन में भी देखते हैं।

स्वामी शंकराचार्य और अन्य तर्कविहीन, आँखें मूँदकर उनका अनुकरण करने वाले भाष्यकार वेदान्त वाक्यों का विकृत अर्थ कर भटक रहे प्रतीत होते हैं।

अब देखें कि स्वामीजी के. भाष्य में अयुक्तिसंगत बात क्या है? स्वामीजी कहते हैं कि जब एक बात युक्ति से कहते हैं तो दूसरा उसको युक्ति से गलत कह देता है।

हमारा कहना है कि वह युक्ति ही नहीं जो न्याय और सांख्य के अनुसार व्याप्ति सम्बन्ध न रखती हो अथवा जो पूर्व परिचित सम्बन्ध के आधार पर न हो। आज विज्ञान इसी आधार पर प्रगति कर रहा है। परीक्षण किए जाते हैं और परीक्षणों के परिणाम विचार कर निकाले जाते हैं। जब कई बार वैसे ही परिणाम प्रकट होते देखे जाते हैं तो परीक्षण सिद्ध मान लिए जाते हैं।

यह प्रक्रिया भौतिक और आध्यात्मिक दोनों दिशाओं में चलती है।

स्वामी शंकराचार्य यह भी नहीं मानते कि लोक-व्यवहार में भी तर्क प्रतिष्ठित हो सकता है।

प्रतिष्ठित तर्क वह है जिसे हेतु और साध्य के अविचल सम्बन्ध पर आधारित किया गया है। इसके विपरीत अप्रतिष्ठित तर्क करने से दूसरे तर्क आते हैं और ऐसा करने से अनुमान से सिद्ध होने वाले विचार सिद्ध नहीं हो सकेंगे। यही सूत्र में लिखा है।

अभिप्राय यह कि अनुमान प्रमाण, आधारयुक्त तर्क ही होता है। यह अमान्य नहीं है।

सूत्रकार अनुमान को वर्जित नहीं मानता। वह अप्रतिष्ठित तर्क को अमान्य करता है। अप्रतिष्ठित तर्क पर ही विपरीत तर्क जिसे वितण्डा भी कहते हैं, किया जा सकता है। प्रतिष्ठित तर्क, जिसे अनुमान प्रमाण भी कहा जा सकता है, विरोधी तर्क के लिए स्थान नहीं छोड़ता।

एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः ॥१२॥

एतेन + शिष्ट + अपरिग्रहा + अपि + व्याख्याताः ॥

एतेन = इससे । शिष्टापरिग्रहा = शिष्ट जनों से अस्वीकार किये गए । अपि = भी । व्याख्याताः = वर्णन किये गए हैं ।

अभिप्राय यह कि पूर्व सूत्र में बताए अनुसार वे सब कार्यों तथा मतों के विषय में भी समझ लें जो शिष्टजनों ने स्वीकार नहीं किए ।

पूर्व सूत्र में यह कहा गया है कि अप्रतिष्ठित तर्क नहीं करना चाहिए । इस सूत्र में कहा है कि शिष्टजनों से अस्वीकार बात को भी ऐसे ही समझ लो जैसे अप्रतिष्ठित तर्क ।

शिष्ट जन कौन हैं ? जो सत्यवक्ता, विवेकयुक्त एवं धर्म तथा न्याययुक्त व्यवहार रखने वाले हों । ऐसे लोगों से अस्वीकृत मत भी अप्रतिष्ठित तर्क की भाँति त्याज्य हैं ।

एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाएगी । आज यूरोप और अमेरिका में यह कहा जा रहा है कि स्त्री-पुरुष में अबाध यौन सम्बन्ध वासनाओं को कम कर देगा ।

यह बात शिष्टजनों से स्वीकार नहीं की जा रही, अतः यह त्याज्य है ।

एक अन्य उदाहरण लें । चार्वाकीय दार्शनिक कहते हैं—

त्रयो वेदस्य कर्त्तारो भाण्ड धूर्त्त निशाचराः ।

तीनों वेदों को लिखने वाले भांड, धूर्त्त और निशाचर थे ।

यह बात शिष्ट जनों को स्वीकार नहीं; इस कारण मानी नहीं जाती ।

इस प्रकार के कथनों में तर्क नहीं है । न प्रतिष्ठित और न ही अप्रतिष्ठित । इसमें कथन है और वह कथन वेदादि शास्त्रों को जानने वाले स्वीकार नहीं करते । अतः वे ग्रहण करने योग्य नहीं ।

शिष्ट से अभिप्राय सभ्य नहीं । शिष्ट के लक्षण हमने ऊपर कर दिए हैं । मनुस्मृति में शिष्ट शब्द के अर्थ इस प्रकार किये गए हैं—

धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः ।
ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ॥

(मनु० १२-१०६)

जिन्होंने विधि-पूर्वक अङ्ग, उपाङ्ग सहित वेदाध्ययन किया हो और जिन्होंने श्रुति का प्रत्यक्ष दर्शन किया हो, ऐसे विद्वान शिष्ट कहलाते हैं ।

ऐसे व्यक्ति से अस्वीकार किया मत वैसे ही त्याज्य है, जैसे कि अप्रतिष्ठित तर्क ।

शंकरवादियों ने इस सूत्र में भी गड़बड़ कर दी है । शंकराचार्यजी की

परिपाटी पर भाष्य करने वाले एक श्री हरिकृष्णदास गोयन्दका इस सूत्र की व्याख्या में लिखते हैं—

'पाँचवें सूत्र से ग्यारहवें सूत्र तक जो सांख्य मतावलम्बियों द्वारा उपस्थित की हुई शंकाओं का निराकरण करके वैदिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है, इससे दूसरे मत-मतान्तरों का भी, जो वेदानुकूल न होने के कारण शिष्ट पुरुषों को मान्य नहीं हैं, निराकरण हो गया।'

ये महानुभाव भी शंकर मत के हैं और सांख्य को वेद विरुद्ध समझते हैं। यद्यपि उक्त कथित सूत्रों में कपिल तथा सांख्य का शब्द नहीं आया, परन्तु क्योंकि शंकराचार्यजी ने कपिल के विरुद्ध लिखा है; इस कारण इन भाष्यकार को भी सांख्य को हीन बताये विना शान्ति नहीं मिली।

स्वामी शंकराचार्यजी इस प्रकार लिखते हैं—

एतेन प्रकृतेन प्रधानकारणवादनिराकरणकारणेन शिष्टैर्मनुव्यासप्रभृतिभिः केनचिदंशनापरिगृहीता येऽण्वादिकारणवादास्तेऽपि प्रतिषिद्धतया व्याख्याता निराकृता द्रष्टव्याः, तुल्यत्वान्निराकरणकारणस्य, नात्र-पुनराशङ्कितव्यं किंचिदस्ति।

इस उपस्थित प्रधान कारणवाद के निराकरण करने के लिये शिष्ट मनु, व्यास आदि ने कुछ अंश में भी ग्रहण नहीं किया। अतः अणु आदि कारणवाद भी परिषेध रूप से कारणवाद की भाँति अस्वीकार होना चाहिये।

अभिप्राय यह कि शिष्ट जन जिसे स्वीकार नहीं करते, वह अस्वीकार होना चाहिये। इतना तो ठीक है, परन्तु मनु, व्यास इत्यादि ने कारणवाद नहीं माना अथवा अणुवाद नहीं माना, यह सत्य नहीं। न तो सूत्र में अण्वादि के विषय में किसी प्रकार का संकेत है और न ही कारणवाद के विषय में।

कारणवाद है कारण से कार्य का होना। क्या कार्य-जगत् विना किसी के बनाये बन गया है? यदि इसके बनाने वाला है तो कारण तो है, परन्तु जिस बात को शंकर कहना चाहते हैं और वह कह नहीं पा रहे, वह यह है कि कारणवाद में एक नियम है। कारण के मूल गुण कार्य में विद्यमान होते हैं। स्वामीजी जगत् का मूल कारण परमात्मा मानते हैं और परमात्मा के मूल गुण कार्य-जगत् में दिखायी नहीं देते। इस कारण जगत् का कारण मानते हुए भी कारण कार्य के सम्बन्ध को स्वीकार करना नहीं चाहते।

मनु और व्यास कारणवाद को मानते हैं। जो सृष्टि की उत्पत्ति परमात्मा से मानता है, वह कारणवाद से बच नहीं सकता।

भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत् स्याल्लोकवत् ॥१३॥

भोक्त्रापत्तेः+अविभागः+चेत्+स्यात्+लोकवत् ।

भोक्त्रापत्तेः=भोक्ता होने से । अविभागः=विभाग नहीं रहेगा । इति चेत्=यदि यह कहो तो । लोकवत्=जैसे लोक में । स्यात्=है ।

इस सूत्र में संशय और समाधान दोनों हैं । संशय में यह कहा गया है कि जब जीव वृक्ष के फल खाता है तो खाने वाला जीवात्मा भोग (प्रकृति) से पृथक् नहीं रहेगा । वह वैसा ही हो जायेगा । सूत्रकार का उत्तर है—यदि यह है तो तह लोकवत् संसार की रीति के अनुसार है ।

जब मनुष्य अन्न खाता है तो अन्न मनुष्य का भाग बन जाता है । इस कारण संशयकर्त्ता कहता है कि जीवात्मा जब प्रकृति का भोग करता है तो प्रकृति-जीवात्मा में भेद नहीं रह जायेगा । अतः जीवात्मा और प्रकृति एक ही हैं ।

सूत्रकार कहता है कि यह कहो तो लोक में, जो कुछ हो रहा है, उसे देख लो ।

लोकवत्—लोक में जो हो रहा है । क्या हो रहा है ? मनुष्य जब अन्न खाता है तो क्या हो जाता है ? अन्न शरीर का भाग बन जाता है, परन्तु क्या शरीर अन्न खाता है ? अन्न का स्वाद और तृप्ति क्या शरीर को होती है ? स्वाद और तृप्ति शरीर को नहीं होती । शरीर केवल साधनमात्र है । तृप्ति मन और बुद्धि द्वारा जीवात्मा को होती है । जीवात्मा ही अन्न को खाता है । वह ही भूख अनुभव करता है और उसे ही अन्न खाकर तृप्ति होती है ।

यदि शरीर को भूख लगती और शरीर ही अन्न खाता और उसे ही तृप्ति होती तो मृत शरीर भी भूख अनुभव करता और वह भी अन्न को खाता और फिर उससे तृप्ति अनुभव करता । यह नहीं होता ।

अतः सांसारिक उदाहरण ग़लत दिया गया है । जीवात्मा शरीर में अभाव अनुभव करता है । इसका नाम भूख है । अनुभव जीवात्मा को होता है । यह शरीर को नहीं होता; यद्यपि अभाव शरीर में होता है ।

जैसे किसी भवन में फ़र्श टूट जाये तो अनुभव भवन को नहीं होता, वरन् भवन के स्वामी को होता है । स्वामी फ़र्श की मरम्मत के लिए सीमेण्ट, रेत इत्यादि लाकर उसकी मरम्मत करवाता है । मरम्मत भवन की होती है और सीमेण्ट इत्यादि भवन का भाग बन जाते हैं, परन्तु तृप्ति भवन के स्वामी को होती है ।

यही बात मनुष्य के अन्न खाने की है । शरीर में अभाव हो जाता है, वह भूख है । जीवात्मा भूख को अनुभव करता है । वह अन्नमय शरीर के अभाव

को अन्न से पूर्ण करता है और उससे हुई तृप्ति को अनुभव करता है ।

जैसे सीमेण्ट और रेत तो भवन को लगते हैं, परन्तु उससे सुख भवन का स्वामी अनुभव करता है । जैसे दुकानदार कहता है कि अमुक भवन के स्वामी ने सीमेण्ट खरीदा है, इसी प्रकार अन्न के विषय में कहा आता है कि अन्न जीवात्मा ने खाया है ।

ये हैं लोकवत् के अर्थ । जीवात्मा प्रकृति (कार्य-जगत्) का भोग करता है । प्रकृति प्रकृति में वैसे ही मिल जाती है, जैसे कि सीमेण्ट भवन को लगता है । प्रकृति प्रकृति में भेद नहीं; परन्तु उस अन्न से अभाव का अनुभव जीवात्मा कर रहा था और अन्न खाने पर तृप्ति भी जीवात्मा को ही होती है । यद्यपि अन्न जीवात्मा का भोग नहीं बनता ।

इस सूत्र में शंका करने वाले ने जीवात्मा और प्रकृति को एक सिद्ध करने का यत्न किया है, परन्तु लोक-व्यवहार को देखकर पता चलता है कि दोनों एक नहीं हैं ।

स्वामी शंकराचार्य तो सूत्र का अर्थ ही विपरीत कर रहे हैं । स्वामीजी लिखते हैं—

प्रसिद्धो ह्ययं भोक्तृभोग्यविभागो लोके भोक्ता चेतनः शारीरः, भोग्याः शब्दादयो विषया इति । यथा भोक्ता देवदत्तो भोज्य ओदन इति । तस्य च विभागस्याभावः प्रसज्येत, यदि भोक्ता भोग्यभावमापद्येत, भोग्यं वा भोक्तृभावमापद्येत । तयोश्चेतरेतरभावापत्तिः परमकारणाद्ब्रह्मणोऽनन्यत्वात्प्रसज्येत । न चास्य प्रसिद्धस्य विभागस्य बाधनं युक्तम् । यथा त्वद्यत्वे भोक्तृभोग्ययोर्विभागो दृष्टस्तथातीतानागतयोरपि कल्पयितव्यः । तस्मात्प्रसिद्धस्यास्य भोक्तृभोग्यविभागस्याभावप्रसंङ्गादयुक्तमिदं ब्रह्मकारणतावधारणमिति ।

अर्थात्—लोक में यह प्रसिद्ध है कि भोग करने वाला भोग्य से पृथक् है । भोग करने वाला चेतन जीवात्मा है और भोग शब्द खाने का विषय है । जैसे देवदत्त भोक्ता है और ओदन (भात) भोज्य है । यदि भोक्ता भोग्य हो जाये और भोग्य भोक्ता हो जाये तो दोनों में भेद का अभाव होगा । दोनों का परम कारण ब्रह्म होने से विभेद नहीं होना चाहिए । अतः दोनों (भोक्तृ और भोग्य) में भेद नहीं होना ठीक ही है । जैसे वर्तमान में भोक्तृ और भोग्य पृथक्-पृथक् हैं वैसे ही भूत और भविष्य में भी उनकी कल्पना करनी चाहिए । इस कारण भोक्तृ और भोग्य में विभाग का अभाव ब्रह्म के कारण को अयुक्त (अयुक्तिसंगत) है ।

इसका भावार्थ यह है कि शंका करनें वाला कहता है कि भोग्य भोक्ता और भोक्ता भोग्य होगा तो दोनों में भेद नहीं होना चाहिए, परन्तु वह एक क्या होगा, यह स्वामीजी ने अपने विचारानुसार ब्रह्म लिखा है ।

सूत्र तो कहता है कि भोक्ता भोग्य अविभक्त हो जायेंगे। यह शंका है, परन्तु स्वामीजी कहते हैं :

'तस्मात्प्रसिद्धस्यास्य भोक्तृभोग्यविभागस्याभावप्रसङ्गादयुक्तमिदं ब्रह्म-कारणतावधारणमिति।'

इससे भोक्तृ भोग्य विभाग का अभाव युक्तिसंगत नहीं, ब्रह्मत्व के कारणत्व होने से।

शंका का यह भाव नहीं। शंका करने वाला इससे उलट बात ही कहता है।

इस पर भी स्वामीजी का उत्तर तो इससे भी अधिक विस्मयजनक है। आप लिखते हैं—

चेत्कश्चिच्चोदयेत्त' प्रति ब्रूयात्—स्याल्लोकवदिति। उपपद्यत एवायम-स्मत्पक्षेऽपि विभागः एवं लोके दृष्टत्वात्। तथा हि—समुद्रादुदकात्मनोऽनन्य-त्वेऽपि तद्विकाराणां फेनवीचीतरङ्गबुदबुदादीनामितरेतरविभाग इतरेतरसंश्ले-षादिलक्षणश्च व्यवहार उपलभ्यते। नच समुद्रादुदकात्मनोऽनन्यत्वेऽपि तद्विकारा-णां फेनतरङ्गादीनामितरेतरभावापत्तिर्भवति। न च तेषामितरेतरभावानापत्ता-वपि समुद्रात्मनोऽन्यत्वं भवति। एवमिहापि—न च भोक्तृभोग्ययोरितरेतरभा-वापत्तिः, न च परस्माद्ब्रह्मणोऽन्यत्वं भविष्यति।

इसका अर्थ है—ऐसी यदि कोई शंका करे तो उसको ऐसा कहना चाहिए कि लोक के समान विभाग होगा। हमारे पक्ष में भी यह विभाग उत्पन्न होता ही है; क्योंकि लोक में ऐसा देखने में आता है। जैसे कि उदक रूप समुद्र में फेन, उच्च तरंगें और बुलबुले आदि उसके विकार अनन्य होने पर भी उनका परस्पर विभाग और परस्पर संश्लेष आदि रूप व्यवहार उपलब्ध होता है और उदक रूप समुद्र से अनन्य होने पर भी उसके विकार फेन तरंग आदि की अन्योन्यात्मकता नहीं होती और उनकी अन्योन्यात्मकता न होने पर भी वे समुद्र रूप से अन्य नहीं होते। वैसे यहाँ भी भोक्ता और भोग्य को अन्योन्यभावापत्ति नहीं होगी और न उनका परब्रह्म से भेद होगा।

इस उदाहरण से समाधान नहीं होता। कारण यह कि फेन और तरंग एक ही थे और एक ही रहते हैं और तरंग फेन को खाती है, यह तथ्य नहीं है।

हमारे और श्री स्वामीजी के सूत्रार्थ करने में ही अन्तर है। स्वामीजी कहते हैं कि भोक्तृ और भोग्य होने से अन्तर नहीं होता। लोक-व्यवहार में भी देखा जाता है।

हमने इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार लिया है कि भोक्तृ और भोग्य में अन्तर नहीं होना चाहिए। यह शंका है और सूत्रकार का मत है कि अन्तर है

और यह लोक व्यवहार में दिखाई देता है।

प्रश्न यह है कि कौनसा अर्थ ठीक है? दोनों अर्थों में लोक-व्यवहार निश्चय कर देगा। दोनों अर्थों में साक्षी लोक-व्यवहार माना गया है।

लोक-व्यवहार का एक उदाहरण भवन-सीमेंट और भवन-स्वामी का हमने दिया है। स्वामीजी द्वारा दिये गए लोक-व्यवहार का हमने विश्लेषण किया है। उनमें भोक्तृ और भोग्य का सम्बन्ध- नहीं बनता। फेन तरंग का भोग्य नहीं है। फेन तरंग से उत्पन्न होती है और उसी में समा जाती है। अन्न और शरीर एक ही हैं, परन्तु शरीर भोक्ता नहीं। भोक्ता जीवात्मा है और वह शरीर से भिन्न है।

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ॥१४॥

तत्+अनन्यत्वम्+आरम्भणशब्दादिभ्यः।

उससे अनन्यत्व अर्थात् अभिन्न होना। आरम्भ होने की क्रिया से (सिद्ध नहीं होता) यह अयुक्त हो जायेगी।

तत् से अभिप्राय प्रकृति है। जीवात्मा से इसका अन्य भाव न होने से आरम्भ की क्रिया अयुक्त हो जायेगी।

आरम्भ की क्रिया का अभिप्राय सर्ग आरम्भ की क्रिया से है। सर्ग आरम्भ में जीवात्मा और प्रकृति सब परमात्मा में मिले-जुले होते हैं। यदि यह माना जाये कि दोनों में अनन्य (अभिन्न) भाव है तो फिर दोनों के पृथक् होने में कोई कारण नहीं प्रतीत होता। जड़ एवं कार्य-जगत् में भिन्नता न आती। जब सर्गारम्भ में एक ही वस्तु थी तो कार्य जगत् के आरम्भ होने के समय पृथक्-पृथक् होने में कोई कारण नहीं।

अद्वैत मतानुसार जीवात्मा, प्रकृति और परमात्मा एक ही पदार्थ हैं तो सर्ग आरम्भ के समय कार्य-जगत् में चेतन और जड़ तथा कार्य करता हुआ जगत् और कार्य न करने वाले जगत् में भिन्नता प्रकट होने में कोई प्रयोजन नहीं रह जाता।

मनुष्य और इतर जीव-जन्तु सुख-दुःख में लिप्त रहते हैं। परमात्मा ज्ञानस्वरूप है तो यह क्या कारण है जिससे एक अंश तो जड़ बन जाता है, दूसरा सुख भोगता है और तीसरा दुःख भोगता है?

सब-कुछ अकारण ही हो रहा प्रतीत होगा। अतः सूत्रकार का कहना है कि—

यदि भोग्य पदार्थ भोक्ता से पृथक् नहीं मानेंगे तो सर्ग आरम्भ में कोई प्रयोजन नहीं रह जाता।

सर्ग का आरम्भ है। सूत्रकार मानता है कि आरम्भ से पूर्व यदि सब-कुछ एक ही था तो क्या प्रयोजन था कार्य-जगत् तथा भूत ग्राम के बनने का ? इसमें कोई युक्ति नहीं है कि ये बनें। अतः यह सिद्ध होता है कि प्रकृति और जीवात्मा भिन्न-भिन्न हैं।

श्री उदयवीर शास्त्री इस सूत्र का अर्थ करते हैं—शब्द से जाने जाते हैं कि सर्ग आरम्भ में अभिन्न थे (प्रकृति, जीवात्मा तथा परमात्मा)।

स्वामी शंकराचार्य अर्थ करते हैं—सृष्टि के आरम्भ में कार्य-जगत् और ब्रह्म एक ही थे।

हमारा मत यह है कि यदि यह कहा जाय कि वे अभिन्न थे तो आरम्भण (सृष्टि का आरम्भ होना) अयुक्त हो जायेगा।

जगत् के आरम्भ में जीवात्मा और प्रकृति ब्रह्म में आश्रित होने के कारण मिले-जुले रहते हैं। यदि ये अभिन्न होते तो सर्ग के बनने पर उनमें भेद आने में कुछ भी प्रयोजन नहीं रह जाता।

हम यह भिन्नता और अभिन्नता प्रकृति और जीवात्मा के विषय में कह रहे हैं। इसमें कारण यह है कि इस पाद (ब्र० सू० २-१) के आरम्भ से ही प्रकृति और जीवात्मा का प्रसंग चल रहा है।

भावे चोपलब्धेः ।।१५।।

भावे+च+उपलब्धेः।

च=और। भावे=होने पर। उपलब्धेः=उपलब्धि से (मिलते हैं)।

कारण होने पर कार्य की उपलब्धि होती है। इसका अभिप्राय यह है कि कारण और कार्य के मूल गुणों में समानता होती है। अतः कार्य और कारण का सम्बन्ध अटूट है। बिना कारण कार्य नहीं होता।

जहाँ यह बताया है कि ब्रह्मांड में परमात्मा के अतिरिक्त भी अक्षर पदार्थ हैं, वहाँ ही इस भू-लोक के कार्य-जगत् का कारण होता है ऐसा बता दिया है। साथ ही कारण और कार्य के मूल गुणों में समानता होती है।

यह भी ऊपर बता चुके हैं कि सर्ग पूर्व के अक्षर पदार्थों में भेद है। यदि पूर्व के अक्षर पदार्थों में अभिन्नता मानें तो पीछे भिन्न होने में प्रयोजन

नहीं रह जाता।

इसके अनुरूप ही यह सूत्र है कि कारण-कार्य में समानता होती है।

अर्थात् चेतन पदार्थों से ही चेतन तत्त्व की उपलब्धि माननी होगी। इसी प्रकार जड़ कार्य-जगत् में जड़ कारण तत्त्व की उपस्थिति माननी होती है।

मिट्टी से ही घड़ा बनता है। कुम्हार घड़ा नहीं हो जाता।

स्वामी शंकराचार्य यह मानते हैं, परन्तु अपने वाग्जाल से यह निष्कर्ष निकालते हैं कि इस प्रत्यक्ष उपलब्धि (भाव होने अर्थात् कारण होने से कार्य) में लोहित, शुक्ल और कृष्ण ये तीन रूप कारण हैं। तदनन्तर केवल वायु और आकाश का अस्तित्व है, ऐसा अनुमान करना चाहिए। उसके अनन्तर केवल अद्वितीय परब्रह्म ही शेष रह जाता है। उसमें ही सब प्रमाणों का पर्यवसान उन्होंने माना है।

यह निष्कर्ष न तो सूत्र से ही निकलता है और न ही किसी प्रकार की युक्ति से। कारण-कार्य के सम्बन्धों पर विचार करते हुए किसी वेदान्त वाक्य से भी यह सिद्ध नहीं किया गया। स्वामीजी लिखते हैं—

'भावाच्चोपलब्धेः' इति वा सूत्रम्। न केवलं शब्दादेव कार्यकारणयोरनन्यत्वं, प्रत्यक्षोपलब्धिभावाच्च तयोरनन्यत्वमित्यर्थः। भवति हि प्रत्यक्षोपलब्धिः कार्यकारणयोरनन्यत्वे। तद्यथा—तन्तुसंस्थाने पटे तन्तुव्यतिरेकेण पटो नाम कार्यं नैवोपलभ्यते, केवलास्तु तन्तव आतानवितानवन्तः प्रत्यक्षमुपलभ्यन्ते, तथा तन्तुष्वंशवोंऽशुषु तदवयवाः। अनया प्रत्यक्षोपलब्ध्या लोहितशुक्लकृष्णानि त्रीणि रूपाणि, ततो वायुमात्रमाकाशमात्रं चेत्यनुमेयम्। (छा० ६-४) ततः परं ब्रह्मैकमेवाद्वितीयं, तत्र सर्वप्रमाणानां निष्ठामवोचाम॥

इसका अर्थ है—

"भावाच्चोपलब्धेः' ऐसा सूत्र है। केवल शब्द (श्रुति) से ही कार्य-कारण का अनन्यत्व नहीं है, किन्तु प्रत्यक्षोपलब्धिः भाव से भी उनका अनन्यत्व है, ऐसा अर्थ है। कार्य-कारण के अनन्यत्व में प्रत्यक्षोपलब्धि है। जैसे कि तन्तु के विशेष रचनात्मक पट में तन्तु से भिन्न पट नाम का कार्य उपलब्ध ही नहीं होता, केवल आतान-वितान वाले (ताना-बाना) तन्तु ही प्रत्यक्ष उपलब्ध होते हैं, उसी प्रकार अवयवी तन्तुओं में अनेक अवयव रूप अंशों में उनके अवयव उपलब्ध होते हैं। इस प्रत्यक्ष उपलब्धि से लोहित, शुक्ल और कृष्ण ये तीन रूप हैं, तदन्तर केवल वायु और आकाश मात्र हैं, ऐसा अनुमान करना चाहिए (छा० ६-४)। उसके अनन्तर केवल अद्वितीय परब्रह्म ही शेष रह जाता है। उसमें ही सब प्रमाणों का पर्यवसान हमने कह दिया है।

आप लिखते हैं कि किसी कपड़े में तन्तु ही होते हैं। तन्तु (ताना-बाना)

न रहे तो पट ही नहीं रह जाता । तन्तुओं में उनके अवयव और उन अवयवों में उनके अवयव उपलब्ध होते हैं । इस प्रत्यक्ष का कारण लोहित, शुक्ल और कृष्ण ये तीन रूप हैं ।

'तदनन्तर केवल वायु और आकाश मात्र हैं ।' बस यहीं स्वामीजी ने युक्ति और प्रमाण की टांग तोड़ी है । लोहित, शुक्ल और कृष्ण क्या हैं ? यह स्वामीजी नहीं जानते । ऐसा प्रतीत होता है कि उनके ज्ञान की यही सीमा है ।

लोहित, शुक्ल और कृष्ण प्रधान के तीन गुण हैं और इनके अनन्तर प्रधान हैं, जिसे स्वामी जी मानते हीं नहीं ।

उपनिषद् में यह स्पष्ट वर्णित है—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।

(श्वे० ४-५)

एक अक्षर है जिसके तीन गुणों सत्त्व, रजस् और तमस् के कारण अनेक उसी के रूप वाले पदार्थ बनते हैं । यह अक्षर प्रकृति अनादि और जड़ समान है ।

यह जीवात्मा और परमात्मा नहीं । इसी मन्त्र के दूसरे भाग में लिखा है—

अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ।।

(श्वे० ४-५)

एक दूसरा (जीवात्मा) अक्षर है; वह (भोग्य का) सेवन करता हुआ भोग करता है और एक अन्य (परमात्मा) अक्षर है जो उस भुक्त भोग्या को छोड़ देता है ।

इनके अनन्तर क्या है, वह तो लिखा नहीं । स्वामीजी ने लिख दिया है कि वह परब्रह्म है ।

परब्रह्म तो है, परन्तु इस शब्द से तो तीनों (प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा) को स्मरण किया गया है । (इसी उपनिषद् के १-६, ७ को देखो ।) वह वायु और आकाश नहीं है ।

शंकर भाष्य के पूर्वोक्त उद्धरण में स्वामीजी अनुमान की टांगें मरोड़ने लगे हैं । वैसे तो स्वामीजी अनुमान को मानते नहीं, परन्तु छान्दोग्य उपनिषद् की ओर संकेत करते हैं ।

उस पर भी विचार कर लें ।

स्वामीजी अपने अनुमान में छान्दो० ६-४-१ का प्रमाण देते हैं । इस उपनिषद् में रोहित, शुक्ल और कृष्ण की व्याख्या की है । हमारा यह मत है कि स्वामीजी रोहित, शुक्ल और कृष्ण का अर्थ ही नहीं समझे ।

छान्दोग्य में भी रोहित, शुक्ल और कृष्ण का अभिप्राय वही है जो हमने ऊपर श्वेताश्वतर के मन्त्र (४-५) में किया है। हमने यहाँ रोहित, शुक्ल और कृष्ण से रजस्, सत्त्व और तमस् गुणों का ही अर्थ लिया है। यह सांख्य मत है कि कार्य जगत् के सब पदार्थ त्रिगुणात्मक हैं और किसी पदार्थ में रजस् गुण प्रधान होता है, किसी में सत्त्व गुण और किसी में तमस् गुण प्रधान है। जिस पदार्थ में जो गुण प्रधान होता है, वह पदार्थ उसी गुण से जाना जाता है। यही बात छान्दो० ६-४-१ में लिखी है जो इस प्रकार है—

यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं, यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागादग्नेरग्नित्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥
(छा० ६-४-१)

अर्थात्—अग्नि में रोहित रूप तेजस् का है। जो जलीय रूप है, वह शुक्ल (सत्त्व) है और अन्न कृष्ण (तमस्) है। अग्नि का तेजस् रूप निवृत्त हो गया। कहने से यह विचार का आरम्भ है।

यह (तेजस्) नाम से है (अर्थात् अग्नि को तेजस् नाम देने के लिए लिखा है)। वास्तव में इसमें तीनों (तेजस्, सात्त्विक और तमस्) रूप विद्यमान हैं।

यही बात हमने सांख्य की दृष्टि से ऊपर लिखी है। प्रकृति में तीन गुण रहते हैं। जब प्रकृति आदि रूप में होती है ये साम्यावस्था में होते हैं। इनकी साम्यावस्था भंग होती है अर्थात् गुण जो अपने प्रभाव परस्पर विलीन कर रहे होते हैं, परमात्मा की प्रेरणा से इनका प्रभाव परस्पर विलीन करने के स्थान अन्य परमाणुओं में विपरीत गुणों पर आकर्षण-विकर्षण करने लगता है। तब द्वयणुक, त्रयणुक इत्यादि बनते हैं। इससे कार्य-जगत् के पदार्थ बनने लगते हैं। प्रत्येक पदार्थ में कोई दो गुण तो परस्पर प्रभाव से निवृत्त हो जाते हैं और तीसरा गुण प्रधान हो जाता है। अतः वह पदार्थ उस तीसरे गुण से जाना जाता है।

इस प्रकार अग्नि तेजस् रूप है। इसके परमाणुओं में सत्त्व और तमस् परस्पर के प्रभाव से निवृत्त हो जाते हैं और अग्नि - तेजस् गुण प्रधान होने से तेजस् कहलाती है। इसे उपनिषद्कार ने रोहित कहा है। यह (तेजस्) प्रधान गुण होने से है।

जब अग्नि शान्त होती है तो इसका तेजस् गुण किसी दूसरे पदार्थ के सात्त्विक अथवा तामसिक गुण से निस्तेज हो जाता है। इसको तेजस् की निवृत्ति लिखा है।

सत्य यह है कि इसमें तीनों गुण विद्यमान हैं।

इसी प्रकार आदित्य में तेजस् गुण प्रधान लिखा है। जलों में सत्त्व गुण प्रधान बताया है और अन्न को तमस् गुण प्रधान कहा है। सूर्य से तेजस् गुण

गया तो सूर्य में विकार उत्पन्न हुआ। शेष गुण उपस्थित रहे। इसी कारण लिखा है कि सूर्य में तीनों रूप (गुण) विद्यमान हैं। यही छान्दो० ६-४-२ में कहा गया है।

इसी प्रकार इसी के अगले मन्त्र में चन्द्र के विषय में लिखा है।

फिर विद्युत् में भी तेजस् को मुख्य बताया गया है और इसमें भी तीनों रूप उपस्थित लिखे गये हैं।

वर्तमान वैज्ञानिक भाषा में तेजस् को इलैक्ट्रोन (electron) कहते हैं और ये प्रधान अंग होते हैं उक्त सब पदार्थों में।

छान्दो० ६-४ के इस पूर्ण खण्ड में ब्रह्म (परमात्मा) का कहीं उल्लेख नहीं। यहाँ प्रकृति का वर्णन है। श्री स्वामीजी को यह कहाँ से सूझा कि इनके पीछे परब्रह्म है। आपने लिख दिया है कि वायु है, आकाश है।

स्वामीजी ने उपनिषद् का उद्धरण गलत दिया है। इसमें सूत्र का विषय नहीं। उपनिषद् में भी ब्रह्म का उल्लेख नहीं।

यह सब सूत्र का अर्थ विकृत करने के लिए है और अपने असिद्ध मत को यत्र-तत्र सिद्ध करने के लिए है।

सूत्र का अर्थ स्पष्ट है कि कारण से कार्य होता है, अतः कारण के मूल गुण कार्य में भी रहते हैं।

सत्त्वाच्चावरस्य ॥१६॥

सत्त्वात्+च+अवरस्य।

सत्त्वात्=सत् होने से। अवरस्य=कार्य की (उत्पत्ति होती है) च=और।

सत् से अभिप्राय है प्रकृति का मूल रूप। वैसे सत् तो जीवात्मा भी है और परमात्मा भी है, परन्तु यहाँ मूल प्रकृति से ही अभिप्राय है। कारण यह कि इससे कार्य (जगत्) की उत्पत्ति होती है।

अद्वैतवादी तो प्रकृति की भी परमात्मा से उत्पत्ति मानते हैं, परन्तु इसका खण्डन हम पूर्व के सूत्रों में कर आये हैं।

इससे पूर्व (भावे चोपलब्धेः) ब्रह्मसूत्र २-१-१५ में बताया गया है कि कारण से कार्य होता है और दोनों में मूल गुण समान होने चाहियें। देखना यह है कि परमात्मा के मूल गुण क्या हैं और क्या वे गुण कार्य-जगत् में मिलते हैं? परमात्मा का एक गुण है चित्=चैतन्यता। इसका लक्षण है ईक्षण करना।

अर्थात् कार्य का देश, काल और दिशा निश्चय करना। यह कार्य-जगत् नहीं कर सकता। अतः ब्रह्म का सबसे महान् गुण-चित् (ज्ञानवान् होना) कार्य-जगत् में नहीं है। इस कारण इस सूत्र में सत् का अर्थ चेतनायुक्त परमात्मा नहीं हो सकता।

इसी प्रकार परमात्मा का एक गुण है आनन्दमय होना। कार्य-जगत् आनन्दमय नहीं होता। कोई पदार्थ आनन्दमय नहीं है। इस कारण इस सूत्र में सत् का अर्थ परमात्मा नहीं।

सूत्रार्थ है सत् (मूल प्रकृति) से अवर की (कार्य-जगत् की) उत्पत्ति होती है।

असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात् ॥१७॥

असत्+व्यपदेशात्+न+इति+चेत्+न+धर्मान्तरेण+वाक्य-शेषात्।

असत् के कथन से नहीं। ऐसा कहो तो नहीं। दूसरे धर्म वाक्य-शेष से।

इसका अभिप्राय यह है कि कार्य-जगत् असत् से उत्पन्न हुआ कहा जाता है। यह ऐसा नहीं, अर्थात् इसका यह अभिप्राय नहीं। जहाँ यह कहा जाता है कि असत् से यह कार्य-जगत् हुआ है, वहाँ दूसरे धर्म से बात कही गयी है। धर्म का अभिप्राय है कि सत्-असत् धर्म से नहीं, वरंच व्यक्त तथा अव्यक्त धर्म से।

कार्य-जगत् का धर्म है कि वह इन्द्रिय-गोचर है। जगत् का मूल कारण इन्द्रियगोचर नहीं। इन्द्रिय का वह विषय नहीं है। इसलिए उसे असत् कहा जा सकता है, परन्तु वाक्य में एक दूसरे रूप में (धर्म से) वह उपस्थित है। अभाव से यह कार्य-जगत् नहीं हुआ।

पूर्व (ब्र० सू० २-१-१५) में अद्वैतवादियों का खण्डन किया गया है, अर्थात् कारण-कार्य का सम्बन्ध है। इस कारण परमात्मा से कार्य-जगत् नहीं बन सकता। दोनों के गुणों में अन्तर है। इस सूत्र (२-१-१७) में नास्तिकों के मत का खण्डन किया गया है। यहाँ बताया गया है कि अभाव से भाव नहीं होता। जहाँ कहीं ऐसा कहा गया हो तो इसको दूसरे धर्म से (व्यक्ताव्यक्त भाव से) बताने का अभिप्राय होता है।

'शेष' शब्द से अभिप्राय है कि अभी और आगे भी कुछ वक्तव्य है।

युक्तेः शब्दान्तराच्च ॥१८॥

युक्तेः+च+शब्दान्तरात् ।

दूसरे शब्दों से और युक्ति से भी यही बात सिद्ध होती है।

प्रत्येक बात को कहने के कई ढंग होते हैं। पिछले सूत्र (२-१-१७) में यह कहा है कि ऐसा कहा जाता है कि जो कुछ दिखायी देता है वह पहले नहीं था। यह 'असत्' था। इसी बात को दूसरे शब्दों में भी कहा जा सकता है कि अभाव नहीं हो सकता। प्रश्न है कि कुछ नहीं से कुछ कहाँ से आ सकता है?

श्री उदयवीर शास्त्री युक्तेः का अर्थ योजना से करते हैं और वह कहते हैं कि जगत् रचने की योजना बनती ही नहीं, यदि रचना से पूर्व केवल एक ही होता। कोई दूसरा जब तक न हो तब तक सृष्टि रचने की योजना का कुछ अर्थ नहीं रह जाता। जगत् क्यों बना? यह अर्थहीन हो जाता। यह युक्त है।

कुम्हार, मिट्टी और घड़ा प्रयोग करने वाला ग्राहक (भोक्ता) न हो तो घड़ा बने ही क्यों?

अतः निमित्त कारण, उपादान कारण और भोक्ता तीनों ही होने चाहियें, अन्यथा जगत्-रचना की योजना अर्थहीन हो जायेगी। युक्ति से कहें अथवा योजना से कहें, सूत्रार्थ में अन्तर नहीं पड़ता।

पटवच्च ॥१९॥

पटवत्+च।

और पट की भाँति।

पट का अर्थ है कपड़ा। कपड़े की भाँति। कपड़ा सूत से बनता है। जब बन जाता है तो सूत के गुण उसमें उपस्थित रहते हैं। सूत में रुई के गुण होते है। इसी प्रकार मूल प्रकृति के गुण कार्य-जगत् में रहते हैं।

मूल प्रकृति के गुण हैं—(१) वह अचेतन है। (२) वह त्रिगुणात्मक है। प्रकृति कणदार है। इसका प्रत्येक परमाणु अर्थात् इसका प्रत्येक कण अपने से छोटे कणों में विभक्त नहीं हो सकता। प्रकृति परिणामी है। इसका कारण यह है कि यह परमाणुवत् है।

प्रत्येक परमाणु में तीन गुण रहते हैं। यह गुण प्रत्येक परमाणु के भीतर ऐसे सिक्त हैं कि ये परस्पर दूसरे के गुणों को प्रभावहीन (neutralize) करते

रहते हैं।

यदि अलंकार रूप में वर्णन करें तो ऐसा कहा जायेगा कि प्रकृति के एक कण में तीन (पक्ष) भाव रहते हैं। इसका चित्र कुछ इस प्रकार का हो सकता है—
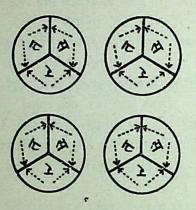
यह है साम्यावस्था। अर्थात् गुणों की साम्यावस्था परमात्मा के ईक्षण करने पर टूटती है। गुण जो परस्पर प्रभावहीन (neutralize) हो रहे थे, ऐसी स्थिति में हो जाते हैं कि वे असम अवस्था में हो जाते हैं। यदि चित्र से प्रकट करें तो वह कुछ इस प्रकार होगा—
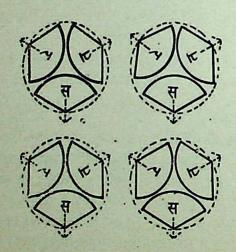
इस स्थिति में तीनों गुणों के आकर्षण-विकर्षण परमाणु से बाहर हो जाते हैं। तब इनका आकर्षण-विकर्षण दूसरे परमाणुओं पर होने लगता है। तब चित्र कुछ इस प्रकार का हो जायेगा—
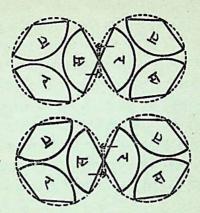
तीरों के चिह्न आकर्षण प्रकट करने के लिए हैं। इससे दो-तीन अथवा अधिक परमाणु एकत्रित होने लगते हैं। ये द्वयणुक अथवा त्र्यणुक कहलाते हैं। इनसे कार्य-जगत् के भिन्न-भिन्न पदार्थ बन जाते हैं।

जब कई-कई परमाणु मिल जाते हैं तो जो शेष गुण उन परमाणु समूहों में मिलते हैं, वह मुख्य गुण उस परमाणु समूहों का होता है। छान्दो० ६-१९-१ में इसी का वर्णन किया है।

जैसे पट में सूत्र के गुण रहते हैं और सूत्र में कपास के तन्तुओं के गुण रहते हैं, वैसे ही कार्य-जगत् के पदार्थों में मूल प्रकृति के तीनों गुण उपस्थित रहते हैं। इस पर भी यदि कभी कोई गुण भीतरी आकर्षण-विकर्षण से प्रभावहीन नहीं होता तो वह उस पदार्थ का मुख्य गुण बना रहता है:

यही इस सूत्र का अर्थ है।

यथा च प्राणादि ॥२०॥

यथा+च+प्राणादि।

और जैसे प्राणादि हैं।

प्राणादि का अर्थ प्राण, इन्द्रियाँ और पाँच भौतिक शरीर, मन, बुद्धि एवं अहंकार है। ये शरीर में पृथक्-पृथक् दिखायी देते हैं, परन्तु ये सब-कुछ मूल प्रकृति के रूप ही हैं।

हमने पिछले सूत्र के भाष्य में बताया है कि मूल प्रकृति में गुणों (सत्त्व, रजस् और तमस्) से किस प्रकार द्वयणुक इत्यादि बनने लगते हैं। इन

परमाणुओं में संयोग-वियोग से ही जगत् की रचना आरम्भ होती है। यह संयोग-वियोग भिन्न-भिन्न गुणों के परस्पर आकर्षण-विकर्षण से होते हैं। इन संयोग-वियोग से क्या पदार्थ बनते हैं, उसका वृत्तान्त इस प्रकार है।

मूल प्रकृति में सत्त्व, रजस् और तमस् की साम्यावस्था होती है। यह अवस्था हमने चित्र खींचकर पूर्व सूत्र के भाष्य में दिखायी है; तदनन्तर ये गुण परस्पर अर्थात् एक ही परमाणु में आकर्षण-विकर्षण त्यागकर पड़ोस के परमाणुओं के विपरीत गुणों से आकर्षण-विकर्षण में लग जाते हैं। जब एक परमाणु के गुण परस्पर आकर्षण-विकर्षण छोड़ बाह्याभिमुख हो जाते हैं तब प्रकृति की उस अवस्था को महत् कहा है। उसी को उपनिषदादि ग्रन्थों में आपः कहा गया है।

इस आपः अवस्था में भिन्न-भिन्न परमाणुओं के गुणों में आकर्षणादि होने पर द्वयणुक अथवा अणु बनते हैं तो उन संयोगों में कुछ ऐसे संयोग होते हैं जिनमें सत्त्व और तमस् गुण प्रभावहीन होकर तेजस् गुण शेष रह जाता है। कुछ ऐसे संयोग होते हैं, जिनमें सत्त्व और रजस् परस्पर आकर्षण से प्रभावहीन हो जाते हैं और तमस् गुण शेष रह जाता है और कुछ संयोग ऐसे होते हैं जिनमें सत्त्व गुण शेष रह जाता है। जो गुण प्रभावहीन होते हैं, वे रहते तो हैं। प्रत्येक परमाणु में तीनों गुण रहते हैं। जब किसी पड़ौसी परमाणु के गुणों से आकर्षण अथवा विकर्षण होता हैं और एक गुण प्रभावयुक्त रह जाता है तो परमाणुओं के संयोग अहंकार कहलाते हैं। ये अहंकार तीन प्रकार के हैं।

(१) वैकारी अहंकार—यह परमाणुओं का वह संयोग है जिसमें सत्त्व गुण प्रभावी रह जाता है।

(२) तेजस् अहंकार—यह परमाणुओं का वह संयोग होता है, जिसमें रजस् गुण शेष रह जाता है और अन्य दो परस्पर प्रभाव से निःशेष हो चुके होते हैं।

(३) भूतादि अहंकार—परमाणुओं का वह संयोग है, जिसमें तमस् गुण शेष होता है।

इस प्रकार मूल प्रकृति से महत् और महत् से तीन प्रकार के अहंकार उत्पन्न हो जाते हैं। अब इन अहंकारों के परस्पर संयोग होते हैं।

(१) वैकारी अहंकार और राजसी अहंकार के संयोग से मन और दस इन्द्रियाँ बनती हैं।

(२) तेजस् और भूतादि अहंकार से पंच महाभूत बनते हैं।

(३) अहंकारों से तरंगों की भाँति पंच तन्मात्राएँ निकलती हैं। इन तन्मात्राओं से, जो शक्ति रूप ही होते हैं. सूक्ष्म भूत और स्थूल भूत बन जाते हैं।

(४) ऐसा प्रतीत होता है कि तेजस् और भूतादि अहंकारों के संयोग एक प्रकार की तन्मात्राओं से सात्त्विक अहंकार की लपेट में आ जाते हैं। इस प्रकार जो संयोग बनते हैं, वे स्थूल भूत बनाने में योगदान देते हैं और उससे रासायनिक परमाणु (atom)-परिमण्डल बन जाता है।

(५) इन रासायनिक परमाणुओं में एक अन्य प्रकार की तन्मात्रा से रासायनिक संयोग (chemical compounds) बन जाते हैं और रासायनिक तत्त्वों (elements) के ढेले स्थूल बन जाते हैं।

(६) इनसे शरीर बनता है और शरीर में मन तथा इन्द्रियों के आने पर जीवन आता है और साथ ही इनमें आत्मा के प्रवेश से प्राणी बन जाता है।

इस पूर्ण प्रक्रिया को इस प्रकार चित्र में दिखाया जा सकता है।
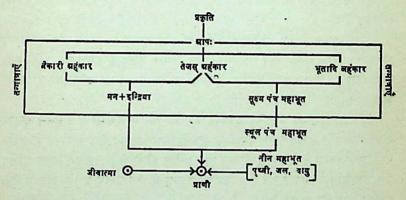
चौथी और पाँचवीं तन्मात्रा स्थूल भूतों में भू-आकर्षण (gravity) और चुम्बकीय शक्ति (magnetic attraction) उत्पन्न करती हैं।

यह है सूत्र का अभिप्राय। प्रणादि से भी यही सिद्ध होता है कि जगत् का उपादान कारण प्रकृति है।

इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः ॥२१॥

इतर+व्यपदेशात्+हिताकरण+आदि+दोष प्रसक्तिः।

इतर=दूसरे (परमात्मा से अन्य)। व्यपदेशात्=उपदेश अर्थात् कथन से। (कि वे भी परमात्मा हैं)। हिताकरणादिदोषप्रसक्तिः=हित इत्यादि के न करने का दोष प्रसक्त होता है।

इसका अभिप्राय यह है। सृष्टि उत्पत्ति में उपादान कारण (प्रकृति) और जीवात्मा भी परमात्मा ही है, अर्थात् परमात्मा से जो अन्य है, उनको भी परमात्मा कहकर ही उपदेश करना एक दोष प्रकट करता है। वह दोष यह है कि जगत् में जो अहित हो रहा है, वह भी परमात्मा से किया जाता ही माना जाएगा।

संसार में हिरण्यकशिपु, तैमूर, हलाकू, नैपोलियन, हिटलर, मुसोलिनी और स्टालिन इत्यादि अनेक विनाश करने वाले प्राणी उत्पन्न हुए हैं। यदि ऐसा मान लें कि सब-कुछ परमात्मा से ही उत्पन्न हुआ, तब सब अहितकर कर्म करने का दोष परमात्मा पर आ जायेगा।

अतः जगत् का उपादान कारण प्रधान तथा भोक्ता जीवात्मा, परमात्मा से पृथक् हैं।

इस सूत्र में यह कहा गया है कि यदि जगत्-रचना में केवल परमात्मा ही कारण मान लिया जाये तो इससे दोष उत्पन्न होता है। वह दोष भी बता दिया गया है कि संसार में हो रहा हित-अहित का कारण भी परमात्मा ही माना जाएगा।

इस सूत्र को कुछ भाष्यकारों ने संशय रूप में समझा है। हमने इसको संशय रूप में न लेकर एक सिद्धान्त का निरूपण बताया है। इस सूत्र से कठिनाई शंकराचार्य के लिए उपस्थित हुई प्रतीत होती है। वह इसे एक आक्षेप बताकर उसका उत्तर देते हैं। उनका कहना है कि उत्तर अगले सूत्र में है। अगला सूत्र इस प्रकार है।

अधिकं तु भेदनिर्देशात् ॥२२॥

शंकराचार्य इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार करते हैं—

(तु) शब्द पूर्व पक्ष की व्यावृत्ति के लिए है। (अधिकम्) जीव से भिन्न सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ब्रह्म-जगत् का स्रष्टा है। इसलिए उसमें हित अकरणादि दोष नहीं। (भेदनिर्देशात्) कल्पित भेद का निर्देश है।

यह अर्थ सर्वथा असंगत है। पहले स्वामीजी की युक्ति और प्रमाण देखें तो ठीक होगा। स्वामीजी लिखते हैं—

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। यत्सर्वज्ञं सर्वशक्ति ब्रह्म नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं शारीरादधिकमन्यत्, तद्वयं जगतः सृष्ट ब्रूमः। न तस्मिन्हिताकरणादयो दोषाः प्रसज्यन्ते।

इसका अर्थ है—तु शब्द पूर्व पक्ष की व्यावृत्ति करता है। जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त स्वभाव ब्रह्म शरीरी से अधिक माना जाता है, उसे हम जगत् का स्रष्टा कहते हैं। उसमें हित के अकरणादि दोष नहीं प्रसक्त होते।

अर्थात्—परमात्मा जगत् का स्रष्टा होने से दोष रहित है। जीवात्मा तो जगत् का स्रष्टा नहीं (इसी कारण इसमें दोष हो सकता है)।

प्रश्न तो यह था कि जीवात्मा से परमात्मा पृथक् है अथवा नहीं? यदि एक स्रष्टा है और दूसरा नहीं तो भेद तो हो गया। तब आपने सिद्ध क्या किया? पूर्व पक्ष को ही सिद्ध कर दिया है।

आप आगे लिखते हैं—

शारीरस्त्वनेवंविधः। तस्मिन्प्रसज्यन्ते हिताकरणादयो दोषाः, नतु तं वयं जगतः स्रष्टारः ब्रूमः। कुत एतत्? भेदनिर्देशात्। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृ० २-४-५) 'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' (छा० ८-७-१), 'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति' (छा० ६-८-१), "शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनान्वारूढः" (बृ० ४-३-३५) इत्येवंजातीयकः कर्तृकर्मादिभेदनिर्देशो जीवादधिकं ब्रह्म दर्शयति।

अर्थ है—परन्तु जीव तो ऐसा (परमात्मा जैसा) नहीं है। उसमें हित करना आदि दोष प्रसक्त होते हैं। परन्तु हम उसको जगत्-स्रष्टा नहीं मानते। वह क्यों? श्रुति में भेद का निर्देश है (जैसे बृ० २-४-५, छा० ८-६-१ और छा० ६-३-३५ में)। इस प्रकार जाना जाता है कि कर्त्ता कर्मादि के भेद से जीव से परमात्मा अधिक दिखाया है।

उपनिषद् प्रमाण तो आगे चलकर देखेंगे, परन्तु स्वामीजी की युक्ति यह है कि परमात्मा जगत् का स्रष्टा है और जीवात्मा नहीं है। दोनों में भेद है। इस कारण पहला हित-अहित का दोषी नहीं और दूसरा है।

भला जगत् का कर्त्ता होने से निर्दोष और कर्त्ता न होने से दोषी? यह क्या युक्ति है!

एक बात आप मान गये हैं कि जीव और परमात्मा में भेद दिखायी देता है। यह भेद कल्पित है। यह आपने अपने पास से लगा दिया है। सूत्र में कल्पित शब्द नहीं है।

अब तनिक उन उद्धरणों को देखें जो स्वामीजी ने अपने भाष्य में दिये हैं।

पहला उद्धरण है—

...आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्॥ (बृ० २-४-५)

इसका अर्थ है—

हे मैत्रैयी ! ऐसा प्रिय स्वरूप आत्मा ही दर्शन-योग्य है, श्रवण करने योग्य है, मनन करने योग्य और निश्चय से ध्यान करने योग्य है। आत्मा के दर्शन से, सुनने से, विचार करने से पूर्ण रहस्य जाना जा सकता है।

यहाँ आत्मा से अर्थ परमात्मा का नहीं, वरन् जीवात्मा से है। यह इस कारण कि इसी (२-४-५) का पूर्व भाग पढ़ें तो स्पष्ट होगा कि यहाँ परमात्मा का कथन नहीं है।

देखिये, इससे पूर्व क्या लिखा है :

इस उपनिषद् (बृ० २-४-१, २) में यह लिखा है कि जब याज्ञवल्क्य संन्यास लेने लगे तो मैत्रैयी ने उस उपदेश की याचना की, जिससे उसे मोक्ष का मार्ग मिल सके।

बृ० २-४-३ में मैत्रैयी को धन इत्यादि लेने से इन्कार करतो है। उसका कहना है कि इससे वह मोक्ष का मार्ग नहीं पा सकती।

बृ० २-४-४ में याज्ञवल्क्य उसे वही उपदेश देने का वचन देता है जिससे मोक्ष की प्राप्ति होगी।

इस उपनिषद् के २-४-१,२,३,४ में तो केवल वार्तालाप ही है और इससे पता चलता है कि मोक्ष-प्राप्ति का ढंग जानने की जिज्ञासा की गयी है और जिज्ञासा की पूर्ति का वचन दिया गया है।

इसके उपरान्त बृ० २-४-५ मन्त्र तो बहुत बड़ा है। शंकराचार्य ने उसका एक अंश ही दिया है। उस अंश के पढ़ने से याज्ञवल्क्य के कथन का ठीक स्वरूप पता नहीं चलता।

इस मन्त्र में कहा गया है कि पुरुष पत्नी से प्रेम करता है और पत्नी पुरुष से प्रेम करती है। पिता पुत्र से प्रेम करता है और पुत्र पिता से। पुरुष धन की कामना करता है, वेद ज्ञान की कामना, लोक की कामना इत्यादि ये सब प्रेम और कामनाएँ इसलिए नहीं की जातीं कि ये वस्तुएँ प्रिय हैं, वरन् इसलिए कि उनसे आत्मा को तृप्ति होती है।

न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भयत्यात्मनस्तु कामाय सर्वंप्रिगं भवति।

अर्थात्—सबके प्रयोजन के लिए सब प्रिय नहीं होते, वरन् अपने आत्मा के प्रयोजन के लिये ही सब प्रिय होते हैं।

बताइये, यह आत्मा है जिसे धन, स्त्री इत्यादि की कामना होगी अथवा यह परमात्मा होगा क्या ?

यह आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय और ध्यान देने योग्य है। यह आत्मा ही जानने योग्य है।

इस पूर्ण मन्त्र को पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि याज्ञवल्क्य परमात्मा

से मिलने के लिये पहले आत्मा का वर्णन कर रहा है। उस आत्मा का ही परमात्मा से संयोग होना है।

इसके उपरान्त (बृ० २-४-६) में लिखा है कि ब्राह्मण और क्षत्रिय-कर्म जीवात्मा ही करता है। ये कर्म उसे छोड़ देते हैं जो इनको आत्मा से पृथक् मानता है। इसी प्रकार लोक देवता उस व्यक्ति को छोड़ जाते हैं जो लोकों को आत्मा से पृथक् कर देता है। इसी प्रकार अन्य प्राणी आत्मा को देखते रहते हैं अन्यथा वे उसे छोड़ जाते हैं।

अभिप्राय यह है कि मनुष्य यह समझ ले कि जीवात्मा कार्य करता है। यदि समझे कि उसका शरीर कार्य कर रहा है तो वे कार्य उसे छोड़ जाते हैं।

...इदं ब्रह्मे दं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमानि भूतानीदं सर्वं यदयमात्मा। (बृ० २-४-६)

यह जो ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व, लोक-व्यवहार, दैवी व्यवहार है, सब भूत (प्राणी) आत्मा ही हैं। अर्थात् इनमें आत्मा ही है।

इसका अभिप्राय है कि सबमें आत्मा उपस्थित है।

यहाँ भी जीवात्मा का ही वर्णन है। यह इस कारण कि जो उदाहरण दिया गया है, उससे यही सिद्ध होता है। शरीर और जीवात्मा की भिन्नता दिखाई है।

उपनिषद् में कहा गया है कि बजती हुई दुंदुभी, शंख, वीणा का शब्द नहीं पकड़ा जा सकता। दुंदुभी, शंख इत्यादि को पकड़ लें तो उसमें से शब्द का स्रोत भी पकड़ा जाता है।

अर्थात्—जीवात्मा का व्यवहार शरीर द्वारा ही होता है। इस कारण शरीर पकड़ने से इसका व्यवहार पकड़ा जा सकता है, अतः व्यवहार को जानने से शरीर जाना जा सकता है। और आत्मा को जानने से सब-कुछ जो शरीर में है, जाना जा सकता है। यह बृहदारण्यक उपनिषद् (२-४-६, ७, ८, ९ और १०) में लिखा है।

आगे लिखा है कि शरीर के सब स्पर्श, सब गंध, सब रस, सब रूप, सब शब्द के अयन (निवास स्थान) अपनी-अपनी ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। सब संकल्पों का अयन मन है। सब विद्याओं का अयन हृदय (मस्तिष्क) है। सब कर्मों का निवास स्थान हाथ है। सब आनन्दों का स्थान उपस्थ एक है, सब विसर्गों का स्थान पायु है, सब मार्गों का स्थान चरण है, सब वेदों का स्थान वाक् है (बृ० उ० २-४-११)।

ये सब विषय और कर्म आत्मा में ही केन्द्रित होते हैं।

अब आगे यह कहा है कि ये इन्द्रियों के विषय तो शरीर के साथ ही विनष्ट हो जाते हैं। जैसे जल में घुला नमक जल में विलीन हो जाता है वैसे

ही ये विषय प्राणी के मरने पर महद्भूत में विलीन हो जाते हैं।

वहाँ लिखा है—

···वा अर इदं महद् भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एव। एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति। न प्रेत्य संज्ञास्तीत्यरे ब्रवीमीति होवाच याज्ञवल्क्यः॥ (बृ० उ० २-४-१२)

इसका अर्थ है—हे मैत्रेयी! यह सब महद् भूत (प्रकृति) जो अनन्त है, अपार है (विज्ञान घन) बुद्धि से जाना जा सकता है। पंच तत्त्वों में प्रकट होकर पुनः उसी में विनष्ट (लीन) हो जाता है। यह (महद्भूत) की प्रेत्य संज्ञा नहीं (मरता नहीं) ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा।

इस पर मैत्रेयी ने कहा—यह मुझे आपने भ्रम (मोह) में डाल दिया है।

याज्ञवल्क्य ने कहा—नहीं, मोह में नहीं डाला।

···न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यलं वा अर इदं विज्ञानाय॥

(बृ०-उ० २-४-१३)

अरी नहीं, यह मोह का उपदेश नहीं। यह तो उस (महद्भूत) प्रकृति का (विज्ञान) विशेष ज्ञान करा रहा हूँ।

प्रकृति एक समान है। जब इसमें (द्वैतमिव) विभेद होता है, तब तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतरं पश्यति···यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं जिघ्रेत्तत्केन कं···(बृ०-उ० २-४-१४) विभेद होने पर भिन्न-भिन्न गंध भिन्न-भिन्न रूप प्रतीत होने लगते हैं। अर्थात् महद्भूत (प्रकृति) तो एक समान है। कार्य-जगत् में जब यह विभक्त होता है तब इतर-इतर प्रकार का प्रतीत होने लगता है।

और जब सब एकात्म ही हो जाता है तो कौन किसको सूँघता है, कौन देखता है इत्यादि? (उस समय देखने, सूँघनेवाला एक हो जाता है।

याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को मोक्ष का मार्ग बताते हुए पहले आत्मा (जीवात्मा) के विषय में बताया। पीछे शंख में शब्द के समान, दुंदुभी में शब्द के समान, आत्मा और शरीर का वर्णन कर दिया। तदनन्तर, उस शंख, दुंदुभी इत्यादि (शरीर) का वर्णन कर दिया और यह बताया कि शरीर की दसों इन्द्रियाँ मन और बुद्धि सब महद्भूत से उत्पन्न हुए हैं और इसी में ही विलीन हो जाते हैं। यह महद्भूत मरता नहीं। निस्सन्देह यह महद्भूत प्रकृति ही है।

इसी उपनिषद् के पाँचवें ब्राह्मण में जीवात्मा और परमात्मा का सम्बन्ध बताया गया है।

अतः शंकराचार्य ने जो (बृ० उ० २-४-५ का) उदाहरण दिया है, वह उस सूत्रार्थ को भी प्रकट नहीं करता जो उन्होंने स्वयं किया है।

स्वामी जी सूत्र का अर्थ करते हैं—

'तु' शब्द पूर्व पक्ष की व्यावृत्ति के लिए है। जीव से अधिक (सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, परमात्मा) जगत् का स्रष्टा है; इस कारण उसमें हित अकरणादि दोष नहीं। क्योंकि भेद कल्पित दिखाई देता है।

स्वामीजी ने अपने सिद्धान्त 'जीव ब्रह्मैव नापरा' को बचाने के लिए 'कल्पित' शब्द अपने पास से लगा दिया, परन्तु वह उपनिषद् के उद्धरण से भी सिद्ध नहीं कर सके।

वास्तव में इन दोनों सूत्रों (ब्र० सू० २-१-२१, २२) के अर्थ इस प्रकार बनते हैं—

इतर को (परमात्मा के अतिरिक्त को) भी परमात्मा मान लेने से हित न करने का दोष (परमात्मा में) आ जाता है। (सू० २१)।

अधिक=महान। तु=तो है। भेद निर्देशात्=दोनों में भेद दिखाये जाने से परमात्मा और जीवात्मा में भेद दिखाई देता है और परमात्मा बड़ा है। शक्ति में, व्यापकता में, ज्ञान में और सूक्ष्मता में। (सू० २२)

अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः ॥२३॥

अश्मादिवत्+च+तत्+अनुपपत्तिः।

च=और। अश्मादिवत्=पत्थरादि की भाँति। तत्=जीवात्मा की। अनुपपत्ति=(ब्रह्म होना) असिद्ध है।

इस अध्याय के प्रथम पाद में मुख्य विषय जीवात्मा ही है। वह परमात्मा नहीं है, यह सिद्ध किया जा रहा है।

इतर में प्रकृति और जीवात्मा दोनों को लिया है।

सूत्र (ब्र० सू० २-१-२२) में 'अधिक' से परमात्मा के अर्थ लिये हैं, अतः अधिक से कम कार्य-जगत् में जड़ पदार्थ और जीवात्मा है।

अतः जीवात्मा को परमात्मा से कम बताने के लिए अश्मवत् कहा है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि जीवात्मा अश्मवत् जड़ है। इसका अर्थ यह है कि जीवात्मा परमात्मा से ऐसे ही तुच्छ है जैसे कि कोई भी जड़ पदार्थ है। यों तो जीवात्मा और अश्म में अन्तर है। यद्यपि परमात्मा से दोनों तुच्छ हैं।

उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि ॥२४॥

उपसंहार+दर्शनात्+न+इति+चेत्+न+क्षीरवत्+हि ।

उपसंहार=उपसाधन संग्रह । दर्शनात्=देखे जाने से । न इति=ऐसा नहीं । चेत्=यदि कहो । न=नहीं । क्षीरवत्=क्षीर की भाँति । हीं=निश्चय से ।

जगत् में मनुष्य जब कोई वस्तु बनाने लगता है तो उसे साधनों की आवश्यकता होती है । जैसे कुम्हार को चक्का और डण्डा इत्यादि । परमात्मा जब जगत् बनाता है तो उसे साधनों की आवश्यकता नहीं रहती । यदि कहो कि परमात्मा ने कौनसे चक्के पर जगत् निर्माण किया तो सूत्रकार कहता है कि यह प्रश्न ठीक नहीं । जैसे दूध से दही स्वयमेव बन जाती है अथवा माँ के स्तन से दूध स्वयं उतरने लगता है वैसे ही प्रकृति से रचना होने लगती है ।

माँ के स्तन से दूध प्रेरणामात्र से टपकने लगता है । माँ जब अपने बच्चे को देखती है तो उसके स्तनों में दूध उमड़ पड़ता है । वही बात प्रकृति से जगत् के बनने की है ।[1]

देवादिवदपि लोके ॥२५॥

देव+आदि+वत्+अपि+लोके ।

लोक में देवादि की भाँति भी परमात्मा की प्रेरणा से जगत् की उत्पत्ति सिद्ध है ।

देवादि से अभिप्राय लोक में दिव्य शक्ति सम्पन्न व्यक्तियों से है । कुछ लोग जो योगी कहे जाते हैं, वे ऐसी शक्ति के स्वामी माने जाते हैं । वे मात्र कल्पना से कई कार्य सम्पन्न कर सकते हैं ।

महाभारत में कृष्ण द्वारा कई ऐसे चमत्कार किये गए बताये जाते हैं । वैसे वर्तमान युग में 'मैस्मेरिज़्म' करने वाले भी इसी श्रेणी में गिनाये जा सकते हैं । वे अपने सामने बैठे व्यक्ति से अपनी इच्छानुसार कार्य कराने की क्षमता रखते हैं ।

अतः सूत्रकार कहता है कि दिव्य गुण सम्पन्न व्यक्तियों से अथवा

---

१. सांख्य० ३-५९ में भी यही लिखा है ।

(मैस्मेरिज्म जैसा अभ्यास किये) योगियों की भाँति परमात्मा भी बिना उपकरण अर्थात् साधनों के कार्य सम्पन्न करता है।

कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपोवा ॥२६॥

कृत्स्नप्रसक्तिः + निरवयवत्व + शब्द कोपः + वा।

कृत्स्न प्रसक्तिः = पूर्ण का जगत् में परिवर्तित हो जाना। वा = अथवा। निरवयवत्व = निरवयव होना। शब्द कोपः = शास्त्र का विरोध। (होगा)।

यह उन मत वालों पर आक्षेप है जो यह मानते हैं कि ब्रह्म ही जगत् का उपादान कारण है। कहा है कि या तो यह मानो कि सम्पूर्ण ब्रह्म कार्य-जगत् में प्रसक्त हो जाता है अथवा यह मानो कि वह निरवयव है। पहली बात का विरोध होगा अथवा शास्त्र की दूसरी बात का विरोध होगा। शास्त्र में परमात्मा को निरवयव माना है।

शंकराचार्य इस प्रकार मानते हैं कि जगत् का उपादान कारण भी परमात्मा ही है। उक्त आक्षेप उन पर ही है। जगत् सीमित है। परमात्मा आकाशवत् असीम है। अतः जब परमात्मा उपादान कारण एतदर्थ जगत् में परिवर्तित होता है, तो वह सब स्थान पर परिवर्तित नहीं हो जाता। ऐसा मानने से परिवर्तित परमात्मा और अपरिवर्तित परमात्मा में सीमा बन जायेगी और परमात्मा अवयवी हो जायेगा। इससे शास्त्र का विरोध होगा। कारण यह कि शास्त्र में परमात्मा को निरवयव माना है।

अद्वैतवादी प्रकृति के परिणामी होने को नहीं मानते। वे विवर्तवाद कहते हैं। विवर्त का अर्थ है परमात्मा में भँवर पड़ते हैं। जहाँ भँवर पड़ते हैं, वहाँ जगत्-रचना प्रतीत होती है।

सूत्रकार इसका उत्तर इस प्रकार देते हैं—

श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् ॥२७॥

श्रुतेः + तु + शब्दमूलत्वात्।

तु = किन्तु। श्रुतेः = श्रुति ग्रन्थ के। शब्द मूलत्वात् = वेद मूल ग्रन्थ होने से।

इसका अर्थ यह है कि श्रुतियों में; अर्थात् उन सब शास्त्रों में जिनको

श्रुति नाम से स्मरण किया जाता है, मूल ग्रन्थ तो वेद हैं और वेदों में पढ़कर देखें तो उक्त संशय नहीं रह जायेगा।

श्रुति ग्रन्थ तो ब्राह्मण और उपनिषद् भी माने जाते हैं। सूत्रकार का मत है कि श्रुतियों में कुछ भी लिखा हो, ऐसा वेद में नहीं लिखा। कैसा नहीं लिखा ? यह कि जगत् का उपादान कारण भी परमात्मा ही है।

हम परमात्मा और ब्रह्म को पृथक्-पृथक् अर्थों में लिख रहे हैं। ब्रह्म से हमारा अभिप्राय परमात्मा-जीवात्मा समूह और प्रकृति, तीनों अजन्मा एवं अक्षरों के समूह से है जिससे भ्रम न हो सके। हम परमात्मा के लिए ब्रह्म शब्द का अथवा प्रकृति और जीवात्मा के लिये ब्रह्म शब्द का प्रयोग नहीं कर रहे। उपनिषदादि ग्रन्थों में ब्रह्म इन तीनों में से एक के लिये, दो के लिये अथवा तीनों के लिये भी प्रयुक्त हुआ है।

अतः किसी प्रकार का भ्रम उत्पन्न न हो, हमने यह शैली स्वीकार की है। ब्रह्म तीनों के लिये भी प्रयुक्त होता है। इसका प्रमाण हम श्वेताश्वतर (१-६-७ तथा १-६) के उद्धरणों से दे चुके हैं।

इसी प्रकार श्रुति और वेद शब्दों में भी भ्रम उत्पन्न हो रहा है। श्रुति उन ग्रन्थों में कहा जाता है जो किसी ने कहे और किसी दूसरे ने सुने। वेदों के विषय में भी यह परम्परा है कि अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा देवताओं ने कहे और ऋषियों ने सुनकर समझे। इस कारण इनको श्रुति कहते हैं। इसी प्रकार उपनिषद् ग्रन्थ भी कहने वाले के द्वारा कहलाये गए हैं और सुनने वाले ने सुने हैं। अतः ये भी श्रुति हैं। परन्तु वैदिक परम्परा यह है कि ईश्वरीय ज्ञान तो वेद ही है, उपनिषद् नहीं।

अतः आक्षेप करने वाले ने जब कहा कि या तो श्रुति असत्य सिद्ध हो जायेगी अथवा परमात्मा से ही सब-कुछ उत्पन्न हुआ मानने वाले झूठे हो जायेंगे।

इसका सूत्रकार ने यह उत्तर दिया कि जब आक्षेप करने वाले ने श्रुति का नाम लिया है तो उसको मानना होगा कि श्रुति ज्ञान का मूल वेद है। अतः यदि श्रुतियों में कुछ ऐसा कहा है जो वेद में नहीं, तो वेद माननीय हैं।

और वेदों में उक्त आक्षेप का समाधान है।

क्या समाधान है ? वह यह कि जगत् में कारण तीन हैं। केवल परमात्मा नहीं। इसका प्रमाण सहित हम पूर्व उल्लेख कर चुके हैं। प्रकृति परिवर्तनशील अर्थात् परिणामी है। जगत् के भिन्न-भिन्न पदार्थ प्रकृति से बनते हैं।

प्रकृति अवयवी तो है, परन्तु वह विभु नहीं है अर्थात् वह कणदार है। इसके परमाणु हैं। यह सर्वत्र तो है, परन्तु सर्वव्यापक नहीं है। इस कारण वह

दोष जो परमात्मा को जगत् का कारण मानने पर दिखायी देता है, वह प्रकृति को जगत् का उपादान कारण मानने से नहीं है।

प्राय: भाष्यकारों ने इन दोनों सूत्रों के अर्थ का अनर्थ किया है।

शंकराचार्य लिखते हैं—

तुशब्देनाक्षेपं परिहरति। न खल्वस्मत्पक्षे कश्चिदपि दोषाऽस्ति। न तावत्कृत्स्नप्रसक्तिरस्ति। कुत: ? श्रुते:। यथैव हि ब्रह्मणो जगदुत्पत्ति: श्रूयत, एवं विकारव्यतिरेकेणापि ब्रह्मणोऽवस्थानं श्रूयते, प्रकृतिविकारयोर्भेदेन व्यपदेशात्, 'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि'। (छा० ६-३-२)

इसका अर्थ इस प्रकार है—तु शब्द से आक्षेप का परिहार करते हैं। हमारे सम्पूर्ण पक्ष में कोई भी दोष नहीं। उस जगत्-रचना में सम्पूर्ण ब्रह्म की प्रसक्ति नहीं, क्योंकि ऐसी श्रुति है। जिस प्रकार ब्रह्म से जगत्-उत्पत्ति सुनी जाती है, उसी प्रकार कार्य से भिन्न ब्रह्म की अवस्थिति सुनी जाती है। क्योंकि (छान्दो० ६-३-२ में) लिखा है—इत्यादि।

अभिप्राय यह कि श्री स्वामी शंकराचार्यजी ने आक्षेप को मान लिया है, परन्तु उसका उत्तर दिया है कि ऐसा श्रुति में लिखा है कि ब्रह्म जगत् में परिवर्तित भी होता है और परिवर्तित नहीं भी होता। अर्थात् परमात्मा का एक भाग जगत् में प्रसक्त होता है और एक भाग प्रसक्त नहीं होता।

यह उक्त आक्षेप का उत्तर नहीं। परन्तु देखें कि स्वामीजी अपने कथन में प्रमाण क्या देते हैं। वह छान्दो० ६-३-२ का प्रमाण देते हैं जो इस प्रकार है—

सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति। (छा० ६-३-२)

यदि इसके साथ इससे पहला मन्त्र भी पढ़ें तो अर्थ भली-भाँति स्पष्ट हो जायेगा और पता लगेगा कि श्री स्वामीजी ने न तो सूत्रार्थ समझे हैं और न ही उपनिषद् के अर्थ। प्रथम मन्त्र इस प्रकार है—

तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्त्याण्डजं जीवजमुद्भिज्जमिति। (छा० ६-३-१)

अब दोनों का अर्थ करना चाहिये। पहले मन्त्र का अर्थ है—

निश्चय से उन प्राणियों में तीनों की जेरज, अण्डज, उद्भिज बीजों से उत्पत्ति होती है।

स्पष्ट है कि यहाँ प्राणियों की उत्पत्ति के विषय में लिखा है। तीनों प्रकार की जीव-सृष्टि बीजों से उत्पन्न होती है। बीज पुरुष-स्त्री के रेतस् के संयोग में बनता है।

और दूसरे मन्त्र में बताया है कि बीज में जीवात्मा कैसे आता है ? लिखा है—

(सेयं) वह और यह अर्थात् प्रकृति और जीवात्मा (देवतैक्षत) देव के ईक्षण करने से; (हन्ताहमिमाः) अभिप्राय है कि परमात्मा (तिस्रो देवता) तीन देवताओं अर्थात् जल, अग्नि, वायु में (अनेन जीवेनात्मना) इस जीवात्मा में (अनुप्रविश्य) प्रवेश करके (नामरूपे) नाम रूपवाले प्राणी (व्याकरवाणि) व्यक्त करता है।

यहाँ तीन देवताओं से अभिप्राय सत्त्व, रजस् और तमस् गुण भी लिया जा सकता है अथवा अग्नि, जल और वायु भूत भी लिया जा सकता है। दोनों से अर्थ ठीक बैठते हैं। 'सेयं' का अभिप्राय है कि वह और यह अर्थात् जीवात्मा और प्रकृति। इनमें देव के ईक्षण से प्राणी बनने लगता है।

अब बताइये कि परमात्मा का एक रूप कार्य-जगत् में जाता है और दूसरा नहीं जाता, कहाँ लिखा है ?

स्वामीजी एक अन्य उदाहरण देते हैं वह इस प्रकार है—

तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवीति ॥

(छा० ३-१२-६)

यही (छा० ३-१२-६) मन्त्र यजुर्वेद के (३१-३) पुरुष सूक्त का मन्त्र है। मन्त्र इस प्रकार है—

एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥

(यजु० ३१-३)

दोनों मंत्रों के शब्दों में सामान्य-सा अन्तर है। भावार्थ सर्वथा समान हैं।

(एतावान्) इस दृश्य-अदृश्य ब्रह्माण्ड। (अस्य) की। (महिमा) महिमा प्रभाव क्षेत्र है। (अतः) इसलिये (ज्यायान्) बड़ा है। (पूरुषः) परमात्मा। (च) और (अस्य) इस ब्रह्माण्ड के (विश्वाभूतानि) विश्व के भूत अर्थात् चराचर पदार्थ। (पादः) पाद अर्थात् प्रकरण कार्य का एक अंश है। (अस्य) इसके (त्रिपाद्) तीन अंश हैं। (अमृतम्) नाशरहित (दिवि) ज्योतिमान।

इस मन्त्र का अर्थ बनता है कि यह ब्रह्माण्ड सर्वशक्तिमान् परमात्मा की महिमा (महिमायुक्त कार्य) है। इस कार्य के तीन पाद हैं। एक पाद है पृथिवी पर चराचर जगत् और दूसरा पाद है ज्योतिर्मय दिव्य पदार्थ सूर्य, चन्द्रादि नक्षत्र और तीसरा पाद है ब्रह्माण्ड का अविनाशी अंग।

हमारा यह कहना है कि शंकराचार्य न तो सूत्रार्थ समझे हैं और न ही

इन उपनिषद् वाक्यों को ।

आक्षेप करने वालों तथा जगत् का उपादान कारण परमात्मा मानने वालों को सूत्रकार यह कहता है कि जगत् सीमित है। यदि परमात्मा ही बदलकर जगत् बना है तो असीम परमात्मा दो भागों में बँट गया मानना होगा। दोनों भागों के बीच सीमा बन जाने से परमात्मा अवयवी हो जायेगा। यह शास्त्र विरुद्ध है। वहाँ परमात्मा को निरवयव कहा है।

सूत्रकार ही इसका उत्तर देता है कि मूल शब्द प्रमाण वेद है। उसमें ऐसा नहीं कहा कि जगत् का उपादान कारण परमात्मा है। उपादान कारण प्रकृति है जो परमाणुओं में है। अतः इसमें परिवर्तित होने से इसका अवयवी बन जाना दोष नहीं होगा।

आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि ॥२८॥

आत्मनि+च+एवं+विचित्राः+च+हि ।

च=और। आत्मनि=परमात्मा में। एवं=ऐसी। विचित्राः=विचित्र अथवा विविध प्रकार की। च=और। हि=क्योंकि।

इसका अभिप्राय यह है कि परमात्मा में तो अनेक प्रकार की विचित्र शक्तियाँ हैं। वह जड़ प्रकृति से जगत् की रचना कर सकता है। स्वामी शंकराचार्य ने इस सूत्र के अर्थ तो ठीक किये, परन्तु अर्थों पर अपना भाष्य सर्वथा असम्बद्ध किया है। आप लिखते हैं—

अपि च नैवात्र विववदितव्यं—कथमेकस्मिन्ब्रह्मणि स्वरूपानुपमर्दे-नैवानेकाकारा सृष्टिः स्यादिति। यत आत्मन्यप्येकस्मिन्स्वप्नदृशि स्वरूपानुपमर्देनैवानेकाकारा सृष्टिः पठ्यते—'न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान्रथयोगान्पथः सृजते' (बृ० ४-३-१०) इत्यादिना।

अर्थात्—इस विषय में विवाद नहीं करना चाहिये कि स्वरूप के नाश हुए बिना अनेक आकार की सृष्टि कैसे होगी ?

(क्यों विवाद नहीं करना चाहिये ?) इस कारण कि श्रुति है। (बृ० ४-३-१०)।

स्वामीजी वही पिछले सूत्र की अपनी बात को सिद्ध करने के लिए कहते हैं कि परमात्मा परिवर्तित और अपरिवर्तित दोनों हो सकता है। अपने इस कथन के प्रमाण में जो उद्धरण उपनिषद् में से बताये थे, वे हमने दोनों देकर बताया था कि उन उद्धरणों में ऐसी बात नहीं लिखी कि परमात्मा एक अंश में

बदल जाता है और एक अंश में नहीं बदलता ।

इस सूत्र में स्वामीजी अपने कथन को दोहरा कर पुनः बृ० ४-३-१० का उद्धरण देते हैं। वह इस प्रकार है—

न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान्पथः सृजते। न तत्रानन्दा मुदः प्रमुदो भवन्त्यथानन्दान् मुदः प्रमुदः सृजते। न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्त्यथ वेशान्तान्पुष्करिणीः स्रवन्तीः सृजते। स हि कर्ता।

इसमें आत्मा की एक अवस्था का वर्णन है। इससे पूर्व के मन्त्र में कहा है। आत्मा के दो ही स्थान हैं। एक इस लोक में (बद्ध प्राणी के रूप में) और दूसरा परलोक में अर्थात् मुक्तावस्था। एक तीसरी अवस्था भी बतायी है। यह दोनों अवस्थाओं की संधि अवस्था है। इसे जाग्रत और सुषुप्ति में संधि अर्थात् स्वप्न की अवस्था मानते हैं और बद्ध तथा मोक्षावस्था की संधि का नाम समाधि है। इस समाधि अवस्था में जीवात्मा क्या देखता है, वह अगले मन्त्र में लिखा है और मोक्षावस्था का वर्णन इस (बृ० ४-३-१०) मन्त्र में वर्णित हैं।

इस अवस्था में (इस मन्त्र में लिखा है) वहाँ पर रथ नहीं होते और न रथ के घोड़े, लगाम इत्यादि। न मार्ग होते हैं और वह (मुक्त जीव) रथों को, रथ के सामने को और मार्गों को निर्माण कर लेता है। न वह आनन्दमय (पदार्थ) होते हैं और न ही हर्ष, न हर्ष विशेष। वह (मुक्त जीव) यह सब अपने लिये सृजन कर लेता है। न वहाँ सरोवर होते हैं और न तालाब, न ही नदियाँ होती हैं। परन्तु वह (मुक्त जीव) इस सब को निर्माण कर लेता है। वह ही कर्ता होता है।

यहाँ परमात्मा का वर्णन नहीं है। जीवात्मा की तीन अवस्थओं का वर्णन है। बद्ध अवस्था यह (बृ० ४-३-९ में) इदं से कही है। दूसरी अवस्था परलोक स्थान के नाम से कही है। तीसरी 'सन्ध्य' समाधि स्थान अथवा स्वप्नावस्था के नाम से कही है।

इस (बृ० ४-३-१०) में मोक्ष अवस्था का वर्णन है। यह लिखा है कि परलोक में कुछ नहीं होता और वह (मुक्त जीव) इनको बना लेता है। कैसे बना लेता है और किस वस्तु से बना लेता है? यह तो लिखा नहीं। न ही यह कहा है कि अपने को इन वस्तुओं में बदल लेता है।

अभिप्राय यह कि इसमें इस बात का संकेत भी नहीं कि परमात्मा बदल भी सकता है और कुछ न बदला हुआ भी रह सकता है। यह स्वामीजी ने एक महान् छलना खेली है कि सूत्र कुछ है और अपना मत सिद्ध करने के लिए प्रमाण ऐसे दिये हैं, जिनका सूत्रार्थ के साथ दूर का भी सम्बन्ध नहीं है।

सूत्रार्थ तो है कि परमात्मा की शक्तियाँ अनेक प्रकार की हैं और वह

रचने की समर्थ्य रखता है। प्रकृति से रचने की समर्थ तो है ही ; क्योंकि अपने को बदलकर जगत् रचने में कुछ प्रयोजन भी नहीं। प्रकृति में परिवर्त्तन कर जगत् की रचना की जाती है जीवात्माओं के भोग के लिये। जीवात्मा को संसार का भोग करते हुए मोक्ष-मार्ग-निर्माण करना होता है।

स्वपक्षदोषाच्च ॥२९॥

च + स्वपक्ष + दोषात्।

और अपने पक्ष में दोष होने से।

अपने पक्ष का अभिप्राय है कि आक्षेप करने वाले का पक्ष।

आक्षेप का वर्णन है सूत्र (२-१-२६) में। आक्षेप यह है कि (कृत्स्नप्रसक्तिः निरवयवत्वशब्दकोपो वा) या तो सम्पूर्ण परिवंतन मानो अथवा शास्त्र में 'निरवयव शब्द' गलत है। यह ब्रह्म के विषय लिखा है कि शास्त्र में परमात्मा को निरवयव माना है और परमात्मा ही जगत् में परिवर्तित (प्रसक्त) होता माना गया है; क्योंकि परमात्मा एक रस, विभु, अभिन्न, अभेद है। इस कारण दोनों स्थितियाँ हो नहीं सकतीं। या तो मानो कि परमात्मा जगत् में बदलता नहीं, अन्यथा मानो कि शास्त्र ग़लत है।

सूत्रकार ने सूत्र २-१-२७, २८ में समझाया है कि दोनों ठीक हैं। श्रुत ग्रन्थों में वेद मूल श्रुत ग्रन्थ है और उसमें परमात्मा को जगत् में परिवर्तित होता नहीं लिखा। उसमें प्रकृति को जगत् का मूल कारण माना है। इस कारण किसी प्रकार का विरोध नहीं। परमात्मा विचित्र शक्ति रखता है। वह (प्रकृति से) जगत्-निर्माण कर सकता है।

अब इस सूत्र में यह कह दिया गया है कि आक्षेप करने वाले ने जो पक्ष लिया है, वह दोषयुक्त है। अर्थात् परमात्मा जगत् में नहीं बदलता। यह एक मिथ्या पक्ष लेकर वेद शास्त्र में जो परमात्मा को अवयव माना है, स्वामीजी ने ग़लत बताने का यत्न किया है।

वस्तुस्थिति यह है कि परमात्मा जगत् का उपादान कारण नहीं है।

सर्वोपेता च तद्दर्शनात् ॥३०॥

सर्वं + उपेता + च + तत् + दर्शनात् ।

सर्वोपेता = सबसे उपेत (युक्त) है। च = और। तद्दर्शनात् = ऐसा देखे जाने से।

सर्वोपेता का अर्थ सबसे जुड़ा हुआ है। प्रकृति के प्रत्येक परमाणु से यह (परमात्मा) युक्त (व्याप्त) है और ऐसा देखा जाता है। कैसा देखा जाता है? कुछ लोग कहते हैं कि शास्त्र में लिखा देखा जाता है

यह ठीक है कि शास्त्र में ऐसा लिखा है, परन्तु हमारा मत यह है कि हम जड़ जगत् में प्रत्येक कार्य को देखकर अनुमान लगाते हैं कि जगत् का रचने वाला प्रत्येक परमाणु से युक्त (व्याप्त) है। ऐसा मानना ही पड़ेगा, अन्यथा सृष्टि की रचना की कल्पना की ही नहीं जा सकती।

सांख्य मत है, कि प्रकृति के प्रत्येक परमाणु में तीन गुण हैं जो एक दूसरे को सन्तुलित करते रहते हैं। इस अवस्था को गुणों की साम्यावस्था कहते हैं। गुणों में सन्तुलन टूटता है। गुणों के परस्पर सन्तुलन का प्रभाव बदलकर बाहर के परमाणुओं पर केन्द्रित हो जाता है। यह परमात्मा रचता है। यह तब ही हो सकता है जबकि परमात्मा प्रकृति के प्रत्येक परमाणु में व्याप्त हो। यदि परमात्मा को परमाणुओं से युक्त न मानें तो परमाणुओं में गुणों के संतुलन के भंग करने के लिये किसी करण (tool) की आवश्यकता होगी। यह नहीं है।

विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम् ॥३१॥

विकरणत्वात् + न + इति, चेत् + तत् + उक्तम् ।

विकरणत्वात् = करणों के विगड़ जाने से। न = नहीं। इति चेत् = यदि यह कहो तो। तत् = वह। उक्तम् = कहा जा चुका है।

संशय करने वाला यह कहता है कि परमात्मा इन्द्रियों में कार्य करता कहा जाता है और वे बिगड़ जाती हैं। इस कारण परमात्मा नहीं है। सूत्रकार उत्तर देता है कि यदि यह कहो तो यह ऐसा नहीं। इसका कथन पहले हो चुका है।

क्या कहा जा चुका है? यही कि इन्द्रियों में वायु कार्य करता है। वायु (शक्ति) परमात्मा का लक्षण है, परमात्मा नहीं। जैसे अग्नि का लक्षण धुआँ है। धुआँ अग्नि नहीं है। इस प्रकार इन्द्रियों में परमात्मा की शक्ति कार्य

करती है। जब इन्द्रियाँ बिगड़ जाती हैं तो यह वायु कार्य नहीं कर रहा होता अथवा न्यून कार्य करने लगता है। इसका परमात्मा के होने न होने से सम्बन्ध नहीं। यह पहले बताया जा चुका है कि न तो इन्द्रियाँ परमात्मा हैं और न ही शक्ति परमात्मा है।

न प्रयोजनवत्त्वात् ॥३२॥

न=नहीं। प्रयोजनवत्त्वात्=प्रयोजन वाला होने से (परमात्मा के) न प्रयोजन वाला होने से (वह जगत्-रचना करने वाला नहीं हो सकता)।

परमात्मा को किसी वस्तु की आकांक्षा नहीं। इस कारण इसका कोई उद्देश्य नहीं। अतः यह जगत् परमात्मा ने नहीं बनाया। यह अपने आप बना है। यह शंका है।

इसी सूत्र का एक अन्य अर्थ भी हो सकता है। प्र के अर्थ होते हैं प्रकर्षण (प्रकर्ष से) बलपूर्वक। योजनवत्त्वात्—योजनाबद्ध होने से। यह जगत् भली प्रकार विचारकर यत्न से परमात्मा क्यों सृजन करेगा? इस कारण जगत् परमात्मा ने नहीं बनाया।

दोनों अर्थों में भाव एक ही है। न तो परमात्मा का कोई सिद्धि योग्य कार्य था, जिससे वह जगत् बनाता, न ही किसी प्रकार की योजना बनायी गयी होगी। कारण, योजना में कोई उद्देश्य होना चाहिये।

इसका उत्तर सूत्रकार अगले सूत्र में देता है।

लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् ॥३३॥

लोकवत्+तु+लीला कैवल्यम्।

लोक में माना जाने के समान तो लीला मात्र कहा जा सकता है।

सामान्य भाषा में जगत्-रचना को लीला मात्र कहा जा सकता है। लीला का अर्थ मनोरंजनार्थ किया काम भी है और लीला का अर्थ अनायास किया काम भी है।

मनोरंजनार्थ माना जाये अथवा अनायास माना जाये; अर्थात् बिना किसी विशेष प्रयास के माना जाये। यह पूर्व सूत्र (२-१-३२) के उत्तर में तब

ही माना जा सकता है यदि उस सूत्र के अर्थ 'योजना से न होने' के लिये जायें।

परन्तु इस सूत्र में विशेष बल है लोकवत् शब्द पर। सामान्य सांसारिक कथन से तो यही कहा जा सकता है कि यह जगत्-रचना परमात्मा की लीलावत् है। अनायास है।

सूत्रकार ने ईश्वर के प्रयोजन का एक अन्य ढंग से भी वर्णन किया है।

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति ॥३४॥

वैषम्य+नैर्घृण्ये+न+सापेक्षत्वात्+तथा+हि+दर्शयति।

वैषम्य=विषमता अर्थात् किसी के साथ एक प्रकार का और किसी दूसरे के साथ दूसरी प्रकार का व्यवहार। नैर्घृण्ये=निर्दयता का। न=नहीं। सापेक्षत्वात्=अपेक्षा सहित होने से। तथा=और। हि=निश्चय से। दर्शयति=दिखाया गया है।

इस सूत्र में विशेष शब्द है सापेक्षत्वात्; अर्थात् अपेक्षा सहित होने से। अपेक्षा का अर्थ है क्रियाओं में अथवा वस्तुओं में रहने वाला स्वाभाविक सम्बन्ध।

परमात्मा में जहाँ विषमता नहीं, निर्दयता नहीं, वहाँ सापेक्षत्व है।

रचित सृष्टि में किसी के साथ भेद-भाव बिना, निर्दयता के बिना, स्वाभाविक सम्बन्धों को रखने वाला परमात्मा है।

भेद-भाव तो जीवात्मा से नहीं किया जाता। किसी जीव के साथ निर्दयता का व्यवहार भी नहीं। जो पदार्थ ईश्वर की ओर से उपलब्ध हैं वे सबको मिलते हैं। कहीं भेद-भाव दिखाई देता है तो वह जीवों के कर्मों से ही होता है।

सबके साथ स्वाभाविक सम्बन्ध (सापेक्षत्व) तो ब्रह्माण्ड में अन्य दो मूल पदार्थों (मूल प्रकृति और जीवात्मा) से होना अभिप्रेत है। इसी से जगत् की रचना होती है।

अतः इस सूत्र का अर्थ यह बनता है कि परमात्मा में जगत् के अन्य मूल पदार्थों से सापेक्षता है। अन्य मूल पदार्थ हैं प्रकृति और जीवात्मा। इन दोनों पदार्थों की सापेक्षता से अर्थात् स्वाभाविक सम्बन्ध होने से जगत् की रचना होती है। निश्चय ही जगत् से यह दिखाया जाता है।

शंका उपस्थित की गई थी कि जगत् की रचना में करण (कार्य करने

वाले उपकरण) बिगड़ जाते हैं। अतः यह कहना है कि उनमें परमात्मा कार्य करता है, सन्देह उत्पन्न होता है।

इसके उत्तर में (२-१-३३ में) बताया है कि परमात्मा से अनायास ही जगत्-रचना हो जाती है। जैसा कि सामान्य रूप से जगत् में देखा जाता है।

इसके उपरान्त वैज्ञानिक भाषा में भी (२-१-३४ में) कह दिया गया है। वह यह कि ईश्वर के स्वाभाविक सम्बन्ध प्रकृति और जीवात्माओं के साथ हैं। इस कारण बिना विषमता अथवा बिना निर्दयता (द्वेष) के परमात्मा जगत् को बनाता है।

जगत्-रचना में और भी शंका की गयी है।

न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात् ॥३५॥

न+कर्म+अविभागात्+इति+चेत्+न+अनादित्वात्।

(शंका है) न कर्माविभागात्=नहीं कर्म में अविभाग होने से। अर्थात् परमात्मा (जगत् रचने वाला) नहीं है। क्योंकि (रचना से पूर्व) कर्मों में (जीवों का परमात्मा से) अभेद था। अतः अर्थ बनते हैं कि सर्ग से पूर्व परमात्मा और जीवों में कर्मभेद नहीं था।

चेत्=यदि यह कहो तो। न=यह ठीक नहीं। (कारण यह कि कर्मों के) अनादि होने से।

सर्ग के पूर्व जीव सुषुप्ति अवस्था में होते हैं, परन्तु परमात्मा तो सुषुप्ति अवस्था में नहीं होता। इस पर भी परमात्मा को अकर्त्ता माना गया है। अकर्त्ता इस विचार से कि यह जगत् के भोग का कर्म नहीं करता, परन्तु कर्म तो अनादि हैं। अर्थात् सर्गारम्भ से पूर्व ब्रह्म रात्रि थी और ब्रह्म रात्रि से पूर्व ब्रह्म दिन में जीवात्मा कर्म करते थे और उन कर्मों का फल जीवों के साथ सम्बद्ध था। अतः जगत्-रचना की आवश्यकता थी।

कर्म अनादि हैं। कैसे? यदि जीव अनादि हैं तो कर्म भी अनादि हैं। इसमें अपवाद केवल मोक्ष स्थिति का है। जीव का लक्षण प्रयत्न है। यह कर्म का स्रोत है।

उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च ॥३६॥

उपपद्यते+च+अपि+उपलभ्यते+च।

उपपद्यते=युक्ति से सिद्ध। और उपलभ्यते=उपलब्ध होने अर्थात् प्रत्यक्ष देखने से। अपि=भी। च=और।

अन्तिम 'च' है पूर्व सूत्र से सम्बन्ध बताने के लिये। पूर्व सूत्र में बताया गया है कि कर्म के नित्यत्व से जीवों के कर्म पूर्व कल्प के रह जाते हैं और उससे नवीन जगत्-रचना की आवश्यकता रहती है।

इस सूत्र में कहा गया है कि कर्मों का नित्यत्व युक्ति से भी सिद्ध होता है और प्रत्यक्ष में भी देखने में आता है। युक्ति से वह इस प्रकार है। जीव अनादि हैं। अतः पूर्व कल्प में अवश्य रहे होंगे। पूर्व जगत् के प्रलय के समय सब जीवों के कर्म निःशेष नहीं हो सकते। अतः उनके कर्म फल रहते हैं। अतएव नवीन जगत् की रचना की आवश्यकता रहती है, जिससे जीव अपने कर्म फल भोग लें और मोक्ष पद को पाने का यत्न कर सकें।

उपलब्धि अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि इस लोक में जीवात्मा कर्म रहित नहीं रह सकता। अतः पूर्व कल्प के प्रलय के तुरन्त पूर्व भी जीवों के कर्म हो रहे होंगे और उनके कर्म फल मिलने वाले होंगे।

हमने उपलब्धि के अर्थ, जो प्रत्यक्ष में उपलब्ध होता है, लिया है। जगत् में कर्मों के विषय में प्रत्यक्ष प्रमाण वर्जित नहीं है। अव्यक्त पदार्थ, जो इन्द्रिय-गोचर नहीं, उनमें प्रत्यक्ष व्यवहार दिखाई नहीं दे सकता। परन्तु जगत् तो व्यक्त है, इन्द्रियगोचर है; अतः इसके विषय में प्रत्यक्ष प्रमाण भी सहायक होता है।

अतः सूत्र का अभिप्राय है कि कर्म का अनादित्व युक्ति से और प्रत्यक्ष से भी उपलब्ध होता है।

सर्वधर्मोपपत्तेश्च ॥३७॥

सर्वधर्म+उपपत्तेः+च।

च=और। सर्वधर्मोपपत्तेः=सब धर्मों की उपस्थिति से।

सब पदार्थों के धर्मों की उपस्थिति से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि ब्रह्मांड में परमात्मा के अतिरिक्त अन्य भी हैं और प्रत्येक अपने-अपने धर्मों से पहचाना जाता है।

हमने पहले यह बताया है कि पदार्थ के धर्म व गुण होते हैं, जिनसे वह

पदार्थ कर्म करता है। कुछ गुण ऐसे भी होते हैं जो कर्म करने में सक्षम नहीं होते। अतः वे गुण मात्र कहलाते हैं। जो गुण पदार्थ के कर्म में प्रकट होते हैं, वे धर्म कहलाते हैं।

अतः जगत् में सब उपस्थित पदार्थों को पहचाना जाता है, उनके धर्मों से।

परमात्मा का गुण रचयिता उसका धर्म है। जीवात्मा का गुण भोक्ता उसका धर्म है। प्रकृति का जड़त्व इसका धर्म है।

इस सूत्र को इसी पाद के चतुर्थ सूत्र के साथ-साथ पढ़ें तो पूर्ण पाद का भावार्थ समझ में आ जायेगा।

दूसरा पाद

रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् ॥१॥

रचना+अनुपपत्तेः+च+न+अनुमानम् ।

रचना=जगत् की रचना । अनुपपत्तेः=न उपपन्न हो सकने से । अर्थात् असिद्ध होने से । च=भी । न=नहीं । अनुमानम्=अनुमान से ।

जगत् की रचना नहीं की जा सकती (प्रधान से) । अनुमान से भी नहीं (सिद्ध हो सकती) ।

पूर्व के पादों में परमात्मा (चेतन) से जगत्-रचना की प्रक्रिया वर्णन की है । यहाँ प्रकृति से आरम्भ किया है । प्रकृति का गुण ईक्षण नहीं । यह जड़ है । जड़ उस पदार्थ को कहते हैं किसमें अक्रियता (inertia) हो ।

यह कहा गया है कि मूल प्रकृति (प्रधान) द्वारा जगत्-रचना की जानी असिद्ध है । यह अनुमान प्रमाण से भी सिद्ध नहीं हो सकती ।

जिसमें जड़त्व है अर्थात् जो अक्रिय है, उस द्वारा जगत् की उत्पत्ति असम्भव है । कहीं किसी अक्रिय पदार्थ को कुछ करते नहीं देखा गया । यदि प्रधान को हम जड़ मानें तो यह सृष्टि रचने वाला नहीं हो सकता ।

अन्+उपपत्तेः न उपपन्न होने से अर्थात् जगत् का रचने वाला प्रधान माना नहीं जा सकता । यह देखने में नहीं आता ।

अनुमान प्रमाण से भी प्रधान जगत् का निमित्त कारण नहीं हो सकता । यहाँ हमने सूत्र का अर्थ करते हुए 'प्रधान' शब्द लगाया है । साथ ही अनुमान प्रमाण में 'निमित्त कारण' की बात लिख दी है । ये दोनों शब्द इस कारण हैं कि प्रधान को उपादान कारण हम इसी अध्याय के प्रथम पाद में सिद्ध कर चुके हैं । अतः यहाँ असिद्धि का अर्थ निमित्त कारण से ही है ।

यह सूत्र नास्तिकों को चुनौती है । जो परमात्मा को जगत्-रचयिता नहीं मानते, उनके लिए ही यह लिखा है कि प्रकृति स्वतः रचना नहीं कर सकती ।

प्रवृत्तेश्च ॥२॥

प्रवृत्तेः+च (न) ।

और प्रवृत्ति से भी (नहीं) ।

'नहीं' पूर्व के सूत्र से लिया है। 'च' शब्द से इस सूत्र का उससे ही सम्बन्ध सिद्ध होता है।

किसी कार्य में प्रवृत्त होने को ही प्रवृत्ति कहते हैं। प्रवृत्ति किसी कार्य विशेष के लिये की जानें वाली विशिष्ट क्रिया का नाम है। यह जड़ पदार्थ में नहीं हो सकती। इसी कारण कहा गया कि प्रवृत्ति के विचार से भी जगत्-रचना प्रकृति से नहीं है।

लोक में कोई ऐसा दृष्टांत उपलब्ध नहीं, जहाँ जड़त्व में स्वतः क्रिया होती देखी गयी हो।

त्रैतवादी अर्थात् जो यह मानते हैं कि मूल पदार्थ तीन हैं, उनके लिए 'प्रवृत्ति जगत्-रचना में कारण नहीं' पद से, किसी प्रकार से संशय उत्पन्न नहीं होता। कारण यह कि वे निमित्त कारण और उपादान कारण में भेद मानते हैं, परन्तु जो प्रकृति को मूल तत्त्व मानते ही नहीं, उनके लिये इन दो सूत्रों के अर्थ लगाने में भारी कठिनाई अनुभव होगी। कारण यह कि इन सूत्रों से पता यह चलता है कि परमात्मा के अतिरिक्त कुछ है, जिसके विषय में कहा जा रहा कि वह जगत् का कारण नहीं। यह मान लिया गया है कि वह है। तो वह क्या है, क्यों है और क्या करता है ? इत्यादि प्रश्न उत्पन्न होने लगते हैं।

स्वामी शंकराचार्य परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ मानते नहीं। इस कारण इस सूत्र पर उनका भाष्य पढ़ने में अवश्य रुचिकर होना चाहिए। हम उसके कुछ अंश देते हैं। आप लिखते हैं—

आस्तां तावदियं रचना। तत्सिद्ध्यर्था या प्रवृत्तिः साम्यावस्थानात्प्रच्युतिः सत्त्वरजस्तमसामङ्गाङ्गिभावरूपापत्तिर्विशिष्टकार्याभिमुखप्रवृत्तिता, सापि नाचेतनस्य प्रधानस्य स्वतन्त्रस्योपपद्यते, मृदादिष्वदर्शनाद्रथादिषु च। नहि मृदादयो रथादयो वा स्वयमचेतनाः सन्तश्चेतनैः कुलालादिभिरश्वादिभिर्वानधिष्ठिता विशिष्टकार्याभिमुखप्रवृत्तयो दृश्यन्ते दृष्टाच्चादृष्टसिद्धिः।

अर्थ है—इस विचित्र रचना को रहने दो। इसकी सिद्धि के लिए जो प्रधान की साम्यावस्था से प्रच्युति रूप प्रवृत्ति अर्थात् सत्त्व, रजः और तमः इन तीनों गुणों के अंगांगी भाव की आपत्ति (प्राप्ति रूप) विशेष कार्य के सम्पादन के लिये जो प्रचलित हैं, वह भी स्वतन्त्र अचेतन प्रधान की नहीं हो सकती; क्योंकि मृत्तिका आदि और रथ आदि में स्वतन्त्र प्रवृत्ति नहीं देखी जाती। मृत्तिका आदि अथवा रथ आदि स्वयं अचेतन होते हुए चेतन कुलाल

आदि अथवा अश्वादि से अनधिष्ठित होकर विशिष्ट कार्य के अभिमुख प्रवृत्ति वाले नहीं देखे जाते और दृष्ट से अदृष्ट की सिद्धि होती है।

इसमें भाव यह है कि जड़ में प्रवृत्ति नहीं होती। इसका संसर्ग जब चेतन से होता है तो चेतन की प्रवृत्ति इसमें प्रकट होती है।

मिट्टी से घड़ा बनने में कुलाल की सहायता की आवश्यकता रहती है अथवा रथ में प्रवृत्ति उत्पन्न करने के लिये घोड़ों की आवश्यकता रहती है, यह स्वामीजी ने ठीक ही कहा है।

प्रधान में प्रवृत्ति नहीं है। इसमें प्रवृत्ति चेतन के कारण ही होती है और तब इससे रचना होती है।

इतना कहकर स्वामीजी को यह अनुभव हो गया प्रतीत होता है कि उन्होंने कुछ अपने ही विरुद्ध कह दिया है। अतः वहाँ एक भ्रमयुक्त पूर्व पक्ष उपस्थित कर भ्रमयुक्त ही उत्तर दे दिया। न तो पूर्व पक्ष में किसी प्रकार की युक्ति है और न ही उसके उत्तर में जो कुछ स्वामी जी ने लिखा, उसमें किसी प्रकार का तथ्य प्रतीत होता है।

आइये, देखें कि स्वामीजी पूर्व पक्ष क्या प्रस्तुत करते हैं और उसका उत्तर क्या देते हैं? पूर्व पक्ष यह है—

केवलाचेतनरथादिवैलक्षण्यं जीवद्देहस्य दृष्टमिति। अत एव च प्रत्यक्षे देहे सति दर्शनादसति चादर्शनाद्देहस्यैव चैतन्यमपीति लौकायतिकाः प्रतिपन्नाः। तस्मादचेतनस्यैव प्रवृत्तिरिति।

परन्तु केवल अचेतन रथादि से जीव की देह में विलक्षणता देखे जाने से (रथ में प्रवृत्ति देखी जाती है) अतएव देह के प्रत्यक्ष होने पर चैतन्य दिखायी देता है और देह के प्रत्यक्ष न होने पर चैतन्य दिखाई नहीं देता। अतः देह ही चेतन है। यह लोकायतिक (नास्तिक) मानते हैं। अतः अचेतन की ही प्रवृत्ति है।

भाव यह है कि घोड़ा अथवा कुलाल भी जड़ है और इनकी देह में चेतनता आयी है। इस कारण जड़ ही चेतन है। बिना देह के चेतनता प्रकट नहीं होती।

यह लंगड़ी युक्ति है; परन्तु देखें कि स्वामीजी इसका क्या उत्तर देते हैं? स्वामीजी लिखते हैं कि चेतन देह में भी प्रवृत्ति तो उस उपस्थित जीवात्मा की है जो चेतन है, परन्तु इतना कहकर स्वामीजी अपने मत को भंग होते देख कहते हैं—

ननु तव देहादिसंयुक्तस्याप्यात्मनो विज्ञानस्वरूपमात्रव्यतिरेकेण प्रवृत्त्यनुपपत्तेरनुपपन्नं प्रवर्तकत्वमिति चेत्—न, अयस्कान्तवद्रूपादिवच्च प्रवृत्तिरहितस्यापि प्रवर्तकत्वोपपत्तेः।

अर्थात्—ऐसा यदि कहो कि तुम्हारे मत में देहादि से संयुक्त भी आत्मा के विज्ञान स्वरूप मात्र से अतिरिक्त प्रवृत्ति की अनुपपत्ति होने से प्रवर्तकत्व

अनुपपन्न है तो यह युक्ति नहीं; क्योंकि अयस्कान्तमणि (लोह चुम्बक) की प्रवृत्ति रहित और रूपादि के समान वस्तु में भी प्रवर्तकत्व हो सकता है।

स्वामीजी के अपने ही मन में अपनी ही युक्ति से यह भय उत्पन्न हो गया है। वह स्वयं जीवात्मा को तो मानते नहीं। वह विज्ञान (बुद्धि) में परमात्मा के संयोग से चेतनता उत्पन्न हो जाती है, ऐसा मानते हैं। तो फिर घोड़े और कुलाल की अचेतनता में चेतनता आ गयी, क्यों नहीं मानते ? स्वामी जी वही चुम्बक वाली बात करते हैं।

परन्तु वह यह नहीं समझे कि चुम्बक में ईक्षण नहीं आता। न ही चुम्बक लोह में ईक्षण उत्पन्न कर सकता है। हम बता चुके हैं कि ईक्षण का अर्थ है कि कर्म की दिशा, काल और निश्चय करने की सामर्थ्य।

कुलाल का उदाहरण लें। मिट्टी भी है, कुम्हार भी है। परन्तु उसमें घड़ा बनाने की इच्छा नहीं होती अथवा घड़े के अतिरिक्त सुराही बनाने की इच्छा होती है। यह तो कुम्हार निश्चय करता है। इस ईक्षण से ही घड़ा बनता है अथवा सुराही बनती है। यह बात चुम्बक में नहीं होती और न ही चुम्बक से लोहे में आती है।

चुम्बक में एक ही कार्य करने की शक्ति है। यह लोह कण को खींच लेता है। बस, और यह भी नहीं कि लोह कण खींचकर किसी दूसरी ओर जाने की बात बन जाये। निश्चित दिशा में ही जाने की बात होती है। यह चुम्बक का उदाहरण कुलाल अथवा घोड़े के काम का वर्णन नहीं कर सकता।

अतः जहाँ नास्तिक की युक्ति को तो स्वामीजी ने त्रैतवाद का आश्रय ले खण्डन कर दिया है, वहाँ अपने पक्ष को कि जीवात्मा नहीं है, असिद्ध कर दिया।

अतः सूत्रार्थ यह है कि जैसे प्रधान बिना चेतन (परमात्मा) के जगत्-रचना नहीं कर सकता, इसी प्रकार प्रधान में अपनी प्रवृत्ति से भी लोक-रचना नहीं हो सकती।

पयोऽम्बुवच्चेत्तत्रापि ॥३॥

पयः+अम्बुवत्+चेत्+तत्र+अपि+(न)।

चेत्=यदि कहो। पयः=दूध। अम्बुवत्=जल की भाँति। तत्र+अपि=वहाँ भी (नहीं)।

पूर्व सूत्रवत् यहाँ भी न (नहीं), पूर्व के सूत्रों की पुनरावृत्ति है। इसका

अभिप्राय यह है कि माता के स्तनों से दूध बच्चे को देख स्वतः बहने लगता है। अथवा नदी, नालों में जल स्वतः बहता रहता है। इसी प्रकार प्रधान से स्वतः जगत् की रचना होती है।

ऐसा जड़वादी कहते हैं, परन्तु इनमें भी चेतन का सहयोग है। बिना माता में जीवात्मा (चेतन तत्त्व) के विद्यमान हुए स्तनों से दूध नहीं स्रवित हो सकता। इसी प्रकार जगत्-रचना भी प्रधान से स्वतः नहीं हो सकती बिना चेतन (परमात्मा) के सहयोग से।

कैसे चेतन से जल का बहना और माँ के स्तन से दूध का बहना सम्भव होता है ? यह इस तरह कि माँ चेतन होती है और बच्चे के समीप होने अथवा बच्चे के दूध के लिए रोने का अनुभव माँ को होता है। तभी माँ के स्तनों से दूध स्रवित होने लगता है। स्त्री के शव के स्तनों से दूध नहीं बहता। न ही जल समतल स्थान पर बहता है। यह ऊँचाई से नीचे की ओर ही जाता है और जल ऊँचाई पर ले जाने के लिए ईश्वरीय शक्ति, जो सूर्य में है, की आवश्यकता पड़ती है। विना ऊँचाई पर गये जल नीचे को बह नहीं सकता।

इसी कारण सूत्र में कहा है 'तत्रापि' (न) वहाँ भी यह प्रधान का कार्य नहीं। चेतन का सहयोग होता है।

व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात् ॥४॥

व्यतिरेक+अनवस्थितेः+च+अनपेक्षत्वात्।

व्यतिरेक+अन्‌अवस्थितेः=उलट धर्म की न अवस्थिति में। अनपेक्षत्वात्=अन्‌अपेक्षा की स्थिति होने से। अर्थात् किसी चेतन के सहायता के बिना प्रधान कारण नहीं हो सकता।

इसका अभिप्राय यह है कि प्रधान जड़ है और जड़ पदार्थों में हम देखते हैं कि वे एक अवस्था में ही रहते हैं। अर्थात् खड़े हैं तो खड़े ही रहते हैं। चलते हैं तो चलते ही रहते हैं, जब तक विपरीत शक्ति का प्रयोग न हो और शक्ति चेतन का प्रतीक है।

इसी सिद्धांत का निरूपण सूत्रकार के सहस्रों वर्ष उपरान्त सर आइज़क न्यूटन ने सन् १६८७ में ('गति के नियमों' में) प्रकाशित किया था। गति का प्रथम नियम (1st-Law of Motion) इस प्रकार है—

"Every particle of matter continues in a state of rest or motion with constant speed in a straight line unless compelled by a force to change that state."

इसका अर्थ है कि प्रकृति का प्रत्येक कण स्थिर स्थिति में पड़ा रहता है अथवा एक ही गति से तथा एक ही दिशा में चलता रहता है, जब तक वह किसी विपरीत शक्ति से स्थिति बदलने के लिए विवश न हो जाये।

सूत्रकार भी यही बात कहता है कि विपरीत प्रवृत्ति में नहीं हो सकता जब तक कि चेतन की अपेक्षा न हो।

नास्तिक कहते हैं कि प्रवृत्ति से रचना हुई है। तो इसके विपरीत कार्य (प्रलय) नहीं हो सकती जब तक किसी चेतन की अपेक्षा (प्रभाव) न मान लिया जाये।

प्रकृति एक ही दिशा में गतिमान अथवा अचल अवस्था में रह सकती है। यदि यह कार्य-जगत् का निर्माण करती है तो फिर विघटन नहीं कर सकती।

अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत् ॥५॥

अन्यत्र+अभावात्+च+न+तृण+आदिवत्।

अन्यत्र=दूसरे स्थान पर। अभावात्=अभाव से। च=और। तृणादिवत्=तिनकों इत्यादि की भाँति। न=नहीं हो सकता।

घास से गाय में दूध बनता है। इसी प्रकार अभाव से कार्य-जगत् क्यों न माना जाये? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। तृणादि भी बिना चेतन (गाय) की सहायता के दूध में परिवर्तित नहीं हो सकते।

अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात् ॥६॥

अभ्युपगमे+अपि+अर्थ+अभावात्।

अभ्युपगमे=स्वीकार करने पर। अपि=भी। अर्थ अभावात्=प्रयोजन के अभाव से (प्रकृति जगत्-रचना का कारण नहीं हो सकती)।

अभिप्राय यह कि प्रकृति जड़ होने से किसी प्रकार का प्रयोजन अपने कर्म में नहीं रख सकती। प्रयोजन चेतना के होने से ही बनता है। अतः यदि यह मानें कि अचेतन प्रधान जगत् की रचना करता है तो प्रश्न होगा कि क्यों? जब किसी कार्य में प्रयोजन नहीं तो वह कार्य भी नहीं होता।

यद्यपि ऊपर की युक्तियों से यह सिद्ध किया जा चुका था कि प्रधान सृष्टि-रचना नहीं कर सकता। अब यह कहा है कि यदि नास्तिकों का यह कहा मान भी लें तब भी प्रकृति में जगत्-निर्माण के लिए कोई प्रयोजन न होने से (जगत्-रचना) नहीं मानी जा सकती।

पुरुषाश्मवदिति चेत्तथापि ॥७॥

पुरुष+अश्मवत्+इति+चेत्+तथा+अपि।

इतिचेत्=यदि यह कहो। पुरुष+अश्मवत्=पुरुष भी चुम्बक लोहे की भाँति (है) तथापि=तो भी। यह (प्रधान) जगत् का बनाने वाला नहीं है।

पुरुष एक दूसरे का आश्रय ले अपने किसी अभाव की पूर्ति कर लेते हैं। जैसे अंधा और लंगड़ा एक दूसरे का आश्रय लेकर यात्रा कर लेते हैं। लंगड़ा अंधे के कन्धे पर चढ़कर अंधे को मार्ग दिखाता हुआ यात्रा कर सकता है। इसी प्रकार प्रधान का एक अंग अपने अभाव की पूर्ति दूसरे का आश्रय लेकर कर लेता है और जगत्-रचना में सफल हो जाता है। सूत्रकार कहता है कि इस पर भी बिना किसी चेतन के सहयोग के न देखने वाला देख सकता है और न चलने वाला चल सकता है।

इसी प्रकार चुम्बक और लोह की बात है। चुम्बक आकर्षण तो करता है, परन्तु यह एक ही दिशा में करता है और फिर काल और विधि का निर्णय नहीं कर सकता। इसके लिए भी चुम्बक को लाने उसे दिशा विशेष में रखने और लाने का समय निश्चय करने में चेतन ही सक्षम है। चुम्बक स्वयं नहीं।

अतः सूत्रकार कहता है कि यह युक्ति और उदाहरण भी प्रधान की रचना में कारण होने में सहायक नहीं।

अङ्गित्वानुपपत्तेश्च ॥८॥

च+अङ्गित्व+अनुपपत्तेः।

और अङ्गित्व भाव के न सिद्ध होने से।

यह माना जाता है कि प्रकृति के परमाणुओं के तीनों गुणों की साम्या-

वस्था का नाम प्रधान है। इनकी साम्यावस्था भंग होने से जगत् की रचना होती है। यह भंग स्वयं होना सिद्ध नहीं। इस कारण प्रधान जगत् का निमित्त कारण नहीं।

प्रश्न यह है कि परमाणुओं में तीनों गुणों की साम्यावस्था भंग कैसे होती हैं? क्या गुण न्यूनाधिक हो जाते हैं? यह हो नहीं सकता। अतः प्रकृति के विषय में कहा जा सकता है कि प्रधान जगत् की रचना कर नहीं सकता।

स्वामी शंकराचार्य ने सूत्र के अर्थ तो ठीक किये हैं, परन्तु सूत्र की विवेचना अशुद्ध है। यह सांख्य का ठीक ज्ञान न होने से ऐसा कहा गया है। प्रधान परमाणु-मय है। प्रत्येक परमाणु में तीनों गुण परस्पर साम्यावस्था में होने से एक दूसरे के प्रभाव को विलीन करते रहते हैं।

साम्यावस्था भंग होने के समय ये न्यूनाधिक नहीं होते, वरंच उन गुणों का प्रभाव परस्पर न रहकर पूर्व निर्दिष्ट (सू० २-१-१९ के भाष्य) के अनुसार बाहर की ओर हो जाता है। यह प्रभाव की दिशा बदलने से परमाणु में गुणों की साम्यावस्था भंग होती है।

साम्यावस्था भंग होती है। गुण भंग नहीं होते। गुण तो उसी मात्रा में रहते हैं। उनका आकर्षण-विकर्षण (attraction repulsion) का प्रभाव परस्पर न रहकर बाहर दूसरे परमाणुओं के विपरीत गुणों पर होने लगता है; अतः द्व्यणुक, त्र्यणुक इत्यादि बनने लगते हैं।

सूत्र का भाव यह है कि यह 'अङ्गित्व' अर्थात् परमाणु के गुणों के प्रभाव में पृथकता होने से जगत् बनता अवश्य है, परन्तु इस प्रभाव को पृथक् करने वाला चेतन है। यह परमाणु स्वयं नहीं हो सकता।

अन्यथानुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात् ॥९॥

अन्यथा+अनुमितौ+च+ज्ञशक्तिवियोगात्।

अन्यथा=अन्य प्रकार से। अनुमितौ=अनुमान करने पर। च=भी। ज्ञशक्तिवियोगात्=ज्ञान शक्ति के वियोग अर्थात् अभाव से।

पूर्व सूत्र में यह बताया गया है कि परमाणु के अंगों (गुणों) में साम्यावस्था भंग होने से सृष्टि आरम्भ होती है और उसे भंग करने वाली कोई चेतन शक्ति होनी चाहिए। वह चेतन शक्ति परमात्मा ही है।

इस सूत्र में यह कहा गया है कि एक अन्य प्रकार से भी उसी परिणाम पर पहुँचा जा सकता है। अनीश्वरवादी अर्थात् जड़वादी यह मानते हैं कि प्रधान से सृष्टि

की रचना हुई है और वे अनुमानों से इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि परमाणुओं में सत्त्व, रज, तम गुणों की साम्यावस्था भंग होने से रचना होती है। परन्तु यह रचना एक प्रकार की सुव्यवस्थित और हितकर काम कर रही है। अतः यह रचना किसी अज्ञानी द्वारा नहीं हो सकती। जब हम रचना किसी ज्ञानवान् के आश्रय से मानते हैं तो यह प्रधान, जो जड़ है, नहीं मान सकते। अतः ज्ञानवान् शक्ति के द्वारा इस जड़ प्रकृति में क्रिया होने से यह कार्य-जगत् बना है।

यह अनुमान कि प्रधान ही इस जगत् का निमित्त कारण है, असिद्ध है। क्योंकि वर्तमान जगत् का निर्माण ऐसी कुशलता से हुआ है कि बिना किसी ज्ञानवान् शक्ति के यह सम्भव नहीं होता।

अतः सूत्रार्थ इस प्रकार है। उक्त युक्तियों के अतिरिक्त भी (प्रकृति में) ज्ञान का अभाव होने से (प्रकृति जगत्-रचना में कारण नहीं)।

विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम् ॥१०॥

विप्रतिषेधात्+च+असमञ्जसम्।

विप्रतिषेधात्=परस्पर विरोध के होने से। च=भी। असमञ्जसम्=अयुक्तिसंगत है।

और परस्पर विरोध होने से असमञ्जस है।

असमञ्जस का अर्थ है अयुक्तिसंगत। परस्पर विरोध, किनमें? परमात्मा में और कार्य-जगत् में। यह विरोध (मानने से) परमात्मा को जगत् का उपादान कारण मानने में असमंजस है। अर्थात् युक्तियुक्त नहीं। अथवा रचना और प्रलय में विरोध है। अतः प्रधान को रचना करने वाला मानें तो असमंजस होगा।

साथ ही यदि परमात्मा को सृष्टि का उपादान कारण मानें तो यह भी अयुक्तिसंगत होगा। परस्पर विरोध से (गुणों में विरोध से)।

इस प्रकार प्रधान से स्वतः सृष्टि-रचना मानें तो असमंजस है। प्रधान के जड़ होने से। इस प्रकार यह जगत् न तो प्रधान से स्वतः बना है और न ही परमात्मा इसका उपादान कारण है।

अतः यह मानना पड़ेगा कि जगत् का उपादान कारण विशिष्ट (मूल) गुणों में कार्य-जगत् के समान होना चाहिये। अतः प्रकृति कार्य-जगत् का उपादान कारण है; दोनों जड़ होने से समान हैं।

महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् ॥११॥

महत् + दीर्घवत् + वा + ह्रस्व + परिमण्डलाभ्याम् ।

महत् से दीर्घ (बनने) की भाँति अथवा ह्रस्व से परिमण्डल की भाँति ।

महत् का अर्थ है प्रकृति का प्रथम परिणाम । यह परमाणुवत् ही होता है । इसमें और प्रकृति में अन्तर यह है कि जहाँ प्रकृति में परमाणु के गुण प्रभाव में परस्पर विलीन होते हुए साम्यावस्था में होते हैं वहाँ महत् में परमाणुओं के गुण बाह्यमुखी हो जाते हैं और इनके आकर्षण-विकर्षण का प्रभाव परस्पर विलीन न होता हुआ पड़ोस के परमाणुओं को आकर्षण करने लगता है (देखो चित्र भाष्य सूत्र संख्या २-१-१९) । इससे द्व्यणुक, त्र्यणुक इत्यादि बनने लगते हैं । इनको दीर्घ कहते हैं ।

सूत्र के प्रथम अंश का अर्थ इस प्रकार बनता है—महत् से दीर्घों के बनने की भाँति ।

दूसरे अंश का अर्थ इस प्रकार है । ह्रस्व का अर्थ है सूक्ष्म । अभिप्राय यह कि द्व्यणुक इत्यादि सूक्ष्म परमाणु । परिमण्डल का अर्थ उन पदार्थों से है जो वृत्ताकार में घूमते हैं । ये परमाणु समूह हैं, ह्रस्वों से परिमण्डल की भाँति । पण्डितवर उदयवीर शास्त्रीजी ने परिमण्डल का अर्थ परमाणु किया है । कोष में इसका अर्थ परमाणु भी है और वृत्ताकार घूमने वाले पदार्थों का समूह भी है । यदि इसका अर्थ परमाणु लेंगे तो यह वैशेषिक दर्शन के कुछेक भाष्यकारों का परमाणु होगा । इन भाष्यकारों का परमाणु वर्तमान वैज्ञानिकों के 'atom' (ऐटम) के समान ही है । ऐटम में भी इलैक्ट्रोन वृत्ताकार घूमते हैं और केन्द्र में न्यूट्रोन तथा प्रोटोन होते हैं । यह ऐटम अथवा उक्त भाष्यकारों का परमाणु सांख्य-दर्शन के परमाणुओं के समूह को ही कहते हैं । उसमें भी आकर्षण-विकर्षण से तेजस् अहंकार, सात्त्विक अहंकार तथा भूतादि अहंकार परस्पर चारों ओर भ्रमण करते हैं । इसी का नाम परिमण्डल है ।

अतः सूत्र के दूसरे अंश का अर्थ यह बन जाता है कि ह्रस्व अर्थात् महत् के द्व्यणुकों, त्र्यणुकों से परिमण्डल बनने की भाँति । भाँति क्या ? मूल और कार्य में विरोध नहीं होता । विरोध मानने पर असमंजस (अयुक्ति-संगत) होगा ।

अभिप्राय यह कि प्रकृति से महत् बनने तक, महत् से दीर्घ और ह्रस्वों से परिमण्डल बनने तक, गुणों में विरोध नहीं बनता । यदि यह मानो कि बनता है तो असमंजस होगा; अर्थात् अयुक्तिसंगत बात होगी ।

गौण गुणों में भेद आता है, परन्तु वह मूल गुणों का प्रतिषेध (विरोध) नहीं करते । साथ ही सैद्धान्तिक समानता बनी रहती है । प्रकृति का मूल गुण

है जड़त्व और यह जड़त्व सदा सबमें विद्यमान रहता है। जड़ से चेतन नहीं होता। चेतन के लक्षण हम प्रथम अध्याय (१-५) में वर्णन कर आये हैं। वह ईक्षण न तो कार्य-जगत् में देखा जाता है और न ही महत् में, न दीर्घों में, न ह्रस्वों में और न ही परिमण्डलों में।

स्वामी शंकराचार्य यह सिद्ध करने का यत्न कर रहे हैं कि महत् से दीर्घ, दीर्घ से ह्रस्व और ह्रस्व से परिमण्डल बनने की क्रिया से गुणों में अन्तर पड़ जाता है। इसी प्रकार चेतन ब्रह्म से जब कार्य-जगत् बनता है तो चेतन से जड़त्व उत्पन्न होता है।

आप इसी सूत्र के भाष्य में लिखते हैं—

मैवं मंस्थाः, यथा कारणे विद्यमानानामपि पारिमाण्डल्यादीनामनारम्भकत्वमेवं चैतन्यस्यापीत्यस्यांशस्य समानत्वात्। नच परिमाणान्तराक्रान्तत्वं पारिमाण्डल्यादीनामनारम्भकत्वे कारणम्, प्राक्परिमाणान्तरारम्भात्पारिमाण्डल्यादीनामारम्भकत्वोपपत्तेः, आरब्धमपि कार्यद्रव्यं प्राग्गुणारम्भात्क्षणमात्रगुणं तिष्ठतीत्यभ्युपगमात्। नच परिमाणान्तरारम्भे व्यग्राणि पारिमाण्डल्यादीनीत्यतः स्वसमानजातीयं परिमाणान्तरं नारभन्ते, परिमाणान्तरस्यान्यहेतुत्वाभ्युपगमात्। 'कारणबहुत्वात्कारणमहत्त्वात्प्रचयविशेषाच्च महत्' (वै० सू० ७-१-९) 'तद्विपरीतमणु' (वै० सू० ७-१-१०) 'एतेन दीर्घत्वह्रस्वत्वे व्याख्याते' (वै० सू० ७-१-१७) इति हि काणभुजानि सूत्राणि।

अर्थात्—ऐसा मत समझो। क्योंकि जैसे कारण में विद्यमान होने पर भी पारिमाण्डल्यादि अनारम्भ है वैसे चैतन्य भी। इस अंश में तो दोनों पक्ष समान हैं। पारिमाण्डल्यादि के आरम्भ न होने में अन्य परिमाण से आक्रान्त होना कारण नहीं है; क्योंकि अन्य परिमाण (अणुत्व और ह्रस्वत्व) के आरम्भ के पूर्व पारिमाण्डल्यादि आरम्भक हो सकते हैं; कारण कि आरब्ध भी कार्यद्रव्य गुणों के आरम्भ के पूर्व क्षण-मात्र गुण रहित रहता है, ऐसा स्वीकार किया गया है। पारिमाण्डल्यादि अन्य प्ररिमाण के आरम्भ में व्यग्र है, इससे समान जातीय अन्य परिमाण का आरम्भ नहीं करते। यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि परिमाणान्तर का अन्य हेतु स्वीकार किया गया है। (वै० सू० ७-१-९,१०,१७) 'कारणबहुत्वात्..., तद्विपरीतमणु, एतेन दीर्घत्वह्रस्वत्वे व्याख्याते' में कणाद के सूत्र हैं।

इस पूर्ण लेख को देखने से पता चलेगा कि यह सर्वथा अयुक्तिसंगत है। साथ ही यह एक भद्दे ढंग से वैशेषिक दर्शन का सांख्य से मिश्रण किया गया है। स्वामीजी सांख्य और वैशेषिक दोनों के निष्कर्षों को स्वीकार नहीं करते और इस भाष्य को पढ़कर तो यह स्पष्ट ही होता है कि स्वामीजी दोनों को ही ठीक प्रकार से नहीं समझते थे।

स्वामीजी का कहना है कि कारण आरम्भ होने पर भी पारिमाण्डल्य का अनारम्भ होता है। पीछे यह आरम्भ हो जाता है। अतः चेतनता इस अंश में समान है।

स्वामीजी पारिमाण्डल्य के क्या अर्थ समझते हैं, लिखा नहीं। परन्तु क्योंकि वह आगे प्रमाण वैशेषिक सूत्रों का देते हैं; इस कारण वह वैशेषिक के परिमण्डल ही मानते प्रतीत होते हैं। वैशेषिक परिमण्डल (परमाणु) जड़ है। अतः स्वामीजी जड़त्व को कारण में भी विद्यमान मानते हैं और स्वामीजी के विचार से कारण है परमात्मा। इस कारण परमात्मा में भी जड़त्व है। ऐसा स्वीकार करते प्रतीत होते हैं।

स्वामीजी लिखते तो हैं चैतन्यता समान है, परन्तु परिमण्डलों में चैतन्यता तो होता नहीं। चेतनता का लक्षण ईक्षण बताया गया है जो परिमण्डलों में नहीं होता। साथ ही बताया गया है कि कारण में पारिमाण्डल्यादि के गुण विद्यमान होते हैं, अर्थात् जड़त्व विद्यमान है।

स्वामीजी आगे लिखते हैं कि परिमाण में अन्तर पड़ने से गुणों में भेद पड़ रहा है।

अभिप्राय यह है कि पहले कारण से परिमण्डल बना। परिमण्डल के द्व्यणुक, त्र्यणुक बने। इस प्रकार परिमाण में भेद आने से गुणों में अन्तर पड़ रहा है और चेतनता विलीन होती हुई और जड़ता बढ़ती जाती प्रतीत होती है।

इसमें भ्रम यह है कि चेतनता और जड़ता समान श्रेणी के गुण नहीं, ये परस्पर विरोधी हैं। अतः संख्या तथा परिमाण के बढ़ जाने से विरोधी गुण नहीं आते जब तक कि विरोधी गुण वाला पदार्थ साथ न मिले।

विरोधी गुण तो विरोधी गुण वाले पदार्थों के संयोग में आने से आते हैं।

सांख्य का सिद्धान्त यह है कि कारण प्रकृति त्रिगुणात्मक है और प्रकृति के परमाणुओं में गुणों की प्रभाव-दिशा बाहर की ओर होने से दो अथवा अधिक परमाणुओं का संयोग होता है और उनके संयोगों से किसी में सत्त्व गुण प्रधान होता है, किसी में रजोगुण और किसी में तमोगुण। संयोगों में इन गुणों की विशिष्टता के कारण तीन प्रकार के अहंकार बनते हैं।

अहंकार कारण प्रकृति के परमाणुओं के समूह होते हैं। जिन समूहों में सत्त्व गुण प्रधान होता है, वे वैकारी अहंकार कहलाते हैं। इसी प्रकार रजोगुण प्रधान संयोगों को तेजस् अहंकार कहते हैं और तमस् गुण प्रधान संयोगों को भूतादि अहंकार कहते हैं।

कारण प्रकृति से अहंकारों तक के परिणामों को अविशेष कहते हैं और अहंकारों के उपरान्त परिणामों को विशेष कहते हैं। तीनों अहंकार परस्पर

विवर्त में आ जाते हैं और भूतादि अहंकार के चारों ओर तेजस् अहंकार के संयोग घूमते लगते हैं। ये वैशेषिक के परिमण्डल हैं। इसे ही वर्तमान विज्ञान में 'atom' (ऐटम) कहते हैं।

यह हमने सांख्य और वैशेषिक के अनुसार परिमण्डल की व्याख्या कर दी है।

गुणों में अन्तर पड़ता है जब भूतादि अहंकारों की संख्या परिमण्डलों में न्यूनाधिक होती है। इस पर भी गुणों में विरोध नहीं आता। ज्यों-ज्यों तेजस् अहंकारों की संख्या बढ़ती है, अग्नि के गुण बढ़ते जाते हैं और ज्यों-ज्यों भूतादि अहंकारों की संख्या बढ़ती है परिमण्डल भारी होते जाते हैं।

यह बात आजकल के वैज्ञानिकों को भी पता चल गयी है। इसी से वे भिन्न-भिन्न 'atom' (परिमण्डलों) को क्रम वार एक सारणी (Periodic table) में रख सके हैं और उनका क्रम जानने से उनके गुणों का अनुमान लगा लेते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि चेतना और जड़त्व की भाँति परस्पर विरोधी गुणों का प्रादुर्भाव नहीं होता, वरन् गुणों में विरोध तो कारण (प्रकृति) के परमाणुओं में ही विद्यमान होता है; सत्त्व, रजस् और तमस् के कारण यह होता है।

चेतनता से जड़त्व तो बढ़ता-घटता प्रतीत नहीं होता। साथ ही वशेषिक के जो प्रमाण दिये हैं वे परिमण्डलों से पूर्व के पदार्थ के विषय में नहीं। कारण यह कि इन परिमण्डलों से पूर्व का विषय वैशेषिक का नहीं।

वैशेषिक का एक प्रमाण स्वामीजी ने दिया है। यह सूत्र है 'कारण-बहुत्वाच्च'। (७-१-९)

इस सूत्र का अर्थ है कि 'अनेक कारणों से'—क्या? इसको जानने के लिए इससे पूर्व का सूत्र पढ़ना चाहिये।

पूर्व का सूत्र है—

अणोर्महतश्चोपलब्ध्यनुपलब्धी नित्ये व्याख्याते ॥

सूत्रार्थ है—अणु महत् की उपलब्धि और अनुपलब्धि नित्य व्याख्यात हैं। महत् में अणु, द्व्यणुक, त्र्यणुक बनते हैं और टूटते हैं। इसकी व्याख्या की गयी है। कहाँ की गयी है? सांख्य-ग्रन्थों में।

अभिप्राय यह कि महत् में परमाणु होते हैं और उसमें विपरीत गुणों के आकर्षण-विकर्षण से अणु, द्व्यणुक तथा त्र्यणुक बनते हैं।

अब सूत्र ७-१-९ को पढ़ें तो पता चलेगा कि उसका क्या अर्थ है?

इसमें लिखा है कि वह बात जो आठवें सूत्र में लिखी है कि महत् में अणु बनते हैं और टूटते हैं, ये कई कारणों से होते हैं। इस दर्शन-शास्त्र ने वे कारण नहीं बताये। कारण यह कि यह उसका विषय नहीं। उसका विषय, महत् से

जब अहंकार बनकर परिमण्डल बन जाते हैं, तबसे आरम्भ होता है। यह तो उल्लेख पूर्व की स्थिति समझाने के लिए किया गया है।

आगे स्वामीजी प्रमाण देते हैं—

अतोविपरीतमणु ॥ (वै० सू० ७-१-१०)

अतः=इस कारण। विपरीतम्=विपरीत गुण वाले। अणु=अणु होने से।

अभिप्राय यह कि महत् में अणु बनते हैं, टूटते हैं, अनेक कारणों से। अणुओं में विपरीत गुण होते हैं। (देखो चित्र भाष्य २-१-१६) अणुओं में जब गुण बहिर्मुख हो जाते हैं तो आकर्षण-विकर्षण से अणु इत्यादि बनते हैं। यही हमने ऊपर वर्णन किया है।

स्वामीजी ने एक अन्य प्रमाण दिया है—

एतेनदीर्घत्वह्रस्वत्वे व्याख्याते ॥ (वै० सू० ७-१-१७)

इससे दीर्घ और ह्रस्व बनते हैं। यह कहा गया है। अर्थात् छोटे-बड़े अणु बनते हैं।

यह सब ठीक है, परन्तु स्वामीजी का यह कथन कि चैतन्य जड़त्व में बदल जाता है, इनसे सिद्ध नहीं होता। छोटे-बड़े परिमण्डल बनते हैं, परन्तु वे परिमण्डल चेतन से जड़ हो गए हैं, ऐसा वैशेषिक में नहीं लिखा।

स्वामी शंकराचार्य ने अपने मन में एक धारण बना ली है और वह वैशेषिक दर्शन के अर्थों को तोड़-मरोड़कर अपना पक्ष सिद्ध करना चाहते हैं।

सिद्ध करने वाली बात है कि क्या कार्य-जगत् में ईक्षण गुण उत्पन्न हो रहा है अथवा विलीन हो रहा है ? नहीं। तो परमात्मा जगत् का उपादान कारण नहीं।

इस सूत्र (ब्र० सू० २-२-११) का अर्थ हम यही समझते हैं कि महत् से दीर्घ बनने तक और सूक्ष्म से परिमण्डल बनने तक प्रतिषेध (विरोध) उत्पन्न नहीं होता। यदि कहो कि होता है तो असमंजस होगा अर्थात् अयुक्ति-संगत होगा। जड़ का जड़ ही रहता है; न चेतन से जड़ बनता है न जड़ से चेतन।

उभयथापि न कर्मातस्तदभावः ॥१२॥

उभयथा+अपि+न+कर्म+अतः+तत्+अभावः।

उभयथा=दोनों प्रकार से। अपि=भी। न=नहीं। कर्म=क्रिया।

अतः=इसलिये। तत् अभावः=उसका अभाव।

अभिप्राय यह कि दोनों प्रकार से अर्थात् महत् से दीर्घा तक और ह्रस्वों से परिमण्डलों तक परिवर्तन होने में भी कर्म नहीं हो सकता। अतः उस (कर्म) का अभाव है।

यहाँ कर्म से अभिप्राय सृष्टि रचना से है, अर्थात् प्राणी की रचना।

सूत्रकार का अभिप्राय है द्व्यणुक, त्र्यणुक इत्यादि बनने से और ह्रस्व से परिमण्डल बनने से भी कर्म नहीं होता। अर्थात् सृष्टि की रचना नहीं होती। प्राणी नहीं बनते।

यदि आजकल की वैज्ञानिक भाषा में लिखें तो उक्त सूत्र का अर्थ बनता है आदि प्रकृति (primordial mattes) से परिमण्डल (atoms) के बनने तक कर्म नहीं होता और (प्राणी) सृष्टि नहीं होती।

प्राणी सृष्टि कब होती है? सूत्रकार अगले सूत्र में वर्णन करता है।

समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः ॥१३॥

समवाय+अभि+उपगमात्+च+साम्यात्+अनवस्थितेः।

समवाय=सम्पर्क। अभ्युपगमात्=समीप आ जाने से। च=और। साम्यात्=समान होने से। अनवस्थितेः=अव्यवस्थित हो जाने से।

समवाय का अभिप्राय है सम्पर्क हो जाने से। कैसे सम्पर्क होता है? अभ्युपगमात् का अर्थ है समीप आ जाने से।

किनके समीप आ जाने से और किनका सम्पर्क हो जाने से? साम्यात् का अर्थ है समान होने से। अर्थात् दो समान स्थिति के पदार्थों के सम्पर्क में आने से उनमें अव्यवस्था अर्थात् अवस्था में भेद आ जाता है। अव्यवस्था का अभिप्राय है पूर्व अवस्था भंग हो जाना। अभिप्राय यह कि वह प्रक्रिया जो प्रकृति से परिमण्डलों तक हुई थी, वह समाप्त हुई और नयी प्रक्रिया आरम्भ हुई। वह यह कि समान पदार्थ समवाय (सम्पर्क) में आये जिसकी ओर पूर्व सूत्र में संकेत किया गया है।

पूर्व सूत्र में यह लिखा था कि महत् से दीर्घों के बनने पर भी और ह्रस्वों से परिमण्डल बनने पर भी कर्म अर्थात् सृष्टि-रचना नहीं होती। अब इस सूत्र में लिखा है कि सृष्टि-रचना तब होती है जब दो समान स्थिति के पदार्थ सम्पर्क में आते हैं।

दो समान स्थिति के पदार्थ हैं जीवात्मा और प्रकृति। दोनों को परमात्मा

मात्मा से हेय वर्णन किया है। यद्यपि दोनों परस्पर समान नहीं, इस पर भी परमात्मा से गुणों में दोनों निम्न हैं। जीवात्मा और प्रकृति जब सम्पर्क में आते हैं तो सृष्टि की रचना होने लगती है।

इस सूत्र में 'च' पूर्व के सूत्र से सम्बन्ध बताने के लिए है। इन दोनों सूत्रों से यह अभिप्राय प्रकट होता है कि प्रकृति के परिवर्तनों से प्राणी की सृष्टि नहीं। यह सृष्टि तब होती है जब इस परिवर्तित हो रही प्रकृति से जीवात्मा सम्पर्क में आते हैं।

स्वामी शंकराचार्य कर्म का अर्थ मानते हैं परमाणुओं का संयोग-वियोग और वह समझते हैं कि यह संयोग-वियोग नहीं हो सकता जब तक कि परमाणुओं का समीप आकर सम्पर्क बनाने की स्थिति न हो।

यह भी ठीक है, परन्तु कर्म में यदि परमाणुओं का संयोग-वियोग ही लें तो वह तो महत् से दीर्घ बनने के समय भी होते हैं। परन्तु उसे कर्म नहीं माना। अतएव कर्म से अभिप्राय सृष्टि-उत्पत्ति में एक से अधिक का सम्पर्क में आना होता है।

नित्यमेव च भावात् ॥१४॥

नित्यम्+एव+च+भावात्।

नित्यम्=सदा। एव=ही। च=और। भावात्=होने से।

पूर्व सूत्र में लिखा है कि सृष्टि की रचना होती है (अव्यवस्थितेः) अव्यवस्था की स्थिति होने से।

हम पहले कह आये हैं कि रचना से पूर्व की स्थिति से दूसरी स्थिति होने का नाम अव्यवस्था है। ऐसा क्यों होता है? यह इस सूत्र में लिखा है कि सदा रहने वाली स्थिति में होने से कर्म नहीं होता। यदि जीवात्मा और प्रकृति जिन्हें परस्पर सम्पर्क में आना है, अपनी नित्य की अर्थात् स्वाभाविक स्थिति में रहें तो कर्म (सृष्टि रचना) के होने की सम्भावना नहीं होती। तब तो जैसा (कारण रूप) था, वैसा ही रहेगा। अतः सम्पर्क होने से और स्थिति बदलने से सृष्टि होती है।

रूपादिमत्त्वाच्च विपर्ययो दर्शनात् ॥१५॥

रूपादिमत्त्वात्+च+विपर्ययः+दर्शनात्।

रूपादि गुणों वाला होने से और उलटे व्यवहार के दिखायी देने से।

सृष्टि में सम्पर्क न बनने से रचना नहीं होती। स्थिति में परिवर्तन होता है। स्थिति को नित्य नहीं माना जा सकता। स्थिति क्यों नित्य नहीं ? उसका कारण इस सूत्र में बताया है।

रूपादि वाले सब पदार्थ उलटते अर्थात् बनते और बिगड़ते दिखायी देते हैं। सृष्टि अव्यक्त से नहीं हुई। यह तब हुई जब परिमण्डल बन गए और परिमण्डल रूपादि गुणों वाले होते हैं। इससे उलट परिवर्तन भी होते हैं। रूपादि बने हैं और बनी स्थिति उलट अर्थात् विनष्ट भी होती है। फलतः स्थिति बदलती रहती है। इसी से सृष्टि सम्भव है।

यहाँ भी सृष्टि से प्राणियों की रचना का ही अभिप्राय है। परन्तु स्वामी शंकराचार्य यहाँ भी अपने पूर्व ग्रहों में फंसे हुए वैशेषिक दर्शन की निन्दा करने से नहीं चूके। वास्तव में कणाद के वैशेषिक दर्शन की मूल बात को न स्वीकार कर उस पर टीका-टिप्पणी करने का यह एक मिथ्या प्रयास है। इस पर भी स्वामीजी ऐसा करते हैं।

वैशेषिक-दर्शन सृष्टि क्रम में उस भाग की विवेचना करता है जो विशेषों से सम्बद्ध है। परमाणु तो प्रकृति के सूक्ष्मातिसूक्ष्म कणों को कहते हैं। वैशेषिक में वर्णित विशेषों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म कण को परमाणु नहीं कहा जा सकता। कारण यह कि सृष्टि-रचना की जिस अवस्था से वैशेषिक का आचार्य आरम्भ करता है. वह परिमण्डल की स्थिति है।

यह नहीं कि वह परिमण्डल से पूर्व की स्थिति मानता ही नहीं। वह मानता है, परन्तु उसका सामान्य रूप में वर्णन कर वह विशेषों का ही वर्णन करता है।

देखिये, स्वामी शंकराचार्यजी इस सूत्र के भाष्य में क्या लिखते हैं !

सावयवानां द्रव्याणामवयवशो विभज्यमानानां यतः 'परो विभागो न संभवति ते चतुर्विधा रूपादिमन्तः परमाणवश्चतुर्विधस्य रूपादिमतो भूत-भौतिकस्यारम्भका नित्याश्चेति यद्वैशेषिका अभ्युपगच्छन्ति स तेषामभ्युपगमो निरालम्बन एव। यतो रूपादिमत्त्वात्परमाणूनामणुत्वनित्यत्वविपर्ययः प्रसज्येत।

(क्रम से) विभज्यमान सावयव द्रव्यों का जहाँ से आगे विभाग नहीं हो सकता, वे चार प्रकार के रूपादि युक्त परमाणु रूपादि विशिष्ट चार प्रकार के भूत और भौतिक के आरम्भक हैं और नित्य हैं, ऐसा वैशेषिक स्वीकार करते हैं। उनका ऐसा स्वीकार करना निरालम्बन व निराधार है; क्योंकि रूपादि

विशिष्ट होने से परमाणुओं को अणुत्व और नित्यत्व के विपर्यय (स्थूलत्व और अनित्यत्व) की प्रसक्ति होगी।

जहाँ तक इस बात का सम्बन्ध है कि रूपादि वाले पदार्थ नित्य नहीं होते, ठीक है, परन्तु परमाणु रूप वाले हैं और चार रूपों वाले हैं, यह बात स्वामीजी ने कहाँ से लाकर यहाँ डाल दी है, कहा नहीं जा सकता।

जो आपने उक्त भाष्य के प्रमाण में उद्धरण दिये, उनसे यह अर्थ नहीं निकलते। आपने वैशेषिक सूत्र (४-१-१,५,१४) का प्रमाण दिया है। हम इन प्रमाणों को तथा इस अध्याय के पूर्ण आह्निक (४-१) को ही यहाँ लिख देना चाहते हैं जिससे सर्वथा स्पष्ट हो जाये कि महर्षि कणाद ने वह कुछ नहीं लिखा, जिसे स्वामीजी उनके नाम से प्रसिद्ध कर रहे हैं।

देखिये वैशेषिक सूत्र चतुर्थ अध्याय प्रथम आह्निक इस प्रकार आरम्भ होता है—

सदकारणवन्नित्यम् ॥ (वै० सू० ४-१-१)

सत्+अकारणवत्+नित्यम्।

सत् (प्रकृति) अकारण पदार्थों की भांति नित्य है। अकारण पदार्थ तीन हैं—परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति। सत् (प्रकृति) भी अन्य दोनों की तरह नित्य हैं।

वास्तव में स्वामी शंकराचार्य का इसमें मतभेद है, परन्तु अपने पूर्ण वेदान्त भाष्य में वह इसके विपरीत कुछ भी प्रमाण नहीं दे सके और अपनी असिद्ध स्थिति को सिद्ध करने के लिए वे जो कुछ लिख रहे हैं, उसका अस्तित्व ही नहीं।

इस सूत्र में प्रकृति को लिखा है कि वह सत् है और परमात्मा जीवात्मा की भाँति नित्य है। ऐसा अन्य शास्त्रों में भी लिखा गया है। श्वेताश्वतर (१-९, १०, १२) और (४-५) में भी लिखा है।

दूसरा सूत्र है—

तस्य कार्यलिङ्गम् ॥ (वै० सू० ४-१-२)

सत् प्रकृति का लिङ्ग कार्य-जगत् है।

'असत् से सत् नहीं होता' यह उपनिषद् वाक्य है, अर्थात् जगत् का अस्तित्व है। अतः इसका कारण भी सत् है।

सत् का लिंग (लक्षण) है कार्य-जगत्। लिंग का अभिप्राय हम बता चुके हैं। जैसे धुआँ अग्नि का लिंग है; इसी प्रकार कार्य-जगत् प्रकृति का लिंग है। कार्य-जगत् को देखकर हम प्रकृति के होने का अनुमान लगाते हैं।

इसमें भी परमाणु चार रूप वाले हैं, कहीं नहीं लिखा।

अगला सूत्र है—

कारणाभावात् कार्याभावः ॥ (वै० सू० ४-१-३)

कारण के न होने से कार्य भी नहीं हो सकता।

कारण का अभाव मानोगे तो कार्य का भी अभाव होगा, अर्थात् कार्य है तो कारण भी है। यह बात उपनिषद् में भी लिखी है कि 'असत् से सत् नहीं हो सकता।' इसमें भी परमाणु चार रूप वाले हैं, नहीं लिखा।

अनित्यइतिविशेषतः प्रतिषेधभावः ॥ (वै० सू० ४-१-४)

अनित्य + इति + विशेषतः + प्रतिषेधभावः।

अनित्य = अनित्य होने से। इति = यह। विशेषतः = विशेष रूप से। प्रतिषेधभावः = खण्डन हो गया।

जगत् को हम अनित्य (टूट-फूट जाने वाला) देखते हैं। इस जगत् का नित्य होना असिद्ध होगा।

प्रकृति → महत् → अहंकार → { इन्द्रियाँ और मन; सूक्ष्मभूत, तन्मात्राएँ } स्थूल भूत

स्थूल भूत, इन्द्रियाँ } शरीर; शरीर, जीवात्मा } प्राणी

प्रकृति, महत् और अहंकार तो अविशेष कहलाते हैं। सृष्टि-रचना में इसके उपरान्त विशेष कहलाते हैं, अर्थात् मन, इन्द्रियाँ, पंच महाभूत और प्राणी विशेष हैं। ये विशेष अनित्य हैं।

यहाँ भी परमाणु चार प्रकार के वर्णित नहीं हैं।

अविद्या ॥ (वै० सू० ४-१-५)

जो अनित्य है वह अविद्या है। अविद्या का अर्थ है जो सदा विद्यमान नहीं रहते।

महत्यनेकद्रव्यवत्त्वाद्रूपाच्चोपलब्धिः ॥ (वै० सू० ४-१-६)

महति + अनेक + द्रव्यत्वात् + रूपात् + च + उपलब्धिः।

और महत् से अनेक द्रव्यों के रूपों की उपलब्धि होती है।

अभिप्राय यह कि महत् से जो अनेक द्रव्य उत्पन्न होते हैं, उनमें द्रव्यत्व आने पर रूप भी उत्पन्न हो जाता है।

स्पष्ट है कि रूपादि गुण विशेषों में उत्पन्न होते हैं, महदादि में नहीं। परमाणुओं से रूप उत्पन्न नहीं होते।

इसकी पुष्टि निम्न सूत्र में कर दी गयी है।

सत्वपिद्रव्यत्वे महत्वे रूपसंस्काराभावाद् वायोरनुपलब्धिः ॥
(वै० सू० ४-१-७)

सति+अपि+द्रव्यत्वे+महत्वे+रूपसंस्कार+अभावात्+वायोः+अनुपलब्धिः।

महत्वे=महत् में से उत्पन्न परिणाम स्वरूप। सति=होने वाला। द्रव्यत्व=द्रव्यपन। अपि=भी। रूप संस्कार अभावात्=रूप और संस्कार न रखने से। वायोः+अनुपलब्धि=वायु की अनुपलब्धि (अनुपस्थिति) प्रकट करती है।

इसका अर्थ है कि महत् में से होने वाले द्रव्यत्व में वायु न होने से रूप संस्कार नहीं होते।

अर्थात्—महत् से उत्पन्न होने वाले हैं अहंकार। अर्थात् अहंकार का भी रूप और संस्कार नहीं होता। संस्कार का अभिप्राय है पदार्थ के व्यक्त होने की स्थिति। यह इस कारण कि इनमें वायु का अभाव होता है। वायु वह शक्ति है जिससे गति उत्पन्न होती है। अहंकार में गति न होने से द्रव्यत्व में रूप और संस्कार (इन्द्रियों के विषय) नहीं होते।

वायु कब आता है? जब अहंकार परस्पर के आकर्षण-विकर्षण से परिमण्डल के रूप में आते हैं तब वैकारी और भूतादि अहंकारों के चारों ओर तेजस् अहंकार चक्कर काटने लगते हैं। यह इनमें वायु के संचार से होता है और गति के कारण रूप, रंग उत्पन्न होने लगते हैं।

अगले सूत्र में लिखा है—

अनेकद्रव्यसमवायाद्रूपविशेषाच्च रूपोपलब्धिः ॥ (वै० सू० ४-१-८)

अनेक+द्रव्य+समवायात्+रूपविशेषाच्च+रूपोपलब्धिः।

अनेक द्रव्यों के संयोग (सम्पर्क) से रूप-विशेष होते हैं और उनका ज्ञान होता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि महत् से अनेक द्रव्य उत्पन्न होते हैं। अविशेषों में वायु के अभाव से रूप उत्पन्न नहीं होता। रूप उत्पन्न तब होता है जब वायु के कारण उनमें गति होने लगती है और उनमें संयोग होता है। रूप से ही वे विशेष कहलाते हैं।

अगला सूत्र है—

तेन रसगन्धस्पर्शेषु ज्ञानं व्याख्यातम् ॥ (वै० सू० ४-१-९)

तेन—उससे अर्थात् वायु और गति से। रस, गन्ध और स्पर्श का ज्ञान होने लगता है, ऐसा व्याख्यान किया (कहा) गया है।

तस्याभावादव्यभिचारः ॥ (वै० सू० ४-१-१०)

तस्य+अभावात्+अव्यभिचारः।

उसके अभाव से (अव्यभिचारः) दोष नहीं।

अभिप्राय है कि उस वायु एवं गति के अभाव में दोष नहीं। क्या दोष नहीं? अभिप्राय यह कि पदार्थ बनेंगे ही नहीं। परिमण्डल बनते ही नहीं। रूप एवं संस्कार उत्पन्न नहीं होते।

संख्याः परिमाणानिपृथक्त्वं संयोगाविभागौपरत्वापरत्वे कर्म च रूप द्रव्यसमवायाच्चाक्षुषाणि ॥ (वै० सू० ४-१-११)

संख्या+परिमाणानि+पृथक्त्वं+संयोगविभागौ+परत्वापरत्वे+कर्म+च+रूप+द्रव्यसमवायात्+चाक्षुषाणि।

संख्या और परिमाण, संयोग और विभाग (पृथक्-पृथक् होना), दूर होना अथवा समीप होना और कर्म (व्यवहार) और रूप का द्रव्य में संयोग नेत्रों को दिखायी देने लगता है।

अरूपिष्वचाक्षुषाणि ॥ (वै० सू० ४-१-१२)

अरूपिषु+अचाक्षुषाणि।

जिनका रूप नहीं होता, वे इन्द्रिय-गोचर नहीं होते। और यह इस आह्निक का अन्तिम सूत्र है।

एतेन गुणत्वे भावे च सर्वेन्द्रियं ज्ञानं व्याख्यातम् ॥ (वै० सू० ४-१-१३)

एतेन+गुणत्वे+च+भावे+सर्वेन्द्रियम्+ज्ञानम्+व्याख्यातम्।

इससे गुणत्व और भाव में सब इन्द्रियों से ज्ञान होना कहा गया है।

वैशेषिक सूत्रों के इस पूर्ण आह्निक को देने का अभिप्राय यह है कि यह दिखाया जाये कि वैशेषिक दर्शन के इस प्रसंग में परमाणु को रूप इत्यादि वाला कहीं भी नहीं कहा गया।

रूपादि उत्पन्न तब होता है जब महत् से अनेक परिणाम बनकर वायु से उनमें गति उत्पन्न होकर परिमण्डल बन जाते हैं। इससे पूर्व नहीं। परि-मण्डलों की संख्या और संयोग-वियोग से रूप, रस और गंध इत्यादि इन्द्रिय के विषय उत्पन्न होते हैं।

परन्तु परमाणु जो मूल प्रकृति के अंश हैं वे तो रूपादि से पृथक् होते हैं, गतिहीन होते हैं और इन्द्रिय-गोचर नहीं होते। उन्हें अव्यक्त कहते हैं।

स्वामीजी अपने भाष्य में लिखते हैं कि वैशेषिक सूत्रों में कणाद का मत है—

…ते चतुर्विधा रूपादिमन्तः परमाणवश्चतुर्विधस्य रूपादिमतो भूत-भौतिकस्यारम्भका नित्याश्चेति यद्वैशेषिका अभ्युपगच्छन्ति स तेषामभ्युपगमो निरालम्बन एव ॥

(अर्थ हमने ऊपर दे दिये हैं) भावार्थ यह है कि वे जिनका आगे विभाजन नहीं हो सकता, ऐसे परमाणु रूपादि के विचार से चार प्रकार के वैशेषिक वाले मानते हैं। यह कथन निराधार है।

हमारा कहना है कि यह बात वैशेषिक-दर्शन में मानी ही नहीं गयी। किसी ने अपने को वैशेषिक का विद्वान् मान कुछ ऐसा लिखा हो तो हम नहीं जानते। हम तो कणाद ऋषि के वैशेषिक दर्शन की बात ही कह रहे हैं। स्वामीजी भी कणाद ऋषि के वैशेषिक सूत्र का ही प्रमाण देते हैं।

हमने वैशेषिक दर्शन के चतुर्थ अध्याय के प्रथम आह्निक का अर्थ और भाव बता दिया है। वहाँ कहीं भी परमाणु को रूप वाला नहीं बताया और न ही चार प्रकार के परमाणु बताये गये हैं।

अतः हमारा यह मत है कि वेदान्त-दर्शन २-२-१५ का अर्थ इस प्रकार ही बनता है—

रूपादि वाले सब द्रव्य बनते और बिगड़ते दिखायी देते हैं। यह 'विशेषों' के विषय में ही लिखा है।

उभयथा च दोषात् ॥१६॥

उभयथा+च+दोषात्।

च=और। उभयथा=दोनों प्रकार के कार्य अर्थात् संयोग और वियोग। दोषात्=दोष से (उत्पन्न होते हैं)।

दोष क्या है? द्रव्यों के सत्त्व, रजस् और तमस् के अविशिष्ट अंश के रह जाने से जो आकर्षण-विकर्षण उत्पन्न होता है, वे ही संयोग-वियोग में कारण होते हैं। यही सब हलचल उत्पन्न करते हैं। अतः इनको ही दोष कहा जाता है।

यहाँ हम इस सूत्र पर श्री उदयवीर शास्त्री का भाष्य उद्धृत कर दें तो ठीक रहेगा। आप इस सूत्र का अर्थ और भाष्य इस प्रकार करते हैं।

उभयथा=दोनों प्रकार। च=और। दोषात्=दोष से। तथा दोनों प्रकार दोष से परमाणु नित्य नहीं है।

इसी भाष्य में शास्त्रीजी आगे चलकर लिखते हैं—

"तात्पर्य यह कि चार गुणों वाला पृथ्वी परमाणु न्यून गुण वाला जलादि परमाणुओं से स्थूल होना चाहिए। तीन गुण वाला जल का परमाणु उससें सूक्ष्म, दो गुण वाला तेजस् परमाणु सूक्ष्मतर और एक गुण वाला वायवीय परमाणु सूक्ष्मतम होना चाहिए। परमाणुओं की ऐसी ही अवस्था उनकी नित्यता में बाधक है।"

'पृथिवी' के सूक्ष्मतम कण को परमाणु नहीं, अणु कहते हैं। इसी प्रकार जल, अग्नि आदि की बात है। शास्त्रीजी ने स्वयं अपने सांख्य सिद्धान्त में

स्वीकार किया है कि मूल प्रकृति के त्रिगुणात्मक संयोग वाले परमाणु हैं। कारण यह कि उससे अधिक सूक्ष्म टुकड़ा हो नहीं सकता।

वैशेषिक में जहाँ कहीं पृथिवी आदि के सूक्ष्मतम कणों का उल्लेख है वहाँ परिमण्डल से ही अभिप्राय है। हमने वै० सू० चतुर्थ अध्याय के पूर्ण प्रथम आह्निक का अर्थ बताया है। यह इसी कारण है कि वहाँ रूप, रस और गन्ध वाले द्रव्यों के परमाणु नहीं माने गये।

श्री शास्त्रीजी को बताना चाहिए था कि वह सांख्य के परमाणु के विषय में नहीं लिख रहे और वह परमाणु किस प्रमाण से और किस रूप में मानते हैं। अंग्रेजी भाषा के 'ऐटम' को भी अब परमाणु नहीं लिखा जाता। उसे या तो अणु लिखते हैं अथवा रासायनिक परमाणु लिखते हैं। शास्त्रीजी का भाव कदाचित् पृथिवी, जल इत्यादि के सूक्ष्मतम कणों से है। परन्तु यह भेद आपने प्रकट नहीं किया। यही बात स्वामी शंकराचार्य कर रहे हैं और इसी कारण स्वामीजी वैशेषिक सूत्रों को न समझते हुए कणाद महर्षि की हँसी उड़ा रहे हैं।

यहाँ हम बता देना चाहते हैं कि वैशेषिक दर्शन में पृथिवी, जल, अग्नि इत्यादि के परमाणुओं का उल्लेख कहीं नहीं। यदि यह कहा जाये तो और भी ठीक होगा कि पूर्ण वैशेषिक दर्शन में परमाणु शब्द आया ही नहीं। अणु शब्द अवश्य कई स्थानों पर आया है।

श्रीस्वामी शंकराचार्य और उनकी परिपाटी के विद्वान् पृथिवी आदि के परमाणु शब्द का प्रयोग अपने मन से कर रहे हैं।

हमारा यह निश्चित मत है कि न तो सांख्य में और न ही वैशेषिक में पृथिवी आदि के परमाणुओं का उल्लेख है। इनके परमाणु नहीं होते। परमाणु तो प्रकृति के ही होते हैं और प्रत्येक परमाणु त्रिगुणात्मक है।

आश्चर्य इस बात का है विद्वद्वर श्री उदयवीर शास्त्री ने परमाणुओं की अनित्यता कैसे मान ली है?

अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा ॥१७॥

अपरिग्रहात्+च+अत्यन्तम्+अनपेक्षा।

च=और। अपरिग्रहात्=अस्वीकार करने से। अत्यन्तम्=अत्यन्त। अनपेक्षा=अपेक्षा नहीं।

न स्वीकार करने से। क्या न स्वीकार करने से? यही इस सूत्र की

कुंजी है। कुछ ऊपर कहा गया है, उसे स्वीकार न करने से। यही सिद्ध होता है। ऊपर क्या कहा गया है? ऊपर कहा गया है कि रूपादि वाले पदार्थ बनते-बिगड़ते हैं और रूपादि न रखने वाले पदार्थ अव्यक्त हैं। वे बनते-बिगड़ते नहीं।

और इस बात को जो महानुभाव स्वीकार नहीं करते, वे अत्यन्त अनपेक्षित हैं; अर्थात् उनसे यह आशा नहीं की जानी चाहिए। अतः स्वीकरणीय नहीं है।

इस सूत्र को कुछ भाष्यकारों ने सिद्धान्त पक्ष बताया है और पूर्व के कुछ एक सूत्रों को पूर्व पक्ष मान लिया है। इसका कोई संकेत नहीं और ऐसा मानने में कोई कारण नहीं। सूत्रों का अशुद्ध अर्थ लगाकर उनको पूर्व-पक्ष में धकेल देना युक्तिसंगत नहीं।

समुदाये उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः ॥१८॥

समुदाये+उभय+हेतुके+अपि+तत्+अप्राप्ति।

उभय=दो प्रकार से। समुदाये=समागम और वियोग (जैसा कि ब्रह्मसूत्र २-२-१६ में वर्णन किया है) हेतुके=हेतु में। तत्=उसकी। अप्राप्ति=प्राप्ति सिद्ध नहीं होती।

परिमण्डलों में संयोग और वियोग दोनों में हेतु की सिद्धि नहीं होती। इनमें क्या हेतु है? इसका हेतु हो नहीं सकता। कारण यह कि परिमंडल संयुक्त होते हैं अथवा उन संयोगों में विभाग होते हैं। इनमें उनका किसी प्रकार का हेतु नहीं होता। वे जड़ होने से हेतुरहित हैं।

स्वामी शंकराचार्य के लिए ये सब सूत्र संकट उपस्थित करते हैं और वे अपना संकट इनके अशुद्ध अर्थ लगाकर निवारण कर रहे हैं। इस सूत्र में भी वह यही कहते हैं।

आप भाष्य इस प्रकार करते हैं—

वैशेषिकराद्धान्तो दुर्युक्तियोगाद्वेदविरोधाच्छिष्टापरिग्रहाच्च नापेक्षितव्य इत्युक्तम्। सोऽर्धवैनाशिक इति वैनाशिकत्वसाम्यात्सर्ववैनाशिकराद्धान्तो नतरामपेक्षितव्य इतीदमिदानीमुपपादयामः।

अर्थात्—यह कहा है कि कुतर्क के योग से, वेद विरुद्ध और शिष्ट पुरुषों से अस्वीकृत होने से वैशेषिक सिद्धान्त अपेक्षा करने योग्य नहीं। वे अर्धवैनाशिक हैं; इस कारण वैनाशिकत्व सादृश्य से सर्ववैनाशिक सिद्धान्त अत्यन्त अपेक्षा करने योग्य नहीं है।

यह बात असिद्ध है। अर्धवैनाशिक है। परन्तु अत्यन्त अपेक्षा करने

योग्य नहीं।

और आगे कहा है—

यह (वैनाशकारी) कई प्रकार से है। आप लिखते हैं—

स च बहुप्रकारः प्रतिपत्तिभेदाद्विनेयभेदाद्वा। तत्रैते त्रयो वादिनो भवन्तिकेचित्सर्वास्तित्ववादिनः, केचिद्विज्ञानास्तित्वमात्रवादिनः, अन्ये पुनः सर्वशून्यत्ववादिन इति।

इसका अर्थ है—यह बहुत प्रकार से है। प्रतिपत्ति के भेद से अथवा अनुयायियों के भेद से। इनसे तीन वादी निकले हैं। सर्वास्तित्ववादी, कुछ विज्ञानास्तित्ववादी और सर्वशून्यत्ववादी।

स्वामीजी के अज्ञान का कारण स्पष्ट हो गया है। स्वामीजी ने वैशेषिक कणाद रचित ग्रन्थ पढ़ा नहीं प्रतीत होता। वैशेषिकवादियों के मत पढ़कर ही आप कणाद को बुरा-भला कहने लगे हैं।

यह सर्वविदित है कि कुछ विपक्षियों ने वैदिक शास्त्रों को बदनाम करने के लिए उनके विकृत अर्थ कर उस पर अनेकानेक वाद खड़े किये हैं। यही बात वैशेषिक एवं सांख्य दर्शन की हुई है। बौद्ध मतावलम्बियों ने इन दोनों शास्त्रों के मिथ्या भाष्य कर अपना पक्ष सिद्ध करने का यत्न किया है अथवा वैदिक सिद्धान्तों की हँसी उड़ायी है।

श्री स्वामीजी बिना मूल ग्रन्थ पढ़े इन वादियों की टीकाएँ पढ़-पढ़कर मूल लेखकों का विरोध कर रहे हैं, परन्तु उन मूल लेखकों को हानि न पहुँचा अपने को धोखा दे रहे हैं और अपने पाठकों को पथभ्रष्ट कर रहे हैं।

यह बात आज भी हो रही है। मैक्समूलर इत्यादि ने वेदों को बदनाम करने के लिए और ईसाई मत की श्रेष्ठता प्रकट करने के लिए वेदों के मिथ्या अर्थ किये हैं। यहाँ तक कि वेदों में गोमांस खाना, यज्ञों में पशु-बलि देना लिखा बताया है। कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति बिना मूल वेद को पढ़े इन विपक्षियों के लिखे लेखों से वेद-विरोधी नहीं हो सकता।

यही बात स्वामीजी कर रहे हैं। आजकल के विश्वविद्यालयों में मैक्समूलर भाष्य पढ़ हिन्दुस्तानी भी वेदों को वैसा ही मानते हैं जैसा कि मैक्समूल्लर मानता था। इसी प्रकार स्वामी शंकराचार्य मूल सांख्य अथवा वैशेषिक दर्शन का अध्ययन किये बिना इन शास्त्रों की निन्दा करने लगे हैं।

कहीं-कहीं वैशेषिक दर्शन के प्रमाण दिये हैं, परन्तु हम यह सिद्ध कर चुके हैं कि वे प्रमाण वह पक्ष सिद्ध नहीं करते जो स्वामीजी कह रहे हैं।

वर्तमान सूत्र का भाष्य इस प्रकार है—

परिमण्डलों के समुदायों में दो प्रकार के व्यवहार (संयोग तथा वियोग के) किसी भी हेतु से नहीं हैं। हेतु सिद्ध नहीं होता।

हेतु परिमण्डलों (atoms) में नहीं। हेतु है उन जीवात्माओं को भोग प्राप्त कराना जिनके लिए यह प्रकृति है।

ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता। (श्वेता० १-६)

अर्थात् एक (प्रकृति) ही है जो भोक्ता (जीवात्मा) के भोग के योग्य है। प्रकृति का अपना कुछ भी हेतु नहीं है।

इतरेतरप्रत्ययत्वादिति चेन्नोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात् ॥१६॥

इतर+इतर+प्रत्ययत्वात्+इति+चेत्+न+उत्पत्तिमात्र+निमित्तत्वात्।

इतरेतरप्रत्ययत्वात्=एक दूसरे का कारण होने से। इति चेत्=यदि यह है। न=तो नहीं। उत्पत्ति मात्र निमित्तत्वात्=केवल उत्पत्ति प्रयोजन होने से।

इस सूत्र का अभिप्राय है कि परिमण्डल समुदाय में संयोग-वियोग में एक-दूसरे का कारण नहीं। यह नहीं कहा जा सकता कि संयोग हुआ था इस कारण वियोग हुआ; अथवा वियोग हुआ था, इस कारण संयोग हुआ है। ये एक-दूसरे के कारण नहीं। ये दोनों व्यवहार किसी अन्य प्रयोजन से हो रहे हैं और वह प्रयोजन है सृष्टि रचना।

उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् ॥२०॥

उत्तर+उत्पादे+च+पूर्व+निरोधात्।

और अगले की उत्पत्ति में पहले का विनाश होने से। (एक दूसरे का कारण नहीं)।

ऊपर (२-२-१६ में) बताया है कि संयोग-वियोग में एक क्रिया दूसरे का कारण नहीं होती। इस (२-२-२०) में युक्ति दी है कि जब अगला व्यवहार बनता है तो पहला विनष्ट हो चुका होता है। इससे विनष्ट होने वाले और बनने वाले में कारण-कार्य का सम्बन्ध नहीं। कारण, कार्य में विद्यमान रहता है।

असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा ॥२१॥

असति+प्रतिज्ञा+उपरोधः+यौगपद्यम्+अन्यथा ।

असति=न होने पर। प्रतिज्ञा+उपरोधः=प्रतिज्ञा की बाधा है। यौगपद्यम्=एक साथ होना होगा। अन्यथा=नहीं तो।

इसका अभिप्राय यह है कि ऊपर कही बात पर यह आपत्ति हो सकती है कि अगली क्रिया उत्पन्न होने पर पहली विनष्ट नहीं भी हो सकती। सूत्रकार कहता है कि ऐसा मानने से जो प्रतिज्ञा स्वीकार की है, वह विरोधी बन जायेगी। क्या प्रतिज्ञा की है ? पहले का विनष्ट होना दूसरे का निर्माण करता है। जब दूसरे के बनने पर पहले का विनाश ही नहीं होना तो प्रतिज्ञा अर्थात् जो शर्त स्वीकार की है, वह रहेगी ही नहीं। तो वह प्रतिज्ञा छोड़कर यह कहना पड़ेगा कि पहले के रहते-रहते दूसरा बनता है। यह अशुद्ध है।

वास्तव में आपत्ति अथवा शंका करने वाले यह भूल करते प्रतीत होते हैं कि इस स्थान पर मूल (अक्षर) पदार्थ के विनष्ट और निर्माण की बात हो रही है। यह तो परिमण्डलों के समुदाय में संयोग-वियोग की बात की जा रही है। यह संयोग और वियोग कारण-कार्य के स्तर पर नहीं हैं। उस संयोग और वियोग में मूल (अक्षर) पदार्थ तो सदा बना रहता है जब भिन्न-भिन्न संयोग-वियोग होते हैं।

इस तथ्य को हम रसायनशास्त्र के एक उदाहरण से स्पष्ट कर सकते हैं। रसायनशास्त्र का उदाहरण इस कारण ले रहे हैं कि उसमें भी परिमण्डलों के संयोग-वियोग टूटते बनते हैं।

उदाहरण इस प्रकार है।

तूतिया (जिसका रासायनिक नाम कॉपर सल्फेट है) के जल के घोल में सोडे के जल का घोल डालें तो एक श्वेत रंग की वस्तु अवक्षेप (prescipitate) के रूप में नीचे बैठ जाती है। वह तब बनती है जब तूतिया और सोडे के अणु विनष्ट हो जाते हैं और सोडा सल्फेट तथा ताम्बे का कार्बोनेट बन जाते हैं। इस क्रिया को रसायनवेत्ता इस प्रकार लिखते हैं—

$$CuSo_4+Na_2Co_3=CuCo_3+Na_2So_4$$

ताम्बे का कार्बोनेट है श्वेत रंग का अवक्षेप।

तूतिया (कॉपर सल्फेट) विनष्ट होता है तब श्वेत अवक्षेप बनता है और यह मानना होगा कि इस श्वेत अवक्षेप में तूतिया नहीं है। न ही इसका तूतिया कारण है। एक के विनष्ट होने पर दूसरा बना है।

इस पर भी श्वेत अवक्षेप में ताम्बा है, सोडे में विद्यमान कार्बन और आक्सीजन भी है ; परन्तु तूतिया नहीं और न ही सोडा है।

उपर्युक्त सूत्र का अभिप्राय यह है कि यहाँ संयोग और वियोगों की चर्चा हो रही है। वियोग हुआ तूतिया में जो नहीं रहा। श्वेत अवक्षेप जिसे कापर कार्बोनेट कहा है, बन गया, तूतिया में विघटन हो गया।

यहां यह स्मरण रखना चाहिए कि इन सूत्रों में विशेषों अर्थात् परिमण्डलों के उपरान्त संयोग और वियोगों की बात हो रही है। अतः इस सूत्र में इससे पूर्व सूत्र के कथन में युक्ति दी है कि जब एक द्रव्य के विघटित होने पर दूसरा द्रव्य बनता है तो पहला दूसरे का कारण नहीं माना जा सकता। कारण यह कि दूसरे में पहला विद्यमान नहीं है।

प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिरविच्छेदात् ॥२२॥

प्रतिसंख्या+अप्रतिसंख्या+निरोध+अप्राप्तिः+अविच्छेदात्।

प्रतिसंख्या=विरोधी संख्या। अप्रतिसंख्या=अविरोधी संख्या। (संख्या का सामान्य अर्थ है—गिनती)। निरोध=विनाश। अप्राप्ति=उत्पन्न न होना। अविच्छेदात्=विच्छेद न होने से अर्थात् विखण्डित न होने से।

सूत्र का अर्थ है कि जब परिमण्डलों के एक समूह में से दूसरे समूह के परिमण्डलों से आदान-प्रदान होता है तो परिमण्डलों का विनाश नहीं होता, परिमण्डलों के विखण्डित न होने से।

एक बात यहाँ स्मरण रखनी चाहिए। वह यह है कि कुछ भाष्यकार इस दर्शन शास्त्र के प्रत्येक सूत्र में से परमात्मा का भाव निकालने का यत्न करते हैं। यहाँ प्रकृति का विशद् वर्णन हो रहा है, अतः संख्या के अर्थ बुद्धि ज्ञान लगाना सर्वथा असंगत है। संख्या के अर्थ हैं संख्या, गिनती (number)।

दूसरी बात स्मरण रखने वाली यह है कि इससे पूर्व परिमण्डलों का उल्लेख आया है। परिमण्डल उस अहंकार-समूह को कहते हैं जिसमें वे एक दूसरे के चारों ओर चक्कर काट रहे होते हैं। वर्तमान वैज्ञानिक भाषा में उसका ऐटम (atom) ही नाम है।

तीसरी बात यह है कि परिमण्डलों के समूह (द्रव्य) बनते और बिगड़ते हैं। परिमण्डलों के समूहों को वर्तमान वैज्ञानिक भाषा में संयुक्त पदार्थ के अणु (molecule) कहते हैं। प्रत्येक संयुक्त पदार्थ का एक कण मौलिक्यूल कहलाता है।

चौथी बात यह है कि प्रत्येक परिमण्डल-समूह (molecule) में कई परिमण्डल होते हैं और प्रत्येक परिमण्डल में तीन-तीन अहंकार (वैकारी

अहंकार, भूतादि अहंकार और तेजस अहंकार) होते हैं और प्रत्येक अहंकार प्रकृति के अनेक परमाणुओं का समूह होता है।

वर्तमान सूत्र में यह कहा गया है कि परिमण्डल के समूहों (molecules) में परिमण्डलों (atoms) का आदान-प्रदान होता है और इस आदान-प्रदान में किसी समूह (molecule) में परिमण्डलों की संख्या कम होती है और किसी में संख्या बढ़ जाती है, परन्तु सामूहिक रूप में (collectively) परिमण्डल कम अधिक नहीं होते, क्योंकि परिमण्डलों में विभाग (division) नहीं होता।

रसायन शास्त्र के जानने वाले उक्त कथन को स्वीकार करेंगे। यह हमारा विचारित मत है कि ब्रह्मसूत्र के इस पाद में रसायन शास्त्र का मूल आधार वर्णन किया गया है।

एक रासायनिक क्रिया का उदाहरण हमने ऊपर (सू० २-२-२१ में) दिया है। यही बात एक अन्य उदाहरण देकर सिद्ध करते हैं।

नमक के घोल में चाँदी के नाइट्रेट के घोल को मिलाएँ तो एक श्वेत रंग का अवक्षेप (prescipitate) पृथक् होता है। इस क्रिया में जो कुछ होता है, वह इस प्रकार प्रकट किया जाता है—

$$Nacl + Ag\ No_3 = Na\ No_3 + Agcl$$

Na को सोडियम कहते हैं। Cl क्लोरीन कहा जाता है। दोनों के संयोग को सोडियम क्लोराइड (नमक) कहते हैं।

इससे चाँदी के नाइट्रेट की रासायनिक क्रिया होती है। Ag चाँदी का नाम है। No_3 नाइट्रेट का संयोग है। इसे नाइट्रेट रेडिकल कहते हैं।

इन रासायनिक द्रव्यों के मिलने पर नमक के परिमण्डल समूह (Nacl) में से क्लोरीन (cl) परिमण्डल निकलकर समीप उपस्थित चाँदी के नाइट्रेट $AgNo_3$ परिमण्डल समूह में चला जाता है और चाँदी से संयुक्त हो जाता है। चाँदी और क्लोरीन परिमण्डल परस्पर मिलते हैं। इसी प्रकार नमक परिमण्डल समूह में से सोडियम निकलकर चाँदी नाइट्रेट के नाइट्रेट संयोग ($Ag\ No_3$) से मिल जाते हैं।

परन्तु सूत्रकार का कहना है किसी प्रकार के परिमण्डलों की कुल संख्या घटती-बढ़ती नहीं। सूत्रकार कहता है कि—

संख्या में अदल-बदल से परिमण्डलों के विनाश की प्राप्ति नहीं होती। इसका कारण है कि परिमण्डलों में टूट-फूट (विच्छेद) नहीं होती।

हमारा यह सुनिश्चित मत है कि इस वेदान्त दर्शन के सूत्र (२-२-२२) का यही अर्थ है।

यहाँ स्वामी शंकराचार्य बौद्धों के क्षणभंगुरवाद पर उक्त सूत्र का

अर्थ लगाते हैं। हमारा मत है कि इसका उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं।

स्वामीजी तथा उनके मतवादी इन सूत्रों का अर्थ नहीं समझ सके। इसमें कारण यह है कि उन्होंने वैशेषिक दर्शन को नास्तिकों का दर्शन मान, उसका भली-भाँति अध्ययन नहीं किया।

जब प्रकृति के त्रिगुणात्मक परमाणुओं के गुण बहिर्मुखी होते हैं तो पहले महत् (आपः) की सृष्टि होती है। इसमें परमाणुओं के गुण दूसरे परमाणुओं को आकर्षित कर समूह बनने लगते हैं। ये समूह तीन प्रकार के होते हैं। वैकारी, भूतादि और तेजस् अहंकार। तब ये अहंकार आकर्षण-विकर्षण के कारण एक दूसरे के चारों ओर घूमने लगते हैं और इनकी संज्ञा परिमंडल हो जाती है। तत्पश्चात् परिमण्डलों के समूह बनते हैं। वे आजकल की वैज्ञानिक भाषा में अणु (Molecules) कहलाते हैं। इन समूहों में अणुओं की संख्या में अदला-बदली होने लगती है। इसको रासायनिक क्रिया (chemical action) कहते हैं। इस आदान-प्रदान में परिमण्डलों (atoms) की संख्या घटती-बढ़ती नहीं। कोई परिमण्डल नष्ट नहीं होता। कारण यह कि इन क्रियाओं में परिमण्डल (atoms) में विच्छेद (fission) नहीं होता।

उभयथा च दोषात् ॥२३॥

उभयथा+च+दोषात्।

च—और। उभयथा—दोनों प्रकार से। दोषात्—दोष से।

अर्थात् उक्त परिमण्डलों के समूहों में अदला-बदली—एक समूह से परिमण्डल निकलकर दूसरे समूह में जाना अथवा दूसरे से पहले में आना दोष के कारण है।

यह दोष क्या है? परिमण्डलों के समूहों (molecules) में अदला-बदली के समय समूह में परिमण्डलों का संगठन ढीला हो गया है। यह दोष कहलाता है। ढीला होने पर पूर्वोक्त सत्त्व, रजस् इत्यादि समूह में प्रकट होने लगता है।

ढीलापन कैसे आता है? इसमें उक्त उदाहरण ही लेंगे। जब जल में नमक का घोल बनाया जाता है तो सोडियम और क्लोरीन के परिमण्डलों का परस्पर सम्बन्ध ढीला पड़ जाता है। इसे वर्तमान युग की रासायनिक भाषा में आयोनाईज़ेशन (Ionization) कहते हैं। इस घोल में चाँदी नाइट्रेट का घोल मिलाते हैं। इसमें चाँदी और नाइट्रेट संयोग के (ions) भी पृथक्-पृथक्

होते हैं। यह पृथकता ही दोष है और इससे रासायनिक क्रिया होती है।

$Na^{\cdot}$ मिलता है No_3' के साथ।

और $Ag^{\cdot}$ मिलता है Cl' के साथ। (˙) विन्दु और (′) चिह्न धन और ऋण विद्युत प्रकट करने के लिए है। इसे दार्शनिक भाषा में सत्त्व और रजस् स्वीकार किया गया है।

एक अघुलनशील पदार्थ है और वह अवक्षेप के रूप में पृथक् हो जाता है। अतः अधिक और अधिक परिमण्डल समूह (molecules) बनते चले जाते हैं।

यही अभिप्राय है दोषों से। जब घोल बनता है तो आयन (ions) बनने के कारण परिमण्डल समूहों में दोष आ जाता है।

अतः सूत्रार्थ है कि दोनों प्रकार से; अर्थात् परिमण्डलों के आदान-प्रदान दोषों (ionization) के कारण होता है।

सूत्र २-२-१६ भी सर्वथा यही है; अर्थात् सूत्र २-२-२३ के समान ही है। सूत्र २-२-१६ है 'उभयथा च दोषात्'। हमने सूत्रार्थ भी समान ही किये हैं। वहाँ भी हमने यही अर्थ लिखे हैं; अर्थात् 'और दोनों प्रकार के कार्य दोष से उत्पन्न होते हैं'। दोनों में दोष का एक ही अर्थ है। सूत्रसंख्या (२-२-१६) में दोष है। द्रव्यों में सत्त्व, रजस् एवं तमस् के अवशिष्ट अंश का रह जाना दोष है और उसी से आकर्षण-विकर्षण उत्पन्न होते हैं। यहाँ वर्तमान सूत्र (२-२-२३) में भी सत्त्व, रजस् इत्यादि का दोष प्रकट होने लगता है। इसे वैज्ञानिक भाषा में आयन का चार्ज (electric charge on ions) कहा जाता है। इससे परिमण्डलों में अदला-बदली होती है। यही अभिप्राय है दोष का।

आकाशे चाविशेषात् ॥२४॥

आकाशे + च + अविशेषात्।

और आकाश में अविशेष होने से।

यहाँ अविशेष का अर्थ समझना चाहिए। हमने ऊपर बताया है कि प्रकृति से जब परिणाम निकलने लगते हैं तो वे उत्तरोत्तर एक के उपरान्त दूसरे परिणाम बनते चले जाते हैं।

प्रकृति→महत्→अहंकार→ [पंचमहाभूत, दस इन्द्रियाँ और मन]

अहंकार तक परिवर्तनों के परिणाम को अविशेष कहते हैं और अहंकारों

के उपरान्त पंच पराभूतों को विशेष कहते हैं; वैशेषिक दर्शन में भी इन पंच महाभूतों के विषय में लिखा है।

पंच महाभूत हैं- -आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी। ये पांचों विशेष हैं।

वर्तमान विज्ञान की भाषा में आकाश ईथर (ether) कहलाता है। वैज्ञानिक ईथर के विषय में कुछ नहीं जानते। अत: उनको इसके होने में भी संदेह है। वैशेषिक दर्शन वाले इसको (आकाश को) एक पदार्थ मानते हैं। यह अति सूक्ष्म अहंकारों का एक संयोग है।

पंच महाभूतों में वायु, अग्नि, जल और पृथिवी का अभिप्राय इस प्रकार है—

वायु का अर्थ गैसीय (gaseous) पदार्थ है। रासायनिक पदार्थों में आक्सीजन (oxygen), हाईड्रोजन (hydrogen), नाईट्रोजन (nitrogen) इत्यादि।

अग्नि का अर्थ है—आग्नेय पदार्थ; अर्थात् ऐसे पदार्थ जिनमें से तेजस अहंकार सहज ही निकलने लगते हैं। उदाहरण के रूप में कोयला, सोडियम इत्यादि।

जल का अर्थ है जलीय (liquids) पदार्थ। इनके उदाहरण हैं पारा (mercury), पीने का जल (water) इत्यादि।

पृथिवी ठोस पदार्थों को कहते हैं जिनमें रूप का परिवर्तन सहज नहीं होता। जैसे लोहा, ताम्बा इत्यादि।

आकाश पाँचवाँ महाभूत है। इन पांच विशेषों में आकाश अविशेष है। अर्थात् चार प्रकार के (वायु, अग्नि, जल और पृथिवी) पदार्थ विशेष हैं। इनमें परिमण्डल (atoms) होते हैं।

आकाश में अहंकारों का संयोग तो होता है, परन्तु उनमें परिमण्डल नहीं बनते। इसी कारण आकाश को अविशेष कहा है, अर्थात् उसकी स्थिति परिमण्डलीय नहीं होती।

अनुस्मृतेश्च ॥२५॥

अनुस्मृते:+च

च=और। अनुस्मृते: का अर्थ है पूर्व के स्मरण रहने से। क्या स्मरण रहने से।

समुदायों में परिमण्डलों के गुण और धर्म नवीन समुदायों में आने पर बने रहते हैं। परिमण्डल अपने गुण और धर्म को धारण किये रखते हैं अर्थात् उनको छोड़ते नहीं। इसको सूत्रकार ने स्मरण रखना कहा है।

'च' से सम्बन्ध बनता है पूर्व कथनों के साथ। पूर्व सूत्रों में कहा है कि परिमण्डल समूहों में परिमण्डलों के आदान-प्रदान से परिमण्डल विनष्ट नहीं होते। इस सूत्र में कहा है उनके अपने गुण और धर्म भी बने रहते हैं।

अन्य भाष्यकार इस सूत्र और पूर्व के सूत्रों के अर्थ ऐसे कर रहे हैं जिनकी संगति नहीं बैठती। उदाहरण के रूप में इस सूत्र का अभिप्राय स्वामी शंकराचार्य इस प्रकार लगाते हैं—

अपि च वैनाशिकः सर्वस्य वस्तुनः क्षणिकतामभ्युपयन्नुपलब्धुरपि क्षणिकतामभ्युपेयात्। न च सा संभवति, अनुस्मृते।

अर्थात्—इसके अतिरिक्त वैनाशिक सब वस्तु की क्षणिकता स्वीकार करते हुए उपलब्धि की भी क्षणिकता स्वीकार करें। यह नहीं हो सकता; क्योंकि अनुस्मृति है।

यह मनुष्य में किसी चेतन (आत्मा अथवा परमात्मा) के विनाश न होने की बात कही गयी है।

यहाँ इसका प्रकरण नहीं। अतः यह भावार्थ असंगत है।

नासतोऽदृष्टत्वात ॥२६॥

न+असतः+अदृष्टत्वात्।

न=नहीं। असतः=अभाव से (कार्य की उत्पत्ति)। अदृष्टत्वात्=न देखे जाने से।

यहाँ पुनः सूत्रकार इस कार्य जगत् के उपादान कारण प्रधान का उल्लेख करता है। कार्य-कारण में मूल गुणों का समान होना पहले बता चुके हैं। यह पहले (ब्रह्म सूत्र २-२-४ में) बताया गया है कि कार्य-जगत् जड़ है और उसमें बिना अपेक्षा के विपरीत प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

अतः कार्य-जगत् का कारण भी जड़ ही होना चाहिए। उसे ही सांख्य ने प्रकृति अथवा प्रधान माना है।

सूत्रार्थ है।—अदृष्ट होने पर भी कारण का अभाव नहीं।

उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः ॥२७॥

उदासीनानाम्+अपि+च+एवम्+सिद्धिः।

उदासीनानाम्=उदासीन अर्थात् कर्मविहीनों की। अपि=भी। च=और। एवं=इसी प्रकार। सिद्धिः=सफलता है।

प्रकृति उदासीन है। जड़ होने के कारण यह अविचल है और इसमें जड़त्व होने पर भी कार्य-जगत् बनता है। यह क्यों? इसमें निमित्त कारण की क्रिया होने से। वह निमित्त कारण परमात्मा है। परमात्मा चेतन है, ईक्षण करता है।

प्रकृति के सब परिणामों का उल्लेख कर कह दिया है कि यह जड़ है। इस पर भी इसमें परिवर्तन होते हैं। यह परमात्मा के कारण हैं।

नाभाव उपलब्धेः ॥२८॥

न+अभावः+उपलब्धेः।

अभाव से कुछ प्राप्त नहीं होता। शून्य से कुछ बनता नहीं।

यह (सूत्र २-२-२८) सूत्र २६ की पूर्ति में ही है।

सूत्र २६ में कहा गया है कि यह दिखाई नहीं देता कि अभाव से कुछ उपलब्ध हो। अतः सूत्र २७ में कह दिया गया है कि प्रकृति उदासीन (अविचल) होने पर भी परिणामी है; कारण यह कि जगत् का निमित्त कारण परमात्मा विद्यमान है। अब इस सूत्र में पहली बात की पुष्टि ही की गयी है। असत् और अभाव में कुछ थोड़ा-सा अन्तर है। सत् का अर्थ है अक्षर। सूत्रार्थ है किसी न अक्षर से अर्थात् क्षर से सृष्टि नहीं होती। अभाव के अर्थ हैं शून्य। शून्य से कुछ भी प्राप्त नहीं होता। भावार्थ एक ही हो जाता है।

वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् ॥२९॥

वैधर्म्यात्+च+न+स्वप्न+आदिवत्।

वैधर्म्यात्=(कार्य-जगत् में) वैधर्म्य होने से। न=नहीं। च=और। स्वप्न+आदिवत्=स्वप्न इत्यादि जैसा।

और यह कार्य-जगत् स्वप्नवत् नहीं। इसमें विभिन्न धर्मों के होने से। स्वप्न में धर्म दिखाई नहीं देते। धर्म का अर्थ है कर्म करने का गुण। कार्य-जगत् में कर्म करने का गुण होता है। इस कारण यह स्वप्नवत् नहीं।

यहाँ इस सिद्धांत का खण्डन किया है कि जगत् मिथ्या है। जगत् में अनेक धर्मों की उपस्थिति देखी जाती है। सूर्य में प्रकाश करने का सामर्थ्य है। चन्द्र में शीतलता उत्पन्न करने का सामर्थ्य है। पृथ्वी फल-फूल, अन्न-अनाज इत्यादि उत्पन्न करती है। इत्यादि धर्मों के होने से यह मिथ्या नहीं।

यह सूत्र स्पष्ट रूप में स्वामी शंकराचार्य के सिद्धांत के विपरीत है। अतः यह रुचिकर होगा कि यहां स्वामीजी द्वारा इस सूत्र का किया गया भाष्य लिख दिया जाये। आप लिखते हैं—

अत्रोच्यते—न स्वप्नादिप्रत्ययवज्जाग्रत्प्रत्यया भवितुमर्हन्ति। कस्मात्? वैधर्म्यात्। वैधर्म्यं हि भवति स्वप्नजागरितयोः।

अर्थात्—इसमें कहते हैं कि जाग्रत ज्ञान स्वप्नादि ज्ञान के समान नहीं हो सकते, क्योंकि दोनों में वैधर्म्य है।

आगे आप लिखते हैं कि यह वैधर्म्य क्या है?

बाधाबाधाविति ब्रूमः। बाध्यते हि स्वप्नोपलब्धं वस्तु प्रतिबुद्धस्य मिथ्या मयोपलब्धो महाजनसमागम इति। न ह्यस्ति मम महाजनसमागमो निद्राग्लानं तु मे मनो बभूव तेनैषा भ्रान्तिरुद्बभूवेति। एवं मायादिष्वपि भवति यथायथं बाधः। नैवं जागरितोपलब्धं वस्तु स्तम्भादिकं कस्यांचिदप्यवस्थायां बाध्यते।

अर्थात्—हम कहते हैं कि यह बाध और अबाध है; क्योंकि स्वप्नावस्था में उपलब्ध वस्तु जाग्रत पुरुष को बाधित होती है कि मुझे जो महाजन समागम उपलब्ध हुआ था, वह मिथ्या है। मुझे महाजन समागम हुआ नहीं। मेरा मन निद्रा से ग्लानियुक्त हुआ, जिससे यह भ्रान्ति हुई। इस प्रकार मायादि में भी यथायोग बाध होता है, परन्तु जाग्रत अवस्था में उपलब्ध स्तम्भादि वस्तु किसी भी अवस्था में बाधित नहीं होतीं।

स्वामीजी ने जाग्रत अवस्था और स्वप्नावस्था की तुलना करनी आरम्भ कर दी है। आप कहते हैं कि जाग्रत अवस्था और स्वप्न-अवस्था में अन्तर है। वह यह अन्तर बताते हैं कि एक में पुरुष बाधित होता है और दूसरे में बाधित नहीं होता।

बाधित से स्वामीजी का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि एक का अनुभव सत्य है और दूसरे का असत्य। यही वैधर्म्य से आप प्रकट करते हैं।

इतना कुछ तो स्वामीजी ने ठीक ही कहा है कि जाग्रत अवस्था में अनुभव सत्य होते हैं और स्वप्नावस्था में असत्य। परन्तु स्वामीजी और हमारे

अर्थों में इतना अन्तर है कि हम वैधर्म्य जाग्रत और स्वप्नावस्था में नहीं कह रहे, वरन् जगत् के पदार्थों में के अनेकानेक धर्मों के अर्थ में ले रहे हैं। हमारा अभिप्राय यह है कि जगत् में अनेक प्रकार के (विभिन्न) धर्मों के देखने से जगत् स्वप्नवत् नहीं है। यह सत्य है।

वास्तविक बात यह है कि सूत्रकार इस जगत को (न स्वप्नादिवत्) स्वप्नवत् नहीं, अर्थात् मिथ्या नहीं है ऐसा मानता है।

न भावोऽनुपलब्धेः ॥३०॥

न+भावः+अनुपलब्धेः।

न=नहीं। भावः=होना। अनुपलब्धेः=अनुपलब्ध, न प्राप्त होने से।

जो प्राप्त नहीं होता, वह नहीं।

अर्थात् जगत् प्राप्त होता है; इस कारण यह है।

सूत्र २८ में लिखा है कि अभाव से जगत् की उपलब्धि नहीं, अर्थात् शून्य से जगत् नहीं बना।

तदनन्तर सूत्र २९ में कहा है कि जगत् के पदार्थों में अनेक धर्मों को देखकर यह मानना पड़ता है कि जगत् स्वप्नवत् नहीं; अर्थात् इसकी उपलब्धि है।

अब इस सूत्र में कहा है कि यदि जगत् न होता तो इसकी प्राप्ति भी नहीं होती।

इस सूत्र का यह भी अर्थ हो सकता है कि भाव नहीं है। यहाँ भाव का अर्थ अस्तित्व से है। अस्तित्व नहीं है। अस्तित्व है ब्रह्म का। ब्रह्म नहीं है, ऐसा कहने की अनुपलब्धि है। अर्थात् ब्रह्म है। यह उपलब्ध होता है। ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है। एतदर्थ इसकी उपलब्धि है।

यह अर्थ ठीक हो सकता है परन्तु एक बात ध्यान देनी चाहिए कि प्रकरण जगत् का है, परमात्मा का नहीं। अतः हम ऊपर के अर्थों को ही ठीक मानते हैं।

क्षणिकत्वाच्च ॥३१॥

च+क्षणिकत्वात् ।

और क्षणिक होने से ।

यहां विवेच्य शब्द है क्षणिक होने से। क्षणिक उस पदार्थ को कहते हैं जो अल्पकाल के लिए हो। क्षणिक का अर्थ एक चुटकी मारने से नहीं। प्रत्येक काल का अल्प और लम्बा होना तुलनात्मक विचार से होता है। एक सौर दिन में एक क्षण अल्पकाल ठीक है, परन्तु ब्रह्म दिन में तो एक चतुर्युगी का काल भी अल्प कहा जा सकता है। उसे भी क्षणिक माना जा सकता हैं और अनादि अनन्त काल की तुलना में तो एक मन्वन्तर एवं ब्रह्म दिन भी एक क्षण के तुल्य माना जा सकता है।

यहां किसको क्षणिक कहा है ? इसी के ज्ञान से ही यह समझा जा सकेगा कि वह काल कितना है ?

यह 'क्षणिक' जगत् के संदर्भ में आया है। अतः इससे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय (ब्रह्म दिन और रात्रि) का अभिप्राय है। ४,३२,००,००,००० सौर वर्ष का ब्रह्म दिन और ४,३२,००,००,००० सौर वर्ष की ब्रह्म रात्रि का काल भी क्षणिक ही माना जाना चाहिए। कारण यह कि जब इसकी तुलना अनादि अनन्त काल से की जाती है तो यह एक क्षण में उत्पन्न और विनष्ट माना जाता है।

इस सूत्र का अर्थ है कि एक क्षण (अल्प काल) में प्रलय होने वाला जगत् है। अतः सूत्र २-२-३० में लिखी हुई बात भी ठीक है कि जगत् से ब्रह्म का ज्ञान हो सकता है, क्योंकि टूटने एवं बनने वाली वस्तु का तोड़ने और बनाने वाला होना चाहिये।

सर्वथानुपपत्तेश्च ॥३२॥

सर्वथा+अनुपपत्तेः+च ।

च=और । सर्वथा=सब प्रकार से । अनुपपत्तेः=असिद्ध होने से ।

(जगत्) सब प्रकार से प्रसिद्ध है। क्षणिक होने के कारण यह ब्रह्म की श्रेणी में नहीं आ सकता।

जगत् क्षणिक है, अर्थात् अल्पकाल तक रहने वाला है। ब्रह्म (अक्षर) अनादि, अक्षर और व्यक्त है। अतः जगत् किसी प्रकार से भी ब्रह्म नहीं।

नैकस्मिन्नसंभवात् ॥३३॥

न + एकस्मिन् + असम्भवात् ।

न = नहीं । एकस्मिन् = एक में । असम्भवात् = असम्भव होने से ।

यह कार्य-जगत् एक में ही है (एक से ही उत्पन्न हुआ है) ऐसा सम्भव नहीं होने से।

एक ही मूल पदार्थ से कार्य-जगत् बना हो, यह सम्भव नहीं। इस जगत् के बनने में दो का योगदान है। निमित्त कारण का और उपादान कारण का।

स्वामी शंकराचार्य इस ओर कुछ पूर्व के सूत्रों को बौद्ध मत और जैन मत के खण्डन में लिखे गये मानते हैं। ऐसी कोई बात नहीं। हमारा यह मत है कि ब्रह्मसूत्र बौद्ध मत और जैन मत के उत्पन्न होने से पहले के लिखे हुए हैं। अतः इनके स्वतन्त्र अर्थ और भाष्य होने चाहिएँ। भले ही वे अर्थ किसी मत के अनुकूल हों अथवा विपरीत हों।

यही कारण है कि हमने सूत्रों के अर्थ और भाष्य विषय की संगति के अनुसार किये हैं। यह स्वामी शंकराचार्य की शैली है कि वह सूत्रों में कुछ अनुकूल अथवा विरोधी प्रमाण बलात् ढूंढते हैं और फिर भाष्य उसी सन्दर्भ में करते हैं। यह शैली प्रायः मिथ्या अर्थों की ओर इंगित करती है।

एवं चात्माऽकात्स्न्र्यम् ॥३४॥

एवम् + च + आत्मा + अकात्स्न्र्यम् ।

एवम् = इस प्रकार । च = और । आत्मा = आत्मा की । अकात्स्न्र्यम् = असम्पूर्णता (अव्यापिता) हो जायेगी।

एवम् से अभिप्राय है कि यदि पहले सूत्र में कही बात स्वीकार कर लें, अर्थात् जिसे असम्भव कहा है उसको सम्भव समझ लें तो आत्मा (परमात्मा) की सर्व-व्यापकता असिद्ध हो जायेगी।

परमात्मा सर्व-व्यापक है। यदि यह मान लें कि वही जगत् में परिवर्तित हुआ है तो वह सर्व-व्यापक नहीं माना जा सकता। जहाँ जगत् बन गया है वहाँ का परमात्मा उस परमात्मा से भिन्न होगा, जहाँ वह परमात्मा कार्य जगत् में परिवर्तित नहीं हुआ। दोनों में सीमा बन जायेगी और सर्व-व्यापक वस्तु असीम होनी चाहिये। अतः जगत् में केवल परमात्मा नहीं।

न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः ॥३५॥

न+च+पर्यायात्+अपि+अविरोधः+विकारादिभ्यः।

न=नहीं। च=और। पर्यायात्=पर्याय से। अपि=भी। अविरोधः=विरोध का न होना। विकारादिभ्य=विकारादि से।

और पर्याय (समान अर्थ अथवा शक्ति वाला) न होने से भी। विकारादि से अविरोध होने से।

प्रकृति का विकार कार्य-जगत् है। कार्य-जगत् में कई प्रकार के विकार दिखाई देते हैं। वे परस्पर पर्याय नहीं हैं; अर्थात् समान अर्थ वाले एवं रूप-गुण वाले नहीं होते। इस पर भी उनमें अविरोध है। वे परस्पर विरोधी नहीं। उनमें समानता किस विषय में है? प्रकृति का जड़त्व उन सबमें समान रूप से उपस्थित होता है। यह बात ऊपर (ब्रह्मसूत्र २-२-४ में) वर्णन की जा चुकी है। जड़त्व कार्य-जगत् के प्रत्येक पदार्थ में उपस्थित होता है। अतः सूत्रार्थ यह है कि प्रकृति के विकार, अर्थात् कार्य-जगत् के पदार्थ समान गुण, नाम और रूपवाले न होने पर भी परस्पर विरोधी नहीं, अर्थात् इस गुण में समान हैं।

अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः ॥३६॥

अन्त्य+अवस्थितेः+च+उभय+नित्यत्वात्+अविशेषः।

अन्त्य+अवस्थितेः=अन्त्य अवस्था से। च=और। उभय=दोनों में। नित्यत्वात्=नित्यता होने से। अविशेषः=विशेष नहीं हो सकते।

अन्त्य का अर्थ है अन्त तक रहने वाली।

इसका अभिप्राय है कि परमात्मा का परिवर्तित हो जगत् रूप में होना मानने से परमात्मा के दो रूप मानने होंगे। एक नित्य, दूसरा अनित्य और यदि दोनों को नित्य मानें तो विशेष (पंच महाभूतादि) नहीं बन सकते। कारण यह कि विशेष नाशवान् हैं।

इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि जगत् को परमात्मा का ही परिवर्तित रूप मानने से दोनों में नित्यत्व मानना होगा और फिर विशेष (पंच महाभूतादि) नहीं हो सकते। कारण कि यह अवस्था नाशवान् है।

पत्युरसामञ्जस्यात् ॥३७॥

पत्युः+असामञ्जस्यात् ।

पत्युः=पति का । असामञ्जस्यात्=अयुक्त होने से ।

जगत् का पति परमात्मा नहीं । यह अयुक्त है । पति-पत्नी का पारस्परिक भोग का सम्बन्ध है । परमात्मा जगत् का भोग नहीं करता । जगत् परमात्मा के प्रयोग के लिए नहीं । यदि उसे जगत् का भोक्ता मानें तो यह अयुक्त है ।

सम्बन्धानुपपत्तेश्च ॥३८॥

सम्वन्ध+अनुपपत्तेः+च ।

च=और । सम्वन्धः=भोक्ता का सम्वन्ध । अनुपपत्तेः=उपपन्न नहीं होता, सिद्ध नहीं होता ।

यह सूत्र उक्त सूत्र के असामञ्जस की व्याख्या में है । असामञ्जस से अभिप्राय है अनियमित । अनियमित इस कारण है कि युक्ति से सिद्ध नहीं होता । परमात्मा जगत् का पति नहीं । यह सम्बन्ध भोग का है और यह अयुक्तिसंगत है ।

अधिष्ठानानुपपत्तेश्च ॥३९॥

अधिष्ठान्+अनुपपत्तेः+च ।

जगत् परमात्मा का अधिष्ठान (निवास-स्थान) है, और यह असिद्ध है । जगत् तो एक सीमित स्थान है और परमात्मा असीम है । जगत् परमात्मा में अधिष्ठित है । परमात्मा जगत् में अधिष्ठित नहीं ।

करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः ॥४०॥

करणवत्+चेत्+न+भोगादिभ्यः ॥

करणवत्=इन्द्रियों की भांति (है) । चेत्=यदि कहो । न=तो

नहीं। भोगादिभ्यः=भोगादि से।

परमात्मा इन्द्रियों जैसा भी नहीं जिनसे वह भोग करता हो। वह तो सर्वथा इन्द्रियों के बिना है।

अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा ॥४१॥

अन्तवत्त्वम्+असर्वज्ञता+वा।

अन्तवत्त्वम्=अन्त वाला होना अर्थात् नाशवान् होना। असर्वज्ञता=असर्वज्ञ होना। वा=और।

और जगत् की भांति परमात्मा का अन्त वाला होना नहीं और न ही असर्वज्ञता अर्थात् अल्प ज्ञानयुक्त होना है। अतः परमात्मा जगत् में परिवर्तित नहीं हुआ। 'न' शब्द पूर्व सूत्र का इसमें भी प्रयोग होता है।

उत्पत्त्यसम्भवात् ॥४२॥

उत्पत्ति+असम्भवात्।

उत्पत्ति असम्भव होने से।

जगत् की उत्पत्ति होती है, परन्तु परमात्मा की उत्पत्ति सम्भव नहीं। इस कारण परमात्मा का परिवर्तित रूप जगत् नहीं है।

न च कर्त्तुः करणम् ॥४३॥

न+च+कर्त्तुः+करणम्।

और न ही कर्त्ता के करण (साधन) हैं।

परमात्मा विना साधनों के जगत् की रचना करता है। यह कारण सम्भव है कि प्रकृति के एक-एक परमाणु से सम्बद्ध है।

विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः ॥४४॥

विज्ञानादिभावे+वा+तत्+अप्रतिषेधः।

विज्ञानादि=विशेष ज्ञान इत्यादि के। भावे=होने पर। तत्=उन (करणादि) का। अप्रतिषेधः=विरोध नहीं।

ऊपर लिखा है कि परमात्मा के इन्द्रियादि नहीं, परन्तु परमात्मा विशेष ज्ञान का स्वामी है। ऐसा होने पर भी इन्द्रियों का न होने से किसी प्रकार का विरोध नहीं होता। अभिप्राय यह है कि परमात्मा के सर्वज्ञ होने से कार्य बिना इन्द्रियों के ही होता है।

प्रसंगवश यह कहा जा सकता है कि जीवात्मा अल्पज्ञ होने से अर्थात् अल्प शक्तिवाला होने से इन्द्रियों की आवश्यकता रखता है, परन्तु परमात्मा ज्ञानस्वरूप होने से इन्द्रियों की आवश्यकता नहीं रखता।

विप्रतिषेधाच्च ॥४५॥

विप्रतिषेधात्+च।

विप्रतिषेधात्=विभिन्न प्रकार से खण्डन करने से ब्रह्म (परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति) के स्वरूप का वर्णन किया गया है। सूत्रकार इस समूचे पाद का उपसंहार करता हुआ बताता है कि ब्रह्म के स्वरूप पर आपत्तियों का अनेक प्रकार से निराकरण किया गया है।

तृतीय पाद

सूत्रकार ने सृष्टि-क्रम में एक अत्यावश्यक विषय को इस पाद में उठाया है। इस विषय को उठाने के लिए उसने उन लोगों का पक्ष उपस्थित किया है, जो वेद शास्त्रों में मतभेद प्रकट करने का यत्न करते रहते हैं।

सृष्टि-क्रम में आकाश शब्द को लेकर पूर्व पक्ष उपस्थित किया जाता है। सूत्रकार महर्षि व्यास ने उसको इस प्रकार प्रकट किया—

न वियदश्रुतेः ॥१॥

न+वियत्+अश्रुतेः।

न=नहीं है। वियत्=आकाश। अश्रुतेः=श्रुति में न होने से।

अर्थ है—वेद शास्त्र में आकाश का शब्द नहीं है। इस कारण आकाश नहीं है। वियत् आकाश का नाम है।

शंका तो केवल इतनी ही थी जैसी कि ऊपर कही गयी है, परन्तु वह भाष्यकार जो प्रायः सूत्र का स्रोत उपनिषद् में ढूंढने लगते हैं, वे वियत् (आकाश) को भी उपनिषदों में ढूंढने लगे हैं।

आकाश शब्द तो शास्त्र में है। इस कारण सूत्रकार ने उपनिषद् का प्रमाण न देते हुए पूर्व पक्ष का केवल खण्डन कर दिया और कहा है—

अस्ति तु ॥२॥

अस्ति=है। तु=तो। अर्थात् श्रुति में आकाश शब्द है।

इस 'है' के पक्ष में तो प्रमाण देने ही चाहिए थे, परन्तु भाष्यकारों ने पूर्व पक्ष को सुदृढ़ करने के लिए एक बात अपने पास से उपस्थित कर दी है।

वह पूर्व पक्ष के मस्तिष्क में थी अथवा नहीं, कहा नहीं जा सकता। यह भाष्यकारों के मस्तिष्क की उपज ही प्रतीत होती है।

उदाहरण के रूप में स्वामी शंकराचार्य इस पाद के प्रथम सूत्र के भाष्य में लिखते हैं—

वेदान्तेषु तत्र तत्र भिन्नप्रस्थाना उत्पत्तिश्रुतय उपलभ्यन्ते। केचिदाकाशस्योत्पत्तिमामनन्ति, केचिन्न। तथा केचिद्वायोरुत्पत्तिमामनन्ति, केचिन्न। एवं जीवस्य प्राणानां च। एवमेव क्रमादिद्वारकोऽपि विप्रतिषेधः श्रुत्यन्तरेषूपलक्ष्यते।

अर्थात्—वेदान्त में तत्-तत् स्थानों पर भिन्न प्रस्थान वाली (भिन्न प्रकरणस्थ) उत्पत्ति श्रुतियाँ उपलब्ध होती हैं। कुछ श्रुति वाक्य वायु की उत्पत्ति मानते हैं, कुछ नहीं मानते। एवं कुछ श्रुति-वाक्य जीव और प्राणों की उत्पत्ति मानते हैं और कुछ नहीं मानते। इसी प्रकार क्रमादि द्वारा भी अन्य श्रुतियों में विरोध उपलक्षित होता है।

हमारा मत है कि पूर्व सूत्र में केवल यही पक्ष है कि शास्त्र में वियत् का उल्लेख नहीं। सूत्रकार ने इसका खण्डन किया है। उसने कहा है कि उल्लेख है। यह बात तो अशुद्ध पक्ष का आधार बनाने के लिए भाष्यकारों ने यह कह दिया कि इस सूत्र के अर्थ केवल यह नहीं कि आकाश का उल्लेख शास्त्र में नहीं, वरंच यह है कि आकाश की उत्पत्ति शास्त्र में नहीं।

यह बात पूर्व पक्ष के मस्तिष्क में थी अथवा नहीं, कहा नहीं जा सकता। परन्तु इसका उल्लेख आ जाने से इसका उत्तर तो शास्त्र में से देना ही पड़ेगा। यह हम आगे चलकर देंगे।

यहाँ हमारा कहना यह है कि प्रश्न सरल है। इसमें आकाश की उत्पत्ति का प्रश्न नहीं है। अतः उत्तर में भी इसका उल्लेख नहीं है।

सूत्रकार ने २-३-२ में कह दिया कि इसका उल्लेख है।

दोनों सूत्रों में उत्पत्ति की ओर संकेत नहीं। यह केवल भाष्यकारों के मस्तिष्क की उपज है।

परिणाम यह है कि उत्पत्ति सम्बन्धी उत्तर दर्शन-शास्त्र में नहीं है। इस कारण उत्तर पक्ष में दिये सूत्रों को भाष्यकार अपने विचार से तोड़-मरोड़ने लगे हैं।

हमारा यह मत है कि ब्रह्मसूत्रों का अध्ययन और विवेचन करते समय शंकराचार्य के भाष्य को पृथक् रखकर ही कार्य आरम्भ करना चाहिए। स्वामी जी की शैली ही अयुक्त अर्थात् तर्करहित है। इस शैली का अनुकरण करने से वेदान्त दर्शन के अर्थ ही अशुद्ध हो रहे हैं।

यहाँ हम सूत्रकार का आशय अपने मत से प्रकट करते हैं।

यदि यह कहीं आकाश के उल्लेख होने और कहीं न होने की बात होती तो इसका उत्तर तो सूत्रकार पहले (२-१-१ में) दे चुके हैं। उस सूत्र में कहा

गया है कि यदि किसी स्मृति में किसी विषय का उल्लेख न हो तो यह दोष नहीं। कारण यह कि किसी दूसरी स्मृति में उस विषय पर उल्लेख हो भी सकता है।

जब सूत्रकार ने कहा कि वेद में आकाश शब्द आया है तो यह आवश्यक हो जाता है कि वेद में आकाश शब्द का प्रमाण दिया जाये। उत्पत्ति के विषय में न प्रश्न था और न ही उत्तर है।

ऋग्वेद में व्योम शब्द मिलता है—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥

(ऋ० १-१६४-३९)

यहाँ व्योम शब्द है। व्योम आकाश को कहते हैं और आकाश को ब्रह्म का स्वरूप माना है। इसे परम अक्षर तथा अति सूक्ष्म भी कहा है।

यही मन्त्र श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी कहा गया है। सूत्रकार ने भी इसी मन्त्र के आधार पर निम्न सूत्र लिख दिया है—

आकाशस्तल्लिङ्गात् ॥ (ब्रह्मसूत्र १-१-२२)

परन्तु पूर्व पक्ष वाले ने अपने संशय का रूप बदल दिया है। वह कहता है—

गौण्यसम्भवात् ॥३॥

गौणी+असम्भवात्।

असम्भव होने से यह उक्त कथन गौण है।

इसका अर्थ यह है कि यहाँ आकाश का अर्थ गौण है। यह परमात्मा के लिए आया है।

गौण का अर्थ है कि मुख्य उल्लेख आकाश का नहीं। आकाश की उपमा परमात्मा से दी गई है। अतः यह व्योम का उल्लेख गौण रूप से है। यह किसी पदार्थ का नाम नहीं और असम्मत है।

जो भाष्यकार आकाश की उत्पत्ति को बीच में ले आये हैं, वे सूत्रकार का उत्तर समझ नहीं सके।

प्रश्न आकाश की उत्पत्ति के विषय में नहीं है। वह (पूर्व पक्ष) कह रहा है कि वियत् शब्द अथवा इसका पर्याय वेद में नहीं है। जो व्योम शब्द मंत्र ऋग्वेद (१-१६४-३९) में आया है, उसके विषय में आपत्ति करने वाले का कहना

है कि गौण रूप में है। वहाँ आकाश का उल्लेख किसी पदार्थ के रूप में नहीं आया।

पूर्व पक्ष का समर्थन करने के लिए निम्न सूत्र कहा है।

शब्दाच्च ॥४॥

शब्दात् + च।

और शब्द से।

अभिप्राय यह है कि पूर्व पक्ष ने जो आकाश को गौण कहा है, वह वेद-मन्त्र के शब्दों को देखने से कहा है।

सूत्रकार का उत्तर है—

स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत् ॥५॥

स्यात् + च + एकस्य + ब्रह्मशब्दवत् :

स्यात् = कदाचित्। च = और। एकस्य = एक के। ब्रह्मशब्दवत् = ब्रह्म शब्द की भाँति।

इसका अर्थ है—कुछ एक के कथन से शायद यह है, अर्थात् व्योम का प्रयोग गौण है। वैसे ब्रह्म का भी प्रयोग कई स्थानों पर परमात्मा के अतिरिक्त होता है।

वेद में उक्त मन्त्र में व्योम परमात्मा के लिए आया है। इसी प्रकार ब्रह्म-सूत्र में आकाश को परमात्मा का लिंग अर्थात् संकेत माना है।

इस बात को सूत्रकार अस्वीकार नहीं कर सका। उसने कहा है कि कुछ एक के विचार से शायद यह पक्ष ठीक है, परन्तु यह ऐसे ही है जैसे कि ब्रह्म शब्द का अर्थ परमात्मा के अतिरिक्त भी आता है। आकाश का उल्लेख वेद में तो है। इसमें सन्देह नहीं।

अर्थात् पूर्व पक्ष का यह कहना कि आकाश शब्द वेदों में है ही नहीं, यह अशुद्ध है। आकाश को वेद में कहा है।

सूत्रकार अपनी बात को और स्पष्ट करने के लिए अगला सूत्र देता है।

प्रतिज्ञाऽहानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्यः ॥६॥

प्रतिज्ञा+अहानिः+अव्यतिरेकात्+शब्देभ्यः।

वेदों से हमारी प्रतिज्ञा की हानि नहीं होती, अलग वर्णन न होने से।

सूत्रकार युक्ति करता है कि ब्रह्म और आकाश का एक साथ वर्णन होने से आकाश शब्द श्रुति में है। इस प्रतिज्ञा (वक्तव्य) का खण्डन नहीं होता।

बातें स्पष्ट है कि आकाश और ब्रह्म का वर्णन एक साथ ही आया है। इसका यह अर्थ नहीं कि हमारा वक्तव्य कि आकाश वेदों में आया है, ग़लत हो गया।

आकाश और ब्रह्म साथ-साथ आते हैं। कारण यह कि इन सब स्थानों पर जहाँ आकाश ब्रह्म के साथ आया है, अवकाश से अभिप्राय है और ब्रह्म के सब स्थानों पर होने से जहाँ-जहाँ आकाश है, वहाँ-वहाँ ब्रह्म है। परमात्मा सर्व-व्यापक है। इस कारण आकाश ब्रह्म से पृथक् हो ही नहीं सकता। अतः श्रुति में ब्रह्म और आकाश का उल्लेख एक साथ होने से सूत्रकार का कथन असत्य नहीं हो सकता कि श्रुति में आकाश का उल्लेख है।

जो लोग ब्रह्मसूत्रों को उपनिषद् ग्रंथों की व्याख्यामात्र मानते हैं; वे वियत् (आकाश) को उपनिषदों में भरा पड़ा देख यह कहने लगे कि पूर्व पक्ष आकाश की उत्पत्ति के विषय में है।

अब सूत्रकार के उत्तर में उत्पत्ति का उल्लेख और प्रमाण न देख अप्रासंगिक कथन करने लगे हैं।

सूत्र संख्या २-३-५ पर भाष्य करते हुए श्री स्वामी शंकराचार्य इस प्रकार लिखते हैं—

इदं पदोत्तरं सूत्रम्। स्यादेतत्—कथं पुनरेकस्य संभूतशब्दस्य 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' (त० २-१) इत्यस्मिन्नधिकारे परेषु तेजः-प्रभृतिष्वनुवर्तमानस्य मुख्यत्वं संभवत्याकाशे च गौणत्वमिति ? अत उत्तर-मुच्यते—स्याच्चैकस्यापि संभूतशब्दस्य विषयविशेषवशाद्गौणो मुख्यश्च प्रयोगो ब्रह्मशब्दवत्। यथैकस्यापि ब्रह्मशब्दस्य 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व, तपो ब्रह्म' (तै० ३-२) इत्यस्मिन्नधिकारेऽन्नादिषु गौणः प्रयोग आनन्दे च मुख्यः।

इसका अर्थ इस प्रकार है—

'यह पद उत्तर के रूप में इस सूत्र में है। यह 'स्यात्' है। कैसे ? पुनः एक संभूत शब्द के (विषय में)' तस्माद्वा—संभूतो (तै० उ० २-१) इस अधिकार में अन्य स्थल में तेज इत्यादि में अनुवर्तमान मुख्य कैसे हो सकता है और आकाश में गौण कैसे ? अतः उत्तर में कहा है। और स्यात् कैसे ? ब्रह्म की भाँति विषय विशेष के अनुसार इसका प्रयोग मुख्य और गौण होता है।

जैसे एक (ब्रह्म) का प्रयोग (तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व) तपो ब्रह्म—तै० उ० ३-२) इस अधिकार में, अन्नादि में गौण और आनन्द में मुख्य प्रयोग है।

यह अयुक्त कथन है। वहाँ अन्न तेजादि के साथ ब्रह्म गौण नहीं है। कारण यह कि ब्रह्म का अर्थ वहाँ प्रकृति है, परमात्मा नहीं। ब्रह्म का अर्थ प्रकृति होने से गौण क्यों हो गया? ब्रह्म का जहाँ आनन्द के साथ उल्लेख आया है वहाँ वह मुख्य क्यों है? दोनों ब्रह्म हैं।

साथ ही इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उक्त सूत्रों में संभूति का आशय है, अर्थात् उत्पत्ति का अर्थ सूत्र में किस प्रकार आ गया?

यदि उत्पत्ति का भाव उक्त सूत्रों में न लिया जाये तो सूत्रों (२-३-५) और २-३-६) का अर्थ अति सरल और स्पष्ट हो जाता है।

शंका है कि व्योम शब्द ब्रह्म के लिए आया है। अतः यहाँ आकाश का अर्थ गौण है, अर्थात् यह नहीं बताया कि व्योम स्वतः कोई पदार्थ है।

सूत्रकार का उत्तर है कि कदाचित् एक के कथन से यह गौण है। जैसे ब्रह्म का प्रयोग अन्य पदार्थों के विशेषण रूप में आता है—जैसे ब्रह्मचर्य, ब्रह्म देश इत्यादि।

परन्तु आगे (२-३-६ में) यह कह दिया है कि हमारी यह प्रतिज्ञा अर्थात् वक्तव्य ग़लत नहीं। ठीक है कि व्योम (आकाश) शब्द वेद में है। इसी प्रकार शब्द है 'खं ब्रह्म'। यहाँ भी आकाश से अभिप्राय है।

जो भाष्यकार सूत्रार्थ करने में उपनिषद्-वाक्यों का आश्रय लेते हैं, वे प्रत्येक सूत्र में किसी उपनिषद्-वाक्य से समानता ढूंढने लगते हैं। इससे सूत्रार्थ में अन्तर पड़ जाता है।

जहाँ तक आकाश की उत्पत्ति का सम्बन्ध है, इसमें हमारा मत है कि आकाश शब्द जहाँ तो परमात्मा के साथ आया है, वहाँ अन्तरिक्ष (space) का वाचक है और परमात्मा सर्वव्यापक होने से पूर्ण अन्तरिक्षीय स्थान में उपस्थित है। अतः ऐसे प्रसंगों में आकाश और परमात्मा पर्यायवाचक हो जाते हैं। यहाँ उत्पत्ति का प्रश्न ही उपस्थित नहीं हो सकता।

परन्तु जहाँ आकाश का सम्बन्ध सृष्टि-रचना में पंच भूतों में आता है, वहाँ आकाश प्रकृति का एक रूप है। यह प्राकृत पदार्थ है और वहाँ इसको परमात्मा नहीं माना और न ही उस रूप में इसे परमात्मा का लिंग स्वीकार किया है। ऐसे स्थलों में उत्पत्ति का उल्लेख है।

हम १-१-२२ के भाष्य में यह बता चुके हैं कि पाँच भौतिक आकाश तो प्रकृति का रूप होने से परमात्मा का चिह्न नहीं। यह परमात्मा का उतना ही चिह्न है जितना कि जगत् की कोई भी पदार्थ परमात्मा का लिंग हो सकता है।

जो उपनिषद् के प्रमाण दिये गए हैं, वे इन सूत्रों के साथ सम्बद्ध नहीं। वहाँ आकाश की उत्पत्ति तब बतायी है जब आकाश पाँच-भौतिक है। और जहाँ आकाश अन्तरिक्षीय स्थान (space) के अर्थों में आया है, वहाँ इसकी उत्पत्ति का वर्णन नहीं, वहाँ वह परमात्मा का लिंग है।

उदाहरण के रूप में तैत्ति० उ० २-१ में आकाश को उत्पन्न हुआ बताया है वहाँ इसका सम्बन्ध अन्नादि से कहा है।

यह उपनिषद् इस प्रकार है—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। (तैत्ति० उ० २-१)

अर्थ है कि 'उस' और 'इस' आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ। 'एतस्मात्' का अर्थ आत्मा से अतिरिक्त है। अतः 'इसका' अर्थ है प्रकृति (ब्रह्म)। अभिप्राय यह है कि प्रकृति से परमात्मा के सहयोग से आकाश उत्पन्न हुआ। यह पाँच भौतिक आकाश का वर्णन है।

इसी मन्त्र को आगे पढ़ने से बात स्पष्ट हो जाती है।

लिखा है कि—

आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी।

स्पष्ट है कि यहाँ पंच महाभूतों की उत्पत्ति का वर्णन है। यहाँ आकाश एक महाभूत है और इसकी उत्पत्ति होती है।

इसी उपनिषद् का एक अन्य प्रमाण (तैत्ति० उ०३-२) शंकर ने दिया है। वहाँ बताया है कि—

तप से ब्रह्म जानने की इच्छा कर। यहाँ ब्रह्म से त्रिविध ब्रह्म का अभिप्राय है। केवल परमात्मा नहीं। तप ब्रह्म है। इत्यादि।

इन उदाहरणों से आकाश की उत्पत्ति तो तब है जब पंच भूतों वाला आकाश लिया है।

वेदों में जहाँ आकाश का कथन किया गया है, वहाँ दोनों में किसी भी आकाश के विषय में हो सकता था। आकाश जो परमात्मा का लिंग है अथवा जो पंच भूतों में एक है। पंच भूतों वाला आकाश परमात्मा का लिंग नहीं।

अतः उत्पत्ति विवाद का विषय नहीं। सूत्रकार ने भी उत्पत्ति का उल्लेख नहीं किया। सूत्रकार कहता है, आकाश का कथन तो है।

कदाचित् कोई वैसा ही मन्त्र पूर्व पक्ष वाले के मस्तिष्क में रहा होगा जैसा मन्त्र हमने (ऋ० १-१६४-३९) ऊपर दिया है। इस पर पूर्व पक्ष कहता है कि यहाँ आकाश का उल्लेख गौण है; अर्थात् सीधा आकाश के विषय में नहीं।

सूत्रकार ने इसका उत्तर दिया कि प्रतिज्ञा 'कि वेद में आकाश शब्द है' गलत नहीं। सूत्रकार आगे प्रकृति के विकार आकाश का वर्णन करता है।

यावद्विकारं तु विभागो लोकवत् ॥ ७ ॥

यावत्+विकारं+तु+विभागः+लोकवत् ।

यावत्=जहाँ तक । विकारं=विकार है (विकार से आकाश का सम्बन्ध है) । तु=तो । विभागः=विभाग होता है । लोकवत्=जैसे लोक में देखा जाता है ।

अर्थात्—जहाँ तक पाँच भौतिक आकाश का सम्बन्ध है, वह विभक्त होता है । अर्थात् कारण से भिन्न रूप वाला हो जाता है और उसे भिन्न रूप में बनाने वाले निमित्त कारण (परमात्मा) से भी वह भिन्न होता है। वैसे ही जैसे संसार में देखा जाता है ।

संसार में देखा जाता है कि स्वर्ण से स्वर्ण-भूषण भिन्न-रूप हो जाते हैं और सुनार से भी उनका सादृश्य नहीं होता। इसी प्रकार प्रकृति के सब विकार प्रकृति के रूप से भिन्न होते हैं और जगत् के निमित्त कारण से भी भिन्न हैं ।

यही बात पाँच भौतिक आकाश की है ।

सांख्य सिद्धान्त के अनुसार प्रकृति से महत्, महत् से अहंकार और अहंकारों से पंच महाभूत बनते हैं। आकाश का विभाग हुआ तो इसी पाँच भौतिक आकाश का उल्लेख है ।

पंच महाभूतों में यह माना जाता है कि अहंकारों से पहले आकाश बना। आकाश से वायु बना, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी ।

यहाँ आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी का अभिप्राय है आकाशीय पदार्थ, वायवीय पदार्थ, आग्नेय पदार्थ, जलीय पदार्थ और पार्थिव पदार्थ ।

इनको वर्तमान वैज्ञानिक भाषा में लिखा जाये तो आकाशीय पदार्थ वह है जो अहंकारों (electron, proton, neutron) से बनता तो है, परन्तु उसका रूप परिमण्डलों (atoms) के रूप में नहीं होता। परिमण्डलों में अहंकार एक-दूसरे के चारों ओर घूमते रहते हैं। आकाश में परिमण्डल (atoms) नहीं बनते । अहंकारों के ऐसे संयोग बन जाते हैं कि वे सामूहिक अवस्था में सर्वथा प्रभावहीन होते हैं। तीनों अहंकार आकाश में एक साथ एकत्रित होकर आकर्षण-विकर्षण रहित हो सन्तुलित अवस्था में हो जाते हैं ।

इन संयोगों में ही गति उत्पन्न होती है और 'ऐटम' (परिमण्डल) बन जाते हैं, परन्तु परिमण्डल एक-दूसरे से इतने दूर होते हैं कि उनकी स्थिति वायु की भाँति होती है । अर्थात् उस स्थिति में परमाणु फैलकर किसी भी स्थान को भर देते हैं। उन पर दबाव कम होने से वे किसी भी स्थान तक फैल सकते हैं।

तब ये परिमण्डल कई कारणों से समीप-समीप आकर जलीय (liquid) रूप धारण कर लेते हैं। इस स्थिति में परिमण्डलों के समूह पर झिल्ली-सी

(surface) बन जाती है जो भीतर के परिमण्डलों को बाहर जाने नहीं देती। इस पर भी वे जिस भी बर्तन में डाले जाएँ, उसके रूप को ही स्वीकार कर लेते हैं। इस अवस्था को तरल अवस्था कहते हैं।

वायवीय और तरल अवस्था के भीतर परिमण्डलों की आग्नेय स्थिति भी होती है। इसमें परिमण्डल अथवा परिमण्डल समूह अग्नि (ताप) उगलने की सामर्थ्य रखते हैं।

जलीय स्थिति से पार्थिव (solid) स्थिति उत्पन्न होती है। इसी प्रक्रिया की ओर सूत्रकार संकेत करता है।

एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः ॥८॥

एतेन + मातरिश्वा + व्याख्यातः।

इस (आकाश) से। मातरिश्वा = वह वायु जिससे अग्नि को जन्म मिलता है (उत्पन्न हुई)। इसकी व्याख्या कर दी गयी है।

वायवीय परिमण्डलों से आग्नेय परिमण्डल कैसे उत्पन्न होते हैं, यह नहीं कहा। यहाँ तो केवल एक क्रम बताने के लिए लिख दिया है कि पंच महाभूतों के बनने की पद्धति इस प्रकार है। अर्थात् आकाश → वायु। वायु से अग्नि इत्यादि।

यहाँ वायु को मातरिश्वा, एक विशेष नाम दिया है। इसमें कारण है। पाँच भौतिक वायु को एक अन्य वायु, जो गति उत्पन्न करता है, से पृथक् करने के लिए यह नाम दिया है। वह वायु परमात्मा की (तेज) शक्ति है और उसका कार्य तो जगत् रचना के आरम्भ से होने लगता है।

मातरिश्वा तो अहंकारों से उत्पन्न आकाश में विकार से बनता है। इसे मातरिश्वा इस कारण कहा है कि इससे आग्नेय पदार्थ बनते हैं। आग्नेय का अर्थ हम बता चुके हैं। ये उन पदार्थों को कहते हैं जहाँ परिमण्डल अथवा परिमण्डल-समूहों में से अग्नि उत्पन्न करने की सामर्थ्य होती है।

विज्ञान में कुछ क्रियाओं को (endothermic) अर्थात् अग्नि भीतर खींचने वाली माना है और कुछ क्रियाओं को (exothermic) अर्थात् अग्नि बाहर फेंकने वाली माना है।

जिन पदार्थों में (exothermic) (ऐक्सोथर्मिक) क्रियाएँ करने की सामर्थ्य है, वे अग्नि भूतों में आते हैं।

इस सूत्र में कहा गया है कि उस (आकाश) से मातरिश्वा अर्थात्

आग्नेय पदार्थ उत्पन्न करने वाली वायु उत्पन्न होती है।

यह वह वायु नहीं जिसका उल्लेख बृ० उ० २-७ में किया है। वह वायु है जो पूर्ण जगत् में कर्म करने की सामर्थ्य उत्पन्न करती है।

यहाँ वायु पाँच-भौतिक है। इसका अभिप्राय है—वायवीय पदार्थ अर्थात् (gaseous) है।

असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः ॥९॥

असम्भवः+तु+सतः+अनुपपत्तेः।

सत् पदार्थ की उत्पत्ति युक्तिरहित है। यदि सम्भव (उत्पाद होने योग्य) हो तो वह सत् नहीं हो सकता। सत् के अर्थ नित्यत्व के हैं।

असम्भवतः=उत्पन्न होता नहीं। सतः=नित्य पदार्थ। अनुपपत्तेः= उपपत्ति अर्थात् सिद्ध न होने से।

स्वामी शंकराचार्य से मतभेद यह है कि सत् पदार्थ एक है अथवा एक से अधिक। स्वामीजी मानते हैं कि केवल परमात्मा ही सत् है। हम यह पूर्व सूत्रों के भाष्यों में सिद्ध कर चुके हैं कि परमात्मा के अतिरिक्त प्रकृति और जीवात्मा भी नित्य हैं।

इस सूत्र की आवश्यकता इस कारण हुई है कि सूत्र २-३-७ में यह कहा है कि विकार रूप आकाश विभाग से बनता है, अर्थात् बनता है, परन्तु जो पदार्थ सत् हैं, वे नहीं बनते।

परमात्मा नहीं बनता। वह शाश्वत अर्थात् अनादि है। वह आकाश भी जिसे परमात्मा का लिंग माना है, अनादि है।

तेजोऽतस्तथा ह्याह ॥१०॥

तेजः+अतः+तथा+हि+आह।

तेजः=तेज। अतः=इस (वायु) से। तथा=ऐसा। हि=निश्चय से। आह=कहा है।

आकाश से मातरिश्वा, मातरिश्वा से अग्नि उत्पन्न होता है। ऐसा शास्त्र में वर्णन किया गया है।

कहाँ वर्णन है? तैत्तिरीय उपनिषद् (२-१) में।

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नात्पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः। (तैत्ति० २-१)

उस और इससे आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से आपः, आपः से पृथिवी, पृथिवी से औषधियां (वनस्पतियाँ), औषधियों से अन्न, अन्न से पुरुष (प्राणी) और वह तथा यह पुरुष अन्न एवं रसमय हैं।

आपः ॥११॥

तेज से आपः (जलय) उत्पन्न होते हैं।

पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः ॥१२॥

पृथिवी+अधिकाररूप+शब्दान्तरेभ्यः।

आपः से पृथिवी की उत्पत्ति बतायी है। 'अधिकाररूप शब्दान्तरेभ्यः' के अर्थ अन्य भाष्यकारों ने ऐसे किये हैं, जो भलीभाँति विषय को स्पष्ट नहीं कर पाते। इस वाक्य का प्रयोजन पृथिवी की व्याख्या करना है।

जैसे वायु न लिखकर मातरिश्वा लिखा था और ऐसा लिखकर उसे उस वायु से पृथक् प्रकट किया था, जो वायु ईश्वरीय शक्ति के रूप में जगत् की रचना और कार्य में भाग लेता है। इसका विस्तृत वर्णन वृहद्० उप० (३-७) में किया है। मातरिश्वा इससे भिन्न पाँच-भौतिक वायु है जो अग्नि की उत्पादक है।

इसी प्रकार पृथिवी का विश्लेषण लिख दिया गया है। कौन पृथिवी? वह जो अधिकार अर्थात् प्रकरण से पता चलती है। प्रकरण से पाँच-भौतिक पृथिवी है जो रूप और शब्द (नाम) रखती है, अर्थात् अपना रूप और नाम रखती है।

यहाँ हम वर्तमान विज्ञान की बात लिख दें तो पृथिवी के विषय में उक्त कथन स्पष्ट हो जायेगा। वर्तमान विज्ञान में 'मैटर' तीन रूपों (अवस्थाओं) में लिखा है—वायवी (gaseous) जलीय (liquid) और ठोस (solid)। ठोस रूप वायवी और जलीय रूपों से विलक्षण इस कारण माना जाता है कि यह अपना रूप स्थिर (stable) रखता है। यही बात पृथिवी की व्याख्या करने के

लिये सूत्रकार ने लिखी है, अर्थात् पृथिवी वह है जिसका रूप और नाम स्थिर है।

आकाश→मातरिश्वा→तेज→आप:→पृथिवी।

अभिप्राय यह कि यहाँ पृथिवी से नक्षत्र (earth) का अर्थ नहीं। पृथिवी (earth) नक्षत्र में बहुत कुछ है, केवल ठोस पदार्थ ही नहीं। अत: प्रकरण से पृथिवी एक पाँच-भौतिक पदार्थ है जो सृष्टि-रचना में अन्तिम महाभूत है। इसका स्थूल रूप ठोस पदार्थ हैं। ये अपना रूप रखते हैं और अपना नाम रखते हैं।

नाम एवं रूप परस्पर सम्बन्धित हैं। उदाहरण के रूप में कंचनचंगा इत्यादि पर्वत हैं। वे रूप और नाम से प्रसिद्ध हैं। इनका नाम और रूप स्थिर है।

संक्षेप में पार्थिव पदार्थ पृथिवी का रूप समझे जाते हैं।

इस पाद के प्रथम सूत्र से लेकर सूत्र संख्या १२ तक पंच-भूतों के विषय में लिखा है। पंच महाभूतों का प्रसंग आकाश से आरम्भ किया गया है। शंका करने वाला कहता है कि वेदों में आकाश शब्द नहीं है। सूत्रकार के मन में कोई वेद मन्त्र रहा होगा। हमने (ऋ० १-१६४-३९) का उदाहरण दिया है। उसमें व्योम शब्द ब्रह्म का सूचक आया है।

शंका करने वाला कहता है कि वेद में आकाश का वर्णन गौण रूप में है, अर्थात् आकाश के लिये नहीं आया। आकाश ब्रह्म के लिये आया है।

सूत्रकार इसका उत्तर यह देता है कि आकाश शब्द से तो यह प्रकट होता है कि आकाश शब्द है। कदाचित् ब्रह्म की भांति वह दूसरे अर्थों में लिया गया है। यद्यपि वहाँ आकाश और परमात्मा साथ आये हैं; इस पर भी यह कहना कि आकाश शब्द वेदों में है, गलत नहीं।

इसके आगे सूत्रकार कहता है कि ब्रह्म के साथ जिस आकाश का वर्णन है, वह दूसरा है और विकार रूप आकाश दूसरा है। वह प्रकृति से उत्पन्न होता है। इसके उपरान्त आकाश से मातरिश्वा, उससे तेज, तेज से जल और जल से पृथिवी की उत्पत्ति का वर्णन कर दिया है।

ध्यान देने योग्य बात यह है कि सृष्टि-क्रम ब्रह्मसूत्रों में वैसे ही बताया है जैसे कि सांख्य और वैशेषिक में बताया गया है। इसी आधार पर हमारा कहना है कि वैदिक दर्शन शास्त्र परस्पर विरोधी नहीं हैं। वे पूरक हैं। वैशेषिक दर्शन (२-१-१,२,३,४,५) देखें।

तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्सः ॥१३॥

तत्+अभिध्यानात्+एव+तु+लिङ्गात्+सः ।

तत्=उस (पंच महाभूत के)। अभिध्यानात्=व्यापक चिन्तन से। एव=ही। तु=तो। तत्=उसके। लिङ्गात्=लक्षण से। सः=वह (परमात्मा विदित होता है।)

अभिप्राय यह है कि सृष्टि क्रम में आकाश से पृथिवी तक के बनने पर चिन्तन करने से परमात्मा के लिङ्गों का पता चलता है।

जितने भी पदार्थ इस जगत् में व्यक्त अर्थात इन्द्रियगोचर हैं, वे पांच अवस्थाओं में पाये जाते हैं। ये अवस्थाएँ हैं आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी। ये अवस्थाएँ उत्तरोत्तर सूक्ष्म से स्थूलता की ओर कही गई हैं।

इनकी व्याख्या में हम इनकी आभ्यन्तरिक बनावट के विषय में लिख चुके हैं। पृथिवी में परिमण्डल अथवा उनके समूह (Atoms and molecules) बहुत समीप-समीप होकर ठोस आकृति उपस्थित करते हैं। इनका रूप और नाम स्थिर होता है। वैज्ञानिक भाषा में कहते हैं (Shape and name) पार्थिव पदार्थों का रूप स्थिर होता है। दूसरी अवस्था है जलीय (तरल) पदार्थों की। इसमें परिमण्डल अथवा परिमण्डल-समूह कुछ दूर-दूर होते हैं। इतने कि वे एक दूसरे के आकर्षण से बाहर नहीं होते, यद्यपि पार्थिव पदार्थों की भांति परस्पर बंधे नहीं होते।

तीसरी अवस्था वायवी (Gaseous) है। इसमें परिमण्डल अथवा परिमण्डल-समूह और भी दूर-दूर होते हैं और यदि इनको दबाव से इकट्ठा न रखा जाये तो ये स्वतन्त्र हो रिक्त स्थान में फैल जाते हैं। वैज्ञानिक भाषा में इनको कहते हैं कि ये Formless हैं। ये न तो आयतन स्थिर रख सकते हैं और न ही रूप।

अग्नि-स्वरूप पदार्थ उनको कहते हैं जिनके परिमण्डल अथवा परिमण्डल-समूहों में वियोग अथवा संयोग सहज ही हो सकता है और इस वियोग अथवा संयोग से अग्नि (ऊष्मा) उत्पन्न होती है।

एक अवस्था ऐसी भी है जिसमें अहंकारों में संयोग तो होता है, परन्तु वह संयोग परिमण्डलों का रूप ग्रहण नहीं करता। अहंकार ऐसे ढंग से संयुक्त होते हैं कि वे सर्वथा आकर्षण-विकर्षण से रहित हो जाते हैं। इस अवस्था में इनको आकाश कहते हैं। ये संयोग लक्षणविहीन होते हैं। इस अवस्था में उनके संयोग-वियोग नहीं हो सकते। इनमें वायु का समावेश न होने से गति उत्पन्न नहीं होती। यहाँ वायु से उस शक्ति का अभिप्राय है जो कि गति उत्पन्न करती है। यह पांच-भौतिक वायु से भिन्न है।

अहंकारों से ये पंच महाभूत बनते हैं और उनसे पंच तन्मात्रा बनती हैं। तन्मात्रा तो पांच प्रकार की शक्ति तरंगें ही हैं। उनसे कुछ कार्य सम्पन्न होते हैं और उन कार्यों को सम्पन्न कर वे विनष्ट हो जाती हैं। पंच महाभूत विशेष कहलाते हैं। इन पंच महाभूतों से बनने वाले कार्य जगत् के सब पदार्थ भी विशेष ही कहलाते हैं और इन विशेषों के स्वभाव और व्यवहार को लिखने वाले दर्शन का नाम वैशेषिक दर्शन है। इस दर्शन शास्त्र के रचयिता कणाद मुनि हैं।

विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च ॥१४॥

विपर्ययेण+तु+क्रमः+अतः+उपपद्यते+च।

विपर्ययेण=विपर्यय से अर्थात् (प्रलय क्रम से)। तु=तो। क्रमः= क्रम। अतः=इस प्रकार। उपपद्यते=सिद्ध होता है।

अर्थात् सृष्टि क्रम के उलट क्रम, प्रलय काल में भी इसी प्रकार होता है। अभिप्राय यह कि पृथ्वी→आपः→अग्नि→वायु→आकाश क्रम रहता है।

आकाशादि (पंच महाभूतों) से पहले हैं अहंकार, महत् और प्रकृति। इनमें भी प्रलय काल में सृष्टि क्रम के विपरीत होगा।

इसी प्रकार सृष्टि क्रम और विपर्यय अर्थात् प्रलय क्रम है।

उक्त (२-३-१३) में सृष्टि क्रम लक्षण है परमात्मा के अस्तित्व का। इसी प्रकार प्रलय क्रम भी उसी के अस्तित्व का प्रमाण है।

अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन्नाविशेषात् ॥१५॥

अन्तरा + विज्ञानमनसी + क्रमेण + तत् + लिंगात् + इतिचेत् + न अविशेषात्।

अन्तरा=बीच में। पंच महाभूतों के क्रम के भीतर। विज्ञानमनसी= बुद्धि और मन। तत् लिङ्गात्=उनके लिङ्ग (लक्षण) से। इतिचेत्=इसे यदि कहो तो। न=नहीं (कारण यह कि) इनके अविशेष होने से।

अर्थात् पंच महाभूतों के क्रम में बुद्धि मन नहीं है। यदि कहो कि ये

दोनों क्रम में हैं तो ऐसी बात नहीं। कारण यह कि ये अविशेष हैं।

मन और बुद्धि महत् का अंश हैं और पंच महाभूतों का क्रम तो अहंकारों के उपरान्त आरम्भ होता है।

अहंकारों के उपरान्त बनी सृष्टि को विशेष कहते हैं और उससे पहली सृष्टि को अविशेष।

इस सूत्र में यह कहा गया है कि मन और बुद्धि पंच महाभूतों के क्रम में नहीं। कारण यह कि ये अविशेष हैं। ये अहंकारों से पहले की सृष्टि है।

चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभावित्वात् ॥१६॥

चराचर+व्यपाश्रयः+तु+स्यात्+तद्+व्यपदेशः+भाक्तः+तद्भाव भावित्वात्।

चराचर व्यपाश्रयः=चराचर प्राणी जो (शरीर के) आश्रय से है। तु=तो। स्यात्=है। तत्=वह। भावतः=गौण। व्यपदेशः=कहे जाने से।

तत्=वह। भाव भावित्वात्=जन्म और मरण होने से। चराचर प्राणियों के जन्म-मरण का कथन गौण है, अर्थात् जो इनमें चेतन तत्त्व है, वह न जन्म लेता है और न मरता है। इनका जन्म-मरण कहने मात्र का है।

अतः जन्म-मरण गौण है, कहने मात्र का है। इनका जीवन देह के आश्रय है जो नाशवान है। आत्मा अविनाशी है।

इस सिद्धान्त की पुष्टि गीता में इस श्लोक से भी होती है—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्-
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः
अजो नित्यः शाश्वतो ऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ (भ०-गी० २-२०)

अर्थ इस प्रकार है—

यह (जीवात्मा) किसी काल में भी न जन्म लेता है, न मरता है। न यह होकर फिर होने वाला है। वह अजन्मा है, नित्य है, शाश्वत और पुरातन है। नाश होने वाला शरीर है। यह (जीवात्मा) नाश नहीं होता।

नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः ॥१७॥

न+आत्मा+अश्रुतेः+नित्यत्वात्+च+ताभ्यः।

न=नहीं। आत्मा=जीवात्मा। अश्रुतेः=श्रुति में न होने से। श्रुति में इसके जन्म-मरण की बात न होने से। नित्यत्वात्=नित्य होने से। ताभ्यः= उनसे। च=और।

जन्म-मरण आत्मा का नहीं होता। ऐसा श्रुति में लिखा है और इसके नित्य अर्थात अमर होने से। होने से क्या ? यही कि प्राणी का जन्म-मरण गौण है, जैसा सूत्र (२-३-१६) में कहा गया है।

ज्ञोऽत एव ॥१८॥

ज्ञः+अतः+एव।

इसलिए यह चेतन ही है।

यहाँ आत्मा में चेतना को स्वीकार करते हुए स्वामी शंकराचार्य ने वैशेषिक और सांख्य दर्शन से अपनी अनभिज्ञता का प्रदर्शन किया है। आप लिखते हैं—

स किं कणभुजानामिवागन्तुकचैतन्यः, स्वतोऽचेतनः, आहोस्वित्सांख्यानामि वनित्यचैतन्यस्वरूप एवेति वादिविप्रतिपत्तेः संशयः। किं तावत्प्राप्तम् ?

इसका अर्थ है—वह क्या कणाद मत के समान आगन्तुक चैतन्य होता हुआ स्वतः अचेतन है अथवा सांख्यकों के समान नित्य चैतन्य स्वरूप ही है। इस प्रकार वादियों के विपरीत कथनों से संशय होता है तो क्या प्राप्त हुआ ?

इसका अभिप्राय यह है कि कणाद के मत से आत्मा में चेतनता आगन्तुक है। अर्थात् कहीं बाहर से आती है और सांख्य आत्मा को नित्य चैतन्य स्वरूप मानता है। इस प्रकार परस्पर विरोधी भावों का समाधान के लिए वेदान्त दर्शन में यह सूत्र कहा गया है।

हमारा यह मत है कि ये सब सूत्र उन जड़वादियों के खण्डन में लिखे हैं जो शरीर को ही चेतन स्वरूप हो जाने का मत प्रकट करते हैं। कणाद और सांख्य का नाम श्री स्वामीजी ने इन दोनों की निन्दा करने के लिए लिख दिया है। कणाद आत्मा को ऐसा नहीं मानता, जैसा कि स्वामीजी ने यहाँ प्रकट किया है।

महर्षि कणाद ने आत्मा के विषय में यह लिखा है—

प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेष-प्रयत्नाश्चात्मनो लिंगः ॥ (वै० द०-३-२-४)

प्राण अपान लेना, पलक खोलना और बन्द करना, जीवन, मन की गति, इन्द्रियों के विकार, सुख दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न—आत्मा के ये लिंग हैं।

लिंग के अर्थ हैं कि वह चिह्न जिनसे आत्मा का ज्ञान होता है। जैसे धुआं देखकर अग्नि का ज्ञान होता है।

यहां यह समझने की बात है कि धुएं से अग्नि का निर्माण नहीं होता अथवा अग्नि में तेज और प्रकाश धुएं से उत्पन्न नहीं होता।

अतः इन्द्रियों के विकार से आत्मा में चेतनता उत्पन्न नहीं होती। इन्द्रियों के विकार तथा मन की गति से आत्मा के अस्तित्व का पता चलता है।

कणाद यह नहीं मानता कि इन्द्रियों से अथवा मन से जीवात्मा में चेतनता आती है। स्वामीजी ने कणाद के वैशेषिक का कोई प्रमाण नहीं दिया। कदाचित् स्वामीजी का आशय वैशेषिक दर्शन के इस सूत्र से है—

आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्चमनसो लिङ्गम् ॥
(वै० द० ३-२-१)

परन्तु इससे स्वामीजी की बात सिद्ध नहीं होती।

इसका अर्थ यह है कि आत्मा और इन्द्रियों के विषय का सम्बन्ध होने पर मन में ज्ञान होना और न होना दिखाई देता है।

यह मन में ज्ञान और अज्ञान के विषय में लिखा है। जब आत्मा और इन्द्रियों का सम्बन्ध होता है तब मन में ज्ञान होता है अथवा ज्ञान का अभाव होता है।

इन्द्रियाँ तो जड़ हैं। अतः आत्मा के चेतन होने के कारण ही इन्द्रियाँ मन को ज्ञान दे सकती हैं।

शंकर का यह कहना कि, इन्द्रियों के बिना आत्मा जड़ है, यह उपरोक्त सूत्र से सिद्ध नहीं होता।

सांख्य के विषय में हम पहले ही लिख चुके हैं कि सांख्य मानता है आत्मा चेतन है, परन्तु ईश्वर कर्ता, धर्ता, स्रष्टा है।

यदि स्वामीजी की अनर्गल बातों के विषय में ही लिखने लगें तो निस्सं-देह एक बहुत बड़ा ग्रन्थ लिखना पड़ेगा।

उत्क्रांतिगत्यागतीनाम् ॥१९॥

उत्क्रान्तिः+गति+आगतीनाम् ।

नीचे की योनियों से उन्नति अर्थात् निम्न कोटि की योनियों से श्रेष्ठ योनियों में जाना और वहाँ से लौट आना होता है। यह जीवात्मा के विषय में कहा गया है। इसी को आवागमन कहते हैं। मरना, जन्म लेना, फिर मरना इत्यादि जीवों (प्राणियों) के साथ होता है। नित्य जीवात्मा इन गतियों में आता जाता है।

स्वात्मना चोत्तरयोः ॥२०॥

स्व+आत्मना+च+उत्तरयोः ।

स्व+आत्मना=अपने आत्मा के साथ सम्बद्ध होने से। (कर्तृत्व शक्ति) उत्तरयोः=दोनों जो आगे होने वाले हैं। अभिप्राय यह कि गति और अगति होती है।

उत्तरयोः का अर्थ कुछ भाष्यकारों ने अगले लोक में जाने से किया है। भावार्थ एक ही है। भाव यह है कि आत्मा जाता-आता है। भिन्न-भिन्न योनियों में जन्म लेता है। इस कारण यह परमात्मा नहीं है। परमात्मा के सर्वव्यापक होने से उसका जाना और आना अथवा एक लोक से दूसरे लोक में जाना नहीं हो सकता।

'स्वात्मना' का अर्थ है कि अपने आत्मा के साथ सम्बन्ध होने से। किसका, किसके साथ सम्बन्ध होने से? यह प्रश्न उत्पन्न होता है। इसका उत्तर है कि जब जीवात्मा में गति-अगति होती है तो मोक्ष-प्राप्ति की अवस्था को छोड़कर जीवात्मा सदा गति-अगति में शरीर (सूक्ष्म अथवा स्थूल) के साथ सम्बद्ध रहता है। अतः हमारा मत है कि इस सूत्र में स्वात्मना का अर्थ: कि सूक्ष्म शरीर अपने आत्मा के साथ गति-अगति करता है।

नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात् ॥२१॥

न+अणुः+अतच्छ्रुतेः+इति+चेत्+न+इतर+अधिकारात।

यह अणु-मात्र नहीं। (ऐसा श्रुति में लिखा कहा जाता है।) यदि यह

कहो तो नहीं । दूसरे के अधिकार से ।

कुछ लोग कहते हैं कि यह लिखा है कि यह (आत्मा) अणु नहीं। अर्थात् यह विभु है । सूत्रकार कहता है कि ऐसा कहो तो ठीक नहीं । यह अणु है । जहाँ कहीं आत्मा को विभु, सर्वव्यापक माना है वहाँ दूसरे अधिकार से है, अर्थात् वहाँ किसी अन्य (परमात्मा) का विषय है ।

आत्मा शब्द जीवात्मा के लिए भी प्रयुक्त होता है और परमात्मा के लिए भी । जहाँ परमात्मा के लिये प्रयुक्त होता है वहाँ इसे विभु कहा जाता है ।

इन सूत्रों के भाष्य में श्री स्वामीजी को सूत्रकार का मन्तव्य स्वीकार करना पड़ा है । उदाहरण के रूप में श्री स्वामीजी इसी सूत्र (२-३-२१) के भाष्य में लिखते हैं ।

अथापि स्यान्नाणुरयमात्मा । कस्मात् ? अतच्छ्रुतेः । अणुत्वविपरीत-परिमाणश्रवणादित्यर्थः । 'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' (बृ० ४-४-१२), 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः,' 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २-१-१) इत्येवंजातीयका हि श्रुतिरात्मनोऽणुत्वे विप्रतिषिध्येतेति चेत्—नैष दोषः, कस्मात् ? इतराधिकारात् । परस्य ह्यात्मनः प्रक्रियायामेषा परि-माणान्तरश्रुतिः,···

अर्थात्—इस पर भी शंका होती है कि यह आत्मा अणु नहीं है । क्योंकि श्रुति में ऐसा कहा है । अणु परिमाण के विपरीत परिमाण है, ऐसा सुने जाने के कारण । 'वह महान् अजन्मा आत्मा है, जो वह प्राणों में विज्ञान-मय है,' 'वह आकाशवत्, सर्वगत और नित्य है,' 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ।' इस प्रकार श्रुतियाँ आत्मा को अणु मानने के विरुद्ध हैं । ऐसा यदि कहो तो यह दोष नहीं । क्योंकि इतर का अधिकार है—परमात्मा के प्रकरण की श्रुतियाँ हैं ।

यहाँ तो स्वामीजी ने भी स्वीकार कर लिया है कि परमात्मा जीवात्मा से इतर है । 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' मन गढ़न्त कल्पना है ।

स्वशब्दोन्मानाभ्यां च ॥२२॥

स्वशब्द+उन्मानाभ्याम्+च ।

जब जीवात्मा का वर्णन आता है तो प्राणी अपना आत्मा, ऐसा कहता है । अभिप्राय यह कि प्रत्येक प्राणी का अपना-अपना जीवात्मा है । इससे और

इसका नाप होने से यह सीमा वाला है। इसी से इसे अणु-मात्र कहा है। अणु का अभिप्राय है कि बहुत ही सूक्ष्म है।

परमात्मा को तो 'अक्षरमम्बरान्तधृतेः' : (ब्र० सू० ३-१-९) ऐसा लिखा है। यह आकाश के अन्त तक धारण करता है। आकाश अनन्त है। इस कारण परमात्मा भी अनन्त है, परन्तु जीवात्मा के विषय में यह लिखा है कि यह अणु-मात्र है।

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो। (मुण्ड० ३-१-९)

यह आत्मा अणु बराबर चेतन कहा जाता है।

अविरोधश्चन्दनवत् ॥२३॥

अविरोधः+चन्दनवत् ।

चन्दन की गन्ध की भाँति (इसके अणु होने पर भी पूर्ण शरीर में कार्य कर सकने में) विरोध नहीं।

यहाँ उपमा बहुत उपयुक्त नहीं दी गयी। चन्दन की सुगन्ध और आत्मा का शरीर में कार्य एक समान नहीं। उपमा पूर्ण अंगों में ठीक नहीं। यह बात सूत्रकार को भी अनुभव हुई प्रतीत होती है। इसी कारण अपनी बात को समझाने के लिए सूत्रकार ने एक अन्य सूत्र लिख दिया है। वह सूत्र नीचे दिया है।

इस पर भी एक अंश में उपमा ठीक बैठती है। चन्दन कमरे के एक कोने में पड़ा हो तो इसकी गन्ध पूर्ण कमरे में फैल जाती है। इस प्रकार जीवात्मा हृदय की गुहा में रहता है, परन्तु इसका कार्य पूर्ण शरीर में होता है।

अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन्नाभ्युपगमाद्हृदि हि ॥२४॥

अवस्थिति वैशेष्यात्+इति+चेत्+न+अभ्युपगमात्+हृदि+हि ।

(चन्दन की) स्थिति की विशेषता से। यदि यह कहो तो ठीक नहीं। (क्योंकि) हृदय देश में (आत्मा की) स्थिति स्वीकार की गयी है।

चन्दन की विशेष स्थिति यह है कि चन्दन के अंश उड़कर दूसरे स्थानों पर जाते हैं। तब इसकी सुगन्धि वहाँ अनुभव होती है। आत्मा के अंश तो

टूट-टूटकर शरीर में अन्य स्थानों पर नहीं जाते। यह विशेष स्थिति है। इससे यदि कहो कि आत्मा पूर्ण शरीर में होना चाहिये तो यह नहीं। हृदय स्थल में ही यह स्वीकार किया गया है और यह हृदय (मस्तिष्क) से, वात शिराओं (nerves) से, पूर्ण शरीर से सम्बन्धित है। इस कारण आत्मा को अणु-मात्र मान लेने से इसके शरीर में कार्य का विरोध (आपत्ति) नहीं।

यहाँ सूत्रकार ने स्वामी शंकराचार्य के मत 'जीवो ब्रह्मैव नापर:' को स्वीकार नहीं किया। यदि जीवात्मा परमात्मा ही होता तो उसके अणु-मात्र मानने में कोई तत्त्व नहीं रह जाता। न ही 'चन्दनवत्' इत्यादि उदाहरणों की आवश्यकता थी।

गुणाद्वा लोकवत् ॥२५॥

गुणात्+वा+लोकवत्।

गुणात्=गुण से। वा=अथवा। लोकवत्=लोक में जैसे।

विचारणीय विषय यह उपस्थित है कि जीवात्मा को यदि अणु परिमाण वाला मानें तो वह पूर्ण शरीर पर आधिपत्य कैसे रखे हुए है?

सूत्रकार ने एक उपमा दी है। जैसे चन्दन की गन्ध फैल जाती है, परन्तु इस उपमा से पूर्ण परिस्थिति को प्रकट न कर सकने के कारण उसकी सफ़ाई दे दी। कहा कि चन्दन की विशेष (एक बात) में समानता है—सुगन्धि का फैल जाना। वैसे आत्मा हृदय (मस्तिष्क) की एक गुहा में रहा माना जाता है और मस्तिष्क पूर्ण शरीर से शिराओं के द्वारा जुड़ा हुआ है। इस कारण आत्मा अणु होते हुए भी पूर्ण शरीर पर अधिकार रखता है।

कैसे अधिकार रखता है? इसमें यह सूत्र लिखा है कि आत्मा अपने गुणों से शरीर पर शासन करता है। आत्मा का गुण है कि यह चेतन है। ईक्षण रखता है।

साथ ही यह कह दिया कि जैसे लोक में एक अधिकारी नगर पर अधिकार रखता है। आत्मा की सेवा के लिए मन, बुद्धि और दस इन्द्रियाँ हैं। इनके द्वारा यह पूर्ण शरीर पर ऐसे राज्य करता है जैसे कि राजा अपने कर्मचारियों द्वारा देश पर राज्य करता है।

व्यतिरेको गन्धवत् ॥२६॥

व्यतिरेक:+गन्धवत् ।

व्यतिरेक:=पृथक् होना । गन्धवत्=गन्ध की भाँति ।

जैसे गन्धवान् वस्तु से गन्ध पृथक् हो, अपना प्रभाव दिखाती है, वैसे ही आत्मा का प्रभाव आत्मा से पृथक् स्थान पर देखा जाता है। यह इन्द्रियों द्वारा होता है।

पिछले सूत्र में 'गुणात्' शब्द आया है। अर्थात् आत्मा का गुण 'ईक्षण' पूर्ण शरीर पर दिखायी देता है। गुण का प्रभाव लोकवत् होता है। अर्थात् जैसे राजा कर्मचारियों द्वारा अपने गुणों का प्रदर्शन प्रजा पर करता है, वैसे ही आत्मा, मन, बुद्धि और इन्द्रियों द्वारा शरीर पर अपने गुणों का प्रभाव उत्पन्न करती है।

परन्तु वर्तमान सूत्र में गुणों की गन्ध से तुलना नहीं की। गन्ध की तुलना राज्य के उन कर्मचारियों से की है जो राजा के गुण पहुँचाते हैं।

गन्ध फूल अथवा चन्दन का गुण नहीं। गन्ध तो फूल अथवा चन्दन में एक प्रकार का तेल (essential oil) होता है। वह तेल (essential oil) उड़ने वाला होता है। उस तेल का गुण गन्ध है और यह तेल उड़कर जहाँ जाता है वहाँ यह गन्ध अनुभव होती है। अत: फूल की सुगन्धि जब सूंघने वाले के पास पहुँचती है तो वास्तव में उस फूल का तेल फूल से उड़कर सूंघने वाले के पास जाता है।

इस कारण फूल और सुगन्धि वाले तेल का वह सम्बन्ध है जो राजा और उसके कर्मचारी का है।

अत: हमने इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार किया है। गन्ध की भाँति पृथक् हो जाता है। कौन पृथक् हो जाता है ? ईक्षण गुण वाला आत्मा, प्रभाव ले जाने वाली इन्द्रियों से। प्रभाव गुण नहीं है। प्रभाव गुण का लक्षण है। यह पदार्थ से पृथक् हो सकता है, गुण नहीं।

यही इसका गुण है। गुण इन्द्रियों द्वारा पूर्ण शरीर पर प्रकट होता है जैसे फूल की गन्ध का प्रभाव प्रकट होता है।

तथा च दर्शयति ॥२७॥

तथा+च+दर्शयति ।

तथा=वैसा। च=ही। दर्शयति=देखने में आता है। कहाँ देखने में

—२९

आता है ? वेदादि शास्त्रों में, अथवा सांसारिक कार्यों में ।

उदाहरण के रूप में श्वेताश्वतर उपनिषद् में जीवात्मा के विषय में लिखा है—

गुणान्वयो यः फलकर्मकर्त्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता ।
स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः संचरति स्वकर्मभिः ।।
बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।
भोगो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ।।

(श्वेता० उ० ५-७, ६)

अर्थ है—जो गुणयुक्त, फलप्रद कर्मों का करने वाला, किये कर्मों का भोगने वाला है, वह विश्व रूप विभिन्न रूपों, तीन गुणों और तीन मार्गों पर गमन करने वाला है। प्राणों का स्वामी अपने कर्मों से जन्म-जन्मान्तरों में घूमता है।

वह (जीवात्मा) बाल के अग्र भाग के सौवें भाग को सौवों भाग के बराबर कल्पित किया गया है। यह भाग परिमाण है जीव का। ऐसा जानना चाहिए। वह (जीवात्मा) अनन्त मार्ग पर जाने वाला माना जाता है।

अन्य स्थानों पर भी जीवात्मा को अति सूक्ष्म ही माना है।

लोकवत् इसका प्रभाव शरीर के दूर-दूर अंगों में भी शरीर के करणों द्वारा पहुँचता है।

पृथगुपदेशात् ।।२८।।

पृथक्+उपदेशात् ।

जीवात्मा का परमात्मा से पृथक् में उपदेश (वर्णन) है। अर्थात् जीवात्मा को परमात्मा नहीं कहा गया। यह परमात्मा से पृथक् है।

यच्छद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ।।

(कठो० १-३-१३)

अर्थात्—बुद्धिमान् मनुष्य मन, वाणी को रोके (संयत करे)। उस मन, वाणी को बुद्धि में रोके। उस बुद्धि को महान् (अर्थात् मन, वाणी, बुद्धि से बड़े) आत्मा में रोके और उसको परमात्मा में जोड़े।

एक अन्य स्थान पर भी लिखा है—

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम् ।
सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥
अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च ।
यंज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ॥

(कठो० २-३-७, ८)

अर्थात्—इन्द्रियों से मन बलवान् है। मन से बुद्धि बलवान् है। बुद्धि से बड़ा आत्मा (जीवात्मा) है। इससे बड़ा उत्तम अव्यक्त (परमात्मा) है।

इस अव्यक्त को बड़ा पुरुष (परमात्मा) कहते हैं, जो लिंगों से रहित है, उसे जानकर जीवात्मा अमृत को प्राप्त कर लेता है।

इन उदाहरणों में जीवात्मा और परमात्मा में भेद बताया है।

तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् ॥२९॥

तत्+गुणसारत्वात्+तु+तत्+व्यपदेशः+प्राज्ञवत् ।

तत्=उसका। गुणसारत्वात्=गुण की प्रधानता से। तु=तो। व्यपदेशः=कथन। प्राज्ञवत्=चेतन की भाँति (है)।

यह कहा गया है कि अपने विशेष गुणों के कारण वह शरीर में व्याप्त रहता है। जैसे चेतनता शरीर में सर्वत्र रहती है।

आत्मा अणुमात्र है, परन्तु अपने विशेष गुणों के कारण पूर्ण शरीर में यह व्याप्त प्रतीत होता है। पूर्ण शरीर चेतन अनुभव होता है।

प्राज्ञ—चेतनता का नाम है। आत्मा पूर्ण शरीर में व्यापक नहीं। इस पर भी यह पूर्ण शरीर का अनुभव (ज्ञान) रखता है। यह अपने विशेष गुणों के कारण है।

यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात् ॥३०॥

यावत्+आत्म भावित्वात्+च+न+दोषः+तत्+दर्शनात् ।

यावत्=जब तक। आत्मभावित्वात्=आत्मा का होना है। च=और। न=नहीं। दोषः=दोष। तत्=उसके। दर्शनात्=दर्शन से।

इस सूत्र के लिखने में प्रयोजन यह प्रतीत होता है कि कुछ लोग कहते

हैं कि जब तक जीवात्मा इस शरीर में है, तब तक ही वह कार्य करता है।

शरीर छूट जाने पर वह अस्तित्वहीन हो जाता है। अर्थात् जीवात्मा बिना शरीर के कुछ भी नहीं कर सकता। तो फिर उसके दर्शन का क्या लाभ है? शरीर का ही ज्ञान आवश्यक है।

इस सम्बन्ध में सूत्रकार का कहना है कि नहीं, यह ऐसा नहीं है। जब तक यह शरीर में अस्तित्व रखता है; इसकी भावित्वात् (विद्यमानता) है, तब तक इसके दर्शन में 'दोष' नहीं। अर्थात् इसके दर्शन व्यर्थ नहीं।

यह पूर्व में सिद्ध किया जा चुका है कि जीवात्मा नित्य है। अतः इसका दर्शन दोषयुक्त अथवा व्यर्थ नहीं।

कुछ भाष्यकारों ने यह लिखा है कि आत्मा की विद्यमानता तो बुद्धि और मन के संयोग से दिखाई देती है और बुद्धि तथा मन, शरीर के नष्ट होने पर नष्ट हो जाते हैं। इस कारण आत्मा की विद्यमानता शरीर के नाश होने पर नहीं रहती।

यह अर्थ इस सूत्र से निकलते नहीं। आत्मा के 'भावित्वात्' का अभिप्राय केवल इतना है कि आत्मा की विद्यमानता है। यह किस कारण है, इसका उल्लेख इस सूत्र में नहीं। बुद्धि तथा मन को इन भाष्यकारों द्वारा व्यर्थ में साथ जोड़ दिया गया है।

यद्यपि हम यह मानते हैं कि मन, जन्म-जन्मान्तर तक आत्मा के साथ रहता है और स्वामी ब्रह्म मुनिजी का विचार है कि बुद्धि गुण रूप में मोक्षावस्था में भी साथ रहती है। परन्तु हमारा तो यह कहना है कि इसका सम्बन्ध इस सूत्र के साथ नहीं।

इसमें तो इतना ही लिखा है कि आत्मा की विद्यमानता सदैव रहने से इसके दर्शन से दोष नहीं। अर्थात् गुण है। मोक्ष प्राप्ति में दर्शन से लाभ होता है।

हमारा मत बुद्धि के विषय में यह है कि जागृत अवस्था में जीवात्मा स्वतः बिना मन और बुद्धि के भी अपना अस्तित्व रखता है। बुद्धि और मन तो जड़ हैं। ये जीवात्मा की चेतनता को प्रखर कर देते हैं। यह इसी प्रकार है जैसे कि बोलने वाले के शब्द को 'लाऊडस्पीकर' ऊँचा कर देता है। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि इनके बिना जीवात्मा स्वतः कुछ नहीं। जीवात्मा चेतन होने के कारण स्वतः चेतन कार्य करने के योग्य है।

जो लोग जीवात्मा को परमात्मा का अज्ञानी हुआ अंश मानते हैं, उनकी बात तो समझ में आती है। वे बुद्धि और मन से परमात्मा को अज्ञानी हो गया समझते हैं।

परन्तु यह शास्त्रीय कथन नहीं। युक्ति और शास्त्र का मत वही है कि

जीवात्मा चेतन तत्त्व है और इसने ज्ञानवान् होना है। अतः इसकी चेतनता सर्वत्र और सदैव रहती है यह केवल सुषुप्ति अवस्था में नहीं होती है। यह अवस्था जगत् के प्रलयकाल में होती है। उस समय जीवात्मा सक्रिय नहीं रहती।

अतः इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार बनता है—

जब तक जीवात्मा 'भावित्वात्' (की विद्यमानता है) इसके (जीवात्मा के) दर्शन साक्षात्कार में दोष नहीं आता।

पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात् ॥३१॥

पुंसत्व+आदिवत्+तु+अस्य+सतः+अभिव्यक्तियोगात्।

पूर्व सूत्र में यह बताया गया है कि जीवात्मा अपने गुणों से चेतन होता है। इस सूत्र में यह कहा है कि सुषुप्ति अवस्था में भी जीवात्मा की चेतनता नष्ट नहीं होती। वह उसमें वैसे ही रहती है जैसे मनुष्य की प्रत्येक अवस्था में पुंसत्व रहता है।

वीर्य और पुंसत्व तो बाल्यकाल में भी रहता है, परन्तु इसकी अभिव्यक्ति यौवनकाल में ही होती है। इसी प्रकार जीवात्मा में चेतना सदैव रहती है, परन्तु उस चेतनता की अभिव्यक्ति केवल मात्र जागृत अवस्था में दिखायी देती है। तब यह सक्रिय होता है।

अतः इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार बनता है—

इसकी (चेतनता की) तो अभिव्यक्ति (प्रकटीकरण) होती है जागृत अवस्था में। पुंसत्व की भाँति। अर्थात् पुंसत्व सदैव रहता है। यद्यपि इसका प्रकटीकरण यौवनकाल में होता है।

हमारा विचारित मत यही है कि उक्त सूत्र (२-३-३०) में शब्द भावित्वात् का अर्थ है जागृत अवस्था में विद्यमानता। इसमें बुद्धि इत्यादि के साथ होने अथवा न होने की बात नहीं है। जब तक इसकी जागृति अवस्था में विद्यमानता है तब तक प्राज्ञ (चेतन्यता) रहती है और सूत्र २-३-३१ में यह बताया गया है कि यह चेतनता सुषुप्ति अवस्था में भी रहती है। जैसे बाल्य-काल में पुंसत्व। अभिप्राय यह कि जीवात्मा में चेतनता नित्य है।

नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतरनियमो वाऽन्यथा ॥३२॥

नित्योउपलब्धि + अनुपलब्धि + प्रसंगः + अन्यतरनियमः + वा + अन्यथा ।

उपलब्धि से अभिप्राय है विषयों की अनुभूति; और अनुपलब्धि से अभिप्राय है विषयों का अनुभव न करना । ये गुण जीवात्मा के साथ नित्य अर्थात् सदा रहते हैं । प्रसंग का अभिप्राय है संदर्भ में । अन्यतरनियम से अभिप्राय है कि परमात्मा और जीवात्मा, दोनों में से एक । अर्थात् जीवात्मा के द्वारा नियमन । अर्थात् दूसरे से नियन्त्रण (मानना पड़ेगा) । वा=अथवा । अन्यथा=दूसरी प्रकार से नहीं तो ।

पूर्ण सूत्र का अर्थ बनता है कि जीवात्मा में विषयों की उपलब्धि अथवा अनुपलब्धि नित्य है । इसको अनुभव करने अथवा न करने का सामर्थ्य सदा रहता है, क्योंकि यह शरीर का अधिष्ठाता है ।

अभिप्राय यह है कि जीवात्मा की विषयों को अनुभव करने की सामर्थ्य अथवा न अनुभव करने की सामर्थ्य नित्य है । एक सीमा तक तो यह अनुभव कर सकता है और उस सीमा से ऊपर अनुभव नहीं करता । यह सामर्थ्य और असमर्थता नित्य अर्थात् सदा रहने वाली है । नहीं तो यह मानना पड़ेगा कि यह अपने कर्मों में स्वतन्त्र नहीं है ।

सूत्र में अन्य से मन अथवा बुद्धि भी हो सकते हैं और वह परमात्मा भी हो सकता है, परन्तु ऐसा है नहीं । यदि ऐसा मानेंगे तो जीवात्मा अपने भले-बुरे कार्य के फल का भोक्ता नहीं रह जायेगा और धर्म-अधर्म का, पुण्य-पाप का जीवात्मा के अतिरिक्त किसी अन्य को अधिकार हो जायेगा ।

यह सिद्ध हो चुका है कि परमात्मा तो शक्ति देता है और उस शक्ति का प्रयोग अथवा दुरुपयोग जीवात्मा अपनी जिम्मेदारी पर करता है ।

अतः इस सूत्र को ऊपर के सूत्रों की शृंखला में ही समझना चाहिए । स्वामी शंकराचार्य प्रभृति भाष्यकार इन सूत्रों से यह सिद्ध कर रहे हैं कि जीवात्मा स्वयं अनुभव नहीं करता । बुद्धि और मन ही इसमें साधन हैं । वह इस सूत्र का अर्थ बदल कर करते हैं ।

उनका कहना है कि जीवात्मा की नित्य उपलब्धि अथवा अनुपलब्धि का विषय दूसरे के नियमन के कारण है । नहीं तो कुछ अन्य बात मानी जायेगी । वह बात क्या मानी जायेगी ? उन्होंने बताया नहीं ।

हम तो सूत्र के अपने अर्थ को ही ठीक समझते हैं । हमारे अर्थ में और इस अर्थ में अन्तर यह है कि हम उपलब्धि और अनुपलब्धि को सामर्थ्य से

जोड़ते हैं। जीवात्मा अल्प-सामर्थ्य है, इस कारण इसे असीम कुछ भी उपलब्ध नहीं। इसकी उपलब्धि की सीमा है। अतः उपलब्धियाँ और अनुपलब्धियाँ दोनों चलती हैं। इनका सम्बन्ध मन, बुद्धि से नहीं, वरंच आत्मा के सामर्थ्य से है। यदि यह नहीं मानते तो इस पर किसी दूसरे का नियन्त्रण माना जायेगा और प्राणी के कर्मों का फल जीवात्मा के स्थान उस नियन्त्रण करने वाले तत्त्व को होगा।

कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् ॥३३॥

कर्ता+शास्त्र+अर्थवत्त्वात्।

(जीवात्मा) कर्ता है। शास्त्र के अर्थ के अनुकूल होने से।

अर्थात्—शास्त्र भी यही कहता है कि जीवात्मा कार्य करने का उत्तरदायित्व रखता है। यह किसी के आदेश से कार्य नहीं करता। शास्त्र (वेद) में इसको अनेक स्थान पर ऐसा करने वाला माना है? कैसे! वेद कहता है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत ँ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

(यजु० ४०-२)

अर्थात्—मनुष्य को कर्म करते हुए सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करनी चाहिये। इस प्रकार तुम्हारे (मनुष्य के) लिये दूसरा कोई मार्ग ही नहीं। ऐसा करते हुए कर्म में लिप्त न हों।

विहारोपदेशात् ॥३४॥

विहार+उपदेशात्।

विहार (इच्छानुसार कर्म) करने का उपदेश होने से।

इससे यही सिद्ध होता है कि जीवात्मा को कर्म करने की स्वतन्त्रता है। विहार के अर्थ हैं स्वेच्छा से आचरण करना। आर्य-शास्त्र प्राणी में आत्मा को स्वतंत्रता से कार्य करने की व्यवस्था करता है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में इस प्रकार लिखा है—

···एवमेवैष एतत्प्राणान् गृहीत्वा स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते।

(बृ० २-१-१८)

अर्थात्—ऐसे ही यह (आत्मा) इन इन्द्रियों से अपने शरीर में यथेच्छा से विचरता है।

इसी प्रकार अन्य उद्धरण भी दिये जा सकते हैं।

उपादानात् ॥३५॥

उपादान से भी (यही सिद्ध होता है)।

उपादान का अर्थ उन पदार्थों से है, जो आत्मा अपने कार्य करने में प्रयोग करता है। शरीर में आत्मा निम्न करणों का प्रयोग करता है। करण हैं दस इन्द्रियां, मन और बुद्धि। ये जड़ पदार्थ हैं। इसी कारण इनको उपादान कहा है।

मनुष्य अपनी इन्द्रियों का स्वेच्छा से प्रयोग करता है। वह अपने हाथ से अपने पुत्र को प्यार भी दे सकता है और पीट भी सकता है। इसी प्रकार सब करणों के विषय में कहा जा सकता है।

व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देशविपर्ययः ॥३६॥

व्यपदेशात् + च + क्रियायां + न + चेत् + निर्देश + विपर्ययः।

और कहने से क्रिया में (आत्मा स्वतन्त्र है), यदि नहीं तो इसके निर्देशन के विपरीत (कार्य) हो जायेगा।

इसका अर्थ यह है कि यदि कोई कहता है कि मैं बम्बई ज़ाऊँगा और जाता है तो इस पर यदि यह कहो कि वह अपनी इच्छा और कहने से नहीं जाता तो यह अयुक्त होगा। अर्थात् वह अपनी इच्छा से ही जाता है। यदि यह नहीं मानते तो मनुष्य इच्छा करे बम्बई जाने की और जा पहुँचे कलकत्ता।

अर्थात् क्रियायें उसकी इच्छानुसार ही होती हैं और जैसा वह निर्देश करता है वैसा ही कर्म हो जाता है।

अनेक बार यह देखा जाता है कि बुद्धि तो एक बात कहती है, परन्तु आत्मा की इच्छा बुद्धि की सम्मति के विपरीत होती है। इस पर भी क्रिया तो आत्मा के आदेशानुसार ही होती है। यदि बुद्धि कर्मों पर शासन करती तो आत्मा के आदेश से अन्य हो जाता।

उदाहरण के रूप में कभी रोगी मिष्ठान्न खाने की इच्छा करता है। बुद्धि उसे यह बताती है कि मिष्ठान्न खाने से रोग में वृद्धि होगी, परन्तु आत्मा हाथों को आदेश देता है कि लाओ और मुख में डाल दो। कार्य होता है। जैसी बुद्धि की सम्मति थी, उसके विपरीत भी हो जाता है।

अतः सूत्रकार कहता है कि क्रिया वैसी ही होती है जैसी आत्मा कहता है। यदि आत्मा के अतिरिक्त कोई अन्य कराने वाला होता तो आत्मा के निर्देश के विपरीत कार्य हो जाता।

इच्छा, मन अथवा बुद्धि का लक्षण नहीं बताया। यह जीवात्मा का लक्षण (लिङ्ग) है। मन का कार्य है संस्कार संचय करना। बुद्धि सम्मतिदाता है। कार्य जीवात्मा कर्मेन्द्रियों द्वारा करता है।

उपलब्धिवदनियमः ॥३७॥

उपलब्धिवत्+अनियमः।

उपलब्धि का अर्थ है कर्म के फल की अनुभूति। यह अनुभूति प्रिय और अप्रिय दोनों प्रकार की होती है। यह नियम नहीं कि यह सदा प्रिय ही हो। यद्यपि मनुष्य प्रिय की इच्छा करता है, परन्तु यह होती नहीं। क्यों ऐसा नहीं होता? जब आत्मा स्वतन्त्र है तो यह अप्रिय को क्यों प्राप्त होता है?

सूत्रकार कहता है कि प्रिय और अप्रिय की प्राप्ति सर्वथा निश्चित नहीं है और इसका कारण यह है कि आत्मा के काम भी अनिश्चित हैं। जैसे इसके कर्म अनियमित हैं वैसे ही उपलब्धियाँ नियम से नहीं होतीं। यह जैसा करता है, वैसी ही उपलब्धि इसकी होती है।

इसका क्रियाओं के विषय में आदेश अनियमित है; इसी कारण इसकी उपलब्धियाँ (कर्म फल) भी अनियमित हैं।

प्रश्न उपस्थित होता है कि यह चेतन है, फिर इसकी क्रियाएँ अनियमित क्यों हैं?

इसका समाधान सूत्रकार इस प्रकार करता है।

शक्तिविपर्ययात् ॥३८॥

शक्ति+विपर्ययात्।

शक्ति के उलट हो जाने से।

शक्ति से अभिप्राय करणों की कार्य-सामर्थ्य से है। दस इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि कितने सबल, श्रेष्ठ और कुशल हैं, उस पर आत्मा के कार्य की श्रेष्ठता, पूर्णता एवं दिशा निर्भर है और फिर वही उपलब्धियों का आधार है। करणों की कार्य-सामर्थ्य न केवल न्यूनाधिक होती रहती है, वरंच यह कभी ठीक दिशा में भी कार्य नहीं करती। इस कारण क्रियायें अनियमित होती हैं और उपलब्धियाँ भी अनियमित होती हैं।

अन्य भी कारण बताया है।

समाध्यभावाच्च ॥३९॥

च+समाधि+अभावात्।

और समाधि के अभाव से भी कर्मों का निर्देश अनियमित है और उपलब्धियाँ भी अनियमित होती हैं।

आत्मा द्वारा बुद्धि का किसी कार्य-विशेष पर केन्द्रित कर सकना ही समाधि है। जितना बुद्धि का केन्द्रीयकरण कम होगा, उतना ही आत्मा के निर्देश शिथिल और मिथ्या दिशा में होंगे और उपलब्धियाँ भी अनियमित होंगी।

इसमें एक उदाहरण भी दिया है।

यथा च तक्षोभयथा ॥४०॥

च+यथा+तक्षा+उभयथा।

और जैसे बढ़ई दोनों बातें कर सकता है। अर्थात् काम करे अथवा न करे। करण ठीक होते हुए भी जीवात्मा उन द्वारा कार्य नहीं करता अथवा समय पर कार्य नहीं करता। इससे भी उपलब्धियों में अनियमितता हो जाती है।

परात्तु तच्छ्रुतेः ॥४१॥

परात् + तु + तत् + श्रुतेः ।

श्रुते=यह श्रुति में वर्णित है। परात्=दूसरे से (यह होता है)। क्या होता है ? करणों में शक्ति परमात्मा की मानी गई है। इस कारण आत्मा स्वतन्त्र होता हुआ भी उन करणों से ही काम करता है जो करण परमात्मा के दिये हुए हैं। परमात्मा इन करणों में शक्ति देता है आत्मा के पूर्व जन्म के कर्म फल के अनुसार। दुर्व्यसनों से यह करणों की शक्ति छिन भी जाती है।

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव।

(ऋ० १०-१२१-३)

जो (प्राणतः) इन्द्रियों में प्राण अर्थात् शक्ति देता है; (निमिषतो) आँखों में झपकने की शक्ति देता है; (इन्द्राजा) सब जगत् पर शासन करता है; जैसे राजा शासन करता है।

भगवद्गीता में और भी स्पष्ट रूप से लिखा है।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

(भ० गी० १८-६१)

ईश्वर अपनी (मायया) शक्ति से सब भूतों के यन्त्रों पर आरूढ़ हो उनको चलाता हुआ सब भूतों के हृद्देश में ठहरा रहता है।

कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः ॥४२॥

कृतप्रयत्न + अपेक्षः + विहितप्रतिषिद्ध + अवैयर्थ्यादिभ्यः + तु ।

किये गये प्रयत्न पर अपेक्षा रखने से तो विहित और प्रतिषिद्ध (कर्म) की व्यर्थता नहीं होती। अर्थात् उनका उचित फल मिलता है।

इसका अभिप्राय यह है कि परमात्मा की अपेक्षा जीवात्मा के कर्मों पर रहती है। इस कारण जीवात्मा के सब प्रकार के विहित अथवा प्रतिषिद्ध कर्मों का फल मिलता है। जीवात्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है, परन्तु उन कर्मों का फल परमात्मा देता है।

उदाहरण के रूप में यजु० (४०-१) में लिखा है—

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्

अर्थात्—त्याग से भोग करो और किसी के भी धन की इच्छा मत करो।

और भी लिखा है—

सत्यं वद धर्मं चर। (तैत्ति० १-११-१)

सत्य बोले और धर्म पर आचरण करे।

ऊपर सूत्र (२-३-४०) में यह कहा था कि परमात्मा की शक्ति से प्राणी के करण कार्य करते हैं। अगले सूत्र (२-३-४१) में यह बताया है कि परमात्मा के इस शक्ति के दाता होने पर भी जीवात्मा के कर्मों का वह निर्देशन नहीं करता; अर्थात् परमात्मा जीवात्मा के कार्यों पर नियन्त्रण नहीं रखता। जीवात्मा कर्म करने अथवा न करने में सर्वथा स्वतन्त्र है। अब इस सूत्र (२-३-४२) में लिखा है कि वह जीवात्मा के कर्मों पर अपेक्षा रखता है और प्रत्येक कर्म का फल देता है। विहित कर्म अर्थात् शास्त्र में कहे गये करने योग्य कर्म का और प्रतिषिद्ध (करने से मना किये गए) कर्म सबका उचित फल देता है।

अपेक्षा के अर्थ निगरानी रखना है।

अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्य-मधीयते एके ॥४३॥

अंशः + नानाव्यपदेशात् + अन्यथा + च + अपि + दाशकितवादित्वम् + अधीयते + एके।

एके = कई एक आचार्य (जीवात्मा को)। अंशः = परमात्मा का अंश मानते हैं। नानाव्यपदेशात् = अनेक प्रकार के उपदेशों से। अन्यथा = दूसरे ढंग से। च = और। अपि = भी। दाशकितवादित्वम् = दाशकितव की भाँति। अधीयते = शास्त्रों में पढ़ते हैं।

इस सूत्र का अर्थ यह है कि कई एक आचार्य नाना प्रकार के उपदेशों (कथनों) से एक दूसरे ढंग से (जीवात्मा को परमात्मा का) अंश मानते हैं। (वे कहते हैं कि) जैसे दाशकितव में अंश होता है वैसे ही जीवात्मा परमात्मा का अंश है।

इस सूत्र में पद (दाशकितवा) के अर्थ भिन्न-भिन्न भाष्यकारों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से किये हैं।

हम पहले आचार्य श्री उदवीर शास्त्रीजी द्वारा किये अर्थों को लिख देते हैं। शास्त्री जी लिखते हैं—

'सूत्र में 'दाश' पद सामान्य स्त्री परक है। दानार्थक 'दाश' धातु निष्पन्न होता है। दान-गुण के कारण यह स्त्री मात्र 'मादा वर्ग' का बोध कराता है। सन्तानादि का प्रदान और अपने-आपको समर्पण की भावना इसमें निहित है।

इसी प्रकार सूत्र का 'कितव' पद पुरुष सामान्य का कथन करता है। यह प्राणी मात्र के नर-वर्ग का बोध कराता है।'

इन अर्थों से श्री शास्त्रीजी इस सूत्र में अंश की तुलना पुत्र के माता-पिता का अंश होने की तुलना से करते हैं।

स्वामी ब्रह्म मुनिजी इस सूत्र में इसी पद (दाशकितवादित्वम्—अपि—एके—अधीयते) का अर्थ इस प्रकार करते हैं। परमात्मा में दाशत्व-भाण्ड धर्म और कितवत्व-जुआरीपन का दोष भी आ जाये; क्योंकि कुछ शाखा वाले पढ़ते हैं कि ब्रह्म दाशा (दासद्) ब्रह्म दासा—(दासद्) ब्रह्म में कितवा उत। 'स्त्री पुंसौ ब्रह्मणो जातौ' (पैप्पलाद संहिता, ८-१-१०) ऐसा पढ़ते हैं। संसार में ब्रह्म से दाश—दास—भाण्ड—भड़वे इत्यादि और ब्रह्म से कितव—जुआरी तथा ब्रह्म से स्त्री-पुरुष उत्पन्न हुए। ये सब ब्रह्म हो जावें; यदि ब्रह्म से भिन्न कर्म-कर्ता जीवात्मा न हों तो।

अब देखें स्वामी शंकराचार्यजी इसका क्या अर्थ करते हैं।

स्वामी शंकराचार्य के भाष्य के टीकाकार स्वामी सत्यानन्द इस प्रकार लिखते हैं—

सूत्रार्थ (अंशः) जीव ईश्वर का कल्पित अंश है। (नाना व्यपदेशात्) क्योंकि 'य आत्मनि तिष्ठन्)' इत्यादि श्रुति में दोनों का भेद व्यपदेश है (अन्यथा चापि) और उसी प्रकार अन्यथा-अभेद का भी व्यपदेश है। कारण कि (एके) एक शाखा वाले (दश कितवादित्वम्) 'ब्रह्म - दासा' इस प्रकार ब्रह्म में दाश-कितवत्व आदि का (अधीयते) पाठ करते हैं।

ब्रह्म में दाशकितवत्व का अर्थ स्पष्ट नहीं हुआ। जीवात्मा में ब्रह्म के दाशकितवत्व का भाव है।

श्री स्वामीजी भाष्य में इस प्रकार लिखते हैं—

तथा हि—एके शाखिनो दाशकितवादिभावं ब्रह्मण आमनन्त्याथर्वणिका ब्रह्मसूक्ते—'ब्रह्म दाशा ब्रह्म दासा ब्रह्मेवेमे कितवाः' इत्यादिना।

अर्थात्—जैसे, एक आथर्वण शाखा वाले ब्रह्म दाशा (ब्रह्म ही दास धीवर है। ब्रह्म ही ये कितव-जुआरी हैं)।

इन सब अर्थों में श्री उदयवीर शास्त्रीजी के ही अर्थ उपयुक्त प्रतीत होते हैं।

एक बात स्पष्ट है कि कुछ एक आचार्य जीवात्मा को परमात्मा का ही अंश मानते हैं। कैसे अंश हैं ? यह प्रश्न उत्पन्न हो सकता है। एक सर्वव्यापक विभु का अंश कैसे हो सकता है ? स्वामी शंकराचार्यजी तो लिखते हैं कि जैसे अग्नि से स्फुल्लिग निकलते हैं। (अग्नि विस्फुलिङ्गयोः) परन्तु सूत्रकार का यह आशय प्रतीत नहीं होता। यहाँ सूत्र में लिखा है (नानाव्यपदेशात्) अंश कई

तरह का हो सकता है। सूत्रकार उन कई प्रकारों का वर्णन नहीं करता। उनको उसने पाठक की कल्पना पर छोड़ दिया है। चिनगारी अग्नि का अंश होती है। यदि जीवात्मा परमात्मा का वैसा ही अंश होता जैसे कि चिनगारी अग्नि का होती है तो दाश और जुआरी की बात करने के स्थान पर तुरन्त इसको कह दिया जाता, परन्तु सूत्रकार ने इसको नहीं लिखा। इससे यह सिद्ध होता है कि जीवात्मा परमात्मा का वैसा अंश नहीं जैसे चिनगारी अग्नि का होती है। अन्यथा यह तुलना सहज और प्रसिद्ध थी, परन्तु यह ठीक नहीं प्रतीत होती। जीवात्मा परमात्मा का वैसा अंश नहीं, जैसे कि चिनगारी अग्नि का है।

सूत्रकार के मन में क्या है, स्पष्ट नहीं। सूत्रकार ने उदाहरण दिया है। (चापि) और भी। (दाशकितवादित्व) दाशकितव के सम्बन्ध की तरह।

दास के अर्थ सेवक भी हैं और वह भी हैं जो दिया जाये। कन्यादान किया जाता है, अतः पत्नी दास कही जा सकती है। कितव पुरुष के लिये भी आता है और जुआरी के लिए भी आता है। अतः यहाँ पुरुष लेना ही ठीक प्रतीत होता है।

अतएव सूत्रकार का उदाहरण यही प्रतीत होता है कि जैसे माता-पिता और पुत्र का सम्बन्ध है वैसे ही परमात्मा और जीवात्मा का सम्बन्ध है।

माता-पिता और पुत्र का सम्बन्ध केवल शरीर का है। माता-पिता की आत्मा और पुत्र की आत्मा का नहीं।

यहाँ स्नेह के सम्बन्ध से ही अभिप्राय है। माता-पिता का पुत्र से स्नेह का सम्बन्ध है। यही सम्बन्ध परमात्मा और जीवात्मा का कहा जाता है।

अतः सूत्र के अर्थ इस प्रकार हो जाते हैं—

जीवात्मा (परमात्मा का) अंश है। इसको नाना प्रकार से समझाया गया है। कई एक आचार्य यह बताते हैं कि परमात्मा जीवात्मा का सम्बन्ध वैसा ही है जैसा कि माता-पिता का पुत्र के साथ होता है। पुत्र, माता और पिता का अंश है। ऐसा माना जाता है।

मन्त्रवर्णाच्च ॥४४॥

मन्त्रवर्णात्+च।

च=और। मन्त्रवर्णात्=मन्त्र और वर्णों से।

ऊपर (२-३-४३) में लिखा है कि जीवात्मा परमात्मा का अंश है। साथ ही कहा है कि अनेक प्रकार से इस सम्बन्ध का वर्णन किया गया है। एक

सम्बन्ध उसी सूत्र में वर्णन कर दिया गया है। जैसा माता-पिता और पुत्र का है। हमने इस सम्बन्ध का रूप स्नेह बताया है।

अब इस सूत्र में यह लिखा है कि वेद मन्त्रों में वर्णन किये जाने से। अर्थात् परमात्मा जीवात्मा का सम्बन्ध वेदों में वर्णन किया है। ऋग्वेद प्रथम मण्डल का १६४वां सूक्त और अथर्व वेद के नवम् काण्ड का १०वां सूक्त परमात्मा और जीवात्मा के परस्पर सम्बन्धों को भली-भांति वर्णन करते हैं। परमात्मा और जीवात्मा के कई प्रकार के सम्बन्ध हैं। यहाँ दोनों स्थलों से एक मंत्र उदाहरण के रूप में देते हैं। एक उदाहरण है ऋग्वेद १६४-२० का जो इस प्रकार है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥

(ऋ० १-१६४-२०)

अर्थ है—जीव और परमात्मा प्रकृति रूपी वृक्ष पर बैठे हैं। ये सयुजा हैं, सखा हैं, परस्पर आलिगन कर रहे हैं। एक वृक्ष के स्वादिष्ट फल खाता है और दूसरा साक्षी के रूप में देखता है।

दूसरा उद्धरण है—

विधुं दद्राणं समने बहूनां युवानं सन्तं पलितो जगार।
देवस्य पस्य काव्यं महित्वाद्या ममार स ह्यः समान॥ (ऋ० १०-५५-६)

अर्थ है—सर्वव्यापक परमात्मा के आश्रय पर कार्य करने वाले युवक प्राणीगणों को पालन करने वाला परमात्मा अपने में ले लेता है। वहाँ वह जीव उस (परमात्मा) के ज्ञानमय कौशल को देखता है कि जो कल जीवित था, आज मर जाता है।

इन दोनों मन्त्रों का अर्थ यह है कि जीवात्मा पर परमात्मा की अपेक्षा रहती है; यद्यपि वह कर्म करने में स्वतन्त्र है।

अपि च स्मर्यते ॥४५॥

और स्मृतियों में भी वर्णन किया गया है ? क्या वर्णन किया गया है ? परमात्मा और जीवात्मा का सम्बन्ध। यहाँ स्मृतियों से अभिप्राय उपनिषद् ग्रन्थों से है।

भाष्यकारों ने जीवात्मा को परमात्मा का अंश बताने के लिये स्मृतियों के केवल दो प्रमाण दिये हैं। एक है भगवद्गीता १५-७ और दूसरा है छान्दो० ३-१२-६।

हमारा विचार है कि इन दोनों उदाहरणों में बहुत ही अस्पष्ट रूप में

वर्णन किया गया है और इनमें वह अर्थ नहीं निकलते जो अद्वैतवादी सिद्ध करना चाहते हैं। उनका कहना है कि जीवात्मा परमात्मा का एक ऐसा अंश है जैसे कि गुड़ की भेली का गुड़ की एक डली से होता है।

इसमें सुरेश्वराचार्य के एक पद का उद्धरण दिया जाता है—

ईशेशितव्यसम्बन्धः प्रत्यग्ज्ञानहेतुजः। सम्यग्ज्ञाने तमोध्वस्तावीश्वराणामपीश्वरः॥

ईश और ईशितव्य का सम्बन्ध प्रत्यगात्मा के अज्ञान से उत्पन्न होता है। सम्यग्ज्ञान होने पर अज्ञान तम के ध्वस्त होने से वह ईश्वरों का भी ईश्वर है।

यह है प्रतिज्ञा अद्वैतवादियों की और इन सूत्रों (२-३-४३, ४४, ४५) में ही स्थान था इस प्रतिज्ञा को सिद्ध करने का। युक्ति तो इस सम्बन्ध में है नहीं। प्रमाण भी ठीक नहीं है।

हमने बताया है कि स्वामी शंकराचार्य और अन्य भाष्यकार भी केवल दो प्रमाण दे सके हैं। हम इन दोनों प्रमाणों का विश्लेषण यहाँ करेंगे। पहले छान्दो० उपनिषद् (३-१२-६) को लिख देना चाहते हैं।

यह उपनिषद् इस प्रकार है—

तावानस्य महिमा, ततो ज्यायाँश्च पुरुषः।
पादोऽस्य सर्वा भूतानि, त्रिपादस्यामृतं दिवीति॥ (छान्दो० ३-१२-६)

इसके ऊपर गायत्री का वर्णन है। इसके विषय में इस मन्त्र में भी लिखा है—

तावानस्य=ऊपर मन्त्र में वर्णित (भगवान् की) की गयी महिमा उतनी है जितनी कि उस गायत्री मन्त्र बोलने से वर्णन की गयी है।

ततो=उस वर्णन से। पुरुषः=परमात्मा। ज्यायांश्च=बहुत बड़ा है।

इसका अभिप्राय है कि गायत्री मन्त्र में परमात्मा की महिमा बहुत बड़ी है, परन्तु वास्तव में महिमा तो उससे भी बड़ी है। सर्वाभूतानि—सब भूत उस परमात्मा का एक पाद हैं और उसके तीन अमृत मय पाद दिव्यमय-लोक में हैं।

यह व्याख्या है ब्रह्माण्ड की। परमात्मा पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। सर्व भूतानां के अर्थ जीवात्मा नहीं है। इसमें पंच-भौतिक जगत् के पदार्थों की ओर संकेत है जिसमें सूर्य, चंद्र, तारागण और चराचर सृष्टि सब आते हैं और जड़ कार्य-जगत् भी।

यह पूर्ण चराचर जगत् 'सर्वभूतानि' से अभिप्रेत है। ब्रह्माण्ड के तीन अमृतमय पदों का अभिप्राय है—(१) जीवात्मा—जब ब्रह्मलीन होता है। (२) प्रकृति—जब मूल (अव्यक्त) रूप में होती है और परमात्मा स्वयं। ये तीनों अमृतमय अर्थात् अजा हैं और ये दिव्य लोक में रहते हैं। इसमें जीवात्मा परमात्मा का अंश नहीं लिखा, वरंच जगत्-रचना में अमृत-तत्त्वों से कार्य जगत्

बनने में भिन्न-भिन्न पग हैं। जैसे एक जन्तु चार पांवों पर खड़ा रहता है वैसे ही पूर्ण ब्रह्माण्ड इन चार पादों पर स्थिर है। एक पाद है सर्व भूतानां। दूसरा जीवात्मा, तीसरा मूल प्रकृति और चौथा परमात्मा स्वयं। यह ही पूर्ण ब्रह्माण्ड है।

अब भगवद्गीता का प्रमाण देते हैं।

उद्धरण है भगवद्गीता १५-७। परन्तु इसका अर्थ समझने के लिए पूर्व के और इसके बाद के श्लोकों का अध्ययन आवश्यक है।

भ० गी० १५-५ का अर्थ इस प्रकार है—

जिनका मोह नष्ट हो गया है, आसक्ति दोष जीता गया है, जो नित्य अध्यात्म में लीन रहते हैं, जिनकी कामनायें नष्ट हो चुकी हैं, ये लोग सुख, दुःख नाम के द्वन्द्वों से विमुक्त होकर (अव्यय) अविनाशी पद को प्राप्त कर लेते हैं।

अब अगला श्लोक इस प्रकार है—(तत्) उस अव्यय पद को न तो सूर्य न ही चन्द्र प्रकाशित करते हैं। अग्नि भी उसे प्रकाशित नहीं करती। उस परम धाम से वे मुक्त जीव वापिस नहीं आते।

इसके उपरान्त है भ० गी० १५-७, जो प्रमाण रूप में अद्वैतवादी देते हैं।

ममैववांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥ (भ० गी० १५-७)

जीव लोके = प्राणी जगत् में। जीवभूतः = प्राणी। मुझ (परमात्मा) सनातन के अंश में। प्रकृति में स्थित मन (अहंकार और पंच महाभूत) तथा इन्द्रियों से आकर्षित होकर—क्या ?

वह अगले श्लोक (१५-८) में लिखा है।

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥ (भ० गी० १५-८)

जीवात्मा पूर्व शरीर को छोड़ती है तो वह (पूर्व श्लोक से प्रकृति आदि से आकर्षित होकर) वायु में गंध के समान नये घर में रहने आ जाती है।

अब इन चारों श्लोकों के अर्थों का समन्वय करें तो पता चलेगा कि जीवात्मा परमात्मा के एक अंश प्राणी-लोक में प्राणियों में एक से दूसरे शरीर में ऐसे जाता है जैसे कि हवा के साथ गन्ध उड़ती हुई एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाती है। ऐसा तब होता है जबकि जीवात्मा, प्रकृति अर्थात् मन, अहंकार, पंच महाभूत तथा इन्द्रियों से आकर्षित हो परमात्मा के इस जीव-लोक अंश में आकर फँस जाता है।

और जब मोह, काम, आसक्ति इत्यादि से रहित हो जाता है तो सुख-दुःख के द्वन्द्वों से छूटकर अव्यय धाम में पहुँच जाता है। यह धाम अविनाशी है।

वहाँ पहुँचकर जीवात्मायें लौटती नहीं।

जो बात समझने की है वह यह कि १५-७ में मेरा अंश जीवात्मा को नहीं कहा, वरन् जीव-लोक को कहा है। अर्थात् जीव-लोक एक अंश है। बात वही है जो छान्दो० ३-१२-६ में वर्णित है।

अभिप्राय यह कि स्मृतियों में भी जीवात्मा को परमात्मा का अंश इस भाव में नहीं माना, जैसे कि गुड़ की डली गुड़ की भेली का अंश होती है।

कुछ गुणों में समानता है। उन गुणों में भी एक बहुत वड़ा है और दूसरा छोटा, परन्तु कुछ गुण ऐसे भी हैं जो परस्पर नहीं मिलते। इस कारण जीवात्मा परमात्मा से पृथक् है। यहाँ गुड़ की भेली और डली का सम्वन्ध नहीं।

प्रकाशादिवन्नैवं परः ॥४६॥

प्रकाशादिवत्+न+एवं+परः ।

प्रकाशादि की भाँति नहीं है, ऐसा परमात्मा।

ऐसा परमात्मा नहीं है। कैसा नहीं है? प्रकाशादि की भाँति। प्रकाशादि का अभिप्राय अग्नि आदि पंच महाभूत हैं।

दूसरे अध्याय के तृतीय पाद के आरम्भ से आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी का वर्णन आया है। इसके उपरान्त जीवात्मा का वर्णन है। प्रकाशादि से सब पंच भूतों का अभिप्राय है। इनकी भाँति नहीं। कौन? (परः) —परमात्मा।

यहाँ भी अद्वैतवादियों ने भ्रम उत्पन्न करने का प्रयास किया है। अभी तक जीवात्मा के वर्णन में परमात्मा और जीवात्मा में सम्बन्ध का उल्लेख (२-३-१८ से चलकर इस पाद के पूर्व सूत्र तक) आया है।

अतः प्रकाशादि का अभिप्राय उन सब पदार्थों से है जिनका उल्लेख इस सूत्र में है।

जीवात्मा को परमात्मा का अंश कहा है (२-३-४३)। परन्तु अंश के अर्थ समझा दिये हैं। लिखा है कि दाशकितवा की भाँति ही हैं ये सब संबंध। यह हम ऊपर कह आये हैं।

अद्वैतवादी परमात्मा और जीवात्मा का सम्बन्ध ऐसा मानते हैं जैसा कि श्री विश्वेश्वराचार्य ने बताया है कि अज्ञान में लिप्त परमात्मा ही जीवात्मा है। इस प्रकार का सम्बन्ध मानकर ही अद्वैतवादियों के मन में अपने आप संशय उत्पन्न होता है कि यदि जीवात्मा परमात्मा ही है तो जीवों के दुःख-

सुख से परमात्मा भी दुःखी और सुखी क्यों नहीं होता ?

इस स्वनिर्मित संशय का उत्तर ही वे लोग इस सूत्र में से ढूंढने का यत्न कर रहे हैं। वह इसका अर्थ इस प्रकार करते हैं।

स्वामी शंकराचार्यजी इस सूत्र का भाष्य इस प्रकार करते हैं—

यथा जीवः संसारदुःखमनुभवति, नैवं पर ईश्वरोऽनुभवतीति प्रतिजानीमहे। जीवो ह्यविद्यावेशवशाद्देहाद्यात्मभावमिव गत्वा तत्कृतेन दुःखेन दुःख्यहमित्यविद्यया कृतं दुःखोपभोगमभिमन्यते। नैवं परमेश्वरस्य देहाद्यात्मभावो दुःखाभिमानो वाऽस्ति।

जैसे जीव संसार का दुःख अनुभव करता है, वैसे परमात्मा नहीं करता। ऐसी हम प्रतिज्ञा करते हैं। जीव अविद्या के आवेश के बल से देहादि में आत्मभाव सा प्राप्त कर तत्कृत दुःख से 'मैं दुःखी हूँ' इस प्रकार अविद्याकृत दुःख के उपभोग का अभिमान करता है। वैसे परमात्मा को देहादि में आत्म-भाव अथवा दुःखाभिमान नहीं है।

यह प्रतिज्ञा तो ठीक है, परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि जीवात्मा परमात्मा का अंश है। अज्ञान दूर होने पर जीवात्मा भी दुःख से निवृत्त हो जायेगा, परन्तु वह परमात्मा की भाँति सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान् एवं सर्वान्तिर्यामी हो जायेगा, सिद्ध नहीं हुआ।

जीवात्मा और परमात्मा में केवल ज्ञान का ही अन्तर नहीं, सामर्थ्य और व्यापकता का भी अन्तर है।

कुछ लोग इस सूत्र (२-३-४६) का अर्थ इस प्रकार करते हैं कि जैसे प्रकाश में मनुष्य भूल नहीं करता, ऐसे ही परमात्मा पूर्ण ज्ञानस्वरूप होने के कारण भूल नहीं करता और दुःख नहीं पाता।

परन्तु उक्त सूत्र के अर्थ यह बनते नहीं।

सूत्रार्थ है—

इसके अर्थ तो बनते हैं कि परमात्मा प्रकाशादि की भाँति ऐसा नहीं। कैसा नहीं ? एक प्रश्न है। इसका उत्तर ये लोग देते हैं जैसे आत्मा है।

'प्रकाशादि की तरह' का अर्थ यह नहीं लगता। जीवात्मा प्रकाशादि की भाँति है क्या ? जो परमात्मा नहीं। इसके खींचा-तानी से अर्थ ही निकलते हैं 'प्रकाशादि में होने की भाँति ऐसा नहीं परमात्मा'। फिर प्रकाश के साथ आदि का क्या अर्थ है ? यह दूसरा प्रश्न है। अतः यह सर्वथा अयुक्त अर्थ हैं। सूत्र के सीधे और स्पष्ट अर्थ तो यह ही हैं कि प्रकाशादि की भाँति परमात्मा नहीं।

परमात्मा ऐसे नहीं जैसे कि प्रकाशादि जो ऊपर वर्णन किये गये हैं।

अन्तर भी स्पष्ट है। प्रकाशादि कृत्रिम हैं। प्रकृति से बने हैं। जीवात्मा

भी अणु मात्र है, अल्पज्ञ है और हीन समर्थ वाला है। इस कारण लिखा है कि नहीं, ऐसा परमात्मा नहीं जैसे प्रकाशादि है। जैसे जीवात्मा और पंचभूत हैं।

इन अर्थों में एक ही बात खटकती है कि प्रकाश कहाँ से आ गया? पाद के पूर्व भाग में आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी का वर्णन है। साथ ही जीवात्मा का उल्लेख है, परन्तु प्रकाश एक नया शब्द रख दिया गया है; इस पर भी प्रकाश और अग्नि समभाव प्रकट करते हैं। इस कारण हमने इसका अभिप्राय पंचभूत तथा जीवात्मा लिया है।

स्मरन्ति च ॥४७॥

अर्थ है—स्मरण करते हैं।

अर्थात्—यह स्मृति में भी बताया गया है। स्मृतियों में क्या है? यही कि परमात्मा प्रकृति के परिणामों, आकाशादि पंचभूतों और जीवात्मा से पृथक् है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् (४-५,६,७ तथा १-९)

स्वामी शंकराचार्य भी यह और कठो० के ५-११ उदाहरण देते हैं। सब उदाहरण यह सिद्ध नहीं करते कि जीवात्मा और परमात्मा एक ही प्रकाश की भाँति हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् में तो प्रकाश का कहीं नाम भी नहीं। हाँ, कठोपनिषद् में प्रकाश का संकेत मिलता है, परन्तु वहाँ भी वह बात सिद्ध नहीं होती, जो स्वामीजी करना चाहते हैं।

यह मन्त्र इस प्रकार है—

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः॥

(कठो० ११)

इसका अर्थ है—जगत् का नेत्र सूर्य लिप्त नहीं होता, जैसे दूसरे नेत्र दोषयुक्त हो जाते हैं। वैसे ही सब प्राणियों में बसा हुआ परमात्मा बाहर के लोक में उपस्थित दुःखों से लिप्त नहीं होता।

परन्तु इससे यह सिद्ध कैसे हो गया कि बाहरी नेत्र भी सूर्य हैं और सब भूतात्मा भी परमात्मा हैं।

द्रष्टा के अन्धा हो जाने पर अन्धे को दिखायी नहीं देता और वह दुःखी होता है, परन्तु क्या इससे यह सिद्ध हो गया कि द्रष्टा का चक्षु सूर्य ही था।

इसी प्रकार परमात्मा सर्वव्यापक होने से सब प्राणियों में है, परन्तु प्राणी (जीवात्मा) का अपना अस्तित्व है और वह दुःख-सुख में लिप्त होता है अथवा अलिप्त होता है तो अपने प्रयत्न से है। इसमें परमात्मा का सम्बन्ध नहीं।

अतः परमात्मा प्रकाशादि की भाँति नहीं है। यही स्मृतियों में लिखा है। प्रकाश आदि से अभिप्राय आकाशादि पंच महाभूत और जीवात्मा है।

अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धाज्ज्योतिरादिवत् ॥४८॥

अनुज्ञापरिहारौ+देहसम्बन्धात्+ज्योतिः+आदिवत्।

यहाँ इस सूत्र में आत्मा और परमात्मा में एक अन्य अन्तर बताया है। वह यह कि जैसे जीवात्मा देह में रहता है, वैसे ही परमात्मा भी देह में रहता है। यदि यह कहा जाये कि परमात्मा का देह से संयोग जीवात्मा से अधिक है तो ठीक ही होगा, परन्तु शास्त्र में अनुज्ञा और परिहार जीवात्मा के लिए ही होता है।

यह इस कारण है कि दोनों के देह से सम्बन्ध में अन्तर है। वह अन्तर है ज्योतिः आदिवत्। जैसे ज्योति आदि का अन्तर है।

ज्योति आदि से अभिप्राय प्रकाश, अग्नि इत्यादि जिन गुणों का शरीर से अनुभव होना है। उनकी भाँति शास्त्र के विधिनिषेध हैं।

प्रकाश इत्यादि, देह में अनुभव होने के कारण, ज्ञान की उपलब्धि होती है। इसी प्रकार देह के साथ होने से जीवात्मा को विधि और निषेध पालन करने की बात है।

देह के सम्बन्ध से ही विधि और निषेध के अर्थ हैं। अर्थात् देह के द्वारा ही उनका प्रयोग हो सकता है।

जीवात्मा देह के द्वारा ही कर्म करता है, अतः देह में ही उसे फल मिलते हैं। स्थूल अथवा सूक्ष्म देह जीवात्मा के साथ सदा लगा रहता है। यह छूटता है दो अवस्थाओं में। एक तो प्रलय के समय। तब जीवात्मा सुषुप्ति अवस्था में हो जाते हैं। दूसरे जब जीवात्मा मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

दोनों अवस्थाओं में अन्तर भी है। प्रलय की अवस्था में यह अज्ञान में लिप्त रहता है और यदि वह अपने अज्ञान के कारण भोग नहीं कर सकता

तो इस कारण कि उसके पास भोग करने के लिए और कर्म करने के लिये शरीर नहीं रहता। प्रलय काल में शरीर अव्यक्त प्रकृति में लय हो जाता है।

प्रलय काल के समाप्त होने पर जगत्-रचना होती है। शरीर बनते ही जीवात्मा तृष्याभिभूत उन शरीरों में आ जाते हैं।

अतः सूत्रकार का कहना है कि देह के द्वारा ही कर्म होते हैं और फल मिलते हैं। इस देह में होते हुए ही शास्त्र की अनुज्ञा और परिहार (विधि, विधान और निषेध) हैं।

अब सूत्रकार ने एक अन्य समस्या उपस्थित की है।

असंततेश्चाव्यतिकरः ॥४९॥

असन्ततेः+च+अव्यतिकरः।

और (जीवात्मा की) सन्तान (द्वारा वृद्धि) न होने से कर्म-फल में सांकर्य नहीं होता।

असन्ततेः—सन्तान न होने से। एक के अनेक न होने से। जैसे देह से सन्तान होती है, तो माता-पिता के गुण-दोष सन्तान में आते हैं। इससे एक-दूसरे के फलों में अदला-बदली हो सकती है। पिता के उत्तराधिकार में पुत्रों में धन-सम्पद इत्यादि में अदला-बदली सम्भव है। इस अदला-बदली के लिये शब्द है व्यतिकरः। अव्यतिकरः का अर्थ है अदला-बदली नहीं होती।

यदि तो जीवात्मा के सन्तान होती, एक के अनेक हो जाते तो कर्म-फलों में भी सांकर्य (अदला-बदली) अथवा परस्पर मिलावट हो जाती।

ऐसा नहीं है। जो करता है, वही फल भोगता है।

पुत्र पिता का ऋण उतारता देखा जाता है, परन्तु जीवात्मा ऐसा नहीं कर सकते। कारण यह कि जीवात्मा में पिता-पुत्र का सम्बन्ध है ही नहीं। अतः कर्म-फलों की अदला-बदली (सांकर्य) नहीं होता।

आभास एव च ॥५०॥

आभासः+एव+च।

और यदि जीवात्मा को आभास मानें तो यह है। अर्थात् सांकर्य हो सकेगा।

आभास से, एक के अनेक पात्रों में प्रतिबिम्ब अभिप्राय है। एंक सूर्य अथवा एक चन्द्र के कई प्रतिबिम्ब जल-कुण्डों में दिखायी देते हैं।

चन्द्र को ग्रहण लगने से सब जल-कुण्डों में ग्रहण लगा दिखायी देने लगता है। दोष तो एक में आया और दोष का फल सब प्रतिबिम्बों में दिखायी देता है।

यहाँ फल का सांकर्य होता है। एक का दोष अनेक में दिखायी देने लगता है।

अतः जीवात्मा को किसी दूसरे का आभास मानें तो कर्म-फल का सांकर्य होना सम्भव है।

यह कहा जाता है कि जीवात्मा परमात्मा का प्रतिबिम्ब-मात्र है, तो यह शंका उपस्थित होती है कि जीवात्माओं में सुख-दुःख किसका आभास है ? यह परमात्मा का तो हो नहीं सकता। कारण यह कि वह तो आनन्दस्वरूप है। यदि जीवात्मा, परमात्मा का आभास होता तो वह भी आनन्दस्वरूप होता।

यह कहा जाता है कि मन और बुद्धि के संयोग से इसमें दोष आता है तो शंका यह बन जाती है कि मन और बुद्धि क्या हैं ? वे कहाँ से आ गये ? और फिर उन्होंने दोष किसमें उत्पन्न किया; परमात्मा में अथवा उसके प्रतिबिम्ब में ?

सूत्रकार ने तो यह कहा है कि 'आभास' का सिद्धान्त मानें, तो जीवात्मा में दोषों का और कर्म-फलों का सांकर्य (अदला-बदली तथा मिलावट) हो जायेगी। अतः जीवात्मा आभास नहीं है।

स्वामी शंकराचार्य कहते हैं कि इसके अर्थ इस प्रकार हैं—'आभासः एव च' और आभास ही है। अतः सांकर्य नहीं है। जीवात्मा आभास है अथवा नहीं यहाँ विचारणीय नहीं। यहाँ विषय है सांकर्य का। वह दोनों अर्थों से नहीं है। जब सांकर्य नहीं तो आभास भी नहीं।

अदृष्टानियमात् ॥५१॥

अदृष्ट+अनियमात्।

अदृष्ट अनियमित होने से।

अभिप्राय यह कि अदृष्ट (का सांकर्य) मानना नियम-विपरीत है। अर्थात् इनमें अदला-बदली नहीं होती।

अदृष्ट का अर्थ है कर्म फल। कर्म नियम से नहीं होते। एक समान नहीं होते, अतः कर्म भी अनियमित हैं। एक समान नहीं हैं। अतः एक के कर्मों का फल दूसरे को नहीं मिल सकता।

इसी कारण सूत्रकार कहता है कि अदृष्टों का सांकर्य होना भी नियम

नहीं। यह अनियम है।

सूत्र (२-३-४३) से सूत्रकार उन सिद्धान्तों का वर्णन कर रहा है, जिन को अद्वैतवादी वैसा नहीं मानते।

पहले तो यह कहा है कि जीवात्मा परमात्मा का अंश माना जाता है, परन्तु यह अंश ऐसा नहीं जैसे कि गुड़ की भेली का अंश गुड़ की एक डली है। सूत्रकार ने कहा है कि अंश को कई लोग कई प्रकार से वर्णन करते हैं। सूत्रकार ने भी वर्णन करने का यत्न किया है। वह वर्णन अद्वैतवादियों का समर्थन नहीं करता।

आगे चलकर जीवात्मा की परमात्मा से भिन्नता प्रकट की है (२-३-४६, ४७, ४८ सूत्रों में)।

आगे कह दिया कि जीवात्मा न तो परमात्मा की सन्तान है और न ही यह आभास है।

अब कर्म-फल के सांकर्य को नियम विपरीत बता दिया। कारण यह कि जीव भिन्न-भिन्न हैं। इनके कर्म भिन्न-भिन्न हैं। कर्म-फल भी अपने-अपने हैं।

अद्वैतवादियों द्वारा इन सूत्रों से अपना मत सिद्ध करने के लिए सूत्रों को बहुत तोड़-मोड़कर उपस्थित करने का यत्न किया गया है और फिर जो कुछ भी इनके भाष्य में कहा गया है, वह सर्वथा अयुक्ति-संगत है।

उदाहरण के रूप में इसी सूत्र (२-३-५१) में स्वामी शंकराचार्य का भाष्य देखें तो ऐसा प्रतीत होता है कि वह किंचित्-मात्र भी अपने मत को स्पष्ट नहीं कर सके।

वह लिखते हैं—

बहुष्वात्मस्वाकाशवत्सर्वगतेषु प्रतिशरीरं बाह्याभ्यन्तराविशेषेण संनिहितेषु मनोवाक्कायैर्धर्माधर्मलक्षणमदृष्टमुपार्ज्यते।

अर्थात्—आकाश के समान सर्वगत प्रत्येक शरीर में अन्दर-बाहर समान रूप से सन्निहित अनेक आत्माओं में मन, वाणी और शरीर द्वारा धर्माधर्म रूप अदृष्ट उपार्जन किया जाता है।

इन दो पंक्तियों में अनेक अयुक्त बातें कह दी हैं। देखिये—

(१) परमात्मा को आकाशवत् सर्वगत माना। अर्थात् परमात्मा और सर्व पदार्थ भिन्न-भिन्न हैं। परमात्मा किनके भीतर और बाहर है? वह जिसके भीतर और बाहर है, वह परमात्मा से भिन्न होगा।

(२) शरीर हैं और आत्मा है। ये मन, वाणी से सन्निहित हो धर्म-अधर्म करते हैं।

(३) वह आत्मा क्या है जो मन और वाणी (इन्द्रियों) से संयुक्त हो धर्माधर्म करता है? क्या वह परमात्मा का अंश है?

(४) इस धर्माधर्म रूप में अदृष्ट (कर्म-फल) उपार्जन करता है। अर्थात् परमात्मा का अंश धर्माधर्म से कर्म-फल उपार्जन करता है, तो यह परमात्मा का अंश करता है ? अथवा मन और बुद्धि करते हैं ?

ये सब बातें अनर्गल हैं।

और फिर सूत्रकार कहता है कि अदृष्टों में नियम नहीं है। अर्थात् अदृष्ट एक समान नहीं होते। कर्म-फल समान होते तो सांकर्य (मिलावट) हो सकती थी।

अभिसन्ध्यादिष्वपि चैवम् ॥५२॥

अभिसन्धि+आदिषु+अपि+च+एवम्।

और अभिसन्ध्यादि में भी ऐसा ही है।

वे भी अदृष्टों की भाँति समान नहीं हैं।

अभिसन्ध्यादि का अभिप्राय है राग, द्वेषादिमूलक संकल्प। यह माना जाता है कि जीवात्मा परमात्मा का अंश होने से निर्मल है। ये राग, द्वेश इत्यादि संकल्प ही कर्म कराते हैं और कर्मफल उपार्जन करते हैं।

सूत्रकार कहता है कि यह बात भी अनियमित अर्थात् समान न होने से अनेक जीवात्माओं के कारण है। एक परमात्मा के द्वारा नहीं होते। राग, द्वेषादि यदि संकल्पमात्र हैं तो ये किसको होते हैं ? कहा जाता है कि चित्त को। चित्त तो जड़ होने से संकल्प कर नहीं सकता, अतः इनका अस्तित्व बिना जीवात्मा के स्वीकार्य नहीं हो सकता। सब संकल्प समान नहीं; इस कारण ये एक द्वारा नहीं होते। परमात्मा एक है और जीवात्मा अनेक।

अतः सूत्रकार ने अद्वैतवादियों की एक अन्य भित्ति को गिरा दिया है।

प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात् ॥५३॥

प्रदेशात्+इति+चेत्+न+अन्तर्भावात्।

प्रदेशात्=देश अर्थात् शरीर से जिसमें यह रहता है। इति=यह है। चेत्=यदि। न=नहीं। अन्तर्भावात्=भीतर होने से।

यह भी अद्वैतवादियों के मत का खण्डन है। यह कहा जाता है कि

परमात्मा का अंश जीवात्मा देह में फँस जाने से राग, द्वेष, कामादि संकल्पों और कर्मों को करता है। सूत्रकार कहता है कि यदि इनको प्रदेशात् (देह के कारण) मानो तो नहीं। कारण यह कि जीवात्मा भीतर विराजमान है। वह देह से प्रबल है। वह चेतन है और देह जड़ है। अतः जिम्मेदारी जीवात्मा की है देह की नहीं। यदि इसे परमात्मा मानो तो और भी अधिक आवश्यक है कि शरीर परमात्मा के विपरीत कार्य न करे।

इससे दूसरे अध्याय का तीसरा पाद समाप्त होता है। इसमें जीवात्मा के विषय में लिखा गया है।

ब्रह्मसूत्र का दूसरा अध्याय और उसके तीनों पाद अद्वैतवादियों के खण्डन में लिखे गये हैं।

इनकी जितनी भी युक्तियुक्त व्याख्या की जाये, उतना ही त्रैतवाद सिद्धान्त का समर्थन मिलता है।

चतुर्थ पाद

इससे पूर्व (तृतीय पाद में) आकाश से चलकर सृष्टि-क्रम और उसमें जीवात्मा के स्वरूप और कार्य का तथा उसके परमात्मा से सम्बन्ध का वर्णन किया गया है।

अब इस पाद में शरीर के कार्य का वर्णन किया जा रहा है। आत्मा चेतन है। वह ईक्षण करता है। शरीर में और शरीर द्वारा कार्यों का आरम्भ करना, उसका चालू रखना और उन कार्यों का अन्त करना आत्मा का काम है। परन्तु तृतीय पाद में (२-३-४८ सूत्र में) यह बताया है कि देह में कर्मों के विषय में ही शास्त्र की अनुज्ञा और परिहार वर्णन किये गये हैं। देह में जीवात्मा के रहते ही जीवात्मा के कार्य हैं। इसी कारण उसके लिए विधि-निषेध बताये गये हैं।

इसी प्रकार तृतीय पाद के अन्तिम सूत्र में लिखा है कि यदि कर्म को देह से मानो तो ठीक नहीं; क्योंकि देह के भीतर जीवात्मा उपस्थित है। अतः कर्म का उत्तरदायित्व देह पर नहीं, जीवात्मा पर है।

इस शृंखला में अब चतुर्थ पाद आरम्भ होता है। इसमें शरीर के कार्य की व्याख्या की गई है।

सूत्रकार कहता है—

तथा प्राणाः ॥१॥

वैसे प्राण हैं।

जैसे आकाशादि पंचभूतों का वर्णन कर आये हैं, वैसे ही यहाँ प्राण का वर्णन कर रहे हैं।

प्राणः का अर्थ है—शक्ति। कार्य करने की शक्ति।

शरीर चलता-फिरता, आँख भींचता-खोलता, सुनता-बोलता, सूंघता-देखता, अनुभव करता इत्यादि सब कार्य प्राण से करता है।

शरीर में कार्य करने वाली इन्द्रियाँ हैं और उनके अतिरिक्त भी शरीर के अंग हैं जो कार्य करते हैं। उदाहरण के रूप में पाँच ज्ञानेन्द्रियों और पाँच कर्मेन्द्रियों के अतिरिक्त हृदय, फेफड़े, मस्तिष्क, आँतें इत्यादि अंग हैं जो कार्य करते हैं। इन सबके कार्य प्राण से होते हैं।

अतः प्राण कार्य करने की शक्ति का नाम है। यह शक्ति परमात्मा ही है। परमात्मा जगत् की रचना करता है, अतः वह प्राण द्वारा ही करता है। जीवात्मा शरीर में कार्य करता है। सूत्रकार कहता है कि यह भी प्राण द्वारा ही होता है।

प्राण परमात्मा का लिंग है। यह सूत्रकार ने (१-१-२३ में) पहले ही बताया है। वह शक्ति जिससे जगत् कार्य करता है, वह ही प्राण है और उससे ही परमात्मा के विषय में ज्ञान होता है।

अथर्व वेद में एक प्राणसूक्त के नाम से प्रकरण है। उसमें पहला ही मन्त्र इस प्रकार है—

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥

(अथर्व० ११-४-१)

उस प्राण के लिये हमारा नमस्कार हो जिसके वश में यह सब (जगत्) कुछ है। जो सबका ईश्वर है और जिस पर पूर्ण संसार प्रतिष्ठित है।

प्राण परमात्मा की उस शक्ति का नाम है, जिससे पूर्ण संसार चलता है और स्थित है।

इसी सूक्त में एक मन्त्र इस प्रकार है—

नमस्ते प्राण प्राणते नमो अस्त्वपानते।
पराचीनाय ते नमः प्रतीचीनाय ते नमः सर्वस्मै त इदं नमः ॥

(अथर्व० ११-४-८)

(प्राण प्राणते नमः) प्राण से श्वासों का त्यागना होता है। उसे नमस्कार हो। (अस्तु अपानते) उससे प्राण भीतर लिया जाता है। इस कारण उसे नमस्कार हो। (पराचीनाय प्रतीचीनाय नमः) प्राण शक्ति देह में आती है और उसमें से जाती है; उसे नमस्कार हो। (सर्वस्मै त इदं) इस जगत् के सबमें वह है। इस कारण इसे नमस्कार हो।

इस प्रकार प्राण ईश्वर की उस शक्ति को कहा गया है जिससे पूर्ण जगत् कार्य करता है। साथ ही प्राणी का शरीर कार्य करता है।

सूत्रकार कहता है कि—

वैसा ही प्राण है जो शरीर में कार्य करता है। कैसा? जैसा जगत् में कार्य करता है।

गौण्यसम्भावात् ॥२॥

गौणी + असम्भावात् ।

प्राण का गौण होना असम्भव है ।

गौण का अभिप्राय है मुख्य के अतिरिक्त । जब दो हों और एक-दूसरे के अधीन हों तो अधीन को गौण कहा जाता है । यदि प्राण के अतिरिक्त कोई अन्य शक्ति हो और उसका प्राण के रूप में प्रकटीकरण हो तो वहाँ प्राण गौण माना जायेगा ।

सूत्रकार कहता है कि प्राण से ऊपर कोई अन्य शक्ति नहीं । वही शक्ति है जो सूर्य, चन्द्र और तारागण इत्यादि का संचालन करती है, वही शक्ति है जिसमें चराचर जगत् प्रतिष्ठित है, वही शक्ति है जो शरीर में कार्य करती है । सूत्रकार का अभिप्राय है कि वह ईश्वरीय शक्ति ही है जो शरीर में कार्य करती है । अतः प्राणों को गौण मानना असम्भव है ।

यह गौण नहीं ।

स्वामी शंकराचार्य गौणी के अर्थ लेते हैं—जिसकी उत्पत्ति हुई हो ।

वह लिखते हैं—

इह तु सिद्धान्तसूत्रत्वाद्गौण्या जन्मश्रुतेरसंभवादिति व्याख्यातम् । तदनुरोधेन त्विहापि गौणी जन्मश्रुतिरसंभवादिति व्याचक्षाणैः प्रतिज्ञाहानि-रूपेक्षिता स्यात् ।

यहाँ सिद्धान्त सूत्र होने से गौणी जन्म श्रुति का असम्भव होने से ऐसा व्याख्यान किया है । परन्तु उसके अनुसार यहाँ भी जन्म श्रुति गौणी है असम्भव होने से । ऐसा व्याख्यान करने वालों से प्रतिज्ञा हानि की उपेक्षा की जायेगी ।

इसका अभिप्राय यह है कि प्राण का जन्म नहीं हुआ । जन्म होने से यह गौणी माना जायेगा। यदि ऐसा मानेंगे तो प्रतिज्ञा की हानि हो जायेगी ।

बात ठीक है । प्रकृति के अन्य कर्मों की भाँति प्राण का जन्म नहीं हुआ । जैसे महत्, अहंकार, परिमंडल, पंच महाभूत इत्यादि प्रकृति के परिणामी हैं, वैसे प्राण नहीं ।

परन्तु इसी कारण यह गौणी नहीं । गौणी का जन्म से सम्बन्धित होना आवश्यक नहीं । प्राण ईश्वरीय शक्ति है । ईश्वरीय शक्ति का ईश्वर के अतिरिक्त यदि किसी अन्य से निर्माण अथवा प्रादुर्भाव होता तो यह गौणी हो जाती ।

यह असम्भव है । अर्थात् ईश्वर की प्राण शक्ति ज्यों-की-त्यों ही शरीर में कार्य करती है जैसे कहीं अन्यत्र कार्य करती है ।

इसका जन्म न सही, परन्तु प्रादुर्भाव तो होता है । यह ईश्वर की ओर से ही शरीर को मिलता है ।

वर्तमान वैज्ञानिक इस प्राण की उत्पत्ति 'टैस्ट ट्यूब' (परीक्षण नली) में करने का यत्न कर रहे हैं। यह ईश्वरीय शक्ति ही होगी जो वैज्ञानिक किसी स्थान पर प्रकट करने का यत्न कर रहे हैं।

यदि कभी प्रकट करने में सफल हो गये तो यह कहा जायेगा कि जैसे माता-पिता वीर्य-सिंचन के समय प्राण को प्रकट करते हैं, वैसे ही वैज्ञानिक किसी 'टैस्ट-ट्यूब' में इसे सम्पन्न कर सके हैं।

सूत्रकार का कहना है कि वहाँ भी वही शक्ति होगी जो परमात्मा सूर्य, चंद्र, तारागण इत्यादि में देता है। वह ही यहाँ भी दी गई होगी।

प्राण प्राण ही है। वह गौण नहीं हो सकता।

प्राण का किसी भी वस्तु में गति के रूप में प्रकटीकरण किया जा सकता है। इस पर भी वह ईश्वरीय शक्ति का परिचायक ही होगी। यह गौणी नहीं हो सकती।

तत्प्राक्श्रुतेश्च ॥३॥

तत्प्राक्+श्रुतेः+च।

इससे पहले है। ऐसा श्रुति में वर्णन किया है।

यहाँ लिखा है—इससे। प्रश्न है किससे? जगत् से। अर्थात् जगत्-रचना से पहले ही यह उपस्थित था, ऐसा वेद में लिखा है।

यो अस्य सर्वजन्मन ईशे सर्वस्य चेष्टतः।
अतन्द्रो ब्रह्मणा धीरः प्राणो मानु तिष्ठतु॥

(अथर्व० ११-४-२४)

जो इन सब उत्पन्न होने वालों का निर्माण करने वाला है और सबमें चेष्टा (गति) देने वाला है; (अतंन्द्रा) कभी सोता अथवा असावधान नहीं होता; (धीरः) धैर्य का उत्पन्न करने वाला; (ब्राह्मण) महान् होने से मुझमें भी तिष्ठित हो।

एक अन्य मन्त्र में प्राण को कहा है—

प्राणो विराट् प्राणो देष्ट्री··· (अथर्व० ११-४-१२)

इसमें प्राण को विराट् कहा है। इसे सर्व-द्रष्टा भी कहा है। अतः यह परमात्मा की शक्ति का सूचक है। इसी कारण सूत्रकार इसे परमात्मा का लिंग कह चुका है।

परमात्मा अनादि है, अजा है। अतः उसकी शक्ति भी उसके साथ ही

है। वह सबसे पूर्व है। ऐसा होने से ही पूर्व के सूत्र में इसे गौण होना असम्भव माना है।

उपनिषदों में भी प्राण परमात्मा से सृजन किया गया कहा है। यह प्राण ही प्रकृति से जगत्-रचना करता है और जगत् के कार्य सम्पन्न करता है।

मुण्डकोपनिषद् (२-१-३) में लिखा है—

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥

अर्थात्—उस (परमात्मा) से प्राण उत्पन्न हुआ; तत्पश्चात् मन तथा सब इन्द्रियाँ इत्यादि उत्पन्न हुईं। आकाश, वायु, अग्नि, आपः और पृथिवी भी उसी से उत्पन्न हुए जो संसार को धारण करते हैं।

तत्पूर्वकत्वाद्वाचः ॥४॥

तत्+पूर्वकत्वात्+वाचः।

उस (प्राण) के पूर्वकत्व होने से वाणी (का प्रादुर्भाव होता है)।

वाचः शब्द से सब इन्द्रियों, मन और बुद्धि का अभिप्राय है। पूर्वकत्वात्=पूर्व में ही होने से प्राण इन्द्रियों की शक्ति का स्रोत है।

जगत्-रचना में सबसे पहले प्राण उपस्थित होता है। वास्तव में यह तो परमात्मा में शाश्वत रूप में विद्यमान है। सृष्टि-रचना के समय इसका प्राकट्य ही होता है। प्राण का शरीर में विशेष कार्य मन और इन्द्रियों में है। इस कारण वाचः (इन्द्रियों और मन) को उसके अनुसार होने की बात लिखी है।

सप्त गतेर्विशेषितत्वाच्च ॥५॥

सप्त+गतेः+विशेषितत्वात्+च।

और इस (प्राण) की सात (प्रकार की) गतियाँ होती हैं। विशेष रूप से।

प्राणी में प्राण की गतियाँ सात प्रकार की हैं। प्राण तो ईश्वरीय शक्ति

होने से एक ही है, परन्तु विशेषितत्वात्—विशेष कार्य करने से यह सात प्रकार की गतियों में प्रकट होता है।

अभिप्राय यह कि प्राण की गति तो अनेक प्रकार की है, परन्तु शरीर में विशेष रूप से सात प्रकार की है।

ये सात गतियाँ कौन-कौनसी हैं? यह सूत्रकार ने गिनायी हैं।

हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम् ॥६॥

हस्त+आदयः+तु+स्थिते+अतः+न+एवम्।

हाथ इत्यादि तो स्थित होने पर इसलिए ऐसे नहीं।

कैसे नहीं? अर्थात् उन सात प्राणों में से किसी की गति नहीं। स्थित होते पर का अर्थ समझ लेना चाहिए। हाथ इत्यादि में गति भी होती है। जब हम हाथ इत्यादि से कार्य करते हैं तो इनमें गति होती है। अतः सूत्रकार उस स्थिति का वर्णन नहीं कर रहा। इस सूत्र में कहा है स्थित होने पर। अर्थात् जब ये कार्य नहीं कर रहे होते।

प्रश्न उपस्थित होता है कि हाथ इत्यादि जब स्थित होते हैं; अर्थात् वे कार्य नहीं कर रहे होते, क्या उस समय भी उनमें प्राण होते हैं? सूत्रकार का कहना है कि हाँ। परन्तु वे प्राण उक्त सात जैसे नहीं। उन सात का तो विशेष गतियों से सम्बन्ध है।

जब हाथ अथवा शरीर का कोई भी भाग स्थिर होता है तो वहाँ प्राण क्या करता है? वहाँ उस समय दो प्रकार की क्रियाएँ हो रही होती हैं। उपचय और उपापचय (anabolism and metabolism) की। शरीर-निर्माण और शरीर में टूट-फूट तो सदैव होती रहती है। ये क्रियायें भी प्राण से ही होती हैं, परन्तु ये प्राण उक्त सात जैसे नहीं। इनमें गति-विशेषता नहीं।

सूत्र (२-४-५) में शब्द है 'गतेः विशेषितत्वाच्च।' गतियों की विशेषता से (प्राण सात प्रकार के हैं)। परन्तु शरीर में होने वाले उपचय, उपापचय में गति दृष्टिगोचर नहीं होती। इस कारण इनमें कार्य करने वाला प्राण वैसा नहीं है।

सात प्राणों की गणना सूत्रकार ने गतियों के विचार से करायी है। सब कर्मेन्द्रियों के कार्य जीवात्मा के आदेश से होते हैं। इस कारण सब (पाँचों) कर्मेन्द्रियों के प्राण को एक समान गति में माना है। यद्यपि यह सूत्रों में स्पष्ट रूप से कथन नहीं किया गया, परन्तु आगे के सूत्रों को पढ़ने से यही प्रतीत होता है कि पाँचों कर्मेन्द्रियों में कार्य करने वाले प्राण की एक गति है।

यहाँ यह लिख दिया जाये तो उचित ही है कि बृ० उ० (३-९-४) में प्राण ग्यारह लिखे हैं।

उपनिषद् इस प्रकार है—

...दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते यदास्माच्छरीरान्मर्त्यादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति तद्यद्रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा इति। (बृ० ३-९-४)

अर्थात्—पुरुष में दस प्राण और ग्यारहवाँ आत्मा शरीर छूटने पर साथ जाते हैं। ये रोदन कराते हैं। इस कारण रुद्र कहलाते हैं।

यहाँ दस इन्द्रियों के प्राण और ग्यारहवाँ आत्मा की बात कही है। अर्थात् दस प्राण माने हैं, परन्तु सूत्रकार सात की गणना कराता है। इससे यह प्रतीत होता है कि सूत्रकार की गणना का ढंग दूसरा है।

प्राणों की एक प्रकार की गति है जिससे जीवात्मा के आदेश पर पाँच कर्मेन्द्रियाँ कार्य करती हैं।

शेष छः प्रकार के प्राण आगे चलकर गिनायेंगे।

अणवश्च ॥७॥

अणवः+च।

और वे अणु मात्र हैं।

अणु से अभिप्राय अति सूक्ष्म के ही लेना चाहिये।

हस्त पादादि और वाक्, चक्षु आदि तो स्थूल अंग हैं, परन्तु इनमें प्राण अणु मात्र अर्थात् अति सूक्ष्म हैं।

श्रेष्ठश्च ॥८॥

श्रेष्ठः+च।

और श्रेष्ठ (मुख्य प्राण) है।

और (प्राणों की एक विशेष गति) श्रेष्ठ अर्थात् मुख्य है। प्राणी के शरीर में कुछ क्रियाएँ होती हैं। वे अनैच्छिक होती हैं। उन्हें (involuntary) कहते हैं। जैसे हृदय की गति, फेफड़े की गति, यकृत् और वृक्क की गति। इनमें कार्य करने वाले प्राण को श्रेष्ठ अथवा मुख्य कहते हैं। इनमें श्रेष्ठता यह है कि

ये निरन्तर कार्य करते रहते हैं। दिन-रात, जाग्रत अथवा सुषुप्ति अवस्था में कार्य करते हैं। इनका कार्य प्राणी के जीवन पर्यन्त चलता है। इसी कारण इनको मुख्य प्राण कहते हैं। यहाँ इनकी संज्ञा 'श्रेष्ठ' कही है।

इसी विषय में छान्दोग्य उपनिषद् (५-१-६ से १२ तक) में एक कथा है। एक समय शरीर में रहने वाले सब प्राणों में झगड़ा हो गया। सब अपने-अपने को श्रेष्ठ मानने लगे। प्रजापति ने बताया कि श्रेष्ठ वह है जिसके निकल जाने से शरीर का अन्त हो जाये और उसमें किसी भी प्राण के रहने का स्थान न रहे।

इस पर अन्य प्राण एक-एक कर शरीर से बाहर रहने लगे, परन्तु उनके जाने पर भी शरीर जीवित रहा। परन्तु जब प्राण (साँस लेने वाला) शरीर को छोड़ने लगा तो अन्य प्राण भी अपना शरीर में रहना असम्भव पाने लगे। तब सब प्राण मान गये कि वह ही सबसे श्रेष्ठ है।

यही प्राण है जिससे फेफड़े कार्य करते हैं और प्राण अपान वायुएँ चलती हैं। यही बात हृदय-गति की है।

न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् ॥९॥

न + वायुक्रिये + पृथक् + उपदेशात्।

वायु और उसकी क्रिया इन सात प्राणों में नहीं। उसका वर्णन पृथक् है।

वायु का कार्य दूसरा है। वह क्या है? उसका वर्णन बृ० उ० (३-७-२) में दिया है। उपनिषद् में याज्ञवल्क्य बताते हैं—

···वेद वा अहं गौतम। तत्सूत्रं तं चान्तर्यामिणमिति··· (बृ० उ० ३-७-१)

अर्थात् हे गौतम! मैं उस सूत्र को और उस अन्तर्यामी को जानता हूँ।

इस पर उद्दालक ने कहा, "यदि आप जानते हैं तो बताइये?"

इसके उत्तर में याज्ञवल्क्य ने बताया—

स होवाच वायुर्वै गौतम तत्सूत्रं वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्ति तस्माद्वै गौतम पुरुषं प्रेतमाहुर्व्यस्त्रँसिषतास्याङ्गानीति वायुना हि गौतम सूत्रेण संदृब्धानि भवन्ती त्येव मेवैतद्याज्ञवल्क्यान्तर्यामिणं ब्रूहीति ॥ (बृ० उ० ३-७-२)

वह (याज्ञवल्क्य) बोला कि हे गौतम, वह वायु है। वायु ही वह सूत्र है जिससे यह लोक, दूसरे लोक सब भूत गुथे हुए हैं। इससे मृत पुरुष को कहते हैं कि उसके अंग ढीले हो गये। हे गौतम, वायु से ही वे अंग गठित होते हैं।

उद्दालक ने कहा, "यह ठीक है। अब तुम अन्तर्यामी का वर्णन करो।"

इसका अभिप्राय यह है कि वायु वह शक्ति है जो सब पदार्थों को गठित करती है, परन्तु प्राण तो कार्य कराने वाला है। अतः प्राण वायु से भिन्न है। साथ ही वायु उस अन्तर्यामी (जो सबके भीतर बैठकर नियमन करता है) से भिन्न है।

इसका सम्बन्ध भी आत्मा से है और शरीर में वे सब कार्य होते हैं जो निरन्तर इच्छा से और बिना इच्छा (अनिच्छा) के होते रहते हैं।

चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः ॥१०॥

तु+चक्षुः+आदिवत्+तत्+सह+शिष्ट्यादिभ्यः।

किन्तु चक्षुः आदि (प्राण) की भाँति। उनके साथ शिष्ट (मुख्य प्राण) भी हैं।

इसका अभिप्राय है कि चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों में भी प्राण हैं। वे सब पृथक्-पृथक् हैं और अपने गोलक से मन तक ही जाते हैं। इनकी सहायता तो मुख्य प्राण ही करते हैं।

ऊपर शिष्ट प्राणों के विषय में वताया है। छान्दोग्य उपनिषद् के उद्धरण से वह पता चलता है कि फेफड़े से साँस लेना इसी प्राण द्वारा होता है।

यहाँ लिखा है कि चक्षु आदि (ज्ञानेन्द्रियों) की भांति ही यह शिष्ट प्राण है। शिष्ट प्राण उनके साथ सहयोग करते हैं।

अतः यह लिखा है कि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ भी प्राणों से कार्य करती हैं। इनके प्राण पृथक्-पृथक् हैं। ये तब तक कार्य करते हैं जब तक श्रेष्ठ प्राण सहायता के लिये रहते हैं।

ज्ञानेन्द्रियों के प्राणों की गति में भी विशेषता है। इसी से इनकी गणना पृथक् की है। प्रश्न यह है कि इन पाँचों की एक में गणना की जाये जैसे पाँच कर्मेन्द्रियों की एक में की गयी है। यद्यपि सूत्र में स्पष्ट नहीं; इस पर भी शरीर-क्रिया विज्ञान से ज्ञानेन्द्रियों की गतियाँ पृथक्-पृथक् हैं। जैसे हाथ-पाँव एक-दूसरे के स्थानापन्न हो सकते हैं वैसे ज्ञानेन्द्रियाँ नहीं हो सकतीं। सबका पृथक्-पृथक् सम्बन्ध मन से है और मन का जीवात्मा से।

अतः अभी तो इन प्राणों का वर्णन आया है। (१) कर्मेन्द्रियों में कार्य करने वाला प्राण। (२) श्रेष्ठ प्राण। (३) आँख में देखने वाला। कान में

सुनने वाला। (५) जिह्वा में रस लेने वाला। (६) नाक में सूँघने वाला और (७) स्पर्श करने वाला। इस प्रकार सात की गणना करा दी है।

अकरणत्वाच्च न दोषस्तथा हि दर्शयति ।।११।।

अकरणत्वात्+च+न+दोषः+तथा+हि+दर्शयति।

और करण रहित होने पर दोष नहीं आता। (शास्त्र) यह दिखलाता है।

चक्षु, श्रोत्र, नाक, त्वचा, जिह्वा ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। इन्हें करण माना है। इनमें प्राण हैं दृष्टि, श्रोत्र, प्राण, स्पर्श और रसना। करण तो इनके अधिष्ठान हैं। यदि ये करण न रहें तो प्राण रहते हैं; यद्यपि कार्य नहीं कर सकते। अधिष्ठान के बिना कार्य नहीं हो सकता, परन्तु इससे दोष उत्पन्न नहीं होता। इसका अभिप्राय यह है कि प्राणवान् पदार्थ आत्मा और मन में विनष्ट नहीं होते। जैसे मुख्य प्राण के चले जाने से शरीर ही समाप्त हो जाता है, वैसे इनके जाने से नहीं होता।

इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि करणों के अभाव में प्राण कार्य नहीं करते। इस पर भी वे रहते हैं और शरीर बना रहता है।

अन्य भाष्यकारों ने करणरहित होने की बात मुख्य प्राण के विषय में लिखी है। श्री उदयवीर शास्त्री मुख्य प्राण बुद्धि को मानते हैं। हमने मुख्य प्राण हृदय, फेफड़े में गति उत्पन्न करने वाले को माना है। सूत्र में तो स्पष्ट नहीं लिखा। कुछेक उपनिषद् वाक्यों में बुद्धि को भी एक प्राण माना गया है। परन्तु उन उपनिषद्-वाक्यों की शैली पर सूत्रकार नहीं चल रहा। यह प्राण सात मानता है। अतः सूत्रकार के मत का अनुकरण करते हुए हम बुद्धि को पृथक् गणना में नहीं ले रहे। अर्थात् यह सात प्राणों के अन्तर्गत ही है। शिष्ट प्राण बुद्धि नहीं।

पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदिश्यते ।।१२।।

पंचवृत्तिः+मनः+वत्+व्यपदिश्यते।

पाँच व्यापार मन की भाँति बताये गये हैं।

पाँच ज्ञानेन्द्रियों में कार्य करने वाले प्राणों का वर्णन आया है। ये पाँच

प्राण पाँच प्रकार के कार्य करते हैं। वृत्ति का अर्थ व्यवसाय है। ये पाँचों कार्य मन के कार्यों की तरह के हैं। ऐसा कहा गया है।

हमने ऊपर के सूत्रों के अनुसार सात प्राण बताये हैं।

(१) जिनसे ऐच्छित कार्य होते हैं। इनसे कर्मेन्द्रियां काम करती हैं।

(२) जिनसे अनैच्छित कार्य होते हैं। जैसे हृदय, फेफड़े इत्यादि। इनको श्रेष्ठ प्राण भी कहा है। अन्य पाँच प्राण हैं जो चक्षुः, श्रोत्र, नासिका, त्वक् और जिह्वा में देखने, सुनने, सूंघने, स्पर्श करने और रस लेने के कार्य करते हैं। ये पृथक्-पृथक् हैं। ये पांच ज्ञानेन्द्रियों में कार्य करते हैं।

इन पाँच प्राणों के पाँच व्यापार हैं जो मन के पाँच व्यापारों से संबंध रखते हैं।

यहाँ हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि अन्य भाष्यकारों ने प्राणों के विषय में भ्रम फैला रखा है। ये प्रायः ऐसे भाष्यकार हैं जो वेदान्त दर्शन के सूत्रों को उपनिषदों के स्पष्टीकरण में कहे गये मानते हैं। जब उनको कोई बात सूत्र के अनुसार उपनिषदों में नहीं मिलती तो वे सूत्रों के अर्थ तोड़-मरोड़ कर उपनिषदों के समान करना चाहते हैं। इसी प्रकार यह प्राणों के प्रकरण में भी किया गया है।

उदाहरण के रूप में स्वामी शंकराचार्य 'श्रेष्ठश्च' (वे० द० २-४-८) के भाष्य में इस प्रकार लिखते हैं—

मुख्यश्च प्राण इतरप्राणवद्ब्रह्मविकार इत्यतिदिशति।

अर्थात्—मुख्य प्राण भी अन्य प्राणों की भाँति ब्रह्म का विकार है। यह बात विचारणीय नहीं। इसको तो इस पाद के प्रथम सूत्र में ही बता आये हैं कि प्राण परमात्मा की शक्ति का रूप है।

इस सूत्र में तो यह लिखना चाहिये था कि 'श्रेष्ठ' क्या है? और जब श्रेष्ठ प्राण के विषय में बताने लगे तो कह दिया—

श्रेष्ठ इति च मुख्यं प्राणमभिदधाति, 'प्राणो वाव ज्येष्ठच श्रेष्ठश्च' छान्दो० ५-१-१) इति श्रुतिनिर्देशात्।

अर्थात्—'श्रेष्ठ' ही मुख्य प्राण का अभिधान करता है। परन्तु उदाहरण दे दिया है (छा० ५-१-१)। यह उदाहरण अशुद्ध है।

(छान्दो० ५-१-१) में इस प्रकार कहा है—

यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च ह वै श्रेष्ठश्च भवति प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च।

इसमें ज्येष्ठ और अन्य प्राणों में भेद नहीं बताया, वरंच सब प्राणों को ज्येष्ठ और श्रेष्ठ कहा है।

इसका अर्थ है—

निश्चय से जो मनुष्य किसी बड़े और अपने से श्रेष्ठ को जानता है, वह बड़ा हो जाता है। प्राण ही बड़ा और श्रेष्ठ हैं।

इस कारण प्राण को जानो।

इसी कारण हम कहते हैं कि सूत्रार्थों को उपनिषद् वाक्यों से बाँधने पर सूत्रार्थ भी विकृत हो जाते हैं। सूत्र में शब्द 'श्रेष्ठ' आया है और स्वामीजी ढूंढने लगे हैं कि किस उपनिषद् में श्रेष्ठ अथवा ज्येष्ठ शब्द आये हैं। बस मिलते ही उदाहरण लिख दिया।

सब प्राण श्रेष्ठ नहीं, परन्तु प्राण सामूहिक रूप में प्राणी के शरीर के लिए मुख्य होने से सब प्राण ज्येष्ठ कहलाते हैं।

यह बात दूसरी है कि प्राणों में श्रेष्ठ कौन है?

इसी प्रकार इसी (२-४-८) सूत्र के भाष्य में एक वेदमन्त्र का उदाहरण दे दिया है। यह भी विषय के साथ सम्बन्ध नहीं रखता।

वेद मन्त्र जो शंकर भाष्य में उद्धृत है, वह यह है—

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास॥

टीकाकार स्वामी सत्यानन्द सरस्वती ने इस मन्त्र का संकेत (ऋ० सं० ८-७-१७) इस प्रकार लिखा है। यह उनकी भूल है। वास्तव में यह मन्त्र १०-१२९-२ है।

इसका अभिप्राय यह है कि उस (महा प्रलय) के समय मृत्यु नहीं थी और न ही अमृतत्व था। न रात थी और न दिन का ज्ञान था। (उस समय) आनीत—प्राण ही शक्ति का रूप था, परन्तु वह वायु नहीं थी। उस समय एक ही (स्वधया) प्रकृति अपने को धारण करने वाली थी और दूसरा कोई नहीं था।

केवल 'आनीतं' शब्द जो प्राण का सूचक है, आया और स्वामीजी ने उसका उद्धरण दे दिया।

प्रकरण था 'श्रेष्ठ प्राण' का शरीर में और आप बताने लगे प्रलय काल में प्राण की बात।

इसी प्रकार एक अन्य भाष्यकार की बात लिख देना ठीक रहेगा।

श्री उदयवीर शास्त्रीजी सूत्र (वे० द० २-४-१०) की व्याख्या में लिखते हैं—

'उपनिषदों के प्राण संवाद आदि स्थलों में सर्वत्र मुख्य प्राण को चक्षुः आदि इन्द्रियों के साथ वर्णन किया है। इसलिए चक्षु आदि के समान मुख्य प्राण (बुद्धि तत्त्व) आत्मा के भोग आदि में उपकरण होता है।

छान्दोग्य उपनिषद् (५-१-६) में समस्त प्राणों का एक साथ वर्णन है।

वहाँ चक्षु वागादि के समान मुख्य प्राण का उल्लेख है।'

हमारा मत है कि श्री शास्त्रीजी भी सूत्र के भाव को नहीं समझे और इस न समझने में भी वही कारण है जो स्वामी शंकराचार्य की अनेक भूलों में है। इसका कारण यह मानना है कि वेदान्त सूत्र उपनिषदों की व्याख्या हैं। यदि उपनिषदों को छोड़कर विचार किया जाता तो यह सब विभ्रम न बनता।

इस सूत्र में चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों में प्राण और मुख्य प्राण में अन्तर दिखायी देता है। इस सूत्र में स्पष्ट लिखा है।

चक्षु आदि के प्राण मनवत् हैं और उसके सहायक मुख्य प्राण हैं।

मुख्य प्राण बुद्धि तत्त्व नहीं। हमारा मत यह है कि मुख्य प्राण हृदय, फेफड़े आदि में कार्य करने वाला प्राण है।

श्री शास्त्रीजी उदाहरण देते हैं छान्दोग्य (५-१-६) का। वह तो केवल यह है—

अथ ह प्राणा अहँ्श्रेयसि व्यूदिरेऽहँ्श्रेयानस्म्यहँ्श्रेयानस्मीति ॥
(छान्दो० ५-१-६)

एक बार सब प्राण कहने लगे कि मैं श्रेष्ठों में श्रेष्ठ हूँ।

बताइये, इस उदाहरण से क्या पता चल गया कि प्राणों में बुद्धि भी है और वह श्रेष्ठ है?

श्री आचार्यजी उपनिषद् का अगला मन्त्र पढ़ते तो पता चलता कि प्राणों का यह कहना कि 'मैं श्रेष्ठ हूँ, मैं श्रेष्ठ हूँ।' स्वीकार नहीं किया गया और कौन श्रेष्ठ है, इसका निर्णय छान्दो० ५-१-१२ में किया गया है कि साँस लेने वाला प्राण ही सबसे श्रेष्ठ है। बुद्धि का तो नाम ही नहीं आया।

इस उपनिषद् के मन्त्र ६ से लेकर १२ तक पढ़ें तो पता चलता है कि आँख, नाक, कान, त्वचा, जिह्वा इत्यादि में जो प्राण हैं, वे फेफड़े में कार्य करने वाले प्राण से छोटे हैं और बिना उस (फेफड़े वाले) प्राण के कार्य नहीं कर सकते।

अन्य भाष्यकार भी सूत्रों के शब्द उपनिषदों में ढूँढते हैं और फिर अर्थ लगाते हैं। इसी कारण भूल करने लगते हैं।

मुख्य ज्येष्ठ अर्थात् महाप्राण वह है जिसके बिना शरीर नहीं रहता। यह प्राण वही है जो अनैच्छिक क्रियाओं को चलाता है।

एक बात यहाँ और समझ लेनी चाहिए कि इस पाद में प्राणी में कार्य करने वाले प्राणों का वर्णन हो रहा है, जगत्-रचना में कार्य करने वाली ईश्वर शक्ति का नहीं।

मन की वृत्तियों के समान ही इन प्राणों का व्यवहार है। इन पाँचों प्राणों के कार्यों को चक्षुः इत्यादि से संकेत किया है। यहाँ ज्ञानेन्द्रियों से ही अभिप्राय है।

ज्ञानेन्द्रियाँ बाहर के संसार का अनुभव मन तक पहुँचाती हैं और मन उनको ग्रहण कर आत्मा तक पहुँचाता है। तदनन्तर आत्मा उन प्राणों से कार्य करता है जो ऐच्छिक क्रियाओं को करते हैं। ये कर्मेन्द्रियाँ हैं।

यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि जब सूत्रकार ने कहा कि ये पाँच प्राण के व्यवहार वैसे ही हैं जैसे मन के पाँच व्यवहार हैं तो ये योग दर्शन-शास्त्र वाले व्यवहार नहीं।

मन ज्ञानेन्द्रियों के अनुभव ग्रहण करता है। इस कारण इनको मनोवत् कहा है।

अणुश्च ॥१३॥

अणुः + च ।

और अणु है।

इसका अभिप्राय यह है कि ये पाँच प्राण मनोवत् हैं और मन की भाँति अणु (सूक्ष्म) भी हैं।

प्राण कोई पदार्थ नहीं। यह शक्ति है। यह उस शक्ति का अंग है जिससे परमात्मा जगत् में गति उत्पन्न करता है।

यही बात सूत्र (२-४-७) में भी लिखी है। वहाँ उस प्राण के विषय में लिखा है जो कर्मेन्द्रियों में कार्य करते हैं। यहाँ शेष प्राणों के लिए लिखा है।

ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात् ॥१४॥

ज्योतिः + आदि + अधिष्ठानं + तु + तत् + आमननात् ।

ज्योतिःआदिचक्षु (ज्ञानेन्द्रियाँ)। तु=तो। अधिष्ठानं=प्राणों के टिकने के स्थान हैं। तत्=इसका। आमननात्=शास्त्र में समर्थन है।

चक्षु, कान, नाक, त्वचा एवं जिह्वा इन पाँच प्राणों के निवास स्थान हैं। ये इन्द्रियाँ प्राण नहीं। प्राणों से वाह्य पदार्थों का ज्ञान मन तक पहुँचता है। वहाँ ये मन में अपने अनुभवों का चित्र चित्रित करते हैं और मन जीवात्मा के साथ

सम्बन्धित होने से वे अनुभव जीवात्मा तक पहुँचा देता है और जीवात्मा बुद्धि से परामर्श कर कर्मेन्द्रियों को प्राणों द्वारा कार्य करने की आज्ञा देता है और कार्य होता है।

इस बात का कि चक्षु आदि देखते नहीं, ये तो केवल माध्यम मात्र हैं, शास्त्र से समर्थन प्राप्त है।

प्रश्न उपनिषद् में यह लिखा है—

एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः स परेऽक्षरे आत्मनि संप्रतिष्ठते ॥ (प्रश्न ५-९)

अर्थात्—विज्ञानात्मा पुरुष ही देखता है, स्पर्श करता है, सुनता है, सूँघता है, रस लेता है, मनन करता है, बुद्धि का प्रयोग करता है। वह दूसरा अक्षर परमात्मा में स्थित है।

यह जानना रुचिकर होगा कि इस सूत्र के भाष्य में श्री उदयवीर शास्त्री क्या लिखते हैं। आप लिखते हैं—

"सूत्र में ज्योति पद अग्नि का पर्याय है और व्याख्याकारों के अनुसार ऐतरेय उपनिषद् के एक सन्दर्भ (१-२-४) की ओर संकेत करता है। ज्योति अथवा अग्नि, वायु आदि पद परमात्मा और भूत तत्त्व दोनों के वाचक होते हैं।"

यहाँ प्राणों का, प्राणी के शरीर में कार्य करने वाली शक्तियों का वर्णन हो रहा है। अग्नि का क्या सम्बन्ध है इस प्राण से ? यह विचारणीय बात है।

आइये, तनिक उस उपनिषद् वाक्य को भी देखें जिधर शास्त्री जी, इस सूत्र के भाष्य में संकेत करते हैं।

ऐतरेय उपनिषद् (१-२-४) इस प्रकार है—

अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्। वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्। आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत्। दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णा प्राविशन्नोषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशंश्चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्। मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशदापो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन् ॥

यहाँ अग्नि मुख में प्रवेश कर वाक् होकर मुख में प्रविष्ट हुआ। वायु नासिका में प्रवेश कर प्राण हो जाते हैं। आदित्य चक्षु में प्रवेश कर दृष्टि हो जाता है। दिशः कानों में घुसकर श्रवण हो जाता है। औषधि, वनस्पतियाँ त्वचा में घुसकर लोम हो जाती हैं। चन्द्रमा हृदय में घुसकर मन हो जाता है। मृत्यु अपान होकर नाभि में प्रविष्ट हुई है। जल रेतस् होकर लिङ्ग स्थान में चला गया।

इस उद्धरण का क्या सम्बन्ध है सूत्र के साथ, यह तो श्री शास्त्रीजी ने बताया नहीं। न ही पूरे मन्त्र के अर्थ का उन सात प्राणों के साथ सम्बन्ध का वर्णन किया है, जिनका उल्लेख सूत्रकार इस पाद में कर रहा है।

कुछ भी हो, यह उपनिषद् वाक्य है। इसकी व्याख्या भी स्पष्ट नहीं है। चन्द्रमा और आपः का सम्बन्ध बताया है हृदय से और रेतस् का शिश्न के साथ ? मृत्यु नाभि में कैसे प्रवेश करती है ? यह स्पष्ट नहीं।

वास्तविक बात यह है कि क्योंकि स्वामी शंकराचार्य ने यह उद्धरण दिया है, अतः अन्य भाष्यकारों ने मक्खी पर मक्खी मार दी है।

हमारा मत है कि ज्योति आदि अग्नि, वायु आदि के वाचक नहीं है। इस मन्त्र में भी ज्योति और अग्नि का समन्वय नहीं मिलता। सूत्र का इस मन्त्र (ऐतरेय० १-२-४) से किसी प्रकार का न सम्बन्ध है, न इस ओर सूत्र में संकेत है। यदि सूत्र के भाव को कोई उपनिषद् वाक्य स्पष्ट करता है तो वह (प्रश्न० ४-६) है। इसका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है।

प्राण अर्थात् इन्द्रियों की शक्ति इन्द्रियों में स्थित अवश्य है, परन्तु वे ये इन्द्रियाँ नहीं हैं। वह शक्ति जीवात्मा द्वारा संचालित होती है और जीवात्मा परमात्मा से सम्बद्ध है।

यही है इस सूत्र का अर्थ चक्षु इत्यादि इन्द्रियाँ इन प्राणों का अधिष्ठान है। यह बात शास्त्र से समर्थित है।

प्राणवता शब्दात् ॥१५॥

प्राणवता+शब्दात्।

प्राण वाले के साथ। ऐसा शास्त्र में कहे जाने से।

इस सूत्र में शब्द प्राणवता मुख्य है। प्राण वाला कौन है ? यह निश्चय है कि प्राण का शरीर में अध्यक्ष जीवात्मा है। परन्तु अध्यक्ष का अर्थ यह नहीं कि प्राण वाला वह है। इस विषय में हम इसी पाद के प्रथम सूत्र के भाष्य में बता चुके हैं कि प्राण परमात्मा की शक्ति है। (देखो अथर्व वेद ग्यारहवाँ काण्ड, चौथा सूक्त) पूर्ण सूक्त ही प्राणों की व्याख्या करता है कि प्राण परमात्मा की वह शक्ति है जिससे यह चराचर जगत् कार्य कर रहा है। (पाठक इस पाद के प्रथम सूत्र के भाष्य को देख सकते हैं)

परमात्मा की एक अन्य शक्ति वायु है। वह सबका भीतर से नियमन करती है। प्राण गति उत्पन्न करते हैं। प्राणी में भी गति करने वाली शक्ति परमात्मा की ही है। वैसे वेद के इसी सूक्त में प्राण और वायु पर्याय माने हैं।

इस सन्दर्भ में अथर्व वेद ११-४-१५ पठनीय है। वेद मन्त्र इस प्रकार है—

प्राणमाहुर्मातरिश्वानं वातो ह प्राण उच्यते ।
प्राणे ह भूतं भव्यं च प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् ।।

(अथर्व० ११-४-१५)

(प्राणम् मातरिश्वानम् आहुः) प्राण को मातरिश्वा कहते हैं। (वातः ह प्राणः उच्यते) प्राण को वायु भी कहते हैं। (प्राणे ह भूतं भव्यं च) भूत और भविश्यत् प्राण में प्रतिष्ठित हैं। (प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्) सब कुछ प्राण में प्रतिष्ठित है।

एक अन्य मन्त्र में लिखा है—

अपानाति प्राणति पुरुषो गर्भे अन्तरा ।। (अथर्व ११-४-१४)

गर्भ के अन्दर भी, श्वास लेता व छोड़ता प्राण से ही है। अभिप्राय यह कि प्राण ईश्वरीय शक्ति है। प्राणी में वह जीवात्मा के अधीन कार्य करती है।

तस्य च नित्यत्वात् ।।१६।।

तस्य+च+नित्यत्वात् ।

और उसके नित्य होने से (प्राण नित्य है)।

प्राण ईश्वरीय शक्ति है। शक्तिमान् के नित्य होने से उसकी शक्ति भी नित्य है।

ऊपर के सूत्र में लिखा है कि प्राणवता ईश्वर है और फिर लिखा है कि उसके (परमात्मा के) नित्य होने से प्राण भी नित्य है।

यह ठीक है कि प्राणी के शरीर में यह आता है और समय पाकर इसको छोड़ जाता है, परन्तु जिसका यह लक्षण है, वह नित्य है। अतः प्राण शक्ति भी नित्य है।

त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात् ।।१७।।

ते+इन्द्रियाणि+तद्व्यपदेशात्+अन्यत्र+श्रेष्ठात् ।

वे (प्राण) इन्द्रियाँ हैं। ऐसा कहे जाने से। श्रेष्ठ (मुख्य) प्राणों से पृथक्।

ऊपर जो पाँच प्राणों का वर्णन आया है वह (ज्ञानेन्द्रियों) में कार्य करने वाले प्राणों का कथन है। ये श्रेष्ठ (मुख्य) प्राणों से दूसरे हैं।

भेदश्रुतेः ॥१८॥

इन्द्रियों वाले प्राण और श्रेष्ठ (मुख्य) प्राणों में भेद है। ऐसा श्रुति में वर्णित है।

श्रुति में कहाँ वर्णित है, यह सूत्रों का अर्थ उपनिषदों से लगाने वाले बता नहीं सके।

स्वामी शंकराचार्य प्रमाण देते हैं बृ० उ० १-३-२ का।

वह लिखते हैं—**"भेदेन वागादिभ्यः प्राणः सर्वत्र श्रूयते—'ते ह वाचमूचुः (बृ० उ० १-३-२)।**

प्राण का वागादि से सर्वत्र भेद से श्रवण होता है। यह उद्धरण है बृ० १-३-२ का। इस उपनिषद् वाक्य में वागादि इन्द्रियों और प्राण में भेद यह बताया है कि सब इन्द्रियों के विषय हैं। जब इन्द्रियों का प्रयोग होता है तो विषयों की तृप्ति भी होती है। विषय इन्द्रियाँ को ग्रस लेते हैं। अर्थात् इन्द्रियाँ पाप से बद्ध हो जाती हैं। प्राण का कोई विषय नहीं। इस कारण पाप इसको बाँध नहीं सकता।

यहाँ प्राण की श्रेष्ठता अन्य इन्द्रियों पर दिखायी है, परन्तु यह केवल एक पक्ष है। वास्तव में प्राण (फेफड़े के कार्य) में मुख्य विशेषता यह है कि यह मनुष्य की जागृत, स्वप्न तथा सुषुप्ति की अवस्था में निरन्तर चलते रहते हैं। यही उनकी श्रेष्ठता है।

हमने माना है कि प्राणी के शरीर में होने वाली अनैच्छिक क्रियाओं में श्रेष्ठ प्राण कार्य करते हैं और इन्द्रियों में सामान्य प्राण हैं। यहीं इन दोनों में भेद है।

वैलक्षण्याच्च ॥१९॥

वैलक्षण्यात्+च।

और विलक्षण होने से। (वह श्रेष्ठ है)।

विलक्षणता यह है कि मुख्य प्राण का आत्मा के साथ सीधा सम्बन्ध है। इन्द्रियों के प्राण तो पहले मन से सम्बन्ध बनाते हैं और मन का आत्मा से सम्बन्ध है। अर्थात् सामान्य प्राणों का सीधा सम्बन्ध जीवात्मा से न होकर मन के द्वारा है।

जब मनुष्य सुषुप्ति अवस्था में होता है तो आत्मा नहीं सोता, परन्तु मन व इन्द्रियों से आत्मा का सम्बन्ध टूट जाता है। सुषुप्ति अवस्था में इन्द्रियों और आत्मा में जोड़ने वाली कड़ी (मन) नहीं रहता।

(श्रेष्ठ) मुख्य प्राणों में यही विलक्षणता रहती है कि इनका सम्बन्ध सीधा जीवात्मा से रहता है। जब शरीर सुषुप्ति अवस्था में होता है तब भी वे प्राण चलते रहते हैं। कारण यह कि आत्मा सोता नहीं।

संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात् ॥२०॥

संज्ञामूर्तिक्लृप्तिः + तु + त्रिवृत्कुर्वत + उपदेशात्।

संज्ञा का अर्थ नाम है। मूर्ति से अभिप्राय रूप से है। क्लृप्ति से अभिप्राय रचना का है। त्रिवृत्कुर्वतः = तीन वृत्तों में करने वाले से ऐसा कहा गया है।

इसका अर्थ यह है कि सृष्टि-रचना के समय परमात्मा ने तीन-तीन प्रकार की सृष्टि की और उस सृष्टि में रूप बना और फिर नाम भी रखा गया। तीन प्रकार से अभिप्राय तीन अहंकारों से है।

रूप और नाम से कार्य-जगत् का अर्थ लिया जाता है।

इस नाम रूप वाले जगत् की रचना करने वाले का उपदेश (कथन) है। रचना करने वाला तीन वृत् में इसको करता है। जगत् के सब पदार्थ सत्त्व-गुण प्रधान, रजोगुण प्रधान तथा तमोगुण प्रधान होते हैं। यही कार्य-जगत् के तीन वृत् हैं। इसको करने वाला तो परमात्मा ही है। वह ही अपने तेज (शक्ति) से इस जगत् की रचना त्रिवृत् में करता है।

प्राणों के प्रकरण में इस सूत्र को देने का आशय केवल यह है कि यह भ्रम न हो जाये कि शरीर में प्राण ही कार्य कराने वाला है। प्राण परमात्मा की शक्ति है। जैसे जगत्-रचना में प्रत्येक नाम रूप वाले पदार्थ की रचना परमात्मा करता है, वसे ही प्राण और शरीर भी ईश्वर के निर्माण किये हुए हैं।

मांसादि भौमं यथाशब्दमितरयोश्च ॥२१॥

मांसादि + भौमम् + यथा शब्दम् + इतरयोः + च ।

मांसादि से अभिप्राय शरीर में पेशियाँ (muscles) हैं। भौमम् (पृथिवी) भूत से बनते हैं।

पंच भूतों में माँस के बनाने में विशेष कार्य पृथिवी भूत का है। इसमें पृथिवी के अतिरिक्त भी भूत हैं। उनमें से (इतरयोः) दो से शरीर का वह भाग बनता है (यथा शब्दं) जैसा शास्त्र में वर्णन किया है। ये दोनों भूत कौन से हैं? जल और अग्नि हैं। अग्नि से प्राणों का निर्माण होता है जो शरीर को जीवित रखने में योगदान करते हैं।

खाये अन्न के एक भाग से शरीर का निर्माण होता है। दूसरा तेज (energy) होता है।

भौमम् का अर्थ, भूमि से उत्पन्न होने के कारण अन्न भी है।

अतः सूत्रार्थ इस प्रकार है कि भूमि से उत्पन्न अन्न से माँसादि बनते हैं। माँसादि से अभिप्राय शरीर है। इस अन्न के एक अंश से माँस बना, दूसरे अंशों से वही समझो जैसा कि शास्त्र में वर्णन किया है। अर्थात् प्राण। अन्न में प्राण-शक्ति परमात्मा से ही आती है।

वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः ॥२२॥

वैशेष्यात् + तु + तद्वादः + तद्वादः ॥

विशेषों के विषय में ही यह बात कही गयी है। यह मत कहा गया है।

विशेषों का अर्थ हम इस प्रकरण के आरम्भ में बता चुके हैं। सृष्टि-क्रम में अहंकारों के उपरान्त जो क्रम है, वे विशेष कहलाते हैं। यह प्राण और प्राणी का शरीर विशेषों से ही सम्बन्ध रखता है। अतः सूत्रकार का मत यह है कि अन्न में शक्ति परमात्मा की है। यह सृष्टि-रचना के समय तेज के रूप में आती है। यही अन्न जब खाया जाता है तो तेज प्राण में बदल जाता है। यह कथन विशेषों के विषय में ही है।

विशेषों से अभिप्राय पंच महाभूत है।

सूत्राणामनुक्रमणिका

आ

इ

ई

उ

प

प्रमाणानुक्रमणिका

अ

व

श

स

ह

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११	१४	महर्षि व्यास वैशम्पायन के शिष्य थे।	महर्षि व्यास के शिष्य वैशम्पायन थे।
३४	३१	सूत्र	वाक्य
३५	११	विवेक	वैराग्य
४६	४	(कारण)	(करण)
५०	२४	का	कर
५०	२४	के	को
५१	६	(३-६)	(तैत्ति०—३-६)
५७	११	अमर्थ	समर्थ
५७	२६	जाते	जाते हैं
७७	११	पीछे	पहले
१०२	२७	ङ	ऽ
१०६	२७	न्	त्
१०८	२३	ऋतं	ऋतं
११२	१६	जती	जाती
१५१	१६	मोक्ष	मोह
१५६	२३	विस्मय	विषय
१६१	१६	प्रमिषेध	प्रतिषेध
१६५	१४	वहां	जहां
१६८	२१	(रा भा० १८४)	नहीं चाहिये
२०३	५	आर्थिक	आंशिक
२०६	५	उत्तर मीमांसा	पूर्व मीमांसा
२१३	२०	अध्यायों	पाद
२२५	१७	द्वितीय	तृतीय
२४४	४	तो (ठीक)	कि
२७६	१७	स्वस्थ	स्वरूप
२८५	१६	अन्य	अन्न
३६६	१६	में	को
३७४	१०	अर्यात्	अर्थात्
३६१	१८	धारण	धारणा
४०६	१	परभूतों	महाभूतों
४२४	२३	(त० २-१)	(तैत्ति०—२-१)